द्रव्यगुणविज्ञानम्

पूर्वार्धः

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-विज्ञानात्मकः)

आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा
विरचितः

तृतीयं संस्करणम्

द्रव्यगुणविज्ञानम्

पूर्वार्धः

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-विज्ञानात्मकः)

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयान्तर्गतायुर्वेद-महाविद्यालियाध्यक्षेण
डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक इत्येतैर्लिखितेन
'आयुर्वेद और आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानपर
तुलनात्मक विचार' नाम्ना परिशिष्टेन
समन्वितः

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

इत्यनेन विरचितः

तस्येदं
तृतीयं संस्करणं

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
संचालकेन
वैद्यशास्त्री पं० रामनारायण शर्मणा
'जनवाणी मुद्रणालये' मुद्रयित्वा प्रकाशितम्

मूल्यं ४।।) रूप्यकाः

ई० सं० १९५३ } { विक्रम सं० २०१०

प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०,
१, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू)
पोस्टबक्स नं० ६८३५
कलकत्ता - ६

मुद्रक
हजारीलाल शर्मा
जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

लेखकका निवेदन

आजकल आयुर्वेदके अध्ययन और अध्यापनके लिए विषयप्रधान पाठच-प्रणालीको सुविधाजनक माना गया है। सारे भारतवर्षमें प्रचलित आयुर्वेद-विद्यालयोंमें प्राय: विषयप्रधान पाठचक्रम ही चलाया जाता है। परंतु इस पाठचक्रमके अनुसार सब विषयोंपर पाठच पुस्तकें न बननेसे अध्यापकों और विद्यार्थियोंको पठन-पाठनमें बड़ी कठिनाइयोंका अनुभव हो रहा है। अत: विषयानुसार पाठचग्रन्थोंका निर्माण होना आवश्यक है। पाठच विषयोंमें एक **द्रव्य-गुण-विज्ञान** भी है। इस विषयको मुख्य दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं--(१) द्रव्यगुणविज्ञानके मूलभूत सिद्धान्तोंका वर्णन (पूर्वार्ध); (२) औषध और आहार द्रव्योंका वर्णन (उत्तरार्ध)। इसके अनुसार इस ग्रन्थ (द्रव्य-गुण-विज्ञान)को मैंने दो विभागोंमें लिखा है, जिसका यह पूर्वार्ध है। इसको **द्रव्यविज्ञानीय, गुणविज्ञानीय, रसविज्ञानीय, विपाकविज्ञानीय** और **वीर्य-प्रभावविज्ञानीय**--इन पाँच अध्यायोंमें विभक्त किया है। इसका यह अध्यापकोपयोगी बृहत् संस्करण पहले दो बार प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थके संकलनमें प्रत्येक विषयमें पहले **चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्ग संग्रह**(वृद्ध वाग्भट), **अष्टाङ्गहृदय (वाग्भट)** और **रसवैशेषिकसूत्र**--इन आकर ग्रन्थोंके वचन अविकल रूपमें दिये हैं। यद्यपि इन वचनोंमें शब्दपुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति दोनों हैं, तथापि इन आर्ष वचनोंको अविकल रूपमें देना ही उचित समझा है। उनके नीचे वर्तमान समयमें उन ग्रन्थोंकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, वे प्राय: दी गई हैं। व्याख्याओंमें शब्द पुनरुक्तिसे बचनेका प्राय: यत्न किया है, एक ही ग्रन्थकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओंमें प्रथम व्याख्या संपूर्ण देकर शेष व्याख्याओंमें जहाँ उन्हीं शब्दोंमें व्याख्या आई है वहाँ ××× ऐसा चिह्न देकर उतना अंश छोड़ दिया है। अन्त में मूल ग्रन्थोंका संपूर्ण अनुवाद और व्याख्याओंका सारांश हिन्दी भाषामें दिया है। इन सिद्धान्तोंको प्रथम ज्ञात किये विना संहिता ग्रन्थोंमें तथा निघण्टु ग्रन्थोंमें संक्षेपमें लिखे हुए द्रव्योंके गुण-कर्मोंको समझना कठिन है। द्रव्य-गुण-विज्ञानके आधारभूत सिद्धान्तोंके विषयसे आयुर्वेदिक ग्रन्थसाहित्यमें जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकी उसका इस पूर्वार्धमें एकत्र संग्रह करनेका यथाशक्य यत्न किया है। अन्तमें द्रव्य-गुण-विज्ञानके आधारभूत सिद्धान्तोंके विषयमें आधुनिक मत क्या है तथा प्राचीन और आधुनिक विचारधाराएँ कहाँ मिलती हैं और कहाँ पृथक् होती हैं, इस विषय पर **'आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान पर तुलनात्मक विचार'** नामक एक निबन्ध मेरे परम मित्र बनारस हिन्दु युनिवर्सिटीकी

आयुर्वेद कालेजके प्रिन्सिपल **श्रीयुत स्व० वा० डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठकने** लिखकर दिया है। उसे अन्तमें परिशिष्टके रूपमें जोड़ दिया है। यह निबन्ध लिखकर देनेके लिए मैं **स्व० वा० डॉ० पाठकजीका** अति ऋणी हूँ। मुझे आशा है कि द्रव्यगुणविज्ञानका यह पूर्वार्ध, द्रव्यगुणविज्ञानके सिद्धान्तों तथा इस ग्रन्थके उत्तरार्धमें औषध और आहारद्रव्योंके पारिभाषिक शब्दोंमें संक्षेपसे लिखे हुए गुणकर्मोंको सोपपत्तिक समझनेमें विशेष उपयोगी होगा।

पाठकोंको ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया हुआ भारतीय द्रव्यगुणविज्ञानका दिग्दर्शन करानेवाला **उपोद्घात** तथा परिशिष्ट २ में दिया हुआ **आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानपर तुलनात्मक विचार** यह निबन्ध प्रथम देख लेना चाहिए।

इस ग्रन्थकी प्रेसकापी तैयार करने, हिन्दी अनुवाद करने तथा प्रूफ देखनेमें मेरे प्रिय शिष्य **श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय (सूरत)** के वाइस प्रिंसिपल तथा **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर (शरीरक्रियाविज्ञान) आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान** आदि ग्रन्थोंके लेखक **श्री रणजितराय जी आयुर्वेदालङ्कारने** बड़ी सहायता की है। अतः मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रन्थका यह तृतीय संस्करण **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालक पं० श्री रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्रीने** अपने **जनवाणी प्रेस कलकत्ता** में छपाकर प्रसिद्ध किया, उसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थके संकलन करने, भाषानुवाद करने और छपवानेके विषयमें बने इतना यत्न किया है। तथापि अनवधानता, प्रमाद, भ्रम आदिके कारण अनेक त्रुटियाँ रहना संभव है। यदि विद्वद्गण इन त्रुटियोंको लिख भेजनेका कष्ट करेंगे तो अगले संस्करणमें उनको सुधारनेका यत्न किया जायगा।

ता० १।३।१९५३
डॉ० विगास स्ट्रीट
बंबई नं० २

निवेदक
वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

प्रकाशकीय-निवेदन

आयुर्वेदप्रेमी सज्जनवृन्द !

जगन्नियन्ता श्री जगदीश्वरकी असीमानुकम्पाके फलस्वरूप आज हम आप महानुभावोंकी सेवामें आयुर्वेद-विज्ञानकी श्री-वृद्धिके निमित द्रव्यगुणविज्ञानम् पूर्वार्द्ध नामक ग्रंथरत्नको प्रस्तुत कर रहे हैं। इस अमूल्य ग्रंथरत्नकी उपयोगिताके सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि आयुर्वेदग्रन्थोंमें यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण विषयको आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्यपाद आचार्य श्री यादवजी त्रिक्रमजी आयुर्वेद वाचस्पतिने बड़े परिश्रमसे द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदिके पृथक्-पृथक् अध्यायोंके रूपमें बहुत उत्तमतापूर्वक संकलित कर उसका जो सुन्दर और सुगम विवेचन किया है, वह आयुर्वेद विज्ञानकी प्रगतिके लिये बहुत उपकारी सिद्ध होगा। द्रव्य-गुणशास्त्रके विषयप्रधान शिक्षणके पाठ्यक्रममें श्रेष्ठ ग्रन्थके अभावसे अबतक जो कठिनाई उपस्थित थी वह अब इस ग्रन्थके द्वारा शीघ्र ही समाप्त हो जायगी और आयुर्वेद शिक्षार्थी वर्गको आयुर्वेद-विज्ञानकी मूलभित्ति द्रव्यगुण-शास्त्रके भली प्रकार ज्ञानोपार्जनमें बड़ी सहायता प्राप्त होगी। स्नातकोत्तर शिक्षण (Post graduate course) के लिये भी यह ग्रंथ अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रन्थको इतनी शीघ्रतासे प्रकाशित करनेका विशेष कारण यह है कि नि० भा० आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्का आगामी अधिवेशन शीघ्र ही २० मई १९५३ से हरद्वारमें प्रारम्भ होने वाला है। उसमें समालोच्य विषय 'द्रव्यके रस गुण-वीर्य्य-विपाक-प्रभावके निर्णयका स्वरूप क्या है ?' पर विवेचनार्थ जिन आयुर्वेद-विशेषज्ञोंके निबन्ध स्वीकृत किये गये हैं उनकी सेवामें इस ग्रन्थकी एक-एक प्रति बिना मूल्य लिये (फ्री) भेजनेका निश्चय किया गया है, ताकि वे इस गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषयके विवेचन करनेमें इस ग्रन्थसे उचित सहायता प्राप्तकर परिषद्के अधिवेशनमें पूर्ण तैयारी करके सम्मिलित हो सकें।

पूज्यपाद आचार्य श्री यादवजी त्रिक्रमजी आयुर्वेद वाचस्पति महोदयने बिना किसी प्रकारका पारिश्रमिक लिये आयुर्वेद-शास्त्रकी अभिवृद्धि की भावनासे ही यह ग्रन्थ-रत्न हमें प्रकाशनार्थ प्रदान किया है। उनकी इस महान् कृपाके लिये हम अत्यन्त आभारी हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० सदैवसे ही आपका कृपाभाजन बना हुआ है।

अन्तमें हम विशेष श्रद्धाभक्ति पूर्वक परम-पावन प्रभुसे पूज्यपाद श्री आचार्यजीके दीर्घायुष्य और कल्याणकी मङ्गल कामना करते है ताकि उनके अध्यवसायसे आयुर्वेदविज्ञान और वैद्यसमाज अधिकाधिक समुन्नत होता रहे।

कलकत्ता
२५-२-५३

विनम्र–निवेदक :
वैद्य पं० रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री
मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

भारतीय द्रव्यगुणविज्ञानका उपोद्धात

इस शास्त्रको 'द्रव्यगुणविज्ञान' नाम देनेका हेतु—

यद्यपि इस शास्त्रमें द्रव्य, गुण (रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव) और कर्म (जीवन-बृंहण-वमन-विरेचन आदि) इन तीनों विषयोंका प्रतिपादन किया जाता है, अतः इसका नाम '**द्रव्य-गुण-कर्म-विज्ञान**' रखना उचित है, तथापि 'गुण' शब्द धर्ममात्रका वाचक होनेसे 'गुण' शब्दसे रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म-इन द्रव्यके यावत् धर्मोंका ग्रहण हो जाता है, अतः लाघवार्थ इस शास्त्रको '**द्रव्यगुणविज्ञान**'[1] कहते हैं।

द्रव्यगुणशास्त्रमें प्रतिपाद्य मुख्य विषय—

द्रव्यगुणशास्त्रके मुख्य अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय **द्रव्य, गुण** तथा गुणशब्दसे संगृहीत **रस, विपाक, वीर्य प्रभाव** और **कर्म** ये सात पदार्थ[2] हैं। अर्थात् इन सात पदार्थोंका द्रव्यगुणशास्त्रमें विचार और वर्णन किया जाता है।

द्रव्यगुणशास्त्रकी दृष्टिसे इन सात पदार्थोंके विषयमें भारतीय आयुर्वेदके जो मूलभूत सिद्धान्त (मन्तव्य) हैं, वे क्रमशः दिये जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको प्रारम्भमें ठीक समझ लेनेसे आगे समग्र ग्रन्थको समझने में बड़ी सरलता होगी।

१—'विज्ञान' शब्दका '**शास्त्र**' अर्थमें भी प्रयोग होता है। देखिये—'विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' (अमरकोष, का. १, वर्ग ४, श्लो. ६)। इस उपोद्धातमें मैंने आगे '**द्रव्यगुणविज्ञान**' के स्थानपर प्रायः '**द्रव्यगुणशास्त्र**' शब्दका प्रयोग किया है।

२—पदार्थ उसे कहते हैं जिसमें अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व ये तीन धर्म हों। **पदार्थधर्मसंग्रहमें प्रशस्तपादाचार्यने** लिखा है कि—"षण्णामपि पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वाभिधेयत्व-ज्ञेयत्वानि।" (द्रव्यग्रन्थ, साधर्म्य-वैधर्म्यनिरूपण)। प्रत्येक शास्त्रके अपने-अपने अस्तित्व रखनेवाले, अभिधेय (वर्णन करने योग्य) और ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं। जैसे—वैशेषिक दर्शनके **द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष** और **समवाय** ये छः तथा न्यायदर्शनके **प्रमाण, प्रमेय** आदि षोडश पदार्थ हैं। इसी प्रकार द्रव्यगुणविज्ञानके **द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव** और **कर्म** ये सात पदार्थ हैं। **भावमिश्रने** "द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च॥" इस श्लोकमें द्रव्यमें रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव) ये पाँच पदार्थ रहते हैं और वे अपना-अपना कर्म-कार्य करते हैं" ऐसा लिखा है; **द्रव्य** तथा **गुण**-शब्दसंगृहीत इन पाँच पदार्थों में सातवाँ **कर्म** मिलानेसे द्रव्यगुणविज्ञान के सात पदार्थ (प्रतिपाद्य विषय) होते हैं।

द्रव्य

द्रव्य दो प्रकारका है—१ **कारणद्रव्य**, २ **कार्यद्रव्य** ।

कारणद्रव्य—आयुर्वेदमें वैशेषिकके मतानुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल और दिक्-इन नौको समग्र सृष्टिका **कारणद्रव्य (मूलद्रव्य**[1]**)** माना है। अर्थात् सारी सृष्टि इनही नौ द्रव्योंके मेलसे बनी हुई है। पृथिव्यादि नौ ही द्रव्य चेतन सृष्टिके तथा आत्मा और मनको छोड़कर शेष सात द्रव्य अचेतन सृष्टि के आरम्भक (बनानेवाले) हैं।

कार्यद्रव्य—कार्यद्रव्य दो प्रकारका है—१ **चेतन**, २ **अचेतन** । चेतन द्रव्यके भी दो भेद हैं—१ **बहिरन्तश्चेतन**—यथा-मनुष्य, पशु आदि; तथा २ **अन्तश्चेतन**—यथा-वृक्ष आदि । चेतन द्रव्यके **जरायुज, अण्डज स्वेदज**[2] **और उद्भिज**—ये चार भेद माने गये हैं । अचेतन द्रव्य स्वर्ण, रौप्य आदि भेदसे अनेक प्रकारके हैं, तथापि उन सबमें अचेतनत्वरूप सामान्य धर्म होनेसे उनका एक ही प्रकार (वर्ग) माना गया है । शास्त्रमें उनका **पार्थिव (भौम) द्रव्य** नामसे व्यवहार होता है ।

चेतन और अचेतन वर्गके सब द्रव्योंका चिकित्सामें आहार और औषधके रूपमें उपयोग होता है । यद्यपि चेतन द्रव्य पृथिवी आदि नौ कारण द्रव्योंसे और अचेतन द्रव्य आत्मा और मनको छोड़कर शेष सात कारण द्रव्योंसे बने हैं, तथापि सब द्रव्योंका चिकित्सार्थ निर्जीवावस्थामें[3] ही उपयोग किया जाता है, इस अवस्थामें उनमें आत्मा और मन होते ही नहीं और काल तथा दिक् कार्यद्रव्यकी उत्पत्तिमें समवायिकारण (उपादान कारण) नहीं किन्तु निमितकारण हैं, अतः द्रव्यगुणशास्त्रमें वर्णनीय सब द्रव्य शेष पृथिव्यादि पञ्चभूतोंसे ही बने होनेसे **पाञ्चभौतिक** माने जाते हैं । अतः भगवान् **पुनर्वसुने** कहा है कि—"सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे" (इसी ग्रन्थमें पृ० १) । अर्थात् द्रव्यगुणशास्त्रम **द्रव्य** शब्दका अर्थ 'आहार और औषधके रूपमें उपयोगमें आनेवाले निर्जीव पाञ्चभौतिक

१—**रसवैशेषिकसूत्रमें भदन्त नागार्जुनने** कारणद्रव्योंको **मूलद्रव्य** नाम दिया है—"तत्र पृथिव्यादीनि मूलद्रव्याणि तेषाम् ।।" (अ. २, सू. ३६) । "पृथिव्यादीनि पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानि । मूलद्रव्याणि कारणद्रव्याणि । तेषामिति स्थावर-जङ्गमानां कार्यद्रव्याणाम् ।।" (भा.) ।

२—जरायुज, अण्डज और स्वेदज इन तीनों प्रकारकी सृष्टिको सामान्यतः 'प्राणी' कहते हैं ।

३—'द्रव्यहेतुकाः निर्जीवद्रव्यमूलाः' (सु. सू. अ. ४१, श्लो. १२ की टीकामें क० हाराणचन्द्रजी) ।

कार्यद्रव्य' इतना ही है। कार्यद्रव्यरूप प्रसिद्ध स्थूल जल, अग्नि और वायु ये भी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न पाञ्चभौतिक द्रव्य हैं, अतः आयुर्वेदमें उनके भी गुण-कर्म लिखे गये हैं।

वाचस्पत्यबृहदभिधानमें 'द्रव्य' शब्दकी व्याख्यामें "**भिषजस्तु**—रसो गुणस्तथा वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च। पञ्चानां यः समाहारस्तद्द्रव्यमिति कथ्यते ॥" यह वैद्योंके मतसे द्रव्यका एक लक्षण दिया है। यह श्लोक आयुर्वेदके उपलभ्यमान ग्रन्थोंमें मेरे देखने में नहीं आया। 'रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति (प्रभाव[1]) इन पाँच गुणोंका जो समुदाय वही द्रव्य है' यह इस श्लोकका अर्थ है। प्राचीन कालमें अपने यहाँ गुणसमुदाय (गुणोंके समूह) को ही द्रव्य माननेवाला एक संप्रदाय था, उस संप्रदायका यह मत है। इस मतका **नागार्जुनने रसवैशेषिकसूत्र** (अ. २ सू. १–२२) में तथा स्व. वा. **आयुर्वेदाचार्य पं० नारायणदत्तजी** ने 'द्रव्यगुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्' नामके निबन्धमें (पृ. १६) युक्ति पूर्वक खण्डन किया है।

द्रव्यका लक्षण और अनेकविध भेद तथा कर्मानुसार द्रव्योंके वर्ग इस ग्रन्थके **द्रव्यविज्ञानीयाध्यायमें** विस्तारसे लिखे हैं, उनको वहीं देखें।

गुण

गुर्वादि गुण द्रव्यमें आश्रित होकर रहते हैं और निष्क्रिय होने से उनमें कर्तृत्व नहीं होता, वमन-विरेचनादि कर्मोंमें गुण उपकरण-साधन-रूप होते हैं, परंतु कर्ता द्रव्य ही होता है। जो दूसरोंका आश्रय और कर्ता होता है वह प्रधान होता है और जो अन्याश्रित तथा उपकरण होता है वह अप्रधान–गौण होता है। गुर्वादि अन्याश्रित और उपकरणभूत होनेके कारण गौण होनेसे **'गुण'** कहे जाते हैं—"क्रियाहीनत्वेन कर्तृत्वाभावादप्राधान्येन गौणत्वाच्च तस्य **'गुण'** इति संज्ञा" (द्रव्यगुणादिविवेचनात्मकमभिभाषणम्, पृ. ६)। गुणका लक्षण इसी ग्रन्थमें पृ० १००-१०२ पर देखें।

चरकने (सू. अ. १ में) "सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" इस श्लोकमें ४१ गुण कहे हैं (देखें इसी ग्रन्थमें पृ. १०३)। आयुर्वेदमें इनमेंसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच आकाशादि एक-एक महाभूतके विशेष गुण होनेसे उनको **वैशेषिकगुण** कहते हैं। गुर्वादि द्रवान्त बीस गुणोंको **शारीरगुण**[2] कहते हैं, क्योंकि इन गुणोंका शरीर और शरीरपर प्रयुक्त होनेवाले

१—"तत्राचिन्त्यक्रियाहेतुः 'प्रभाव' उच्यते, या द्रव्याणां शक्तिरभिधीयते" (क. गङ्गाधरजी च. सू. अ. १, श्लो. ५२ पर टीकामें)।

२—"गुर्वादय इति गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-

द्रव्योंसे ही विशेष संबन्ध है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः आत्माके गुण होनेसे इनको **आत्मगुण** कहते हैं। शेष परादि दश गुण महाभूत, शरीर तथा शरीरेतर सबके लिए सामान्य होनेसे उनको **सामान्यगुण** कहते हैं। द्रव्यगुणशास्त्रमें ४१ गुणोंमेंसे गुर्वादि द्रवान्त बीस शारीर गुणोंका ही मुख्यतया वर्णन आता है। **चरकाचार्यने** यज्जःपुरुषीयाध्याय (सू. अ. २५) में आहारके गुणोंका निर्देश करते हुए "विंशतिगुणः गुरु XXX द्रवानुगमात्" ऐसा लिखा है। **सुश्रुतने** सूत्रस्थानके ४६ वें अध्यायमें गुर्वादि बीस गुणोंके ही कर्म बताये हैं। रस भी गुण है, तथापि रसके विषयमें विशेष वक्तव्य होनेसे एक स्वतन्त्र अध्यायमें उसका निरूपण किया है। मृदु, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण और शीत ये आठ गुण जब उत्कृष्टशक्तिसंपन्न हों तब उनको वीर्य कहते हैं। वीर्योंके विषयमें भी विशेष वक्तव्य होनेसे उनका एक स्वतन्त्र अध्यायमें वर्णन दिया गया है। परंतु गुर्वादि गुण जब उत्कृष्टशक्तिरहित होते हैं तब इनको गुण[1] ही माना जाता है, अतः गुणोंके प्रकरणमें भी उनका वर्णन किया गया है। **नागार्जुन** गुर्वादि आठ गुणोंको वीर्य नहीं मानते, परंतु छर्दनीय आदि कर्मलक्षण वीर्य मानते[2] हैं; अतः उन्होंने शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण—इन दस गुणोंको **कर्मण्य** (कर्म करनेमें अधिक शक्तिसंपन्न) **गुण** माना है। द्रव्यगुणविज्ञानमें गुर्वादि बीस गुणोंका वर्णन विशेष आवश्यक होनेसे विस्तारसे तथा अन्य गुणोंका वर्णन संक्षेपमें किया गया है।

रस

यद्यपि आयुर्वेदमें **'रस'** शब्दका प्रयोग 'यो रसति अहरहर्गच्छति' स रसः= जो निरन्तर शरीरमें गति करता है वह **रस** कहाता है, इस निरुक्तिसे सप्त धातुओंके अन्तर्गत रसधातुमें; 'यो रसति सर्वान् लोहान्' स रसः=जो स्वर्णादि सब लोहोंको अपनेमें लीन[3] कर लेता है वह **रस** कहाता है, इस निर्वचनसे पारदमें; 'यो रसति शरीरे आशु प्रसरति' स रसः=जो सारे शरीरमें शीघ्र फैल जाता है वह **रस** कहाता

मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-खर-मसृण-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा इति विंशतिः **शारीरगुणाः** स्वयं वक्ष्यन्ते" (क. गङ्गाधरजी च. सू. अ. १, श्लोक ४९ परकी टीकामें)।

१—"गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।" (अष्टाङ्गसंग्रह सू. अ. १७)।

२—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. १०४।

३—"परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्। एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥" (रसहृदय तन्त्र, १ अवबोध, १३ श्लोक)।

है, इस व्युत्पत्तिसे स्वरसादि कल्पोंमें तथा 'यो रस्यते आस्वाद्यते रसनेन' स रसः= जो रसनेन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है वह **रस** कहाता है, इस निरुक्तिसे मधुरादि छः रसोंमें होता है; तथापि द्रव्यगुणाधिकारमें '**रस**' शब्द मधुरादि छः रसोंके अर्थमें ही पारिभाषिक माना गया है। रसका लक्षण इसी ग्रन्थमें पृ. १२७-१३१ पर दिया है।

आयुर्वेदके मतानुसार सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होनेसे कोई भी द्रव्य एक रस वाला नहीं किन्तु षड्रस[1] होता है, तथापि जिस द्रव्यमें जो रस व्यक्त[2] हो उस प्रधान रससे उस द्रव्यका यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि व्यपदेश होता है।

आयुर्वेदमें द्रव्योंके गुण लिखते समय यह द्रव्य मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि उनके रस लिखे हैं वहाँ केवल यह द्रव्य स्वादमें मधुर है, अम्ल है, इतना ही अर्थ न लेना चाहिये, परन्तु मधुरादि रसोंके जो गुण-कर्म लिखे हैं वे सब न्यूनाधिकांशमें उसमें हैं, इतना ही नहीं परन्तु मधुरादि रसोंके जो विपाक और रस-सहचर[3]वीर्य लिखे हैं वे भी यदि रसके अनुकूल हों तो उसमें प्रायः विद्यमान हैं, इतना व्यापक अर्थ उससे समझना चाहिये। जिस द्रव्यमें प्रधान रसके विपरीत विपाक और वीर्य हों प्रायः वहाँ ही उस द्रव्यके विपाक और वीर्य स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हैं। जहाँ विपाक और वीर्य रसके अनुकूल होनेपर भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखे हों, वहाँ वे विशेष स्पष्टीकरणार्थ लिखे गये हैं ऐसा जानना चाहिये।

विपाक

आयुर्वेदमें खाए हुए द्रव्योंका दो प्रकारका पाक[4] माना गया है—**अवस्थापाक** और **निष्ठापाक**। निष्ठापाकको **विपाक** कहते हैं। अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः=अवस्थापाककी अपेक्षया जो विशिष्ट (भिन्न—खास) पाक है, उसको **विपाक** कहते हैं। यद्यपि 'पाक' शब्द भाववाचक होनेसे पचनक्रिया मात्रका द्योतक है, तथापि 'विपाक' शब्द आहारके अन्तिम पाकके समयमें आद्य

१—"तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसंभवात्।" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

२—द्रव्योंमें जो रस व्यक्त हो उसको रस (प्रधान रस) और जो रस अव्यक्त हो या अन्तमें कुछ व्यक्त हो उसको अनुरस (अप्रधान रस) कहते हैं "तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः। अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥" (अ. हृ. सू. अ. ९)।

३—'तत्र मधुरो रसः × × × स्निग्धः शीतो गुरुश्च; अम्लो रसः × × × लघुरुष्णः स्निग्धश्च' इत्यादि (देखें इसी ग्रन्थमें पृ. १६३–१६५)।

४—'पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूप—रसयोः परावृत्तिः। सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः' गङ्गाधर कविराज।

रस धातुमें उत्पन्न गौरव या लाघवयुक्त मधुर, अम्ल और कटु—इन तीन रसोंमें लाक्षणिक है, ऐसा समझना चाहिये। इसी ग्रन्थमें पृ. २२८ पर विपाकका और पृ. २२९ में अवस्थापाकका निरूपण किया गया है। इससे मालूम होगा कि मुखसे लेकर बृहदन्त्रतक महास्रोतसमें तत्तत्स्थानमें मिले हुए मधुर, अम्ल और कटु (कटुक्षार) रसवाले द्रवों, प्राण और समान वायु (नाड़ियों–Nerves की क्रियाओं) और शरीरस्थ ऊष्माके द्वारा महास्रोतसके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जो आहारका पाक होता है उसको **अवस्थापाक** कहते हैं। अवस्थापाकको **आहार-पाक** या **जठराग्निपाक** भी कहते हैं। अवस्थापाककी प्रथम, द्वितीय और तृतीय ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। छहों रसोंवाला अन्न प्रथम पाकमें मधुरप्राय, द्वितीय-पाकमें अम्लप्राय और तृतीय पाकमें कटुप्राय होता है। इन तीनों अवस्थापाकोंमें क्रमशः मल (कीटांश) रूप कफ, पित्त, वात, मूत्र और पुरीषकी उत्पत्ति होती है[1]। इन तीनों अवस्थापाकोंके अन्तमें जब आहारप्रसादरूप रसधातुकी उत्पत्ति होती है और **धात्वग्निपाक** प्रारम्भ होता है तब प्रायः मधुर और लवण रसका मधुर, अम्ल रसका अम्ल तथा कटु, तिक्त और कषाय रसका कटु विपाक होता है। मधुर विपाकसे प्रसादभूत कफ, अम्ल विपाकसे प्रसादभूत पित्त और कटु विपाकसे प्रसादभूत वायुकी उत्पत्ति होती है। ये प्रसादभूत वात-पित्त-कफ सूक्ष्म रूपसे रस धातुमें संचार करते हुए शरीरमें अपना-अपना कार्य करते हैं। धात्वग्निपाकमें भी रसके किट्टांश रूपमें कफकी और रक्तके किट्टांश रूपमें पित्तकी उत्पत्ति होती है[2]। अवस्थापाक प्रत्यक्षगम्य है और विपाक फल देखकर अनुमान किया जाता है। **वाग्भटने** मधुर, अम्ल और कटु विपाकको उन रसोंके तुल्य-फल (गुण-कर्म) वाला बताया[3] है। **चरक** और **सुश्रुतने** विपाकका फल स्वतन्त्र रूपसे भी लिखा है[4]। सुश्रुत और नागार्जुन मधुरादि रसोंको नहीं परन्तु पञ्चमहाभूतोंके गुरु और लघु इन दो गुणोंके रूपमें विपाक मानते हैं। परन्तु

१—देखें इसी ग्रन्थ में पृ. २२९ पर **अवस्थापाकनिरूपण**, म. म. **कविराज गणनाथ सेनजी** विरचित **सिद्धान्तनिदान** २ खण्ड पृ. ३–६, तथा पृ. २३१, २३२ में उद्धृत **जल्पकल्पतरुव्याख्या**।

२—"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं" (च. चि. अ. १५)। "रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति, प्रसादश्च रक्तं; एवं रक्तादिमलेऽपि ज्ञेयम्। × × × यथा कफोऽवस्थापाकाद्, रसमलतया च भवति" (च. द.)।

३—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २६०।

४—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २५९–२६०।

चरक और सुश्रुतके शब्दप्रयोगमें ही अन्तर है, विपाकके फलके विषयमें दोनोंके मतमें अन्तर नहीं है, यह पृ. २६५ पर स्पष्ट दिखाया गया है।

वीर्य और प्रभाव

'वीर' विक्रान्तौ (चु. आ. से.)=विक्रम (शक्तिसंपाद्य कार्य) करना, इस धातुसे 'वीरयते अनेन' इति वीर्यं=द्रव्य जिस शक्तिके द्वारा कार्य करता है वह वीर्य है, इस व्युत्पत्तिसे 'वीर्य' शब्दका **शक्ति** यह अर्थ होता है। इस अर्थको लेकर **चरकने** द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संगठन, रस, विपाक और गुर्वादि गुण इन सबकी अपनी-अपनी क्रिया करनेकी जो शक्ति, उसको **वीर्य** माना है "वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया" (च. सू. अ. २६)। शक्ति दो प्रकारकी होती है—**१ चिन्त्य** और **२ अचिन्त्य**। चिन्त्य शक्तिको **वीर्य** और अचिन्त्य शक्तिको **प्रभाव** कहा जाता[1] है। आयुर्वेदमें वीर्यके विषयमें तीन पक्ष पाये जाते हैं। पहला पक्ष शक्तिरूप वीर्य मानता है, इस मतवालोंको **शक्तिरूपवीर्यवादी** या **बहुवीर्यवादी** कहते हैं। चरक इस मतके अनुयायी हैं। दूसरा पक्ष उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न गुर्वादि आठ या शीत और उष्ण दो गुणोंको ही वीर्य मानता है। इस मतवालोंको **पारिभाषिक-वीर्यवादी** या **गुणवीर्यवादी**[2] कहते हैं। सुश्रुत, वृद्धवाग्भट और वाग्भट इस मतके अनुयायी हैं। तीसरा पक्ष कर्मलक्षण वीर्य मानता है। यह नागार्जुनका मत है[3]। वीर्यका स्वरूप बताते हुए **शिवदाससेन** लिखते हैं कि—"वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या[4]=द्रव्यमें पृथिव्यादि भूतोंका जो अतिशय सार भाग जिसमें क्रिया करनेकी शक्ति हो, वह चाहे द्रव्योंके पाञ्चभौतिक संगठनरूप हो, रसरूप हो, विपाकरूप हो या गुर्वादि उत्कृष्टशक्ति संपन्न गुणरूप हो, उसको **वीर्य** कहते हैं।" रसादिमें 'वीर्य' शब्दका प्रयोग धर्म-शक्ति और धर्मी-रसादि इनके अभेदोपचारसे होता है। वास्तवमें शक्ति और रसादि ये दोनों गुण हैं और गुण सर्वदा द्रव्यको आश्रय करके ही रहते हैं, अतः द्रव्यमें रहा हुआ जो क्रियाजनसमर्थ सारभाग जिसको आधुनिक वैज्ञानिकोंने 'ऍक्टिव प्रिन्सिपल्स (Active Principles)' नाम दिया है उसको **वीर्य** नाम देना चाहिये, ऐसा जो परिशिष्ट में **डॉ० पाठकजीने** लिखा है वह ठीक मालूम होता है[5]। आयुर्वेदाचार्योंको द्रव्योंमें भूतप्रसादातिशयरूप सार भाग रहता है

१—देखें इसी ग्रन्थमें ३०१ पर **वक्तव्य**।

२—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २७३-२७५।

३—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २८५–२९३।

४—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २६७ पर शिवदाससेनकी व्याख्या।

५—देखें इसी ग्रन्थमें परिशिष्ट २, पृ. ३५६।

इस बात का ज्ञान था, परन्तु उस समय विश्लेषणक्रियाका विकास नहीं हुआ था, इसलिये उनका विशेष विवरण संहिताग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। रसाचार्योंने धातुओं (खनिजों) से विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा स्वर्णादि लोह (मेटल्स Metals) अलग करके निकाले थे और उनको उन्होंने **सत्त्व** नाम दिया था। आजकल आधुनिक वैज्ञानिक द्रव्योंसे जो सारभाग निकालते हैं उनके लिये 'वीर्य' या 'सत्त्व' शब्दका प्रयोग करना ठीक होगा। आयुर्वेदमें द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंकी मीमांसा या उपपत्ति उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभावकी सहायतासे की जाती है। अतः आधुनिक वैज्ञानिकोंके निकाले हुए कुनैन आदि सत्त्वोंके कर्मोंकी मीमांसा भी आयुर्वेदकी दृष्टिसे उनके पञ्चभूतात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव द्वारा ही करनी चाहिये। आयुर्वेदमें यद्यपि वीर्य शक्तिरूप, उत्कृष्टशक्ति-संपन्न गुणरूप या कर्मलक्षण है—ये तीन मत पाये जाते हैं, तथापि द्रव्योंके गुण लिखते समय शीत, उष्ण आदि पारिभाषिक वीर्यवाचक शब्दोंका ही प्रयोग हुआ[1] है। सुश्रुत और नागार्जुनने **प्रभाव** नामके पदार्थका 'प्रभाव' नामसे उल्लेख नहीं किया है, परन्तु सुश्रुतने जो **अमीमांस्य** और **अचिन्त्य** भेषज[2] तथा नागार्जुनने **अचिन्त्य वीर्य**[3] लिखे हैं, वे प्रभाव ही हैं।

कर्म

यद्यपि पदार्थविज्ञानकी दृष्टिसे **वैशेषिकदर्शनमें** कर्मपदार्थका "एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्" (१।१।१७) तथा **चरकने** "संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥" (सू. अ. १) यह लक्षण लिखा है, तथापि द्रव्यगुणाधिकारमें 'कर्म' शब्दका प्रयोग 'शरीरपर होनेवाली द्रव्योंकी वमन-विरेचन आदि क्रिया, इस अर्थमें होता है। चरकने लिखा है कि—"कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि" (सू. अ. २६)। यहाँ 'वमनादि' पदमें 'आदि' शब्दसे बृंहण-जीवन आदि द्रव्योंके सब कर्म लेने चाहिये—"एतच्च (वमनादि) प्राधान्यादुच्यते, तेन बृंहणाद्यपि बोद्धव्यम्।" (च. द.)। सुश्रुतने भी "इहौषध-कर्माणि ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधन - संशमन-सांग्राहिकाग्निदीपन-पीडन-लेखन - बृंहण-रसायन-वाजीकरण - श्वयथुकर - विलयन-दहन - दारण - मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति।" (इसी ग्रन्थमें पृ. २७५) इस सूत्रमें वमन-विरेचन आदिको

१—"शास्त्रे व्यवहारस्तु पारिभाषिकवीर्यनयेनैव" (शिवदाससेन)।
२—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. ३०१।
३—देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २८५—२९३।

औषधकर्म कहा है। नागार्जुनने कर्म-प्राधान्य प्रकरणमें 'द्रव्योंका शरीर पर जो प्रयोग वह कर्म, ऐसा लिखा है='कर्म सर्वेषाम्।" (र. वै. अ. २, सू. ३८)। "द्रव्यादयः पदार्थाः सर्वे, तेषां कर्म प्रयोग इत्यर्थः। ××× । प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थः" (भा.)।

प्राचीन कालमें हमारा द्रव्यगुणविज्ञान एक जीवित शास्त्र था। महर्षियोंने दीर्घकालके परिश्रम और अनुभवसे द्रव्यगुणविज्ञानके आधारभूत सिद्धान्त स्थापित किये थे। कोई भी नया द्रव्य उनके सामने आता था तो वे अपने सिद्धान्तानुसार मनुष्यशरीर पर उसका परीक्षण करके उसके पाञ्चभौतिक संगठन, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और कर्म निश्चित करते थे और उपयुक्त सिद्ध होनेपर उस द्रव्यको ग्रन्थोंमें स्थान देते थे। परन्तु आजकल हमारा यह शास्त्र मूर्च्छितावस्थामें है। इन दिनों किसी भी उपयोगी नवीन द्रव्यका हमारी आर्षपद्धतिसे परीक्षण करके द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें उसका समावेश कर लेनेका उदाहरण नहीं पाया जाता। हमारे संहिताग्रन्थ या निघंटुओंमें अनुक्त कुछ नवीन द्रव्योंका आजकल वैद्य लोग उपयोग करते हैं, परन्तु वह यूनानी या आधुनिक वैद्यकमें लिखे हुए उनके गुण-कर्मोंको देखकर तदनुसार या लोकमें प्रसिद्ध गुण-कर्मानुसार करते हैं। हमारी आर्षपद्धतिके अनुसार उनका परीक्षण करके द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें उनका समावेश करनेका यत्न नहीं किया जाता। यदि हम इस शास्त्रको पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो हमलोगोंका कर्तव्य होगा कि अपने सामने आये हुए नवीन द्रव्योंका अपने सिद्धान्तानुसार परीक्षण करके उनको अपने ग्रन्थोंमें ले लें। प्राचीन ग्रन्थोंमें कई द्रव्योंके रस, गुण, वीर्य और विपाकके विषयमें विभिन्न मत पाये जाते हैं, उनका पुनः परीक्षण करके निश्चय करने की और उनमें एकवाक्यता लानेकी आवश्यकता है। आयुर्वेदमें प्रचलित कई प्रव्योंके गुण-कर्म यूनानी और पश्चात्य वैद्यकमें हमारेसे अधिक लिखे हैं, उनका भी परीक्षणपूर्वक संग्रह कर लेना चाहिये। प्राचीन कालमें या आजकल वैद्योंने प्रायः औषधोंके गुण ग्रामीणों या अन्य देशवासियोंसे पहले जानकर पीछे उनका मनुष्यों या अन्य प्राणियोंपर प्रयोग करके परीक्षण किया है और परीक्षणसे प्राप्त ज्ञानके आधारपर उनके गुण-कर्मोंकी अपनी पद्धतिके अनुसार शास्त्रीय उपपत्ति लगानेका यत्न किया है। हम लोगोंको भी इस पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये।

—वैद्य जादवजी त्रिकमजी आचार्य

द्रव्यगुणविज्ञानपूर्वार्धान्तर्गतविषयाणां वर्णानुक्रमणिका

इस ग्रन्थमें दिये हुए संकेतचिह्न

च. चरकसंहिता।

सु. सुश्रुतसंहिता।

अ. सं. अष्टाङ्गसंग्रह।

अ. हृ. अष्टाङ्गहृदय।

र. वै. रसवैशेषिकसूत्र।

भा. भावप्रकाश।

शा. शार्ङ्गधरसंहिता।

वै. द. वैशेषिकदर्शन।

न्या. द. न्यायदर्शन।

सि. भे. सिद्धभेषजमणिमाला कृष्णराम-भट्टविरचिता।

च. द. चक्रपाणिदत्त, चरक और सुश्रुतके व्याख्याकार।

ग. गङ्गाधर कविराज, चरक-व्याख्याकार।

यो. योगीन्द्रनाथसेन कविराज, चरक-व्याख्याकार।

ड. डल्हन, सुश्रुतव्याख्याकार।

हा. हाराणचन्द्र कविराज, सुश्रुत-व्याख्याकार।

इ. इन्दु. अष्टाङ्गसंग्रहव्याख्याकार।

अ. द. अरुणदत्त, अष्टाङ्गहृदय-व्याख्याकार।

हे. हेमाद्रि, अष्टाङ्गहृदयव्याख्याकार।

भा. रसवैशेषिकसूत्रभाष्य।

शि. शिवदाससेन, चरकसंहिता और द्रव्यगुणसंग्रहके व्याख्याकार।

आ. आढमल्ल, शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्याकार।

का. काशीराम, शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्याकार।

डा. वा. दे. डॉक्टर वामन गणेश देसाई, औषधिसंग्रहकार।

पा. पाणिनीय अष्टाध्यायी।

द्रव्य-गुण-विज्ञानम्
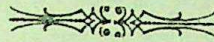
पूर्वार्धः

(द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्म-विज्ञानात्मकः)

द्रव्यविज्ञानीयो नाम प्रथमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

अस्मिन् ग्रन्थे द्रव्य-गुण-रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्माण्यभिधेयानि । तेषु रसादीनामाश्रयभूतत्वेन द्रव्यमेव प्रधानं, तस्मादादौ द्रव्यविज्ञानीयाध्याय आरभ्यते । द्रव्यस्य प्रभाव-स्वरूप-कर्मादिभेदैर्विशिष्टं ज्ञानं द्रव्यविज्ञानं, तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थो द्रव्यविज्ञानीयः ॥

इस ग्रन्थमें द्रव्य, गुण, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव और कर्म--इन सात विषयोंका प्रतिपादन होगा । उनमें द्रव्य ही रसादिका आश्रयभूत होनेसे प्रधान है । अतः प्रारम्भमें द्रव्यका विशेषरूपसे (प्रभाव-स्वरूप-कर्म आदि भेदसे) जिसमें विवेचन होगा ऐसा द्रव्यविज्ञानीय अध्याय आत्रेय-धन्वन्तरि आदि महार्षियोंके वचनानुसार लिखा जाता है ।

द्रव्यगुणविज्ञानप्रतिपाद्यद्रव्यशब्दार्थः—

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे । (च० सू० अ० २६)

सर्वं द्रव्यमिति कार्यद्रव्यम् । अस्मिन्नर्थे इति अस्मिन् प्रकरणे, द्रव्यगुणाधिकारे इति यावत् । गुणशब्देनात्र धर्मवाचिना रस-विपाक-वीर्य-प्रभाव-कर्माणि सर्वाण्येव द्रव्यधर्माण्यभिधीयन्ते । पाञ्चभौतिकमिति पृथिव्यादिभिः पञ्चभिर्भूतैर्मिलितैरारब्धमित्यर्थः । प्रकरणान्तरे यद्यपि पञ्चभूतात्म-मनः-काल-दिशां नवानामपि कारणद्रव्याणां द्रव्यशब्देन ग्रहणं भवति, तथाऽप्यस्मिन् द्रव्यगुणाधिकारे 'द्रव्य'-शब्देन औषधाहारोपयोगीनि पाञ्चभौतिकानि गुडूची-गोधूमादीनि कार्यद्रव्याण्येवाभिप्रेतानीत्यर्थः ।

द्रव्यमाश्रयलक्षणं पाञ्चनाम् । (र० वै० सू० १, १६६)

रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम्। (भा०)

वैशेषिकदर्शनमें तथा आयुर्वेदमें भी अन्य प्रकरणोंमें (च० सू० अ० १, श्लो० ४८ आदिमें) 'द्रव्य' शब्दसे आकाश, वायु, तेज-अग्नि, जल, पृथिवी, आत्मा, मन, काल और दिशा—इन नौका ग्रहण होता है, तथापि इस प्रकरणमें (द्रव्यगुणाधिकारमें) 'द्रव्य' शब्दसे पञ्चमहाभूतोंके मेलसे बने हुए औषध और आहारके लिए उपयुक्त गिलोय, गेहूँ आदि पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य ही अभिप्रेत[1] हैं। नागार्जुन ने रस, गुण, विपाक, वीर्य और कर्म—इन पाँचोंके आश्रयभूत पदार्थको 'द्रव्य' माना है।

द्रव्यलक्षणम्—

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्।

तद्द्रव्यं × × × × ×। (च० सू० अ० १)

द्रव्यलक्षणं तु 'क्रिया-गुणवत् समवायिकारणम्' इति।

(सु० सू० अ० ४०)

द्रव्यलक्षणमाह—यत्रेत्यादि। यत्राश्रिता यत्र समवेताः (समवायसंबन्धेन स्थिताः), कर्म च गुणाश्च कर्म-गुणाः। कारणं समवायि यदिति समवायिकारणं यत्, द्रव्यमेव हि द्रव्य-गुण कर्मणां समवायिकारणम्। समवायिकारणं च तद् यत् स्वसमवेतं कार्यं जनयति; गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं जनयतः, अतो न ते समवायिकारणे (च० द०)। × × ×। व्यवहारभूमावाकाशं परममहदक्रियं

१—द्रव्यगुणविज्ञानमें 'द्रव्य' शब्दसे जैसे पाञ्चभौतिक कार्यद्रव्य अभिप्रेत हैं, वैसे ही 'गुण' शब्दसे द्रव्यगुणविज्ञानोपयुक्त शब्दादि पाँच इन्द्रियार्थ तथा गुर्वादि बीस शारीर गुण अभिप्रेत हैं; और कर्म शब्दसे द्रव्यगुणविज्ञानोपयुक्त वमन-विरेचनादि कर्म ही अभिप्रेत हैं। जैसे कि—इसके आगे सूलमें "तस्य च गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः, कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि" अर्थात्—उस पाञ्चभौतिक द्रव्यके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तथा गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-द्रव ये गुण हैं; और वमन-विरेचन-आस्थापन-अनुवासन-शिरोविरेचन-बृंहण आदि कर्म हैं, ऐसा लिखा है। इससे यह स्पष्ट है कि—द्रव्यगुणाधिकारमें गुणशब्दसे शब्दादि पाँच और गुर्वादि बीस गुण ही प्रधानतया विवक्षित हैं। वैशेषिकदर्शनमें तथा आयुर्वेदमें भी प्रकरणान्तरमें इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख तथा परत्व अपरत्व आदि अन्य जो आत्मा-मन आदिके गुण कहे गये हैं वे यहाँ 'गुण' शब्दसे प्रधानतया विवक्षित नहीं हैं। एवं 'कर्म' शब्दसे भी उत्क्षेपण-अवक्षेपण—आदि नामसे जो पञ्चविध कर्म माने गये हैं, वे यहाँ प्रधानतया विवक्षित नहीं हैं।

चोपलभ्यते, तत् पुनर्भूतान्तरैः संहन्यमानं क्रियावद्भवति (एतेन दिक्कालावपि व्याख्यातौ)। एवमात्मा निष्क्रियोऽपि मनसः क्रियया क्रियावान्। द्रव्यं यदा उत्पद्यते तदानीमपि तन्नागुणं, स्वाभाविकगुणानुवृत्तेः। पृथिव्या गन्धः, अपां रसः, तेजसो रूपम्, इत्येवमादिकः स्वाभाविको गुणो न शक्यते तदा प्रतिषेद्धुम्। कारणं समवायीति यच्च समवायिकारणम्। समवायीति गुणैः सह अपृथग्भावः समवायः, तद्वत् समवायि। द्रव्यं गुणसमवायवद्धि कारणं भवति, गुणोऽपि द्रव्य-समवायवान्। अनेन समवायस्यापि कारणत्वमुपदर्शितं भवति। अथवा यच्च कारणं समवायि न पृथग्भवति; यथा—तन्तवः पटस्य, तद् द्रव्यम्। 'गुण-कर्माश्रयः समवायि कारणम्' इति द्रव्यलक्षणम् (यो०)। यत्र कर्म परिस्पन्दलक्षणं संयोगविभागकारणं (समवेतं); समवेताश्च गुणाः यत्र शब्दादयो गुर्वादयो वा बुद्धिर्वा परादयो वा समवेताः; यच्च कारणं समवायि, तद् द्रव्यमुच्यते। एतानि कर्मगुणाश्रयित्व-समवायिकारणत्वानि यद्यपि सर्वाणि सर्वस्मिन् द्रव्ये न विद्यन्ते, तथाऽपि यद्यत्र संभवति तेन तस्य द्रव्यत्वं कल्प्यम्। तद्यथा—मनसः कर्म-गुणाश्रयित्वेन, वाय्वादीनां तु कर्म-गुणाश्रयत्वेन समवायिकारणत्वेन च (अ०द०)॥

जिसमें संयोग-विभागका कारण परिस्पन्दनलक्षण (चलनात्मक) कर्म और रूपादि गुण समवाय (नित्य) संबन्धसे आश्रित हैं और जो कार्यद्रव्यके प्रति समवायि (उपादान) कारण है, उसे द्रव्य कहते हैं। जिसमें आश्रित होकर कार्य उत्पन्न होता है और जो कार्यसे या कार्य जिससे कदापि भिन्न नहीं रह सकता उसे समवायि कारण कहते हैं। जैसे—मिट्टी घड़ेका और तन्तु पटका समवायि कारण है। यद्यपि द्रव्यका यह लक्षण प्रधानतः कारणद्रव्यका है, तथापि द्रव्यगुण-शास्त्रमें प्रतिपाद्य गुडूच्यादि कार्यद्रव्य भी गुणकर्माश्रय और गुडूच्यादिमोदक आदिके समवायि कारण होनेसे कार्यद्रव्यमें भी यह लक्षण लागू होता है।

पञ्चमहाभूतेभ्यः कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिप्रकारः—

तत्र पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्ष-स्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवम्, इदमाप्यम्, इदं तैजसम्, इदं वायव्यम्, इदमाकाशीयमिति॥ (सु. सू. अ. ४१)

सर्वकार्यद्रव्याणां पञ्चभूतारब्धत्वं दर्शयित्वा चिकित्सोपयुक्तं पार्थिवत्वादिविशेष-माह—तत्रेत्यादि। समुदायादिति मेलकात्। पृथिवी-जलानिलादीनां च यद्यपि विरुद्धगुणत्वं, तथाऽप्यदृष्टवशादेकद्रव्यरूपकार्यारम्भकत्वं दृष्टत्वादेव भवति। यथा—वातादीनामेकव्याध्यारम्भकत्वं, शुक्र-शोणितयोर्वा सौम्याग्नेययोर्गर्भजन-कत्वं, सत्त्व-रजस्तमसां वा महदाद्यारम्भकत्वम्। उत्कर्षः प्रत्येकं पृथिव्याद्युत्कर्षः। अभिव्यञ्जक इति पार्थिवत्वाद्यभिव्यञ्जकः। तमेवाह—इदमित्यादि (च. द.)।

× × × तारतम्येन समुदितेभ्यः पञ्चमहाभूतेभ्यो द्रव्याभिनिर्वृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा चोपपन्नं भवति—उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जक इति (हा.) ॥

इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम् । तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्ति-विशेषौ । उत्कर्षेण तु व्यपदेशः ॥
(अ. सं. सू. अ. १७)

द्रव्यं पञ्चभूतात्मकं पञ्चभिर्भूतैरारब्धमित्यर्थः । पञ्च भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि लोके प्रसिद्धानि । आकाशस्य तु शून्यात्मनोऽपि गुणाश्रयत्वात् पृथिव्यादिवदेव भूतत्वं द्रव्यारम्भकत्वं च विज्ञेयम् । तथाच नभोभागाधिके द्रव्येऽवयवनिविडभावाद्यभावेन स्वरूपमजहदेव नभः कारणतां याति । × × × । ननु पृथिव्यादयः केन प्रकारेण कारणतां तत्र गच्छन्तीत्याह—तस्येत्यादि । तस्य द्रव्यस्य, अधिष्ठानम् आश्रयः पृथिवी । सा हि गुडूच्यादेराहारौषधोपयोगिनो द्रव्यस्योपलम्भेन प्रधानं कारणम् । तस्य च गुडूच्यादेः सर्वस्यैव द्रव्यस्याम्बु योनिः । 'यु'मिश्रणे, धातुः ; तस्मिन् 'योनिः' इति रूपं भवति । कारणं स्वभावसंबन्धहेतुरित्यर्थः । नभो-वाय्वनलानां समवायात् पृथिव्युदकाभ्यामविनाभाववृत्तित्वात्तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्ति-विशेषौ भवतः । निर्वृत्तिः निष्पत्तिः आत्मलाभः ; विशेषः द्रव्यान्तरेणासादृश्यम् । तथा च संस्थानविशेषलाभायावयवव्यूहने नभःकारणतां याति, काठिन्यादिके वायुः, तेजःप्रसादलभ्याश्चाङ्कुराद्यवस्थाविशेषाः ; तेनैतदुक्तं भवति—पञ्चानामेव भूतानां संयोगात् सर्वद्रव्याणामाहारौषधाद्युपयोगिनां सम्भवः । तेषामेव भूतानामेकादितारतम्यादिसंयोगविशेषेण द्रव्याणां परस्परव्यावृत्तिः । यश्च पार्थिवं द्रव्यम्, आप्यं द्रव्यम्, इत्यादिव्यपदेशः स भूयसा प्रभूतेन महाभूतेन जन्यते । तेन पञ्चसु मध्ये यदधिकं तदीयं व्पदेशं प्राप्नोतीत्यर्थः (इ.) ॥

पञ्चभूतात्मकं तत्तु, क्ष्मामधिष्ठाय जायते ॥
अम्बुयोन्यग्नि-पवन-नभसां समवायतः ।
तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च, व्यपदेशस्तु भूयसा ॥ (अ. हृ. सू. अ. ९)

तुरवधारणे । यत्तदोश्च नित्याभिसंबन्धात् 'यत्' इत्येतदनुक्तमप्यर्थाल्लभ्यते । तेनायमर्थः—यद्रसादीनामाश्रयभूतं कार्यं द्रव्यं हरीतक्यादि स्थावरं, छागादि वा जङ्गमं, (सैन्धवादि वा पार्थिवं,) तत् पञ्चभूतात्मकं ; न तु यत् कारणं द्रव्यमाकाशादि । तस्य हि पञ्चभूतात्मकत्वे सत्याकाशादीनां पृथक्त्वेनात्मलाभो न स्यात् । ततश्चेदमाकाशं नाम महाभूतम्, इदं पृथ्वी नाम महाभूतमिति गदितुं न पार्येत, सर्वस्य पञ्चमहाभूतात्मकत्वात् । न च यत् कारणं तत् कदाचित् कार्यं स्यात् । तस्मात् कार्यद्रव्यस्यैव पञ्चभूतात्मकत्वं, न कारणद्रव्यस्याकाशादेः । अथ केन महाभूतेन कथं कृत्वाऽऽरब्धं तद् द्रव्यमित्याह—क्ष्मामित्यादि । पृथ्वी-

माधारीकृत्योत्पद्यते। एवं पृथिव्याख्येन भूतेनाधारत्वेनोपकृत्य तेन तदारब्धं द्रव्यमित्युच्यते। तथा अम्बु सलिलं, योनिः कारणं यस्य तदम्बुयोनि द्रव्यम्। एवं जलं नाम महाभूतं रसवत्त्वाद्योनितयोपकृत्य तेन तदारब्धमित्युच्यते। × × ×। तथा अग्नि-पवन-नभसां समवायात् अपृथग्भावात्, तस्य द्रव्यस्य निर्वृत्तिः निष्पत्तिः, तथा तस्य द्रव्यस्य यो विशेषः इदमन्यदिदमन्यद् द्रव्यमित्येवंरूपो नानास्वभावः, सोऽप्यग्नि-पवन-नभसां समवायात्। एवमग्नि-पवन-नभोभिः समवायिकारणत्वेनोपकृत्य तैरेतद्द्रव्यमारब्धमित्युच्यते। एवं च सर्वं कार्यद्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकं, पञ्चभिर्महाभूतैरारब्धत्वात्। × × × (अ. द.)। द्रव्योत्पत्तिमाह—तत्त्विति। तद् द्रव्यं क्ष्मां पृथिवीमधिष्ठाय जायते, मृदमिव घटः; उपादानकारणं पृथ्वीत्यर्थः। अम्बु उदकं, योनिर्विपरिणामककारणं यस्य तदम्बुयोनि; यथा—घटे निष्पाद्ये मृदः पिण्डीभावादौ। अग्न्यादीनां सम्बन्धनात् तन्निर्वृत्तिः संपूर्णावयवत्वं काठिन्य-क्रियावकाशादिदानेन। विशेषः परस्परं, सोऽपि तत एव। यथा—पिण्डीभूताया मृदो मणिक-करक-शरावादिभेदः (हे.)। पृथिवी प्रधानकारणत्वमुपादानलक्षणं भजते, तदवयवानां मिश्रणं करोति जलम्, अग्निरुपादानं पचति, वायुरूर्ध्वाधस्तिर्यगवयवानुत्कर्षति, नभोऽवकाशं ददाति; सर्वत्रैवायं क्रमः। आग्नेये चित्रकादौ पृथिव्येव प्रधानकारणं, नाभसे वेण्वादौ, वायव्ये तुम्बादौ च (ह. बो.)॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों महाभूतोंके समुदाय (मेल) से सर्व कार्यद्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। कार्यद्रव्योंकी उत्पत्तिमें पृथिवी उनका अधिष्ठान (आश्रय-आधार) भूत है, जल योनिरूप अर्थात् उनके अवयवोंका (अणुओंका) मिलानेवाला—संमिश्रण करनेवाला है ('यु मिश्रणे' धातुसे 'योनि' शब्द बना है); आकाश, वायु और तेजके समवाय (मेल) से उनका आत्मलाभ अर्थात् उनकी (गुडूची-गोधूम आदि कार्यद्रव्योंकी) स्वरूपोत्पत्ति तथा एक दूसरेसे भिन्नता होती है। अर्थात् आहारौषधोपयुक्त गोधूम-गुडूच्यादि सब कार्यद्रव्योंकी उत्पत्तिमें पृथिवी आधार (आश्रय) रूपसे, जल उनके अवयवोंके सम्मिश्रण-संयोग करानेवालेके रूपसे, तेज काठिन्य-पाक और रूप उत्पन्न करके, वायु काठिन्य-ऊर्ध्व-अधः और तिर्यक् विस्तार और क्रिया उत्पन्न करके तथा आकाश अवकाशदानसे उनके सम्पूर्ण स्वरूप बननेमें और एक दूसरेसे भिन्न होनेमें कारणरूप होते हैं। जैसे—किसी पौधेकी उत्पत्तिमें पृथिवी आधाररूपसे, जल उसके अवयवोंके मिलानेवालेके रूपमें, तेज पाकके द्वारा उसकी अंकुरादि अवस्थाविशेषकी और रूप (रक्त-पीतादिवर्ण) की उत्पत्तिमें, वायु उसके काठिन्य तथा अवयव विभाग-वृद्धि आदिमें और आकाश उसके अवयवोंके बीचमें अवकाश-दानसे कारण होता है। यद्यपि इस प्रकार सब कार्यद्रव्योंकी उत्पत्ति पाँचों महाभूतोंसे होती है, तथापि उनके

समवाय (संमिश्रण) के तारतम्यभेदसे (न्यूनाधिकभावसे संमिश्रण होनेसे) अनेक प्रकारके द्रव्य उत्पन्न होते हैं। द्रव्य सब पञ्चमहाभूतात्मक होनेपर भी पृथिवी आदि एक-एक महाभूतकी अधिकतासे 'यह पार्थिव है, यह आप्य है, यह तैजस है' इत्यादि व्यपदेश-व्यवहार होता है। अर्थात् जिनमें पृथिवीके गुण-कर्म अधिक हों वे पार्थिव, जलके गुण-कर्म अधिक हों वे आप्य, तेजके गुण-कर्म अधिक हों वे तैजस, वायुके गुण-कर्म अधिक हों वे वायव्य और नभ-आकाशके गुण-कर्म अधिक हों वे नाभस कहे जाते हैं।

द्रव्याणां वर्गीकरणहेतुः—

इह खलु जगति द्रव्याणामपरिमेयत्वात् प्रतिद्रव्यं शृङ्गग्राहिकयोपदेशो दुष्कर एव। अतस्तेषां सौकर्येण सामान्यज्ञानार्थं समानाकृति-गुण-कर्मात्मकैः साधारण-धर्मैरुपलक्षितान् वर्गान् प्रकल्प्य तान्युपदिशन्ति तद्विदः। आयुर्वेदे द्रव्याणि स्वरूप-प्रभाव-गुण-कर्मादिभिर्वर्गशो विभिद्योपदिष्टानि तन्त्रकृद्भिः। तेषु प्रधानवर्गा अधस्तादुल्लिख्यन्ते।

सृष्टिमें द्रव्य अपरिमित—असंख्येय होनेसे शृङ्गग्राहिकन्यायसे प्रत्येक द्रव्यका निर्देश करना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। अतः उनके सामान्य ज्ञानके लिए जो द्रव्य समान धर्म (आकृति, गुण और कर्म) वाले हैं उनके एक-एक वर्गकी कल्पना करके उनका उपदेश शास्त्रकार करते हैं, जिससे समस्त द्रव्योंका सामान्य ज्ञान सुकर हो जाता है। आयुर्वेदमें द्रव्योंका चेतन-अचेतन-वृक्ष-गुल्म-लता आदि स्वरूपभेदसे, रसादि गुणभेदसे तथा जीवन-बृंहण आदि कर्मभेदसे अनेक प्रकारका वर्गीकरण तन्त्रकारोंने किया है। इनमें प्रधान-प्रधान वर्ग आगे लिखे जाते हैं।

चेतनाचेतनभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ—

तत् (द्रव्यं) चेतनावदचेतनं च। (च. सू. अ. २६)

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्। (च. सू. अ. १)

कार्यद्रव्याणां चेतनाचेतनतया विभागं चेतनाचेतनयोर्लक्षणं चाह—(यो.) सेन्द्रियमित्यादि। निरिन्द्रियमित्यत्र निःशब्दोऽभावे, निर्मक्षिकमितिवत्। × × ×। यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं, नापि मनः, यदुक्तं—"चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।" (च. शा. अ. १) इति, तथाऽपि सलिलौष्ण्यवत् संयुक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम्। इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं ; यदुक्तं—"आत्मा ज्ञः, करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।" (च. शा. अ. १) इति। अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यं ; तथाहि—सूर्यभक्ताया यथा यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणाद्दगनुमीयते ; तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति, तेन श्रोत्रमनुमीयते ; बीजपूरकमपि

शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद्भवति, तेन घ्राणमनुमीयते ; चूतानां च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनमनुमीयते ; (लज्जालोश्च हस्तस्पर्शमात्रेण संकुचितपत्रायाः स्पर्शनानुमानम्) । स्मृतिश्चानुमानं द्रढयति ; यथा—"वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैव तृणजातयः । तमसाऽधर्मरूपेण च्छादिताः कर्महेतुना ॥ अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ।" (मनुस्मृतिः अ. १) इति । तथा तन्त्रकारश्च वानस्पत्यानूकान् प्राणिनो वक्ष्यति ; तेनागमसंवलितया युक्त्या चेतना वृक्षाः (च. द.) । इन्द्रियैः सह वर्तमानं सेन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीररूपं चेतनम् । सेन्द्रियमित्यनेनात्मनः संबन्धोऽपि लभ्यते, इन्द्रियाणां प्रत्यगात्मनो लिङ्गत्वात् । शरीरस्य चैतन्ये आत्मैव हेतुः । कतिधापुरुषीये च वक्ष्यति—"शरीरं हि गते तस्मिञ्छून्यागारमचेतनम् । पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ।" (च. शा. अ. १) इति । आत्मनः साक्षादवचनं त्विह पाञ्चभौतिकद्रव्याधिकारात् ; आत्मा मनश्चाध्यात्मद्रव्यम् । चेतनमुक्त्वाऽचेतनमाह—निरिन्द्रियमिति । न सन्ति इन्द्रियाणि यस्य तन्निरिन्द्रियम् । निरिन्द्रियं द्रव्यं जीवच्छरीरव्यतिरिक्तमन्यत् सर्वमचेतनम् । तच्च चेतनस्योपकरणम् (यो.) ॥

सब कार्यद्रव्य चेतन और अचेतन भेदसे दो प्रकारके हैं । जो द्रव्य सेन्द्रिय (इन्द्रिययुक्त) होता है, वह चेतन और जो निरिन्द्रिय (इन्द्रियरहित) होता है, वह अचेतन होता है । जीवित शरीररूप द्रव्य सेन्द्रिय होनेसे चेतन होते हैं; जैसे—जीवित मनुष्यादि प्राणी तथा वृक्षादि उद्भिज्ज । जीवित शरीरको छोड़ कर अन्य जितने द्रव्य हैं, वे सब निरिन्द्रिय होनेसे अचेतन[1] हैं । जैसे—स्फटिक-सुवर्ण आदि पार्थिव द्रव्य । इस प्रकार चेतन (सेन्द्रिय—सजीव) और अचेतन (निरिन्द्रिय-निर्जीव) भेदसे द्रव्यके दो वर्ग-भेद होते हैं ।

वक्तव्य—यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दसे इन्द्रियाँ आत्माका लिङ्ग (ज्ञापक) होनेसे तथा इन्द्रियोंके द्वारा ही आत्माका चैतन्य अभिव्यक्त होता है, इसलिये आत्मा (जीव) का भी ग्रहण होता है । अतः 'सेन्द्रिय' शब्दसे सजीवशरीररूप सेन्द्रिय द्रव्य (सजीव प्राणी और उद्भिज्ज॰) यह अर्थ लेना चाहिये । इस विषयपर विशेष विवेचन उत्तरार्धके औषधद्रव्यविज्ञान नामक द्वितीय खण्डके प्रथम अध्यायमें साशन और अनशन शब्दकी व्याख्यामें किया जायगा । उसको भी देखें ।

पार्थिवादि (पञ्चमहाभूताधिक्य) भेदेन पञ्च द्रव्यभेदाः—

तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्ध-

---

१—जीवित दशामें प्राणी और उद्भिज्ज सेन्द्रिय होनेसे चेतन हैं । परन्तु जब वे मृत होते हैं तब आत्मा और इन्द्रियोंके संबन्धसे रहित होनेसे अचेतन होते हैं ।

गुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचय-सङ्घात-गौरव-स्थैर्य-कराणि; द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-मृदु-पिच्छिल-रस-गुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लाद-कराणि ; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूप-गुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्णकराणि ; लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि-विचार-वैशद्य-लाघव-कराणि ; मृदु-लघु-सूक्ष्म-श्लक्ष्ण-शब्द-गुण-बहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दव-सौषिर्य-लाघवकराणि ॥

(च. सू. अ. २६)

बहुलशब्दो गुर्वादिभिः प्रत्येकं संबध्यते; किंवा गन्धेनैव, यतो गन्धगुणबहुला पृथिव्येव भवति ; अत एव द्रव्यान्तरलक्षणेऽपि वैशेषिकगुणोऽन्त एव पठ्यते— 'रसगुणबहुलानि' इत्यादि ; तेन तत्रापि रसादिभिरेव बहुलशब्दो योज्यः । सर्व-कार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम् । सङ्घातः काठिन्यं, स्थैर्यम् अविचाल्यम् । बन्धः बन्धनं परस्परयोजनं, प्रह्लादः शरीरेन्द्रिय-तर्पणम् । सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारि । प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तं—"वर्णमाक्रामति च्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिका" (च. इं. अ. ७) इत्यादि । विचरणं विचारः, गतिरित्यर्थः । सौषिर्यं रन्ध्रबहुलता । अत्राकाशबाहुल्यं द्रव्यस्य पृथिव्यादिभूतान्तराल्पत्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन च ज्ञेयं, यदेव भूरिशुषिरं तन्नाभसम् (च. द.) । तत्र तेषु पार्थिवादिषु पञ्चविधेषु द्रव्येषु मध्ये । पार्थिवानि द्रव्याणि । द्रव्याणीति आप्यादिष्वपि योज्यम् । × × × । गुर्वादयो गुणा बहुला येषु तानि तथोक्तानि । बहुलशब्देनैतद् द्योतयति—पार्थिवद्रव्येऽन्येऽपि गुणाः (अल्पाः) सन्ति, सर्व-द्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वात्; गुर्वादयस्तु तत्र बाहुल्येन वर्तन्ते । एवमाप्यादिषु बोद्धव्यम् । × × × । गुणानुक्त्वा कर्माह—तानीत्यादि । तानि पार्थिवद्रव्याणि । उपचयः बृंहणम् । × × । आप्यान्यौदकानि द्रव्याणि द्रवादिगुणबहुलानि । × × । उपक्लेद आर्द्रभावः, बन्धः संहत्यापादनं, विष्यन्दः द्रवः, मार्दवं मृदुत्वं ; तान्याप्यद्रव्याण्युत्क्लेदादिकराणि । × × × । सूक्ष्मः सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलः, विशदः पिच्छिलविपरीतः । × × × । दाहः भस्मसात्करणं, पाक आहारादिपाकः, प्रभा तेजः, प्रकाशोऽभिव्यक्तिः, वर्णः गौरादिः । × × × । विचारः मनसोऽनेकविकल्पकरणं गतिर्वा । × × × । मृदुः कोमलः । श्लक्ष्णः मसृणः खरविपरीतः, मार्दवं मृदुत्वं, शौषिर्यं छिद्रभावः । × × × (यो.) । तत्रापरिसंख्येयमपि पाञ्चभौतिकं द्रव्यं संग्रहेण परिसंख्यातुमाह—तत्रेत्यादि । तत्र पाञ्चभौतिकेषु द्रव्येषु चेतनावत्स्वचेतनेषु च मध्ये गुर्वादिनवगुणबहुलानि द्रव्याणि पार्थिवानि पृथिवीबहुलपञ्चभूतात्मकानि, शेषाणां भूतगुणानां द्रवादीनामबहुलत्वमेव पार्थिवेषु द्रव्येष्विति ख्यापितम् ।

तेषां पार्थिवानां कर्माण्याह—तान्युपचयेत्यादि। तानि पार्थिवद्रव्याणि खल्वुप-युक्तानि शरीरादीनामुपचय-संघात-गौरव-स्थैर्यकराणि भवन्ति। × × × (ग.)॥

तत्र स्थूल[१]-सान्द्र-मन्द-स्थिर-गुरु-कठिन-गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं, तत् स्थैर्य-बल-गौरव-संघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति; शीत-स्तिमित-स्निग्ध-मन्द-गुरु-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ल-लवणं मधुररसप्रायमाप्यं, तत् स्नेहन-ह्लादन-क्लेदन-बन्धन-विष्यन्दनकरमिति; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-रूक्ष-खर-लघु-विशदं रूप-बहुलमीषदम्ल-लवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं, तद्दहन-पचन-दारण-तापन-प्रकाशन-प्रभावर्णकरमिति; सूक्ष्म-रूक्ष-खर-शिशिर-लघु-विशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं, तद्वैशद्य-लाघव-ग्लपन-विरूक्षण-विचा(च)रणकरमिति; श्लक्ष्ण-सूक्ष्म-मृदु-व्यवायि-विशद-विविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दव-शौषिर्य-लाघवकरमिति॥ (सु. सू. अ. ४१)

तत्र प्रभूतं द्रव्याभिव्यक्तिकारणं पृथिव्यादिभूतगुणोत्कर्षं निर्दिशन्नाह—तत्र स्थूलेत्यादि। स्थूलः सूक्ष्मविपरीतः, सान्द्रः तनुविपर्ययः, मन्दः तीक्ष्णविपर्ययः, सरविपरीतः स्थिरः, गुरुः चिरपाकी, कठिनः मृदुविपरीतः। पार्थिवस्य लक्षणाभिधानेन गुणवत्त्वमभिधाय क्रियावत्त्वं दर्शयन्नाह—तत् स्थैर्येत्यादि। स्थैर्यम् अचलत्वं, × उपचयः बृंहणम्। × स्तिमितम् आर्द्रम्। × × × ह्लादनं सुखोत्पादनं, क्लेदनम् आर्द्रभावः, × विष्यन्दनं द्रवस्रुतिः। × × × तीक्ष्णं राजिकामरिचादिवत्, सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलं, विशदं पिच्छिलविपरीतम्। × × × दारणं व्रणादेः, तापनं शरीरादिसंतापनं, प्रकाशनम् अभिव्यक्तिः, प्रभा तेजः, वर्णः गौरादिः। × × × खरं कर्कोटकफलवत्, शिशिरं शीतं, विशदं धूलिवत्। × × × ग्लपनम् अतृप्यत्वं, विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकरणं; 'विचरणकरम्' इत्यन्ये पठन्ति, तत्र गतिविशेषकरमित्यर्थः; 'विधारणम्' इत्यन्ये। × × × श्लक्ष्णं मसृणं, मृदु कोमलं, व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छति विषमद्यवत्; विविक्तं पृथग्भूतम्, 'अवयवद्वारेण शून्यम्' इत्यन्ये। अव्यक्तरसं मधुरादिरस-विशेषानुपलब्धेः। × × × (ड.)। × × × कठिनं निबिडावयवम्। अत्र गुणे गन्धबहुलमितिवचनात् पृथिव्याः सांसिद्धिकेन गन्ध-बाहुल्येन योगं दर्शयति। एवं जलादिष्वपि सांसिद्धिकेन रसादिविशेषेण योगं

१—'स्थूल-सार-सान्द्र' इति हाराणचन्द्रसंमतः पाठः।

दर्शयन् बहुलशब्दं करिष्यति। ईषत्कषायमिति पृथिव्यनिलयोगाज्ज्ञेयं; यद्वक्ष्यति– "पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषायः।" (सु. सू. अ. ४२) इति। प्रायशो मधुरमिति मधुरप्रधानं, पृथिव्या मधुररसकारणत्वात्। × × ×। अधोगति-स्वभावं पृथिव्या गौरवेण। आप्यद्रव्ये स्तिमितमिति जडत्वकारकं, सरमिति अनुलोमनम्। ईषदम्लमिति अग्न्यनुप्रवेशाज्जले मनागम्लता। × × ×। मधुरप्रायं तु पृथ्वीवदपामपि मधुरकारणत्वात्। प्रह्लादनं मनःप्रियत्वम्। × × ×। ईषदम्ल-लवणमिति एतद्रसद्वयस्यापि वह्निगुण-व्यापारेणारम्भात्; ऊर्ध्वगतिस्वभाव-मिति अग्नेरूर्ध्वज्वलनात्मकत्वात्। दहनं दाहकरं, पचनं तावद् विक्लेदादिकरणं, तापनं ताप्योपतापजननं, प्रकाशनम् अभिव्यञ्जनं तमसि, प्रभा दीप्तिः। ×। वायवीयद्रव्यलक्षणे खरं श्लक्ष्णविपरीतम् × × ईषत्तिक्तं वायोरपि तिक्ते व्यापारात्। ग्लपनं हर्षक्षयकरं, × विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकरं, 'विचरितम्' इति पाठपक्षे विचरणं विविधा गतिः। आकाशीयद्रव्ये व्यवायीति देहव्यापकम्, अव्यक्तरसमिति आकाशस्याव्यक्तरसताहेतुत्वात्। × × (च. द.)। सारं स्थिरांशं पाकादिभिः क्षयापचयरहितमित्येतत्, सान्द्रं नीरन्ध्रं, मन्दम् अतीक्ष्णवीर्यम्, स्थिरं स्वभावा-दूर्ध्वादिगतिरहितं, खरं खरस्पर्शम्। ×। स्तिमितम् आर्द्रम्, ह्लादनं तृप्तिः, विष्यन्दनं विस्रावः × ×। विशदम् अपिच्छिलम्। शिशिरं शीतस्पर्शं, ग्लपन-मिति स्वार्थिकोऽयं णिच्, हर्षक्षय इत्यर्थः; विचरणं मनसोऽनेकधा विकल्पनं, दोषाणां संचारो वा। × × ×। विविक्तम् असंयुक्तं सच्छिद्रमिति यावत्, अव्यक्तरसं मधुरादिरसविशेषेणानुपलभ्यमानम् (हा.)॥

तत्र द्रव्यं गुरु-कठिन-विशद-मन्द-सान्द्र-स्थूल-स्थिर-गन्धगुणबहुलं पार्थिवम्, उपचय-गौरव-संघात-स्थैर्यकरं; द्रव-स्निग्ध-शीत-गुरु-मन्द-सान्द्र-सर-मृदु-पिच्छिल-रस-गुणबहुलमौदकम्, उपक्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रह्लादकरं; तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-सूक्ष्म-लघु-विशद-रूप-गुण-बहुलमाग्नेयं, दाह-पाक-प्रकाश-प्रभा-वर्णकरं; रूक्ष-सूक्ष्म-लघु-विशद-विकाशि-व्यवायि-शीत-खर-स्पर्श-गुणबहुलं वायव्यं, रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-ग्लानि-विचारकरं; सूक्ष्म-लघु-विशद--श्लक्ष्ण-व्यवायि-विविक्त-शब्द--गुण--बहुलमाकाशात्मकं, सौषिर्य-लाघवकरम्॥ (अ० सं० सू०अ. १७)

तत्र पार्थिवं द्रव्यं गुरुत्वादिगुणयुक्तं गन्धगुणेन चाधिकम्; उपयुक्तं च देहे उपचयादिकरम्। उपचयो महत्त्वम्। स्थैर्यं दार्ढ्यम्। औदकं द्रव्यं द्रवत्वादि-गुणयुक्तं रसगुणाधिकं च, देहे चोपक्लेदादिकरम्। विष्यन्दः स्रोतसां स्रावः; द्रव-सान्द्रयोः परस्परविपरीतयोरप्यार्द्रत्वसामान्यादाप्यत्वम् (अ. द.)। प्रह्लादो

हत्तुष्टिः। आग्नेयं तीक्ष्णत्वादिगुणयुक्तं रूपगुणबहुलं च, देहे दाहादिकरम्। वायव्यं रूक्षत्वादिगुणयुक्तं स्पर्शगुणबहुलं च, देहे रौक्ष्यादिकं करोति। विचारो धातुवहनम्। नाभसं सूक्ष्मत्वादिगुणयुक्तं शब्दगुणाधिकं च × × (इ.)॥

बृंहण-क्लेदन-पचन-कर्शन-विवरणानि, तेभ्यः संघात-ह्लादन-प्रकाश-शैघ्र्य-सौषिर्याणि च॥ (र० वै० अ० २ सू० ४७)

एवं चाक्षुषत्वं पाञ्चभौतिकत्वं च साधितं कार्यद्रव्यस्य, इदानीं पुनरपि कार्यद्रव्ये भूतानामुपकारं प्रदर्शयति—बृंहणेत्यादि। एतानि बृंहणादीनि यथाक्रमं पृथिव्यादिभ्यः कार्यद्रव्येषु जायन्ते। बृंहणम् अवयवानामुपचयः पृथिव्याः। क्लेदनम् अपाम्। पचनं परिणामोऽग्नेः। कर्शनं तेषामेवापचयो वायोः। विवरणं छिद्रप्रदानमाकाशस्येति। एतानि संघातादीनि च यथाक्रमं पृथिव्यादीनामुपकारः (भा.)॥

जो द्रव्य गुरु[1], खर (खुरदरे), कठिन, मन्द (चिरकारी), स्थिर[2], विशद (पिच्छिलविपरीत), सान्द्र (घन-गाढ़े), स्थूल (मोटे), गन्ध गुण[3] की अधिकतावाले (च.), कुछ कषाय और मधुर रसकी प्रधानतावाले (सु.) हों, वे पार्थिव[4] हैं। उनका उपयोग करनेसे वे शरीरमें उपचय (स्थूलता भराव), संघात (काठिन्य), गौरव (भारीपन), स्थिरता (दृढ़ता) (च.) तथा बल करते हैं और विशेष करके अधोगति (नीचे गमन) करनेके स्वभाववाले होते हैं (सु.)। जो द्रव्य द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु (मृदुस्पर्शवाले-कोमल),

---

१—यहाँ आये हुए गुरु, लघु, शीत, उष्ण आदि गुणवाचक शब्दोंकी विशेष व्याख्या (स्पष्टीकरण) इस ग्रन्थके गुणविज्ञानीय नामक दूसरे अध्यायमें देखें।

२—क. हाराणचन्द्रजी पार्थिव द्रव्योंके गुणोंमें 'स्थिर' और 'सार' दोनों गुण पढ़ते हैं और स्थिरका स्वभावसे ऊर्ध्वादिगतिरहित तथा सारका पाकादिसे क्षयापचयरहित, यह अर्थ करते हैं।

३—कई व्याख्याकार गुर्वादिगुणोंके अन्तमें प्रयुक्त 'गुणकी अधिकतावाले, (गुणबहुलं-गुणोल्वणं) इस पदका सम्बन्ध केवल गन्धसे मानकर 'गन्धगुणकी अधिकतावाले' ऐसा अर्थ लेते हैं, क्योंकि गन्ध पृथिवीका विशेष गुण है और इसीलिये गन्ध आदि वैशेषिक गुण अन्तमें लिखे हैं। इसी प्रकार आप्य आदिके गुणवर्णनमें 'रसगुणबहुलं' इत्यादि पदोंकी ऐसी ही व्याख्या करते हैं।

४—यहाँ 'पार्थिव' शब्दसे पृथिवीके गुण-कर्म जिनमें अधिक हों ऐसे पाञ्चभौतिक द्रव्य, यह अर्थ समझना चाहिये; इसी प्रकार आप्य—तैजस आदि शब्दोंका भी अर्थ समझना चाहिये।

पिच्छिल (लुआबदार) (च.), स्तिमित (आर्द्र वा जड़), गुरु, सर (अनुलोमन) तथा सान्द्रगुण वाले, रस गुणकी अधिकतावाले; कुछ कषाय, अम्ल और लवण रसवाले तथा मधुर रसकी अधिकतावाले हों (सु.), वे आप्य हैं। उनका उपयोग करनेसे वे शरीरमें उपक्लेद (आर्द्रता), स्नेह (स्निग्धता), बन्ध (अवयवोंका परस्पर संयोजन-बाँधना), विष्यन्द (स्रोतोंसे द्रव झरना), मृदुता और प्रह्लाद (शरीर, इन्द्रियों और मनकी तुष्टि-तृप्ति) उत्पन्न करते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रवेश करनेवाले), लघु, रूक्ष, विशद और रूप गुणकी अधिकता-वाले (च.), खर, कुछ अम्ल और लवण रसवाले तथा कटुरसकी अधिकतावाले और विशेष करके ऊर्ध्वगमनके स्वभाववाले हों (सु.), वे आग्नेय (तैजस) हैं। उनका उपयोग करनेसे वे शरीरमें दाह (जलाना), पाक (पकाना-परिणाम), प्रभा (वर्णका प्रकाशन करनेवाली दीप्ति), प्रकाश, वर्ण (च.), दारण (फाड़ना-फोड़ना) तथा तपाना (सु.) ये कर्म करते हैं। जो द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद और सूक्ष्म गुणवाले, स्पर्श गुणकी अधिकतावाले (च.), व्यवायी, विकाशी (अ. सं.), कुछ तिक्त रसवाले और विशेषतः कषाय रसवाले हों (सु.), वे वायव्य हैं। उनका उपयोग करनेसे वे शरीरमें रूक्षता, ग्लानि (हर्षक्षय-अतृप्यता), विचार (मनके अनेक प्रकारके विकल्प या नाना प्रकारकी गति), विशदता, लाघव (हलकापन) और कर्शन (र० वै०) करते हैं। जो द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने), शब्द गुणकी अधिकतावाले (च.), विशद, व्यवायी और विविक्त (पृथग्भूतावयव) गुणवाले (सु., अ. सं.), तथा अव्यक्त रसवाले हों (सु.), वे आकाशीय हैं। उनका उपयोग करनेसे वे शरीरमें मृदुता, सुषिरता (सच्छिद्रता) और लाघव करते हैं। इस प्रकार पार्थिव आदि भेदसे द्रव्यके पाँच वर्ग होते हैं।

सर्वेषां द्रव्याणामौषधत्वनिरूपणम्—

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य। न तु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति; द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्तदधिकरणमासाद्य तां तां च युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म; येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं; यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं; यदा कुर्वन्ति स कालः; यथा कुर्वन्ति स उपायः; यत् साधयन्ति तत् फलम् (च. सू. अ. २६)॥

अनेनेति प्रतिनियतद्रव्यगुणोपदेशेन; यत् पार्थिवादि द्रव्यं यद्गुणं तद्गुणे देहे

संपाद्य तद् भेषजं भवतीत्यर्थः । तच्च पार्थिवादि द्रव्यं न सर्वथा न च सर्वस्मिन् व्याधौ भेषजमित्याह—तां तां युक्तिमित्यादि ।—युक्तिमिति उपायम्, अर्थमिति प्रयोजनम्, अभिप्रेत्येति अधिकृत्य; तेन केनचिदुपायेन क्वचित्प्रयोजने किंचिद् द्रव्यमौषधं भवति, न सर्वत्र । तेन यदुच्यते—वैरोधिकानां सर्वदाऽपथ्यत्वेन 'नानौषधिभूतं द्रव्यम्' इति वचो विरोधि, तन्न भवति; वैरोधिकानि हि संयोग-संस्कार-देश-कालाद्यपेक्षाणि भवन्ति, वैरोधिकसंयोगाद्यभावे तु पथ्यान्यपि क्वचित् स्युः । यान्यपि स्वभावादेव विष-मन्दकादीन्यपथ्यानि, तान्यप्युपाययुक्तानि क्वचित् पथ्यानि भवन्ति; यथा उदरे—"तिलं दद्यात् विषस्य तु" (च. चि. अ. १३) इत्यादि । यत्तु तृण-पांशुप्रभृतीनि नोपयुज्यन्ते, अतो न तानि भेषजानीत्युच्यते; तन्न, तेषमापि भेषजस्वेदाद्युपायत्वेन भेषजत्वात् । पार्थिवादिद्रव्याणां गुरु-खरादि-गुणयोगाद् भेषजत्वमुक्तं, तेन गुणप्रभावादेव भेषजं स्यादिति शङ्कां निरस्यन्नाह—न तु केवलमित्यादि । द्रव्यप्रभावाद्यथा—दन्त्या विरेचकत्वं, तथा मणीनां विषादि-हन्तृत्वमित्यादि । गुणप्रभावाद्यथा—ज्वरे तिक्तको रसः, शीतेऽग्निरित्यादि । द्रव्य-गुणप्रभावाद्यथा—कृष्णाजिनस्योपरीति । अत्रापि कृष्णत्वं गुणोऽजिनं च द्रव्यमभिप्रेतं; यथा वा—"मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम् ।" (चि. अ. २. पा. ३); तत्र मण्डलगुणयुक्तस्यैव जातरूपस्य कार्मुकत्वम् । कथं कुर्वन्तीत्याह—तस्मिंस्तस्मिन्नित्यादि । तां तां युक्तिमासाद्येति तां तां योजनां प्राप्य । यत् कुर्वन्तीत्यादावुदाहरणं यथा—शिरोविरेचनद्रव्याणि यच्छिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तच्छिरोविरेचनं कर्म; येनोष्णत्वादिकारणेन शिरोविरेचनं कुर्वन्ति, तद्वीर्यं; वीर्यं शक्तिः, सा च द्रव्यस्य गुणस्य वा; यत्र शिरोविरेचनं कुर्वन्ति तदधिकरणं शिरः, नान्यत्राधिकरणे शिरोविरेचनद्रव्यं प्रभवतीत्यर्थः; यदेति वसन्तादौ शिरोगौरवादि-युक्ते च काले, एतेनाकाले शीते शिरोविरेचनं स्तब्धत्वान्न कार्मुकं, किं तु स्वकाल एव; यथा येन प्रकारेण प्रधमनावपीडनादिना, तथा "प्रसारिताङ्गमुत्तानं शयने संस्तरास्तृते । ईषत्प्रलम्बशिरसं संवेश्य चावृतेक्षणम् ।"—इत्यादिना विधिना कुर्वन्ति, स उपायः; यत् साधयन्ति शिरोगौरवशूलाद्युपशमं तत् फलं; फलम् उद्देश्यम् । कर्म कार्यं साधनम्, उद्देश्यं फलं साध्यं; यथा—यागनिष्पाद्यो धर्मः कार्यतया कर्म, तज्जन्यस्तु स्वर्गादिरुद्देश्यः फलम्; एवं वमनादिष्वपि कर्माधिकरणा-द्युन्नेयम् (च. द.) । जगतः स्थावरजङ्गमस्य पाञ्चभौतिकत्वकथने यो गुण-स्तमाह—अनेनेति । अनेनोपदेशेन जगत्यनौषधभूतं किंचिद्द्रव्यं नोपलभ्यते । तां तां युक्तिं योजनाम्, अर्थं प्रयोजनं च तं तम् ऊर्ध्वाधोभागदोषहरणादिकम्, अभिप्रेत्य । विविधार्थप्रयोगवशात् सर्वमेव द्रव्यं भेषजं भवति । तथा च द्रव्याणि गुणैः कर्माणि कुर्वन्ति, गुणानां नियतत्वात् कथं तेषां नानाविधं कर्म उपपद्यते इत्यत आह—न च खल्विति । न च खलु केवलं गुणप्रभावादेव द्रव्याणि

कार्मुकाणि कार्यकराणि भवन्ति। किं तर्हि? द्रव्याणि द्रव्यप्रभावात्, गुणप्रभावात्, द्रव्यगुणयोरुभयोः प्रभावाच्च। तस्मिन् तस्मिन् काले; कालः संवत्सरात्मा, आतुरावस्थाऽपि। तत् तत् अधिष्ठानं देशं, भूमिं, देहं चापि। आसाद्य प्राप्य। तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत् कर्म भेषजव्यापारः ऊर्ध्वाधोभागहरणादि। येन क्रियां कुर्वन्ति तत् वीर्यं शक्तिः सामर्थ्यम्। यत्र कुर्वन्ति तत् अधिकरणं कर्मणः। तच्च पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायी पुरुषः। यदा यस्मिन् काले कुर्वन्ति स कालः। कालः संवत्सरात्मा शीतोष्णवर्षलक्षणः, आतुरावस्थिकश्चापि। यथा येन स्वरस-कल्क-कषायादि प्रकारेण कुर्वन्ति स उपायः। यत् साधयन्ति निष्पादयन्ति तत् फलमारोग्यरूपम्। ×××। (यो.)।

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि[1] भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत् कुर्वन्ति तत् कर्मयेन कुर्वन्ति तद्वीर्यं। यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत फलमिति[2]। (सु० सू० अ० ४१)

१—'कर्मकराणि' इति पाठान्तरम्।

२—अनेन निदर्शनेन-समस्त द्रव्य पञ्चभूतात्मक है, जिस भूतकी अधिकता होती है उसके अनुसार द्रव्योंके पार्थिवादि पाँच भेद होते हैं तथा उनमें विशेष गुण उत्पन्न होते हैं, इत्यादि द्वितीय सूत्रसे अष्टम सूत्रतक जो-जो विवरण किया गया है उसके अनुसार। नानौषधीभूतम् अनौषधीभूतं द्रव्यं नास्तीति सम्बन्धः। अनौषधीभूतम्—व्याधिहरणके लिए अनुपयोगी या अपथ्यकर। इस शब्दका तात्पर्य यह है कि यदि वैद्य व्याधिनिदान और मात्रादि योजनापरिज्ञानमें निपुण हो तो उसको स्थावर-जङ्गमाख्य पञ्चभूतारब्ध जगतमें कोई भी द्रव्य यहांतक कि सर्पविष भी अनुपयोगी या अपथ्यकर नहीं मालूम होगा। व्यवहारमें भी इस प्रकारकी कहावत प्रसिद्ध है—"अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्। अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥" युक्तिविशेष-योजनाविशेष। इस योजनाविशेषमें औषधिके बाह्यप्रयोगके समय अभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकादिका विचार और अन्तःप्रयोगके समय मात्रा-काल-क्रिया-भूमि-देह-दोष गुणान्तरका (प्रधानतया) विचार होता है। अर्थ-प्रयोजन। "प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च" (च० सू० अ० ३०)। अभिसमीक्ष्य—अभिसमीक्ष्य 'प्रयुक्तानि' इति शेषः। स्ववीर्यगुणयुक्तानि अव्यापन्नवीर्यगुणयुक्तानि। कार्मुक-कर्मणे प्रभवति उकञ्-कार्यकर (डॉ० भा० गो० घाणेकरजी कृत सश्रुतव्याख्या; पृ० २२६)।

इदानीं सर्वस्यैव जगतः स्थावरजङ्गमाख्यस्य पाञ्चभौतिकत्वेन सर्वमौषधं क्रियागुणयोगादिभिर्दर्शयन्नाह—अनेनेत्यादि। नानौषधिभूतमिति अनौषधिभूतं द्रव्यं नास्तीति सम्बन्धः। युक्तिविशेषमिति युक्तिविशेषो योजनाविशेषस्तोयाग्निसंस्कार-वासन-भावना-मात्रा-कालाद्यपेक्षः। अर्थं चेति अर्थः प्रयोजनं नानाव्याधिनिर्घातनम्। वीर्यं शक्तिः, शीतोष्णादयो वाऽष्टौ शक्तिमन्तो गुणाः; गुणा गुर्वादयः; अन्ये तु वीर्यप्रधाना गुणा वीर्यगुणाः, ते पुनः सरत्वादयः। कार्मुकाणि कार्यकराणि। ××। यथेत्यादि। येन स्वरस-कल्क-शृत-शीत-फाण्ट-घृत-तैल-लेह-मोदकोत्कारिकादि-प्रकारेण कुर्वन्ति स उपायः। यदिति स्वास्थ्यम्, अस्वास्थ्यं वा (ड.)। एवं तदुक्तपार्थिवादिद्रव्यस्वरूपस्य सर्वस्थावर-जङ्गमस्य भेषजताप्रतिपत्तिफलं यथा भवति तदाह—अनेनेत्यादि। निदर्श्यते पार्थिवादीनां स्वरूपमनेनेति निदर्शन-मागमः, तेनागमेनेति अनन्तरोक्तपार्थिवादिद्रव्यस्वरूपप्रतिपादकेनागमेन। नानौ-षधभूतमिति प्रतिषेधद्वयेनौषधरूपमित्यर्थः। एतदौषधत्वं सर्वद्रव्याणां यथा भवति, यत्र च भवति, तदाह—इति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमित्यादि। इति कृत्वेति सर्वमौषधभूतं द्रव्यमिति वचनेन। युक्तिविशेषाणां सर्वनाम्ना प्रत्यवमर्शः। युक्ति-विशेषमिति योजनाप्रकारं; स च योजनाविशेषो बाह्य आभ्यन्तरश्च शास्त्रे उक्तो वक्ष्यमाणः कालाद्यपेक्षः। अर्थमिति साध्यं, तच्च नानाव्याधिघातेन सुस्थ-पालनविशेषरूपम्। स्ववीर्य-गुणयुक्तानीति स्वशक्त्या प्रभावेण गुणेन च युक्तानि रस-वीर्य-विपाकयुक्तानीत्यर्थः, कार्मुकाणीति कर्मणि समर्थानि; किंवा स्ववीर्यगुण-युक्तानीति स्वकीयकार्यकरधर्मयुक्तानि; कार्यक्षमं हि द्रव्यधर्मं 'येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्' इत्यनेन वक्ष्यति; गुणशब्दोऽयं धर्मवचनः। एतदेवोक्तं युक्त्यपेक्षकार्यविशेषे वीर्य-गुणयुक्तस्य द्रव्यस्य कर्तृत्वं भेदेन दर्शयन्नाह—तानि यदेत्यादिना यावत् तत् फलमित्यन्तेन। यदेति नित्यगे चावस्थिके च काले; तत्र नित्यगे काले यथा—"साधारणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिः" (च. वि. ८) इत्यादि; आवस्थिके यथा—ज्वरितावस्थायां ज्वरहरणपाचनादि; इयं कालापेक्षा युक्तिरेव भेषजस्य। यत् कुर्वन्तीति दोषहरणादि तत् कर्म; यथा—त्रिवृदुत्सर्गतो दोषहरणं करोति, खदिरः कुष्ठं हरतीत्यादि; तेनैतत् स्वकार्ये द्रव्याणां सामर्थ्यमन्यत्राप्रवृत्तिरित्यादि। अनेन च तं तमर्थमिति व्याकृतम्। येनेति प्रभावेण, रसेन, वीर्येण, विपाकेन वा; अयं च वीर्यशब्दः पारिभाषिकवीर्यवचनो न भवति; किं तु शक्तिमात्रवचनः; यदुक्तं चरकेऽपि—"नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यवती क्रिया॥" (च. सू. अ. २६) इति; तेन प्रभाव-रसादयः सर्व एव स्वकार्यं कुर्वन्तो द्रव्यस्य शक्तिपर्यायरूपवीर्य-वाच्या इति ज्ञेयाः। एतच्च येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति वचनं स्ववीर्यगुणयुक्तानीत्यस्य व्याकरणम्। यथा कुर्वन्ति स उपाय इति यथा स्वरस-कल्कादिना तोयाग्नि-संस्कार-वासन-भावना-मात्रादिना च कुर्वन्तीति ज्ञेयम्। एतदपि स्वरसाद्यपेक्ष्य-

युक्तिव्याकरणमेव। यन्निष्पादयन्तीति आरोग्यविशेषं, स्वास्थ्यानुवृत्तिविधायकं वा, रसायनफलं वा, तत् सर्वं फलं सुखयुक्तत्वेन दुःखविवर्जितत्वेन वा पुरुषस्य नैसर्गिकेच्छाविषयः। तच्चेहारोग्यं, स्वास्थ्यं वा। कर्म तु दोषहरण-दाहच्छेदादिफलसाधकमिति कर्म-फलयोर्विशेषः। यन्निष्पादयन्ति तत् फलमित्यनेनापि तं तमर्थमित्यस्य व्याकरणं ज्ञेयम्। अत्र सर्वद्रव्यभेषजत्वकथनं विषाग्निप्रभृतीनामपि तत्र तत्र साध्ये क्वचिद्विहितत्वाद्युक्तमेव; येन विषमपि विषहरणे उदरे च विधीयत एव। यत्तु मधु-घृतादि संयोगादिना विरुद्धं तत् प्रत्येकं भेषजं क्वचिद्भवत्येव; संयुक्तं च वैरोधिकत्वाद् भेषजं न भवतीति न काचित् क्षतिः। न ह्यत्र सर्वथा द्रव्याणां भेषजत्वमेव कल्पितं, किं तु विवक्षितयोजनादियुक्तत्वेन चेति (च. द.)। उत्पत्तिमन्तः सर्व एव हि क्षित्यादयो भावाः सूक्ष्माणां क्षित्यादीनां समुदायाभिनिर्वृत्ततयोक्तलक्षणाः, तदिदमुच्यते—अनेनेति। निदर्श्यते विज्ञायते द्रव्याणां स्वभावोऽनेनेति निदर्शनं शास्त्रम्। तदयमर्थः—अनेन निदर्शनेन, 'तत्र स्थूलसार'-इत्यादिना 'लाघवकरम्' इत्यनेन ग्रन्थेन, जगत्यनौषधीभूतं न किंचिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा 'निश्चितम्' इति शेषः। तं तमिति बुद्ध्या समाकृष्टतया "तत्र विरेचनद्रव्याणि" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना अनन्तरं वक्ष्यमाणं युक्तिविशेषं, तं तमर्थं विषयं व्याधिविशेषं चेति यावत्, अभिसमीक्ष्य प्रयुक्तानि स्ववीर्यगुणयुक्तानि गुणवन्ति द्रव्याणि कर्मकराणि भवन्तीति योजना। × × × (हा.)।

इत्थं च नानौषधभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्ति विविधार्थप्रयोगवशात्॥
(अ. सं. सू. अ. १७)

इत्थम् एवं स्थिते, जगति तद् द्रव्यं नास्ति यदौषधत्वेन नोपयुज्यते। कुतः? नानाविधार्थप्रयोगवशात्। अर्थः प्रयोजनं, प्रयोग उपयोगः। तेनैतदुक्तं भवति—विचित्रितो भावः स्वभावः; तेन यद्यत्रापथ्यं तत्तत्रैव प्रयोजनान्तरेण पथ्यम्। तथा यत् पानेऽपथ्यं तदभ्यङ्गे पथ्यम्। एवं मात्रादिविशेषो विकल्पनीयः। तेन भस्मपांस्वादीनामपि प्रयोजनवशेनौषधत्वम् (इन्दु.)॥

× × × × × × जगत्येवमनौषधम्।
न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः॥ (अ. हृ. सू. अ. ९)

एवमनेन पञ्चमहाभूतारब्धेन गुर्वादिगुणयोगेन द्रव्याणां जगत्यनौषधभूतं न किंचिद् द्रव्यमस्ति; अपि तु सर्वमेव द्रव्यं यत् सिकतापांश्वादिकं तदौषधं चिकित्सितम्। वशान्नानार्थयोगयोः अर्थश्च योगश्च अर्थयोगौ; अर्थः प्रयोजनं, योगो युक्तिः; यथा—अनया युक्त्यौषधमिदं योजितमस्य रोगस्य विजयाय स्यादनया चास्य रोगस्येति; नानाविधौ यावर्थयोगौ तयोर्वशात् सामर्थ्यात्, सर्वमपि द्रव्यमौषधम्, रोगप्रतीकारहेतुत्वात् (अ. द.)। × × ×।

यदेकस्मिन्नर्थे नोपयुज्यते तदेवान्यस्मिन्नुपयुज्यते, यदेकेन योगेन नोपयुज्यते तदेवा-न्येनोपयुज्यते ; यथा—अत्यन्तानुपयुक्तोऽपि खरमेषादिविड्रसो बिन्दुशः श्वास-कालादौ, अत्यन्तापथ्योऽपि माष इण्डुरीकृतः सनवनीतोऽर्दितादौ (हे.) ॥

ऊपर, आप्य, पार्थिव-आदि द्रव्योंके जो प्रतिनियत गुण बताये गये हैं, उनसे विदित होगा कि जगतमें कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं पाया जाता, जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहण आदि प्रयोजनके लिये कषाय-स्नेह-प्रलेप-आसवादि योजनाओंसे प्रयुक्त होनेपर औषधके रूपमें काममें न आ सकता हो। द्रव्य केवल गुण-प्रभावसे ही कार्य करते हैं ऐसा नहीं है; किन्तु द्रव्य अपने द्रव्यप्रभावसे (अचिन्त्य शक्ति या पाञ्चभौतिकरचनाविशेष से), गुण (मधुरादि रस, शीतोष्ण आदि वीर्य-आदिके) प्रभावसे अथवा द्रव्यप्रभाव और गुणप्रभाव दोनोंसे कार्य करते हैं। अपने स्वाभाविक (अव्यापन्न) वीर्य और गुणयुक्त द्रव्य योग्य कालमें, योग्य अधिकरणोंमें, तत्तत् उद्देश्यके लिये, तत्तत् योजना (उपाय) से प्रयुक्त होने पर जो वमन-विरेचन-लङ्घन-बृंहणादि करते हैं, वह उनका कर्म है; जिस शक्ति द्वारा कार्य करते हैं, वह वीर्य है; जिस पञ्चमहाभूतशरीरिसमुदायात्मक मनुष्यशरीर में (समग्र शरीरमें या उसके एक देशमें) कर्म करते हैं, वह अधिकरण है; जिस समय कर्म करते हैं, वह काल है; जिस प्रकार (कषायादि तथा वमन-विरेचन-बस्ति-नस्यादि योजना-युक्ति द्वारा) कर्म करते हैं, वह उपाय है और जो आरोग्य सिद्ध करते हैं, वह फल है।

वक्तव्य—युक्ति अर्थात् कषायादिरूप योजना और अर्थ अर्थात् प्रयोजन; इससे यह बताया है कि, किसी विशेष प्रयोजनके लिये किसी विशेष उपाय (योजना) से प्रयुक्त द्रव्य ही औषधरूप होता है; चाहे जहाँ, चाहे जिस योजनासे प्रयुक्त द्रव्य औषधरूप नहीं हो सकता। इससे "वैरोधिक द्रव्य सदा अपथ्य होनेसे 'कोई भी द्रव्य अनौषध नहीं है' यह कहना विरुद्ध है" इस बातका परिहार होता है। क्योंकि वैरोधिक द्रव्य संयोग-संस्कार-देश कालादिकी अपेक्षया विरुद्ध होते हैं। वैरोधिक संयोगादिके अभावमें वे भी पथ्य होते हैं। जो विषादि द्रव्य स्वभावसे ही अपथ्य हैं, उनका भी यदि रोगविशेषमें युक्तिपूर्वक उपयोग किया जाय, तो वे भी पथ्य होते हैं। जैसे—उदररोगाधिकारमें विषका प्रयोग लिखा गया है। तृण, बालु आदि भी औषधार्थ स्वेदादिमें प्रयुक्त होते हैं, इसलिये वे भी प्रयोजन और युक्तिवश औषध होते हैं। मूत्र, मल आदि त्याज्य समझे जानेवाले द्रव्य भी प्रयोजनविशेषके लिये युक्तिविशेषसे औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं। द्रव्यप्रभावसे द्रव्य औषध रूप होता है; जैसे—दन्ती अपने द्रव्यप्रभावसे विरेचन करती है। ज्वरमें तिक्तरस तथा शीतमें अग्नि अपने गुणप्रभावसे कार्य करते हैं। वाजीकरणाधिकारमें कहा गया है कि—सोनेका कड़ा या वरक गाय

के दूधमें पकाकर पीनेसे वह दूध वाजीकर होता है। यहाँ मण्डल (कड़ेका गोल आकार या वरक) गुणयुक्त सुवर्ण ही कार्यकर माना जाता है अर्थात् यहाँ द्रव्यप्रभाव और गुण दोनों कार्य करते हैं। द्रव्य तत्तत् योजनाविशेष आदिसे कार्य करते हैं, इसका उदाहरण—शिरोविरेचन द्रव्य जो शिरोविरेचन करते हैं, वह उनका कर्म है; जिस द्रव्यप्रभावसे, रससे, शीतोष्णादि वीर्यसे, विपाकसे वा अन्य गुणोंसे शिरोविरेचन रूप कर्म करते हैं, वह उनका वीर्य (शक्ति) है, वह शक्ति द्रव्यकी हो तो प्रभाव और गुणकी हो तो वीर्य कही जाती है (यहाँ वीर्य शब्द शीतोष्णादि पारिभाषिक वीर्यके अर्थमें नहीं है, किन्तु शक्तिमात्रके लिए है)। जिस स्थानमें प्रयुक्त होनेपर द्रव्य शिरोविरेचन करते हैं, वह सिर उनका अधिकरण है (अन्य अधिकरणमें—शरीरके अन्य प्रदेशमें प्रयुक्त होने पर शिरोविरेचन द्रव्य अपना कार्य नहीं करते)। जिस कालमें अर्थात् वसन्त आदि और शिरोगौरवयुक्त कालमें कार्य करते हैं, वह उनका काल है (अकालमें (शीतकालमें) प्रयुक्त शिरोविरेचन स्तब्ध होकर अपना कार्य नहीं कर सकता है)। जिस प्रकारसे अर्थात् प्रधमन, अवपीडन आदि तथा 'रोगीको चित लेटाकर, उसकी आँखें बन्द कराकर और सिर कुछ नीचा कराके शिरोविरेचन द्रव्यका प्रयोग करें' इत्यादि जिस विधिसे शिरोविरेचन द्रव्य कार्य करते हैं, उसे उपाय कहते हैं। सिरका भारीपन, शूल इत्यादिकी जो शान्ति होती है, वह फल है। इस प्रकार वमनादि कर्मोंके लिये भी समझना चाहिए।

प्रभावभेदेन द्रव्यभेदाः—

किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।
स्वस्थवृत्तौ मतं किंचित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥ (च. सू. अ. १)

द्रव्यकार्यं प्रभावकृतं वक्तुं प्रभावभेदेन द्रव्यभेदमाह—किंचिदित्यादि। किंचिदिति न सर्वम्। दोषस्य दोषयोर्दोषाणां वा प्रशमनं दोषप्रशमनम्। दोषग्रहणेन दुष्टा रसादयोऽपि गृह्यन्ते। तेन द्रव्यमहिम्ना यद्दोषाणां दुष्टानां रसादीनां धातूनां वा शमनमामलक-दुरालभादि तद् गृह्यते। आमलकं हि शिवत्वप्रभावात् त्रिदोषहरं, दुरालभा चापि वात-पित्त-श्लेष्म-हरी। यद्यपि चामलकस्य "हन्ति वातं तदम्लत्वात्" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना गुणद्वारा त्रिदोषहरत्वमुच्यते, तथाऽपि तत् प्रभावबृंहितमेव बोद्धव्यम्। यतस्तत्राम्लत्वादिना पित्तादिकोपोऽपि युज्यते, स त्वामलकप्रभावान्न भवति। धातुप्रदूषणमिति वातादीनां समत्वेन शरीरधारणात्मकानां तथा रसादीनां च दूषणं किंचित्, यथा—यवक-मन्दक-विषादि। सुष्ठु अवतिष्ठते नीरोगत्वेनेति स्वस्थः, तस्य वृत्तिः स्वस्थरूपतयाऽनुवर्तनं, तत्र स्वस्थवृत्तौ मतमभिमतं पूजितमिति यावत्। संख्येयनिर्देशादेव त्रित्वे लब्धे त्रिविधग्रहणं

नियमार्थम्। तेन संशोधन-संशमनादीनामनेकविधानामप्यत्रैवावरोधः। रसायन-वाजीकरणे तु स्वस्थवृत्तिमात्रे एव। यदुक्तं—"स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्।" (चि. अ. १, पा. १) इति। प्रतिपादे किंचिद् ग्रहणं दोषहरत्वादिकर्मणां विभिन्नद्रव्याश्रयित्वोपदर्शनार्थम्; एककिंचिद् ग्रहणे त्वेकमेव द्रव्यं दोषहरं, धातुप्रदूषकं, स्वस्थवृत्तिमतं च स्यात्; न च तदभिमतम्। ननु, स्वस्थवृत्तिमतानां रक्तशालि-षष्टिक-यवादीनां दोषप्रशमनत्वमपि दृश्यते, यतो वक्ष्यति तत्र तत्र रक्तशाल्यादीनां ज्वरादौ प्रयोगं; तथा प्रकृति-शरीर-देश-काल-मात्राभियुक्तं दोषप्रशमनमपि दोषकरं भवति, यथा—आमलकमतिमात्रमग्निमान्द्यायेत्यादि; तथा धातुप्रदूषणमपि दोषशमनं दृश्यते, यथा—विषमुदरहरं, तथा यदेव मन्दकादि दोषकरं तदेव क्षीणदोषं प्रति दोषवृद्ध्या साम्यापादनेन दोषप्रशमनं भवति; तदेवमव्यवस्थितत्वात् किंचिद्दोषप्रशमनमित्यादि विरुद्धम्? अत्रोच्यते—स्वस्थवृत्तिमतं रक्तशाल्यादि दोषप्रशमनमपि भवति, परं तत् प्रायः स्वस्थवृत्तिहितत्वात् स्वस्थवृत्तिमतत्वेन गृह्यते। वचनं हि—"स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद्रसायनम्। प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं शमने हितम्॥ प्रायः शब्दो विशेषार्थ उभयं ह्युभयार्थकृत्।" (चि. अ. १। पा. १) इति। दोषप्रशमनानि द्रव्याणि विगुणप्रकृत्यादिप्रतिबन्धकाभावे दोषप्रशमनमाचरन्त्येव, प्रतिबन्धकसद्भावे तु न कुर्वन्ति, न चैतावता तेषां स स्वभावो न भवति; नह्यग्निर्मन्त्रादिप्रतिबन्धात् कदाचिन्न दहतीति दाहकत्वेन नोपदिश्यते; एवं धातुप्रदूषकस्यापि कदाचिद्धातुप्रशमकत्वं निमित्तान्तरयोगाद्भवन्न धातुप्रदूषकस्वरूपतां हन्ति, यथा—सलिलस्याग्निसम्बन्धादुष्णत्वम्। तस्माद्यद्यस्य प्रायिकमनन्योपाधिकृतं च रूपं, तेनैव व्यपदेशो युक्तः। यच्च मन्दकादीनां क्षीण-दोषवर्धकत्वेन दोषप्रशमकत्वं, तद्विद्यमानमपि कादाचित्कत्वात्तथा ह्युत्तरकालं दोषावहत्वाच्च न व्यपदिश्यते दोषप्रशमकत्वेन। ननु, यद्यप्येवं तथाऽपि यदेकदोषहर-मपरदोषकरं यथा मरिचं श्लेष्महरं, पित्तकरं चेत्यादि बहुद्रव्यजातं तत् कुत्र प्रविशतु? अत्रैके वदन्ति-यदुभयात्मकं तद् दोषहरं दोषकरं च, नचैतावता द्रव्यत्रित्वक्षतिः; यतो न वातादिसंसर्गजव्याधिसद्भावे वातादिजन्यत्वेन यत् त्रैविध्यं रोगाणामुच्यते तत् खण्डितं भवति; किंवा मरिचादीनां यदुभयकर्तृत्वं न तद् द्रव्यप्रभावकृतं, किं तर्हि रसादिकृतं, तेन न द्रव्यप्रभावप्रस्तावे तदुदाहरणीयं; नच किंचिद् द्रव्यं तादृशमस्ति यत् प्रभवादेव किंचिद्दोषं करोति, किंचिच्छमयतीति न दोषप्रशमनत्वादिप्रभावं प्रति नियमः; अयमेव च पक्षः साधुः। ननु 'किंचिद्दोषप्रशमनं किंचिद्दोषप्रदूषणम्' इति वा क्रियतां, 'किंचिद्धातुप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्' इति वा। नैवं, तथा सति दोषशब्दस्य मुख्यवृत्त्या वातादिष्वेव वृत्तित्वात्तथा धातुशब्दस्य च रसादिवृत्तित्वादुभयग्रहणं न प्राप्यते; उभयपदोपादानेन द्वयं निपुणकारी तन्त्रकारो दूषणत्व-धारणत्व-योगपरिग्रहाद्दोषप्रशमनेन

दुष्टरसादिप्रशमनमपि भेषजं विविधाशितपीतीयादिवक्ष्यमाणं, तथा धातुप्रदूषणेन वातादिप्रदूषकमपि निदानादिवक्ष्यमाणं ग्राहयति । प्रशब्दोऽत्र प्रकारे ; तेन प्रकारेण मृदु-मध्यादिना प्रकोपणं, तथा प्रकारेण संशोधन-संशमनादिना शमनमुच्यते ; किंवा धात्वर्थानुवृत्तावेव इमौ प्रशब्दौ, यथा—'च्युतांशः परिधावति' इत्यत्र धावतीत्यर्थः । आदौ दोषप्रशमनग्रहणं तस्यैवेहाभिप्रेतत्वात् । ननु स्वस्थवृत्तिमतं द्रव्यं भाविदोषहरत्वेन दोषप्रशमनमेव । नैवं, नहि स्वास्थ्यानुवृत्तिजनकत्वाद्दोषनिवृत्तिकरं दोषहरणमुच्यते, किं तर्हि समधातूनामवर्धकत्वेनाक्षयकरत्वेन च रसादिस्रोतसां चानुगुणत्वेन धातुसाम्यानुवृत्तिकरमुच्यते । वचनं हि-—"पथ्यं पथोऽनपेतं यत्" (च. सू. अ. २५) इति (च. द.) । × × × । किंचिद् द्रव्यं धातून् विषमान् समीकरोति, किंचित् समान् विषमीकरोति, किंचिच्च समान् धातून् प्रकृतौ वर्तयति, इति द्रव्यं त्रिविधमुच्यते (यो.) ॥

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा ।

(अ. सं., अ. हृ. सू. अ. १)

एषां च रसानामाश्रयो द्रव्यं, यद्रसादीननपेक्ष्य प्रभावादेव किंचित् करोति । तत् त्रिप्रकारं विशिष्टै रसादिभिर्युक्तं कुपितानां वातादीनां शमनं नाशकरं गुडूच्यादि, अन्यैर्युक्तं कोपनं साम्यनाशकरं यवकादि, अन्यैः स्वस्थहितं शाल्यादि यन्न कुपितस्य समीकरणे समर्थं नापि समस्य कोपने केवलं यथास्थितमेव संवाहयति । केचित्तु एकस्यैव द्रव्यस्य योग-मात्रा-कालादिभेदात् त्रिरूपतामाहुः (इ.) । इति अनेन प्रकारेण शमनादिभेदेन, त्रिधा त्रिप्रकारं द्रव्यम् । अन्येन प्रकारेण द्विधा, अथवा अनेकधा । इतिशब्दः प्रकारार्थेऽभिहितः । यत् कुपितान् वातादीन् दोषान् शमयति, तच्छमनम् । × × × । यद्वातादीन् दोषान् रसादीन् धातून् मूत्रादीन्मलांश्च कोपयति, तत् कोपनम् । दोषादीनां मलपर्यन्तानां स्वप्रमाणस्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद् द्रव्यं तत् स्वस्थेभ्यो हितं, यच्च स्वास्थ्यानुवृत्तिं करोति ऋतुचर्याध्याये सेव्यत्वेनोक्तं, तथा मात्राशितीयाध्याये रक्तशालि-षष्टिक-यव-गोधूम-जाङ्गलमांस-जीवन्तीशाक-दिव्योदक-क्षीरादि, तथा यदूर्जस्करं रसायन-वाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् (अ. द.) । प्रभावो रसादिष्वन्तरङ्ग इति द्योतयितुं द्रव्यशब्देनोक्तः । × × × । यद् द्रव्यं समैः समविपरीतैर्वा रसादिभिर्युक्तमपि वातादीन् शमयति तच्छमनम् । तद्यथा—मधुरशीताऽपि जीवन्ती कफं शमयति, कटुपाकरसो गुरुः स्निग्धोऽपि रसोनः कफ-वातौ । यद् द्रव्यं विपरीतैः समविपरीतैर्वा रसादिभिर्युक्तमपि वातादीन् कोपयति तत् कोपनम् । यथा—गुरूष्ण-स्निग्ध-मधुरमपि फाणितं वातं कोपयति, तैरेव गुणैर्माषः पित्त-कफौ । यद् द्रव्यं वातादीनां क्षय-वृद्ध्योर्हेतुरपि स्वस्थस्य न तथा, तत् स्वस्थहितम् । यथा—गुरु-मधुर-रूक्ष-शीतोऽपि यवः स्वस्थस्य पित्तं न क्षपयति, गुरु-मधुर-स्निग्ध-शीतमपि

क्षीरं स्वस्थस्य कफं न कोपयति। एवं सर्वत्रापि प्रभाव उदाहरणीयः। वक्ष्यति च "रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। अन्ये तु शमनादीन् द्रव्यभेदानाहुः। तत्तु न सम्यक्। द्रव्यभेदत्वे यदेव शमनं, तदेव कोपनं, तदेव स्वस्थहितमिति सङ्करो न युक्तः। धर्मभेदत्वे तु रसादिसङ्करवद्युक्तः। किञ्च द्रव्यभेदाश्चेदमी तदा रसादिधर्मभेदानां प्राक् पश्चाद्वा अभिधेयाः स्युः, न मध्ये। तस्मात् प्रभावभेदा एव शमनादयः (हे.)।

प्रभावभेदसे द्रव्य तीन प्रकारके होते हैं—(१) कुछ द्रव्य अपने प्रभावसे वातादि दोष और वातादि दोषद्वारा दूषित रसादि धातुओंका प्रशमन करते हैं, जैसे आँवला; आँवलेके अन्दर स्थित अम्लादि रस पित्तादि दोषोंको दूषित न करके अपने द्रव्य-प्रभावसे वातादि तीनों दोषोंका शमन ही करते हैं; उनको दोषप्रशमन—शमन कहते हैं। (२) कुछ द्रव्य अपने प्रभावसे धातुओंको (समावस्थामें स्थित वातादि दोष शरीरको धारण करनेवाले होनेसे धातु कहलाते हैं उनको, रसादि धातुओंको तथा समावस्थामें स्थित मूत्र-पुरीष आदि मल भी शरीरको धारण करने-वाले होनेसे धातु कहलाते हैं उनको) दूषित करते हैं, जैसे-विष आदि; उनको धातुप्रदूषण-कोपन कहते हैं। (३) और कुछ द्रव्य अपने प्रभावसे वातादि दोषोंका प्रशमन या धातुओंका दूषण न करके केवल स्वस्थके लिए ही हितकर होते हैं; जैसे-रक्तशालि आदि; उनको स्वस्थवृत्तिमत-स्वस्थहित कहते हैं। इस प्रकार प्रभावभेदसे द्रव्योंके दोषप्रशमन (शमन), धातुप्रदूषण (कोपन) और स्वस्थवृत्तिमत (स्वस्थहित) ये तीन भेद—वर्ग होते हैं।

योनिभेदेन द्रव्यभेदाः—

तत् पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं जङ्गमौद्भिद-पार्थिवम्[1]।

(पाञ्चभौतिकं द्रव्यं प्रभावभेदेन[2] विभज्य योनिभेदेन विभजति—) तत् पुनरित्यादि। तदिति द्रव्यम्। गच्छतीति जङ्गमम्, उद्भिद्य पृथिवीं जायत इति औद्भिदं वृक्षादि, उक्तप्रकारद्वयातिरिक्तः पृथिवीविकारः पार्थिवम्। × × ×। इह च द्रव्यशब्देन पार्थिव[3]द्रव्यमेवोच्यते; तेन जलानिलाग्न्यादीनामग्रहणादव्याप्तिर्न वाच्या। जङ्गमशब्देन जङ्गमप्रभवं गोरस-मध्वाद्यपि ग्राह्यम्। एवमौद्भिदपार्थिवयोरपि ग्रहणं वाच्यम् (च. द.)। तद् द्रव्यं पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं-जाङ्गमं, भौमम्, औद्भिदमिति। भृशं पुनः पुनर्वा गच्छन्तीति जङ्गमा जरायुजादयः, जङ्गमप्रभवं जाङ्गमं

१—'जाङ्गमं भौममौद्भिदम्' इति पाठान्तरम्।

२—'क्रियाविशेषेण विभज्य स्वरूपेण विभजति' इति गङ्गाधरः।

३—पार्थिवद्रव्यमिति पृथिवीमाधारीकृत्योत्पन्नं गुडूची-च्छाग-सैन्धवादि द्रव्यमित्यर्थः।

गोरस-मध्वादि। भूमेर्विकारो भौमं सुवर्णादिकम्। उद्भिद्य पृथिव्यां जायत इत्यौद्भिदं वनस्पत्यादि (यो.)। ×××। तन्मूर्तिमत् पाञ्चभौतिकं द्रव्यं भेदान्तरेणापि त्रिविधमस्मिंस्तन्त्रे प्रयोक्तुमर्हत्वेन बोध्यं, तेन वाय्वादीनाममूर्तद्रव्यत्वेनानुपदेशेऽपि न न्यूनत्वम्। तत्तु त्रिविधं विभजते—जाङ्गमेत्यादि। जङ्गमानामिदमिति जाङ्गमम्। औद्भिदम् उद्भिद्य पृथिवीं जायत इत्युद्भित्, तस्यावयवरूपमिदमौद्भिदं, द्रव्यमित्यन्वयः। पृथिव्या विकाररूपं पार्थिवं; पृथिवी प्रधानमस्य विकारस्य तद्वा पार्थिवमिति (ग.)।

योनिभेदसे द्रव्योंके जाङ्गम, औद्भिद् और पार्थिव ये तीन भेद होते हैं। (१) जो एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन करते हैं, उनको जङ्गम कहते हैं; जैसे—जरायुज आदि प्राणी। जङ्गम प्राणियोंसे मिलनेवाले गोरस, मधु, मांस, कस्तूरी, गोरोचन आदि द्रव्य जाङ्गम कहलाते हैं। (२) जो पृथिवीको फाड़कर उत्पन्न होते हैं, उनको उद्भिद् या उद्भिज्ज कहते हैं; जैसे—वृक्ष, लता आदि। उनके अवयवरूप मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल आदि द्रव्य औद्भिद कहलाते हैं। (३) पृथिवीके विकाररूप जो द्रव्य हैं, वे पार्थिव कहलाते हैं; जैसे—सोना, सैन्धव आदि।

औद्भिदद्रव्याणामवान्तरभेदाः—

× × × × × औद्भिदं तु चतुर्विधम्।
वनस्पतिस्तथा वीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः॥
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि।
ओषध्यः फलपाकान्ताः, प्रतानैर्वीरुधः स्मृताः॥ (च. सू. अ. १।)

फलैर्वनस्पतिरिति विना पुष्पैः फलैर्युक्ता वटोदुम्बरादयः। ××× पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपीति पुष्पानन्तरं फलभाज इत्यर्थः। ×××। प्रतानशब्देन लता गुल्माश्च गृह्यन्ते। यदुक्तं हारीतेन—"लता गुल्माश्च वीरुधः।" इति (च. द.)। ×××। वीरुदिति विशेषेण लताप्रतानैर्विस्तृतीभूय वा रुणद्धि देशमिति वीरुत्। ×××। ओषधिरिति उष दाहे, ओषेण भूताग्निना आफलपाकादाधीयते इति ओषधिः फलपाकान्ता। ×××। (ग.)॥ ×××। फलैरित्यत्र जटाभिस्तापस इतिवत् 'इत्थंभूतलक्षणे' (पा. अ. २।३।२१) इति तृतीया। एवमन्यत्रापि। ××× (यो.)।

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयः, वृक्षाः, वीरुधः, ओषधय इति। तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति।

(सु. सू. अ. १)

तासामिति द्विविधानामोषधीनां मध्ये। के ते चत्वारः प्रकारा इत्याह—वनस्पतय इत्यादि। तानेव विवरितुमाह—तास्विति ; तासु मध्ये। अपुष्पा इति अविद्यमानपुष्पाः, फलवन्त इति फलं येषामस्ति ते वनस्पतय इति ; के पुनरीदृशाः ? प्लक्षोदुम्बरादयः। पुष्पफलवन्तो वृक्षा इति उभययुक्ता वृक्षाः ; के ते ? आम्र-जम्बूप्रभृतयः। प्रतानवत्य इत्यादि—प्रतानवत्यः विस्तारवत्यो वीरुधः, न केवलं प्रतानवत्यो वीरुधः स्तम्बिन्यो गुल्मिन्यश्च ; गुल्मः पुनः वर्तुल[1]लतासन्ततिर्विटपः। ××× । फलपाकनिष्ठा इति निष्ठा नाशः, फलपाकेन परिणत्या नाशो यासां तास्तथोक्ताः ; ते पुनर्गोधूमादयः ; अन्ये तु निष्ठाशब्दं प्रत्येकं संबध्नन्ति, फलनिष्ठाः, पाकनिष्ठाश्चेति ; तत्र फलनिष्ठाः शालि-तिल-कुलत्थादयः, पाकनिष्ठाः कवकादयः ; कवकश्छत्रक उच्यते (ड.)। तास्विति ते च वृक्षास्ते च वनस्पतयस्ताश्च वीरुधस्ताश्चौषधय इति ; "तदादीनां मिथः सहोक्तौ यत् परं तच्छिष्यते" इत्येकशेषः, वनस्पत्यादिष्वित्यर्थः। ×××। येभ्यश्च पुष्पाणि जायन्ते न फलानि ते सर्ववृक्षेषु वन्ध्या अवकेशिन इत्युच्यन्ते। तेषां सत्यामपि फलसंभावनायां तदभावाद् व्यापन्नत्वेन वृक्षत्वमेव गम्यते। ×××। गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः। ××× (हा.)।

अत्र डल्हण-चक्रपाणि प्रभृतिभिर्व्याख्यातृभिः 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः' इत्यस्य 'अविद्यमानपुष्पाः फलवन्तो वटोदुम्बरादयो वनस्पतयः' इत्यर्थो व्याख्यातः। परं स न मनोरमः, वटोदुम्बरादीनां पुष्पसद्भावात् ; पुष्पेभ्य एव तत्फलानां समुद्भवाच्च। वटोदुम्बरादिषु पूर्वं पुष्पाणि, पश्चात्तेभ्यः फलानि संजायन्ते। परं सूक्ष्मत्वात् कर्णिकयाऽऽवृतत्वाच्च तानि सन्त्यपि बाह्यतो न दृश्यन्ते। वटादीनां फलमिति नाम्ना व्यवह्रियमाणं वस्तु नैकं फलं, किन्तु कर्णिकयाऽऽवृतो बहूनां फलानां समुच्चय एव। इत्थंभूतं फलसमुच्चयमेव फलमिति मत्वा तत्र बाह्यतः पुष्पाणामभावमुपलभ्य एतादृशानि फलानि विना पुष्पमुत्पद्यन्तेऽतो वटादयोऽविद्यमानपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतिशब्दवाच्या इति तैर्व्याख्यातमिति संभाव्यते। परं यद्यामावस्थायां वटादीनां फलवद्दृश्यमाना कर्णिका द्विधा भित्त्वा बृहद्दर्शककाचसाहाय्येनावलोक्यते तदानीं तत्र दृश्यन्ते सूक्ष्माण्यनेकपुष्पाणि। कियता कालेन तानि फलरूपेण परिणमन्ति। लोकैस्तु प्रायेण परिपक्वान्तःफला कर्णिका भिद्यते तत्र सूक्ष्मा जन्तवः सन्ति न वेति ज्ञानार्थम्। परं तदानीं पुष्पाणां फलरूपेण परिणत्वान्न दृश्यन्ते तानि। फलानामपि सूक्ष्मत्वात् परिपक्वत्वाच्च कर्णिकान्तर्गतबीजान्येव दृश्यन्ते तदा। अतो वटादयोऽविद्यमानपुष्पा इति भ्रमसंभवः स्वाभाविकः। नैतावता वटोदुम्बरादीनामपुष्पत्वं शक्यं वक्तुम्।

१—'वर्तुललतासंततिविशिष्टः' इति पाठान्तरम्।

तस्मात् 'अपुष्पाः' इत्यत्र नञ् अल्पार्थे-सूक्ष्मार्थे। अतः अपुष्पाः सूक्ष्मपुष्पाः ; पुष्पाणां सूक्ष्मत्वात् कर्णिकयाऽऽवृतत्वेन बाह्यतोऽदृश्यत्वाच्च अदृश्यपुष्पाः-गुह्यपुष्पाः इत्यर्थः। शब्दार्थचिन्तामणि-शब्दस्तोममहानिधि-वाचस्पत्यबृहदभिधान-सेन्टपिटर्सबर्गडिक्शनरीप्रभृतिकोषेषु दृश्यतेऽश्वत्थस्य 'गुह्यपुष्पः' इति पर्यायनाम, तदपीममेवार्थं द्रढयति। अन्ये पुनः 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इति वचनमन्यथा व्याख्यानयन्ति, यथा—"अपुष्पाः पुष्पं विना, फलवन्तः उत्पत्तिमन्तो वनस्पतयः। 'फल'निष्पत्तौ इति धातुः, ततः फलति निष्पद्यते इति 'फलम्' इति रूपं, तद्वन्तः उत्पत्तिमन्तः। पुष्पं विना उत्पद्यमाना हंसपदी-मयूरशिखादयो अपुष्पा उद्भिज्जा वनस्पतयः। पुष्पफलवन्तः पुष्पात् फलवन्तः उत्पद्यमाना आम्र-जम्बूप्रभृतयः सपुष्पा उद्भिज्जा वृक्षा इत्यर्थः। अनेन उद्भिज्जानां 'सपुष्पा', 'अपुष्पा' चेति द्विविधा जातिरुक्ता तन्त्रकृता" इति। प्रथमव्याख्यायां वनस्पति-वृक्षशब्दाभ्यां, द्वितीयव्याख्याने वृक्षशब्देन च ओषधिवीरुधामपि सपुष्पफलत्वेन ग्रहणमापद्यते, परं तासामोषधि-वीरुच्छब्दाभ्यां पृथगुक्तत्वात् पारिशेष्याद् वृक्षा एवात्र प्रथमव्याख्याने वनस्पति-वृक्षशब्दाभ्यां, द्वितीयव्याख्याने च वृक्षशब्देनाभिप्रेता इति ज्ञेयम्। व्याख्यानद्वयमप्येतत् प्रत्यक्षाविरुद्धत्वात् साधु।

उद्भिज्जद्रव्योंके चरक और सुश्रुतमें चार अवान्तर भेद लिखे हैं—वनस्पति, वानस्पत्य-वृक्ष, वीरुध् और ओषधि। (१) जिनमें पुष्प (और फल) सूक्ष्म और कर्णिकाके द्वारा आवृत होने (ढके रहने) के कारण दिखते नहीं ऐसे अदृश्य (गुह्य) पुष्प उद्भिज्जोंको वनस्पति कहते हैं, जैसे— वड़, गूलर इत्यादि[1]।

१—प्रसिद्ध उद्भिज्जवेत्ता स्व. वा. श्रीयुत जयकृष्ण इन्द्रजी अपने गुजराती भाषामें लिखित 'वनस्पतिशास्त्र' नामके ग्रन्थमें बड़के प्रकरणमें उसके फूलों और फलोंके विषयमें लिखते हैं कि—"इस वृक्षमें फूल और फल बहुत सूक्ष्म होते हैं। ये नीचेसे चौड़ी और नीचेसे ऊपरकी ओर गोलाई ली हुई कर्णिका अथवा पुष्पधार पर स्थित होते हैं। इस कर्णिका या पुष्पाधारको ही बड़का फल समझा जाता है। परन्तु वास्तवमें तो बड़के फूल और फल इन कर्णिकाओं (Receptacles) के अन्दर सूक्ष्मरूपमें रहते हैं। ये कर्णिकाएँ बन्द होनेसे उन्हें खोले बिना उनके फूल और फल देखे नहीं जा सकते। प्रायः होता यह है कि जबतक बड़की कर्णिकाएँ पक कर लाल नहीं हो जातीं तब तक उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। और जब वे पूर्णतः पक जाती हैं तब उनके फूल खुलकर फलमें परिणत हो गये होते हैं। इसी कारण पकी हुई कर्णिकाओंको जब हम खोलकर देखते हैं तो उनमें पके हुए सूक्ष्म बीजों जैसे फल दीख पड़ते हैं, जिन्हें हम बड़के बीज कहते हैं। सो, बड़के फूल देखने हों तो कच्ची कर्णिकाओंको चीर कर उनका बृहद्दर्शक काचसे निरीक्षण करना चाहिए"।

(२) जिनमें पुष्प और फल दोनों प्रकटरूपसे दिखते हैं, उनको वानस्पत्य या वृक्ष कहते हैं ; जैसे—आम, जामुन इत्यादि। (३) फल पकने पर या स्वयं पक जानेपर जिनका अन्त—नाश हो जाता है, उनको ओषधि कहते हैं ; जैसे—शालि, गोधूम, छत्राक आदि। (४) जिनकी लताएँ फैलती हैं तथा जो गुल्मके रूपमें होते हैं, उनको वीरुध् कहते हैं ; जैसे—गिलोय (लताका उदाहरण), कनेर (गुल्मका उदाहरण) आदि।

वक्तव्य—डल्हण-चक्रपाणि आदि प्राचीन टीकाकारोंने 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इसकी "जिनमें विना पुष्प लगे ही फल होते हैं उनको वनस्पति कहते हैं, जैसे बड़-गूलर आदि ; और जिनमें प्रथम पुष्प होकर पीछे उनसे फल बनते हैं उनको वृक्ष कहते है, जैसे—आम-जामुन आदि" ऐसी व्याख्या की है। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि बड़-गूलर आदिमें प्रथम सूक्ष्म पुष्प लगते हैं और पीछे उनसे ही फल बनते हैं। परन्तु पुष्प और फल दोनों सूक्ष्म होनेसे तथा कर्णिकाद्वारा आच्छादित होने (ढके रहने) के कारण बाहरसे दिखते नहीं। इसलिये सम्भव है कि बड़-गूलर आदिकी पुष्प-फल-युक्त समग्र कर्णिकाको फल मानकर और उसमें बाहरसे पुष्पोंका अभाव देखकर उन्होंने ऊपर लिखी हुई व्याख्या की हो। बड़-गूलर आदिमें बाहरसे पुष्प न दिखनेसे ऐसा भ्रम होना सम्भव है। परन्तु बड़, गूलर आदिकी अपक्व कर्णिकाको काटकर बृहद्दर्शक काचकी सहायतासे उसका सूक्ष्म निरीक्षण करें तो उसमें अनेक सूक्ष्म पुष्प दिखते हैं। अतः 'अपुष्पाः' इस पदमें 'नञ्' अव्यय निषेधार्थमें नहीं किन्तु अल्पार्थमें (सूक्ष्मके अर्थमें) है यह मानकर अपुष्प याने सूक्ष्म पुष्पवाले और पुष्प सूक्ष्म तथा कर्णिकासे आच्छादित होनेसे अदृश्य (गुह्य)-पुष्पवाले, यह अर्थ करना उचित है। शब्दार्थचिन्तामणि-शब्दस्तोममहानिधि—वाचस्पत्यबृहद-भिधान—सेन्टपिटर्सवर्ग डिक्शनरी आदि कोशोंमें अश्वत्थ (पीपलके वृक्ष) का गुह्यपुष्प यह पर्याय नाम मिलता है। उससे इस अर्थकी पुष्टि होती है। कई विद्वान् 'अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः' इस वाक्यमें 'फलवन्तः' इस पदकी 'फल' निष्पत्तौ=उत्पन्न होना, इस धातुसे 'फलन्ति उत्पद्यन्ते इति फलानि, तद्वन्तः फलवन्तः=जो उत्पन्न हों वे फल, उनवाले अर्थात् 'उत्पन्न होनेवाले' ऐसी व्युत्पत्ति करके "पुष्पके विना उत्पन्न होनेवाले हंसराज-मयूरशिखा आदि अपुष्प उद्भिज्ज वनस्पति और पुष्प तथा फलसे उत्पन्न होनेवाले सपुष्प उद्भिज्ज वृक्ष कहलाते हैं" ऐसी व्याख्या करते हैं ; और इस वाक्यसे तन्त्रकारने अपुष्प और सपुष्प ये उद्भिज्जोंके दो वर्ग बताये हैं, ऐसा कहते हैं।

प्रथम व्याख्यामें 'वनस्पति' तथा 'वृक्ष' शब्दसे और द्वितीय व्याख्यामें 'वृक्ष' शब्दसे ओषधि तथा वीरुध् (लता और गुल्म) भी पुष्प-फल-वाले होनेसे उनका

ग्रहण प्राप्त होता है, तथापि उनका 'ओषधि' और 'वीरुध्' शब्दसे स्वतन्त्र निर्देश किया गया है, अतः प्रथम व्याख्यामें वनस्पति तथा वृक्ष दोनों शब्द और द्वितीय व्याख्यामें वृक्ष शब्द शेष रहे हुए वृक्षोंका वाचक है, ऐसा जानना चाहिये।

उद्भिज्ज शब्दकी निरुक्ति, उद्भिज्जोंके प्रधान भेद तथा उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके लिये प्रयुक्त शब्दोंकी व्याख्या, इनका इस ग्रन्थके औषधद्रव्यविज्ञानखण्डके प्रथम अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया जायगा। इन विषयोंको वहीं देखें।

जङ्गमद्रव्याणामवान्तरभेदाः—

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशु-मनुष्य-व्यालादयो जरायुजाः, खग-सर्प-सरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमि-कीट-पीपीलिका प्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोप-मण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः।

(सु. सू. अ. १)

जङ्गमाः खल्वपीत्यादि। जङ्गमा अपि चतुर्विधाः चतुष्प्रकाराः। तानाह—जरायुजेत्यादि। (जरायोर्जाता जरायुजाः; जरायुर्गर्भाशयः (उल्बः); अण्डाज्जाता अण्डजाः, अण्डं प्राण्याधारो वर्तुलं; भुवः शरीरस्य च संस्वेदादूष्मणो जाताः संस्वेदजाः; भुवमुद्भिद्य जाता उद्भिज्जाः।) ×××। व्यालादय इति व्याला हिंस्रपशवो व्याघ्रादयः। अन्ये तु पशुग्रहणादेव हिंस्रपशूनामपि ग्रहणमिति व्याल-शब्देन सर्पविशेषमाहुः। तदुक्तं—"सर्पजातिषु अहिपताका जरायुजा" इति। आदि-ग्रहणाद् बलाका-जतुकादयः। ×××। खगसर्पेत्यादि खगाः पक्षिणः, सर्पा मन्दगामिनोऽजगरप्रभृतयः; सरीसृपाः शीघ्रगामिनः कृष्णसर्पादयः, मीन-मकरादयो वा; प्रभृतिग्रहणात् कूर्म-नक्रादीनां ग्रहणम्। ×××। कृमिकीटेत्यादि कृमयः कोष्ठ-पुरीषादिबाष्पसंभवाः, कीटा वृश्चिक-षड्बिन्दुप्रभृतयः, पिपीलिकाः चिटिकाः; प्रभृतिग्रहणादेवंविधा अन्येऽपि दृश्यन्ते। इन्द्रगोपेत्यादि इन्द्रगोपाः प्रावृट्कालजा अतिरक्तकृमयः, 'इन्द्रवधू' इति लोके; प्रभृतिग्रहणादीदृशा अन्येऽपि (ड.)।

जङ्गमवर्गके आयुर्वेदमें चार अवान्तर भेद किये गये हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज[१]। (१) जो प्राणी जरायु (उल्ब-आँवल) के द्वारा आवृत ही उत्पन्न होते हैं, उनको जरायुज कहते हैं; जैसे—मनुष्य, पशु आदि। (२) जो प्राणी अण्डेसे निकलते हैं, उनको अण्डज कहते हैं; जैसे—पक्षी, साँप आदि। (३) कृमि, कीट आदि जो प्राणी स्वेद (पृथ्वीके वाष्प तथा मनुष्यादि प्राणियोंके स्वेद) से उत्पन्न होते हैं, उनको स्वेदज कहते हैं। (४) बीरबहूटी, मेंडक आदि जो प्राणी पृथ्वीको फाड़कर बाहर आते हैं, उनको उद्भिज्ज कहते हैं।

१—यहाँ 'उद्भिज्ज' शब्द जङ्गमके एक भेदके अर्थमें प्रयुक्त है, वनस्पतिवाचक नहीं है।

वक्तव्य—जङ्गम वर्गके जिन द्रव्योंका उपयोग आहाररूपमें होता है उनके भेद (वर्ग) आयुर्वेदमें मांसवर्गमें दिये गये हैं। तथा, विषचिकित्साके प्रकरणमें जङ्गम विषोंमें सर्पों और सविष कीटों आदिका वर्गीकरण दिया है। उसे वहीं देखना चाहिए।

औषधाहारभेदेन द्वौ द्रव्यभेदौ—

(औषधाहारभेदेनापि) द्रव्यं तावद् द्विविधं–वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यं, रसप्रधानमाहारद्रव्यं च। तत्राप्यौषधद्रव्यं त्रिविधं वीर्यभेदात्—तीक्ष्णवीर्यं, मध्यवीर्यं, मृदुवीर्यं चेति (च. सू. अ. २। श्लो. १७ की टीकामें च. द.)।

औषधाहारभेदेन द्रव्यं विभजते—द्रव्यमित्यादि। वीर्यप्रधानमिति वीर्यं प्रधानं यस्मिन्निति। यद् द्रव्यमभ्यवहृतं देहे वीर्यसंज्ञकान्शीतोष्णादिगुणान् प्राधान्येनोपजनयति, न त्वाहारद्रव्यवत् प्रधानतया रसादिधातून् पुष्णाति, तद्वीर्यप्रधानमौषधद्रव्यम्; औषधद्रव्यसंज्ञकमित्यर्थः। यथा—शुण्ठी–पिप्पल्यादि। रसप्रधानमिति रसपोषणं प्रधानं कर्म यस्य तद् रसप्रधानम्। यद् द्रव्यमुपयुक्तं देहे रसधातुं तद्द्वारा रक्तादिधातूंश्च प्राधान्येन पुष्णाति, न त्वौषधद्रव्यवत् प्रधानतया देहे शीतोष्णादीन् वीर्यसंज्ञकान् गुणाञ्जनयति तद् रसप्रधानं, तदाहारद्रव्यम्; आहारद्रव्यसंज्ञकमिति यावत्। यथा—गोधूमादि। वीर्यगततारतम्यभेदेनौषधद्रव्याणि भूयस्त्रेधा भिद्यन्ते—तीक्ष्णवीर्यं, मध्यवीर्यं, मृदुवीर्यं चेति। तद्यथा—उष्णवीर्यद्रव्यस्य तीक्ष्ण-मध्य-मृदुभेदेन उष्णतमम्, उष्णतरम्, उष्णं चेति त्रिविधो भेदः कल्प्यते। एवं शीतादिवीर्याणामपि।

द्रव्योंके औषध और आहार भेदसे दो भेद होते हैं। जो द्रव्य वीर्यप्रधान हो अर्थात् जिसके उपयोगसे शरीरमें वीर्यसंज्ञक शीत-उष्ण आदि गुणोंकी उत्पत्ति प्रधानतया होती हो, शरीरके रसादि धातुओंका पोषण जिसका प्रधान कार्य न हो, उसको औषधद्रव्य कहते हैं; जैसे—सोंठ, पीपल आदि। जो द्रव्य रसप्रधान हो अर्थात् जिसके उपयोगसे शरीरमें रस तथा रससे पुष्ट होनेवाले रक्तादि धातुओंका पोषण प्रधानतया होता हो, शीत-उष्ण आदि वीर्यसंज्ञक गुणोंकी उत्पत्ति (गुणोंका असर) प्रधानतया न होती हो, उसको आहारद्रव्य कहते हैं। जैसे—चावल, गेहूँ आदि। औषधद्रव्योंके (उनके) शीत-उष्ण आदि वीर्योंके तारतम्यभेदसे तीक्ष्णवीर्य, मध्यवीर्य और मृदुवीर्य ये तीन अवान्तर भेद होते हैं। उदाहरणार्थ—उष्णवीर्यके उष्णतम (तीक्ष्ण), उष्णतर (मध्य) और उष्ण (मृदु) ऐसे तीन भेद होते हैं।

रसभेदेन द्रव्यभेदाः—

रसभेदेन द्रव्याणां मधुरवर्गः, अम्लवर्गः, लवणवर्गः, कटुकवर्गः, तिक्तवर्गः, कषायवर्गश्चेति षड्वर्गा भवन्ति। तेषां विवरणं रसविज्ञानीयाध्याये द्रष्टव्यम्।

मधुरादि छः रसोंके भेदसे द्रव्योंके मधुरवर्ग, अम्लवर्ग, लवणवर्ग, कटुवर्ग, तिक्तवर्ग और कषायवर्ग ये छः वर्ग-गण-स्कन्ध होते हैं। उनका विवरण आगे रसविज्ञानीयाध्यायमें किया जायगा।

विपाकभेदेन द्रव्यभेदाः—

चरकमते विपाकभेदेन मधुरविपाकम्, अम्लविपाकं, कटुकविपाकं च, इति त्रयो द्रव्यभेदा भवन्ति। सुश्रुतमते विपाकभेदेन गुरुविपाकं (मधुरविपाकं), लघुविपाकं (कटुविपाकं) चेति द्वौ भेदौ भवतः।

विपाक भेदसे चरकके मतमें मधुरविपाक, अम्लविपाक और कटुविपाक ये तीन भेद होते हैं; तथा सुश्रुतके मतमें गुरुविपाक (मधुरविपाक) और लघुविपाक (कटुविपाक) ये दो भेद होते हैं।

वीर्यभेदेन द्रव्यभेदाः—

वीर्यभेदेन अष्टविधवीर्यवादिमते गुरुवीर्यं, लघुवीर्यं, स्निग्धवीर्यं, रूक्षवीर्यं, मृदुवीर्यं, तीक्ष्णवीर्यं, शीतवीर्यं, उष्णवीर्यं चेति द्रव्याणामष्टौ भेदा भवन्ति; द्विविधवीर्यवादिमते शीतवीर्यम्, उष्णवीर्यं चेति द्वौ भेदौ भवतः।

वीर्यभेदसे अष्टविधवीर्यवादियोंके मतमें गुरुवीर्य, लघुवीर्य, स्निग्ध-वीर्य, रूक्षवीर्य, मृदुवीर्य, तीक्ष्णवीर्य, शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य ये आठ और द्विविधवीर्यवादियोंके मतमें शीतवीर्य तथा उष्णवीर्य ये दो भेद होते हैं।

कर्मभेदेन द्रव्यभेदाः—

आयुर्वेदे द्रव्याणां कर्मानुसारं तन्त्रकारैः कृतमनेकधा वर्गीकरणम्। चरके सूत्र-स्थानस्य द्वितीयेऽध्याये विमानस्थानस्याष्टमेऽध्याये च वमन-विरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनोपयोगिनो निर्दिष्टाः पञ्चवर्गाः, सूत्रस्थानस्य चतुर्थेऽध्याये उक्ता महाकषायसंज्ञकाः पञ्चाशद्वर्गाः, सूत्रस्थानस्य द्वाविंशतितमेऽध्याये लङ्घनबृंहणा-दीनां लक्षणान्युक्तानि। एते वर्गा औषधद्रव्यणां कर्मानुसारमुक्ता इति सोदाहरणं व्याख्याता अस्मिन्नध्याये। चरकादितन्त्रेषु प्रोक्ता रसायन-बाजीकरणव्याख्याऽप्यत्रैव दत्ता। सुश्रुते सूत्रस्थानस्यैकोनचत्वारिंशत्तमेऽध्याये ऊर्ध्वभागहराधोभागहरोभयतो-भागहर-वातसंशमन-पित्तसंशमन-कफसंशमनाख्याः पञ्चवर्गा उक्ताः। तेषां

व्याख्या यथास्थानं चरकोक्तवर्गव्याख्यायामेव दत्ता। सुश्रुते सूत्रस्थानस्य सप्तत्रिंशत्तमेऽध्याये शल्यचिकित्सोपयोगिनो विम्लापनादयोऽष्टौ वर्गा उक्ताः, चरकोक्तवर्गेभ्यो भिन्नत्वात् स्वतन्त्रमेव व्याख्यातास्ते। शार्ङ्गधरे प्रोक्तानां चरकोक्तवर्गाणां शार्ङ्गधरोक्ता व्याख्या यथास्थानं चरकोक्तवर्गेष्वेव प्रदत्ता; शार्ङ्गधरोक्तानामन्येषां वर्गाणां तु शार्ङ्गधरोक्ता व्याख्या स्वतन्त्रतयैव लिखिता। चरकसुश्रुतादावाहारोपयोगिनो ये वर्गा उक्तास्ते द्रव्याणां कर्मानुसारं नोक्ताः, किन्तु आहारद्रव्याणां स्वरूपानुसारमुक्ता इति तेषां व्याख्यानमहारद्रव्यविज्ञानखण्डे करिष्यते। चरकसुश्रुतोक्तवर्गाणां व्याख्या प्रायो मूलग्रन्थेषु नोपलभ्यते, अतष्टीकाग्रन्थेभ्यस्तन्त्रान्तरेभ्यश्च संगृह्य यथास्थानं लिखिता।

आयुर्वेदमें तन्त्रकारोंने द्रव्योंका उनके कर्मोंके (जीवित मानव शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओंके) अनुसार अनेक प्रकारसे वर्गीकरण किया है। चरकसंहितामें सूत्रस्थानके दूसरे अध्यायमें तथा विमानस्थानके आठवें अध्यायमें वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन इन पञ्चकर्मोंमें उपयुक्त द्रव्योंके पाँच वर्ग (गण) दिये हैं। सूत्रस्थानके चौथे अध्यायमें पञ्चाशन्महाकषायके नामसे दस-दस द्रव्योंका एक-एक गण करके पचास गण(वर्ग) दिये हैं। सूत्रस्थानके २२ वें अध्यायमें लङ्घन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन इन छः कर्मों (वर्गों) की व्याख्या लिखी है। ये गण औषधद्रव्योंके कर्मानुसार होनेसे मैंने इस प्रकरणमें उन वर्गोंकी व्याख्या और उदाहरण दिये हैं। चरक-सुश्रुत आदि तन्त्रकारोंने रसायन और वाजीकरणकी जो व्याख्या दी है, वह यहाँ दी गयी है। सुश्रुतने सूत्रस्थानके ३९ वें अध्यायमें ऊर्ध्वभागहर, अधोभागहर, उभयतोभागहर, वातसंशमन, पित्तसंशमन और कफसंशमन ये पाँच वर्ग दिये हैं। इन वर्गोंका उल्लेख यथासम्भव चरकके तत्तत् वर्गवाचक (गणवाचक) शब्दकी व्याख्याके साथ ही कर दिया है; सूत्रस्थानके मिश्रकचिकित्सित अध्यायमें शस्त्रकर्मोपयोगी विम्लापन, पाचन आदि आठ वर्ग-गण दिये हैं, ये गण चरकोक्त गणोंसे स्वतन्त्र होनेके कारण उन गणोंकी व्याख्या और उदाहरण स्वतन्त्र रूपमें ही दिये गये हैं। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयमें प्रायः चरक-सुश्रुतोक्त वर्गीकरण ही पाया जाता है। उनका उल्लेख भी चरक-सुश्रुतोक्त वर्गोंकी व्याख्याके साथ ही दिया गया है। शार्ङ्गधरमें प्रायः चरक-सुश्रुतोक्त वर्गीकरण ही पाया जाता है। कहीं एक वर्गके कुछ उपवर्ग किये गये हैं और कुछ वर्ग अधिक भी दिये गये हैं। उनकी व्याख्या और उदाहरण भी चरक-सुश्रुतोक्त वर्गोंकी व्याख्याके पीछे दिया गया है; जो वर्ग चरकोक्त वर्गोंके समान हैं, उन वर्गोंकी व्याख्या चरकोक्त वर्गोंके साथ ही दी गयी है। शार्ङ्गधरको छोड़कर अन्य चरक-सुश्रुत आदि मूलग्रन्थोंमें प्रायः जीवनीय आदि शब्दोंकी व्याख्या नहीं दी गयी है। मैंने यह व्याख्या टीकाग्रन्थ

और तन्त्रान्तरोंसे संगृहीत करके वहाँ लिखी है। चरक, सुश्रुत, अष्टाङ्गसंग्रह, अष्टाङ्गहृदय आदिमें आहारोपयुक्त द्रव्योंके जो वर्ग लिखे हैं वे द्रव्योंके कर्मानुसार नहीं परन्तु द्रव्योंके स्वरूपानुसार लिखे गये हैं, अतः इनकी व्याख्या यहाँ न देकर आहारद्रव्यखण्डमें दी जायगी।

चरक, सुश्रुत आदिने प्रत्येक वर्गके उदाहरणरूप अनेक द्रव्य दिये हैं। परन्तु मैंने विस्तारभयसे अनुवादमें वे सब द्रव्य न देकर एक-दो द्रव्य ही उदाहरणरूपमें दिये हैं, जिनको सब द्रव्य जाननेकी इच्छा हो, वे मूलग्रन्थोंमें ही देखें।

जीवनीयम्-जीवनम्—

जीवनम् आयुः "शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥" (च. सू. अ. १) इत्युक्तलक्षणं, तस्मै हितं जीवनीयम्। जीवनीयशब्देनेहायुष्यत्वमभिप्रेतम्। यत्र च मधुररसगुणे "आयुष्यो जीवनीयः" (च. सू. अ. २६) इति च करिष्यति तत्र मूर्च्छितस्य संज्ञाजनकत्वेन जीवनीयत्वं व्याख्येयम् (च. द., ग., यो.)। जीवनः प्राणधारणः (सु. सू. अ. ३८।३६ ड.)। जीवनीयं प्राणानां संधारकम् (अ. सं. सू. अ. ३४ इन्दु)। "पृथिव्यपां गुणैर्युक्तं जीवनीयमिति स्थितिः।" (र. वै. अ ४, सू. ३० भाष्य) "जीवकर्षभौ मेदा महामेदा कोकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति" (च. सू. अ. ४)। "प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं", "जीवनः × × × विदारिकन्दः" (च. सू. अ. २७)। "काकोल्यादिरयं (गणः) × × × जीवनः" (सु. सू. अ. ३६)।

शरीरेऽस्मिन् प्रतिक्षणं धात्वग्निपरिपाकक्रियया धातवः क्षयमापद्यन्ते; तत्क्षयपरिपूर्त्या प्राणधारणार्थं जीवनीयद्रव्याणां क्षीर-शालि-गोधूमादीनां प्रत्यहमुपयोग आवश्यक एव। सत्यपि क्षीरादीनां जीवनीयत्वेऽस्मिन्नौषधद्रव्यसंग्राहके गणेऽनुक्तिस्तेषामाहारप्रधानद्रव्यत्वात्। एवं बृंहणादिगणेष्वपि बृंहणादिकर्मप्रधानानां मांसा[१]दीनामनुक्तौ हेतुर्ज्ञेयः। जीवनीयादिपञ्चाशन्महाकषायेषु प्रतिगणं दशद्रव्याणामेवोपदेशे भगवताऽऽत्रेयेणायं हेतुरुक्तः—"एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानाय" इति (च. सू. अ. ४)। एतावन्तो यथोक्ताः। अलं समर्थाः। व्यवहारायेति चिकित्साव्यवहाराय। स्वलक्षणस्य भावः स्वालक्षण्यं, तेनानुमानं, तत्र कुशला अभिज्ञा इत्यर्थः। बुद्धिमन्तो हि जीवकादयोऽमी स्निग्ध-शीत-मधुरादिगुणयुक्ताः सन्तो जीवनं कुर्वन्तीति भूयोदर्शनादवधार्य तद्गुणयुक्ते द्राक्षा-पयो-विदार्यादौ तज्जातीयत्वेन 'जीवनीयानि' इत्यनुमिमते (च. द.)।

१—'मांसं बृंहणीयानां' (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य जीवनके (आयुष्यके-प्राणधारणके) लिए हितकर (आयुष्यको स्थिर रखनेवाला) हो, उसको जीवनीय या जीवन कहते हैं। जैसे—जीवक, ऋषभक आदि। यद्यपि इस लक्षणके अनुसार जल-अन्न-आदि प्राणधारण के लिये उपयुक्त होने से जीवनीय हैं, तथापि जिन द्रव्योंमें प्राणधारण शक्ति अधिक हो और अल्प मात्रामें सेवन करने पर भी जिनसे प्राणधारण हो सके उन द्रव्योंको जीवनीय कहा जाता है। चरकने (सू. अ. २७ में) दूधको जीवनीय द्रव्योंमें श्रेष्ठ और विदारिकन्दको जीवन कहा है। सुश्रुतने काकोल्यादिगणको जीवन कहा है। जीवनीय द्रव्य पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला होता है अर्थात् पार्थिव और आप्य द्रव्योंके जो गुण-कर्म कहे गये हैं, जीवनीय द्रव्य उन गुण-कर्मोंसे युक्त होता है (र. वै. भा.)। मधुररसके गुणोंमें 'आयुष्यो जीवनीयः' इस प्रकार दोनों शब्दोंका साथमें प्रयोग आया है, वहाँ 'मूर्च्छितको संज्ञा देनेवाला' ऐसा जीवनीय शब्दका अर्थ जानना चाहिए[1]।

शरीरमें प्रतिक्षण धात्वग्नियोंकी परिपाकक्रियासे धातुओंका क्षय होता रहता है। उसकी पूर्तिके लिये जीवनीय द्रव्योंका प्रतिदिन प्रयोग करना आवश्यक है। यद्यपि चावल-गेहूँ-दूध आदि द्रव्य प्राणधारणोपयुक्त होनेसे जीवनीय हैं, तथापि वे आहार-द्रव्य होनेसे उनका यहाँ औषधद्रव्योंके गणमें संग्रह नहीं किया है। इसी प्रकार बृंहण आदि गणोंमें बृंहणकर्मप्रधान मांस आदिके न लिखनेमें हेतु जानना चाहिये। जीवनीय आदि गणोंमें दस-दस ही द्रव्य लिखनेका हेतु बताते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं कि—प्रत्येक गणमें उदाहरणरूपसे कहे गये इतने (दस-दस) द्रव्य अल्पबुद्धियोंको चिकित्साव्यवहारके लिये पर्याप्त होंगे और इन द्रव्योंके लक्षणोंसे अन्य अनुक्त द्रव्यका अनुमान कर सकें एसे बुद्धिमानोंको अनुक्त द्रव्योंके अनुमानके लिये होंगे। बुद्धिमान् लोग, जैसे यहाँ कहे हुए जीवकादि द्रव्य स्निग्ध-शीत-मधुर आदि

१--जीवनीय—जीवनीय द्रव्य स्वस्थावस्थामें रक्तमें या शरीरमें रहते हैं। रोगावस्थामें ये द्रव्य कम हुए होते हैं। उनकी कमीकी पूर्तिके लिए इनके सेवनकी आवश्यकता होती है। जैसे—लोह, जवाखार, फॉस्फॉरस, नमक आदि। इन्हें अंग्रेजीमें Sestoratives-रिस्टोरेटिव्स् कहते हैं (डॉ. वा. दे.)। सालममिश्रीके गुणोंमें डॉ. वा. देसाई लिखते हैं कि—इसका एक तोला चूर्ण प्रौढ़ मनुष्यके लिये २४ घंटेके लिये पूरा अन्न है। इतने अल्पप्रमाणमें जीवनको टिकानेवाला दूसरा अन्न नहीं है। इसलिये इसको जीवन कहना उचित है (औ. सं. पृ० ७०६)। पाश्चात्य वैद्यकमें विटामिन थियरीका आविष्कार होनेके बाद उस मतका हिन्दीमें अनुवाद करते समय विटामिनोंके लिए भी कई लेखक 'जीवनीय'-शब्दका प्रयोग करते हैं। जीवनीय द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुग़ज़्ज़ी' कहते हैं।

गुणयुक्त होनेसे जीवन कर्म करते हैं वैसे ही द्राक्षा-दुग्ध-विदारीकन्द आदि द्रव्य भी उन गुणोंसे युक्त होनेसे जीवन होने चाहिये, ऐसा अनुमान कर लेंगे।

बृंहणीयम्-बृंहणम्—

"बृंहत्त्वं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम्। गुरु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं स्थूल-पिच्छिलम्॥ प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्ष्णं द्रव्यं बृंहणमुच्यते। क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः स्त्रीमद्यनित्या ग्रीष्मे च बृंहणीया नराः स्मृताः॥" (च. सू. अ. २२)। बहलं घनं, मन्दमिति चिरकारि तीक्ष्णविपरीतं, स्थूलं संहता-वयवं लड्डुक-पिष्टकादि, (च. द.)। बहलं सान्द्रं, लङ्घनोक्तलघूष्णादिविपरीत-गुरुशीतादिगुणैर्युक्तं द्रव्यं प्रायो बृंहणमुच्यते (यो.)। देहबृंहणाय हितं बृंहणीयम् (ग.)। "बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्।" (सु. सू. अ. ४१)। "क्षीरिणी-राजक्षवका-श्वगन्धा-काकोली-क्षीरकाकोली-वाट्यायनी-भद्रौदनी-भारद्वाजी-पयस्यर्ष्यगन्धा इति-दशेमानि बृंहणीयानि भवन्ति" (च. सू. अ. ४)। "मांसं बृंहणीयानां" (च. सू. अ. २५)। चरकेणान्यत्र (सू. अ. २७) मुञ्जातक-विदारिकन्द-मृद्वीका-खर्जूर-फल्गु-तालफल-नारिकेल-वातामाभिषुकाक्षोड-मुकूलक-निकोचकोरुमाणि बृंहणान्यु-क्तानि। सुश्रुतेनैतदतिरिक्तानि आम्र-पनस-मोचफलानि वातामादिमज्जानः काकोल्या-दिगणश्च बृंहणान्युक्तानि।

जो द्रव्य शरीरमें मोटापन लाता है (शरीरको पुष्ट करता है) उसे बृहंणीय[1] या बृंहण कहते हैं। जो द्रव्य गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, बहल (घन-गाढ़ा), स्थूल (संहतावयव-स्थूलावयव जैसे—लड्डू आदि), पिच्छिल (लुआबदार), मन्द (चिरकारि), स्थिर और श्लक्ष्ण हो वह प्रायः बृंहण होता है। जैसे—असगन्ध, काकोली आदि (च.)। बृंहण द्रव्य पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला होता है अर्थात् पार्थिव और आप्य द्रव्यके जो गुण-कर्म कहे गये हैं, बृंहण द्रव्य उन गुण-कर्मोंसे युक्त होता है (सु.)। चरकने सालममिश्री, विदारीकन्द, मुनक्का, खजूर, अंजीर, तालके फल, नारियल, वादाम, अखरोट, पिस्ता, चिलगोजा और खुरमानीको बृंहण कहा है। सुश्रुतने काकोल्यादिगणको बृंहण लिखा है। रोगादिसे क्षीण, व्रणवाले, कृश, वृद्ध, दुर्बल (अशक्त), नित्य चलनेवाले, नित्य स्त्री और मद्यका सेवन करनेवाले तथा ग्रीष्मऋतुमें सब मनुष्योंको बृंहण द्रव्य देने चाहिये।

लेखनीयम्—लेखनम्—

लेखनम् ईषच्चर्मविदरणं घर्षणेन, तस्मै हितं लेखनीयम् (ग.)। लेखनं

१—बृंहणीय द्रव्यको यूनानीवैद्यकमें मुसम्मित वदन कहते हैं।

कर्शनं, तस्मै हितं लेखनीयम् (यो.)। लेखनं देहे उपलेपादिकान् भावान् विच्छिनत्ति (इ.)। लेखनं पत्तलीकरणम् (सु. सू. अ. ४०। ५ ड.)। "लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठम्" (सु. सू. अ. ४१)। लेखनं कफमेदसोः (ड.)। "मुस्त-कुष्ठ-हरिद्रा-दारुहरिद्रा-वचा-ऽतिविषा-कटुरोहिणी-चित्रक-चिरबिल्व-हैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)। शल्यतन्त्रे कठिनोत्सन्नमांसानां व्रणानां शस्त्रेण क्षौमादिभिर्वा घर्षणं लेखनमित्युच्यते। "क्षौमं प्लोतं पिचु फेनं यावशूकं ससैन्धवम्। कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्॥" (सु. चि. अ. १)। "धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्योल्लेखयेच्च यत्। लेखनं तद्यथा क्षौद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं धातून् रसादीन् मलान् वा, विशोष्य शुष्कान् कृत्वा, लेखयेत् स्थूलस्य कृशतां कारयेत्, तल्लेखनम्। यवा इति बहुवचनग्रहणेनैवंगुणविशिष्टा अन्येऽपि बोद्धव्याः (आ.)॥

जो द्रव्य शरीरके रसादि धातुओं और मलोंको विशेषकर कफ और मेदको सुखाकर निकाल देता है और शरीरको पतला करता है, वह लेखन कहाता है। जैसे—नागरमोथा, कूठ, हल्दी आदि (च.); शहद, गरम जल, बच और जौ (शा.)। लेखन याने घर्षणसे चमड़ीका कुछ फटना, उसके लिए उपयुक्त द्रव्यको लेखनीय कहते हैं (ग.)। लेखन अर्थात् कर्शन (शरीरको कृश करना), उसके लिए उपयुक्त द्रव्यको लेखनीय कहते हैं (यो.)। कफ और मेदको सुखाकर शरीरको पतला करनेवाला द्रव्य लेखन कहाता है (ड.)। शरीरके अन्दर चिपकनेवाले कफ-मेद आदिको विच्छिन्न करनेवाला द्रव्य लेखन कहाता है (इन्दु)। लेखन द्रव्य वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है (सु.); अर्थात् वायव्य और आग्नेय द्रव्यके जो गुण-कर्म कहे गये हैं, लेखन द्रव्य उन गुण-कर्मोंसे युक्त होता है। लेखन शब्दकी टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है, परन्तु गङ्गाधरजीको छोड़कर सबका तात्पर्य यह है कि—जो द्रव्य शरीरमें चिपकने वाले मेद आदि धातु और कफको सुखाकर निकाल दे और शरीरको कृश-पतला करे, उसको लेखन कहते हैं। शल्यतन्त्रमें लेखनका एक और भी अर्थ लिया गया है। व्रणके अन्दर कठिन और उभरे हुए मांसादिको शस्त्रसे छीलनेको लेखन[1] कहते हैं। यह कार्य जिस औषध द्रव्यसे हो उसको भी लेखन कहा जाता है। क्षारद्रव्यसे भी लेखनका-छीलने का कार्य होता है, अतः सुश्रुतने क्षारको लेखन कहा है (सु. सू. अ. ११)। "लेखनः कठिनोत्सन्नमांसानां व्रणानाम्।" (हा.)। सुश्रुतने सालसारादिगणको (सू. अ. ३८) कफमेदोविशोषण (लेखन) लिखा है।

१—इस अर्थमें प्रयुक्त लेखन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'जाली' या 'मुजल्ली' कहते हैं।

भेदनीयम्—भेदनम्—

भेदनाय शरीरान्मलनिर्हरणाय हितम् (ग.)। भेदनं पिण्डितमलानां द्रवीकृत्य बहिःसारणं, तस्मै हितम् (यो.)। "सुवहार्कोरुबुकाग्निमुखी-चित्रा-चित्रक-चिरबिल्व-शङ्खिनी-शकुलादनी-स्वर्णक्षीरिण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)। सुश्रुतेन श्यामादिगणो 'विड्भेदी' इत्युक्तः। "मलादिकमबद्धं च बद्धं वा पिण्डितं मलैः। भित्त्वाऽधः पातयति तद्भेदनं कटुकी यथा॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यन्मलादिकमबद्धं, मलैर्दोषैश्च कृत्वा पिण्डितपरिपाकात् पिण्डीभूतं बद्धं वा, ईदृशं मलादिकं भित्त्वा स्थानात् संचाल्य, अधः पातयति, तद्भेदनं 'ज्ञातव्यम्' इति शेषः। यथा—कटुकी। बद्धं विबद्धं शुष्कं, ग्रथितं च। तत्र शुष्कं पुरीषविषयं, ग्रथितं दोषादिविषयम्। तथा अबद्धं द्रवरूपमपि द्विविधम्—एकं पुरीषविषयम्, अन्यन्मलादिकमिति। मलोऽत्र दोषः। आदिग्रहणात् रूक्षदूषिता (-तवाता) दीनामपि ग्रहणम्। भित्त्वेति तत् पुरीषं भित्त्वा विदार्याधः पातयति, 'द्रव्यम्' इति शेषः (आ.)। यद् द्रव्यमबद्धं मलादिकं पिण्डतैः पिण्डीभूतैर्मलैर्बद्धं वा भित्त्वा विदार्य, अधः पातयति तद्द्भेदनम्। (का.)॥

शरीरसे मल और दोषोंका निर्हरण करनेवाले द्रव्यको भेदनीय कहते हैं (ग.)। शरीरमें पिण्डित (जमे हुए) मलोंको द्रव करके बाहर निकालनेवाले द्रव्यको भेदनीय कहते हैं (यो.)। जैसे—निशोथ, एरण्ड आदि (च.)। जो द्रव्य अबद्ध–द्रवरूप पुरीष और दोषादि अथवा दोषोंके द्वारा पिण्डित होकरके विबद्ध-शुष्क पुरीष और ग्रथित वातादिके विबन्धको तोड़ करके उन्हें अधोमार्गसे बाहर निकालता है, उसको भेदन कहते हैं। जैसे—कुटकी (शा.)। सामान्यतः शरीरके सब स्रोतोंमें जमे हुए कफादि दोष और विशेषतः आँतोंमें जमे हुए सूखे मल (सुद्दे) को तोड़, ढीला करके बाहर निकालनेवाले द्रव्यको भेदन कहते हैं। भेदनको अधोभागहर वर्गका एक भेद समझना चाहिए। सुश्रुतने श्यामादिगण (सु. सू. अ. ३८) को विड्भेदी (भेदन) बताया है। चरकने अम्लवेतसके गुणमें उसे भेदन लिखा है[१]। (सू. अ. २७)

सन्धानीयम्-सन्धानम्—

सन्धानाय भग्नसंयोजनाय हितं सन्धानीयम् (ग., यो.)। सन्धानकं शरीरेऽन्तःसंहतिकरं भावानाम् (इन्दुः)। संधानीयं भग्नसन्धानकारकम् (ड.)।

१—भेदनके लिये पाश्चात्यमत 'रेचन' शब्दकी टिप्पणीमें दिया है, उसको वहीं देखें।

"मधुक-मधुपर्णी--पृश्निपर्ण्यम्बष्ठकी-समङ्गा--मोचरस--धातकी-लोध्र-प्रियङ्गु--कट्फला-नीति दशेमानि सन्धानीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

भग्न अस्थि आदिके संयोगके (जोड़नेके) लिये उपयुक्त द्रव्यको सन्धानीय या सन्धान कहते हैं (ग., यो.)। जैसे—मुलेठी, पिठवन आदि। शरीरके अन्दर अस्थि आदि द्रव्योंकी संहति (संघात-काठिन्य-अवयवोंका मेल) करनेवाले द्रव्यको सन्धानक कहते हैं (इं.)। सारांश, शरीरमें टूटे हुए या अलग हुए हड्डी, रक्त-वाहिनी आदिको जोड़नेवाले द्रव्यको सन्धानीय कहते हैं। सुश्रुतने प्रियङ्ग्वादि, अम्बष्ठादि और न्यग्रोधादि गणको सन्धानीय बताया है[1] (सु. सू. अ. ३८)।

दीपनीयम्-दीपनम्-अग्निदीपनम्—

दीपनीयं वह्नेरुद्दीपनाय हितम् (ग.)। दीपनमन्तरग्नेः संधुक्षणं, तस्मै हितं दीपनीयम् (यो.)। "दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं, तत्समानत्वात्।" (सु. सू. अ.४१)। "पित्तलान् रसान् गुणांश्च दीपनीयम्। तदाग्नेयम्।" (र. वै. सू. अ. ४।१०) "कटुकाम्ल-लवणान् रसान्, तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणांश्चाश्रितमिति, तदग्निनैव निर्वर्त्यम्।" (र. वै. पृ. १७६, भाष्य)। "पृथिव्यनिलवाहुल्याद्दीपनं परिचक्ष्महे।" (र. वै. अ. ४, सू. ३०, भाष्य) "यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। दीपनं ह्यग्निकृत्त्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा।" (अ. हृ. सू. अ. १४।७, स. सु. टीकायामुद्धृतं तन्त्रान्तरीयं वचनम्)। "पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः।" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यमामं न पचेद्वह्निकृच्च भवति तद्दीपनं जानीयात्। यथा—मिशिः शतपुष्पा। तथा चोक्तं द्रव्यगुणावल्यां—"शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः।" इति। ननु, कथमेतद्गुणयुक्ता मिशिर्नामाग्नी भवति, तदविनाशकत्वेन कथमग्नेः प्रबोधः स्यात? उच्यते—द्रव्याणां प्रभावोऽविचारणीय इति सुश्रुतः, न हेतुभिर्विचार्यते। तदुक्तं—"नौषधी-र्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कथंचन। सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्॥"(सु. सू. अ. ४०) इति। आम इति अपरिपक्वरसः। तद्यथा—"जठरानलदौर्बल्या-दविपक्वस्तु यो रसः। स आमसंज्ञको ज्ञेयो देहदोषप्रकोपणः॥" इति (आ.)। "पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गराम्लवेतस-मरिचाजमोदा--भल्लातकास्थि-हिङ्गुनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

अन्तरग्नि अर्थात् जठराग्निको प्रदीप्त करने (बढ़ाने) वाले द्रव्यको दीपनीय, दीपन या अग्निदीपन (भूख उत्पन्न करने और बढ़ानेवाला) कहा जाता है।

१—सन्धानीय–भग्न अस्थिको जोड़नेवाले द्रव्य–Union Promoter–युनियन् प्रोमोटर् (डॉ. वा. दें.)।

जैसे—छोटी पीपल, पीपलामूल आदि (च.)। दीपन द्रव्य अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है। अर्थात् आग्नेय द्रव्यके जो गुण-कर्म लिखे हैं, दीपन द्रव्य उनसे युक्त होता है (सु.)। जो द्रव्य आम (अपरिपक्व रस या अन्न) का पाचन नहीं करता, परन्तु जठराग्निका दीपन करता है (क्षुधाको बढ़ाता है) उसको दीपन कहते हैं। जैसे—सौंफ (शा.)। सुश्रुतने "पिप्पल्यादि, त्रिफला, त्रिकटु, आमलक्यादि, बिल्वादि, गुडूच्यादि-इन गणोंको दीपन बताया है (सु. सू. अ. ३८)। जो द्रव्य जठराग्निका दीपन करता हो, उसको दीपन कहते हैं। यह कदाचित् आमका पाचन करता है और कदाचित् नहीं भी करता (स. सुं. टीकामें उद्धृत तन्त्रान्तर वचन)। सारांश जो द्रव्य आमका पाचन करे या न करे परन्तु भूख बढ़ावे उसको दीपन कहते हैं। शार्ङ्गधरने पाचन न करनेवाले परन्तु जठराग्निका दीपन करनेवाले द्रव्यका उदाहरण सौंफ लिखा है, इसकी अपेक्षया यदि वे भाँगका उदाहरण देते तो अधिक अच्छा रहता। कारण, भाँगमें जैसा भूखको बढ़ानेका गुण है, वैसा खाये हुए अन्नको पचानेका गुण नहीं है। र. वै. सू.के भाष्यमें दीपन द्रव्यको पृथिवी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला कहा है[1]। जब अन्नका परिपाक होता हो परन्तु भूख ठीक न लगती हो तब दीपन द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये।

पाचनम्—

"पचत्यामं न वह्निं च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम्। नागकेशरवद्विद्याच्चित्रो दीपनपाचनः॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यमामं पचति वह्निं न कुर्यात् तत् पाचनं ज्ञेयम्। अत्रापि द्रव्यप्रभावो बोद्धव्यः। तच्च नागकेशरवद्विद्यात् जानीयात्। यतः—"नागकेशरकं रूक्षमुष्णं लघ्वामपाचनम्।" इति। × × सामानां दोषधातुमलानां पाचनमित्येके। उभयात्मकमाह—चित्रो दीपनपाचन इति। चित्रक उभयकार्यकरो भवति दीपनः, पाचनश्च। तदुक्तं—"चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत् पाचनो लघुः।" इति (आ.)। "पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षपणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनं; तच्च वाय्वग्निगुणभूयिष्ठम्।" (च. सू. अ. २२।८ की टीकामें च. द.)। "पचतोऽग्नेः पक्तुं शक्तिमधिकां यदुत्पादयति तद् द्रव्यं क्रिया वा पाचनमुच्यते; यथा—लङ्घनं, मुस्तादि वा।" (अ. द.)। "पाचनं पाचयेद्दोषान् सामान् शमनमेव तु।" (अ. हृ. सू. अ. १४।७, स. सुं. में उद्धृत

१—दीपन ये द्रव्य आमाशयमें रक्त तथा आमाशयसे निकलनेवाले पाचक रस को बढ़ाते हैं। इनसे भूख लगती है, जैसे—सुगन्धित द्रव्य, तिक्त द्रव्य, मद्य तथा मद्यघटित योग और क्षार। इनको 'Stomachics स्टोमॅकिक्स्' कहते हैं। दीपनको यूनानी वैद्यकमें 'मुश्तही' कहते हैं।

तन्त्रान्तरीय वचन)। "अग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्ष्महे।" (र. वै. भाष्य पृ. १८७)।

जो द्रव्य आम अर्थात् अपक्व अन्नरस और मलको (एकीय मतमें—आमयुक्त दोषों, धातुओं और मलोंको) पकावे परन्तु जठराग्निको प्रदीप्त न करे, अर्थात् जठराग्निको प्रदीप्त करनेका गुण जिसमें प्रधान न हो, वह द्रव्य पाचन (या आमपाचन) कहाता है। जैसे-नागकेशर। जो द्रव्य जठराग्नि का दीपन भी करता है और आमको पकाता भी है उसे दीपनपाचन[1] कहते हैं। जैसे—

१—कोष्ठवातप्रशमन—ये द्रव्य आँतोंको उत्तेजित करते हैं, इनसे आँतोंकी शक्ति बढ़ती है, अधोवायु सरता है, डकार आती है और पेटका दर्द कम होता है। उदाहरण—सर्व सुगन्धि द्रव्य, सोंठ, त्रिकटु, तगर, हींग, कस्तूरी। इनको Carminatives—कार्मिनेटिव्स् और Aromatics—ॲरोमेटिक्स कहते हैं। इन द्रव्योंसे आमाशयकी भी शक्ति बढ़ती है इसलिये दीपनवर्गमें इनकी गणना होती है (डॉ. वा. दे.)। लवंगके प्रकरणमें सुगन्धि द्रव्योंके विषयमें डॉ. देसाई लिखते हैं कि—"(१) सुगन्धि द्रव्योंसे भूख बढ़ती है, पाचक रस तैयार होता है और मनको आह्लाद होकर खावें ऐसी इच्छा मालूम होती है। इसलिये आयुर्वेदमें प्रायः सर्व योगोंमें सुगन्धि द्रव्योंका उपयोग किया गया है। (२) सुगन्धि द्रव्य आमाशय और आँतोंमें स्थित सूक्ष्म जन्तुओंका नाश करनेवाले और पूतिहर हैं। पेटका अफारा सूक्ष्म जन्तुओंसे होता है, वह इन सुगन्धि द्रव्योंसे नष्ट होता है। (३) सुगन्धि द्रव्योंसे रक्तस्थित श्वेत कण बढ़ते हैं। इससे आगन्तु सूक्ष्म जन्तु शरीरमें प्रविष्ट हुए हों तो उनका नाश होता है। आयुर्वेदके प्राचीन तन्त्रकारोंको सुगन्धि द्रव्योंके इन गुणोंका अच्छा ज्ञान था ऐसा मालूम होता है। इसलिये ज्वरके सर्व योगोंमें इनका प्रयोग किया गया है। (४) सुगन्धि द्रव्य चेतना लाते हैं। उनकी यह क्रिया हृदय, रक्ताभिसरण और श्वासोच्छ्वासकी क्रियापर स्पष्ट होती है। इसलिये इनका उपयोग त्रिदोष-सन्निपातमें किया जाता है। (५) सुगन्धि द्रव्य शरीरके अन्दरकी दुर्गन्धका नाश करते हैं। इसलिये कफ, लाला आदिकी दुर्गन्ध नाश करनेके लिये इनका प्रयोग किया जाता है। (७) सुगन्धि द्रव्य मूत्रजनन हैं। इनसे गुर्दे (वृक्क) से मूत्रद्वार पर्यन्तके मार्गकी शुद्धि होती है। (८) सुगन्धि द्रव्योंको शरीरके बाहर लगानेपर चेतनाकारक, वेदनास्थापन, पूतिहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण परिणाम होता है। सुगन्धि द्रव्योंके ऊपर लिखे हुए आठ गुण सर्व सुगन्धि द्रव्योंमें कम-अधिक प्रमाणमें देखनेमें आते हैं"। पाश्चात्य द्रव्यगुणशास्त्रमें लिखा हुआ कार्मिनेटिव् वर्ग शार्ङ्गधरोक्त दीपनपाचन वर्गके समान होनेसे उसको दीपनपाचन वर्गकी टिप्पणीमें लिखा है। कोष्ठवातप्रशमनको यूनानी वैद्यकमें 'कासिर रियाह' कहते हैं।

चित्रक (शा.)। जो द्रव्य साम दोषोंका पाचन करे, उसे पाचन कहते हैं। यह पाचन शमनका ही एक भेद है। (स. सुं. में उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)। जो द्रव्य पाचन करते हुए अग्निको बल देकर और विरोधीका नाश करके अन्नादिको पकावे, उसको **पाचन** कहते हैं[1]। पाचन द्रव्य वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है। अर्थात् वायव्य और आग्नेय द्रव्योंके जो गुण-कर्म लिखे हैं, पाचन द्रव्य उन गुणोंसे युक्त होता है (च. द.)। र. वै. भाष्यमें पाचन द्रव्योंको अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला कहा है। चरकने (सू. अ. ४ के) पचास गणोंमें पाचन और दीपनपाचन नामके स्वतन्त्र गण (वर्ग) नहीं दिये हैं, परन्तु (सू. अ. २२ में) पाचनको लङ्घनका[2] एक भेद माना है। शार्ङ्गधरने दीपन, पाचन और दीपनपाचन ये तीन वर्ग लिखे हैं। चरकने दीपनीयगणके उदाहरणोंमें जो पीपल, पीपलामूल, चाब, चित्रक आदि द्रव्य लिखे हैं, उनका शार्ङ्गधरोक्त दीपन, पाचन और दीपनपाचन तीनोंमें अन्तर्भाव हो सकता है। अतः शार्ङ्गधरके पाचन और दीपनपाचन गण चरकोक्त दीपनीयगणके पीछे दिये गये हैं। सुश्रुतने पिप्पल्यादि और दशमूल गणको आमपाचन, वचादि तथा हरिद्रादि गणको दोषपाचन (आमसंसृष्टदोषपाचन, ड.) और मुस्तादि गणको पाचन लिखा है। चरकने सौवीरक और तुषोदकको जरणीय ('जरणीयं पाचनं' यो.) लिखा है। पाचनके लिये 'जरण' और 'जरणीय' शब्दका भी प्रयोग होता है। जब अन्नका परिपाक ठीक होता हो परन्तु भूख न लगती हो तब दीपन द्रव्योंका, जब भूख ठीक लगती हो परन्तु अन्नका परिपाक ठीक न होता हो तब पाचन द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये। जब भूख ठीक न लगती हो और खाये हुए अन्नका पाचन भी ठीक न होता हो तब दीपनपाचन द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये।

बल्यम्-बलवर्धनम्—

बलाय हितं बल्यम् (ग., यो.)। **"ऐन्द्रवृषभ्यतिरसर्ष्यप्रोक्ता-पयस्या-श्वगन्धा-स्थिरा-रोहिणी-बलातिबला इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति।"** (च. सू. अ. ४)।

१—पाचन ये द्रव्य अमाशय और पक्वाशयको अन्न पचन करनेमें सहायता करते हैं। जैसे—एरण्डखरबूजे (पपीते) का दूध, जौका सत्त्व (मॉल्ट) आदि। इन्हें अंग्रेजी में Digestives-डाईजेस्टिव्स्; Digestants-डाईजेस्टन्ट्स् कहते है। (डॉ. वा. दे.)। पाचनको यूनानीवैद्यकमें 'हाज़िम' कहते हैं।

२—आगे 'लङ्घन' शब्दकी व्याख्या देखें।

शरीरके बल[1] (शक्ति) को बढ़ानेवाले द्रव्यको बल्य या बलवर्धन कहते हैं। जैसे—कवाँच, शतावरी, असगंध आदि। सुश्रुतने लघुपञ्चमूलको बलवर्धन लिखा है (सु. सू. अ. ३८)। चरकने सालमपंजा (मुञ्जातक), विदारीकन्द, पक्का आम, बादाम, पिस्ता अखरोट, चिलगोझा (नेजा) और कूर्मके मांसको बलवर्धन लिखा है[2] (सू. अ. २७)।

वर्ण्य—वर्णप्रसादनं—वर्चस्यम्—

वर्णाय हितं वर्ण्यम् (ग., यो.)। "वर्चसे प्रभायै—वर्णाय हितं वर्चस्यम्।" (र. वै. पृ. १८१)। "चन्दन-तुङ्ग-पद्मकोशीर-मधुक-मञ्जिष्ठा-पयस्या-सारिवा-सिता-लता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

शरीरके वर्ण (कान्ति) को सुधारनेवाले और रोगसे बिगड़े हुए वर्णको फिर स्वाभाविक अवस्थामें लानेवाले द्रव्यको वर्ण्य कहते हैं। जैसे—चन्दन, पद्माख, मजीठ, अनन्तमूल आदि। सुश्रतने लोध्रादिगणको वर्ण्य और एलादिगणको वर्णप्रसादन लिखा है (सू. अ. ३८)। रसवैशेषिकसूत्रमें 'वर्ण्य' के स्थानमें 'वर्चस्य' शब्दका प्रयोग किया है।

कण्ठ्यम्—कण्ठजननम्—स्वर्यम्—

कण्ठस्थितस्वराय हितं कण्ठ्यम् (ग.)। कण्ठाय हितं कण्ठ्यम् (यो.)। "सारिवेक्षुमूल-मधुक-पिप्पली-द्राक्षा-विदारी-कैडर्य-हंसपादी-बृहती-कण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

कण्ठके स्वर (गलेकी आवाज) के लिये हितकर (स्वरको सुधारनेवाले और रोगसे बिगड़े हुए स्वरको—फिर स्वाभाविक अवस्थामें लानेवाले) द्रव्यको कण्ठ्य कहते हैं। जैसे—अनन्तमूल, मुलेठी, मुनक्का, हंसराज आदि। सुश्रुतने अदरखको स्वर्य लिखा[3] है (सू. अ. ४६)॥

१—आयुर्वेदमें अनुत्पन्न रोगोंका प्रतिबन्ध करनेवाली और उत्पन्न रोगको दूर करनेवाली शक्तिको भी बल (Vitality-वाइटॅलिटि) नाम दिया है—"बलं ह्यलं निग्रहाय रोगाणां=बल रोगोंका निग्रह करनेके लिए समर्थ है" (च चि. अ. ३)।

२—बल्य—ये द्रव्य जिन-जिन अवयवोंपर क्रिया करते हैं, उनका बल बढ़ाते हैं किंवा उनको स्वस्थ करते हैं। जैसे—आमाशयके लिए तिक्त और दीपन द्रव्य; सुषुम्णाकाण्डके लिए कुचला; हृदयके लिए अर्जुन और डिजिटेलिस; नाड़ीसंस्थानके लिए तगर; पेशियोंके लिए कषायाम्ल (टॅनिक एसिड्) युक्त द्रव्य; और रक्तके लिए लोह। इन्हें अंग्रेजीमें 'Tonics-टोनिक्स्' कहते हैं (डॉ. वा. दे.)। यूनानीवैद्यकमें बल्यको 'मुकव्वी' कहते हैं।

३—कण्ठ्य—ये द्रव्य मुखमें रखकर धीरे-धीरे चूसनेसे श्वासनली और

हृद्यम्—

हृदयाय मनसे हितं हृद्यम् (ग., यो.)। "आम्राम्रातक-लकुच-करमर्द-वृक्षाम्लाम्लवेतस-कुवल-बदर-दाडिम-मातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)। 'अम्लं हृद्यानाम्' (च. सू. अ. २५)।"

हृदय अर्थात् मनको प्रिय और हृदयको हितकर द्रव्यको हृद्य कहते हैं। जैसे—आम आदि अम्लरसवाले द्रव्य मनको प्रिय लगनेवाले होनेसे हृद्य और अर्जुनकी छाल-माणिक्य-नीलम-अंबर आदि द्रव्य हृदयको बल देनेवाले होनेसे हृद्य कहलाते हैं। सुश्रुतने परूषकादिगणको हृद्य बताया है। (सू. अ. ३८)।

तृप्तिघ्नम्—

तृप्तिः श्लेष्मविकारः, येन तृप्तमिवात्मानं मन्यते, तद्घ्नं तृप्तिघ्नम् (च. द.)। तृप्ति श्लेष्मविकारभेदः, तन्नाशकम् (ग.) तृप्तिं हन्तीति तृप्तिघ्नम्, अनन्नाभिनन्दनात् तृप्तिरिव तृप्तिररोचकः, स च श्लेष्मजो विकारः (यो.)। "नागर-चव्य-चित्रक-विडङ्ग-मूर्वा-गुडूची-वचा-मुस्त-पिप्पली-पटोलानीति दशेमानि तृप्तिघ्नानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)॥

चालीस श्लेष्मविकारोंमें 'तृप्ति' नामका श्लेष्मरोग कहा गया है, इससे मनुष्य अपनेको तृप्त (पेट भरे हुए) जैसा अनुभव करता है; इस रोगको नष्ट करनेवाले द्रव्यको तृप्तिघ्न कहते हैं (च. द., ग.)। तृप्ति अर्थात् अन्नकी इच्छा न होना (अरुचि), उसे नष्ट करनेवाले द्रव्यको तृप्तिघ्न कहते हैं (यो.)। जैसे—सोंठ, चित्रक, गिलोय, बच, नागरमोथा आदि। सुश्रुतने बृहत्यादि, गुडूच्यादि तथा आमलक्यादि गणको अरोचकहर लिखा है (सू. अ. ३८)। चरकने धन्याक-धनिया और अजगन्धा-अजमोदाको रोचन लिखा है (सू. अ. २७)।

अर्शोघ्नम्—

अर्शांसि हन्तीति अर्शोघ्नम्। एवं कुष्ठघ्नादयः (यो.)। "कुटज-बिल्व-चित्रक-नागरातिविषाभया-धन्वयासक-दारुहरिद्रा-वचा-चव्यानीति दशेमान्यर्शोघ्नानि भवन्ति।" (च. सू. अ. २३)॥

अर्श (बवासीर) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको अर्शोघ्न कहते हैं। जैसे—कुड़ा, बेल, हरड़, दारुहल्दी, नागकेसर आदि।

कण्ठसे कफको बाहर लाते हैं। जैसे—नौसादर, सेन्धा नमक, गोंद, मुलेठी। इन्हें अंग्रेजीमें 'Ciliary excitant-सिलिअरी एक्साइटन्ट्' कहते हैं। (डॉ. वा. दे.)।

कुष्ठघ्नम्—

कुष्ठं हन्तीति कुष्ठघ्नम्। "खदिराभयामलक-हरिद्रारुष्कर-सप्तपर्णारग्वध-करवीर-विडङ्ग-जातीप्रवाला इति दशेमानि-कुष्ठघ्नानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)॥

कुष्ठ—त्वग्दोष (त्वचाके रोगों) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको कुष्ठघ्न कहते हैं। जैसे—खैर, हैरड़, आँवला, अमलतास, तुवरकतैल आदि। सुश्रुतने आरग्वधादि, त्रिफला, त्र्यूषण और लाक्षादिगणको कुष्ठघ्न लिखा है[1] (सू. अ. अ. ३८)।

कण्डूघ्नम्—कण्डूनाशनम्—

कण्डूं हन्तीति कण्डूघ्नम्। "चन्दन-नलद-कृतमाल-नक्तमाल-निम्ब-कुटज-सर्षप-मधुक-दारुहरिद्रा-मुस्तानीति दशेमानि कण्डूघ्नानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

कण्डू (खाज) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको कण्डूघ्न कहते हैं। जैसे चन्दन, अमलतास, करंज, नीम, दारुहल्दी आदि। सुश्रुतने आरग्वधादि और पटोलादि गणको कण्डूघ्न तथा एलादि गणको कण्डूनाशन लिखा है।

क्रिमिघ्नम्—क्रिमिप्रशमनम्—क्रिमिसूदनम्—

क्रिमीन् हन्तीति क्रिमिघ्नम्। "अक्षीव-मरिच-गण्डीर-केवुक-विडङ्ग-निर्गुण्डी-किणिही-श्वदंष्ट्रा-वृषपर्णिकाऽऽखुपर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)॥

शरीरमें उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके बाह्य और आभ्यन्तर क्रिमि तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको नष्ट करनेवाले द्रव्यको क्रिमिघ्न कहते हैं। जैसे—सहिंजना, काली मिर्च, वायविडंग, संभालू आदि। सुश्रुतने अर्कादि गणको क्रिमिप्रशमन, सुरसादि गणको क्रिमिसूदन और लाक्षादि गणको क्रिमिघ्न[2] लिखा है (सू० अ० ३८)।

१—कुष्ठघ्न—ये द्रव्य त्वचापर होनेवाले जीवाणुजन्य रोगोंको अच्छा करते हैं। जैसे—पारा, गन्धक, कासीसाम्ल। इन्हें 'Antiparasitics-ॲन्टिपॅरॅसाइटिक्स्' कहते हैं। (डॉ. वा. दे.)

२—क्रिमिघ्न—ये द्रव्य आँतोंके अन्दरके क्रिमियोंको मारते हैं, या उन्हें निकालनेमें सहायता करते हैं। जैसे—(१) किरमाणी अजवायन (और पलाशबीज) गोल क्रिमि (केंचुए—Round worm) के लिए; (२) (वायविडंग) कमीला, सुपारी, और अनारके मूलकी छाल फीते जैसे चपटे क्रिमि (Tape worm) के लिए; (३) नमक, चूना और फिटकिरीके घोल (तथा कलुम्बाके क्वाथ) की आस्थापनबस्ति सूत जैसे क्रिमि (Thread worm) के लिए; (४) अजवायनके फूल बडिशक्रिमि (Hook worm) के लिए। इन्हें अङ्गरेजीमें 'Anthelmintics—ॲन्थेल्मिन्टिक्स्'; 'Vermifuge—वर्मिफ्युज्'; 'Vermicides—वर्मिसाइड्स्';

विषघ्नम्—विषप्रशमनम्—अगदम्—

भेषजसामान्यवचनोऽप्यगदशब्दोऽत्र विषहरौषध एव प्रवर्तते, सामान्यशब्दस्यापि क्वचिद्विशेषवृत्तित्वात्; यथा—पञ्चमूलीति (सु० सू० १।३ ; हा०)। "हरिद्रा-मञ्जिष्ठा-सुवहा-सूक्ष्मैला-पालिन्दी-चन्दन-कतक-शिरीष-सिन्धुवार-श्लेष्मातका इति दशेमानि विषघ्नानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

नाना प्रकारके विष और उनसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको नष्ट करनेवाले द्रव्यको विषघ्न या अगद कहते हैं। जैसे—हल्दी, मजीठ, छोटी इलायची, चन्दन, निर्मली, निर्विषी (जद्वार) आदि। सुश्रुतने लोध्रादि, अर्कादि, एलादि, पटोलादि, उत्पलादि और त्र्यादि गणको विषघ्न लिखा है[1] (सू० अ० ३८)।

स्तन्यजननम्—स्तन्यवृद्धिकरम्—

स्तन्यं जनयतीति स्तन्यजननम् (यो०)। "वीरण-शालि-षष्टिकेक्षुवालिका-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-कत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

स्त्रियोंके स्तन्य (दूध) को उत्पन्न करनेवाले और बढ़ानेवाले द्रव्यको स्तन्यजनन या स्तन्यवृद्धिकर कहते हैं। जैसे—खस, गन्नेके मूल, शालि (चावल), विदारीकन्द, शतावरी, दर्भके मूल आदि। सुश्रुतने काकोल्यादि गणको स्तन्यजनन (सू० अ० ३८) और विदारीकन्द आदि कन्दशाकोंको स्तन्यवृद्धिकर लिखा है[2] (सू० अ० ४६)।

'Antiscoliac—ॲन्टिस्कॉलिआक्' कहते हैं। जो द्रव्य बाहरके (त्वचा आदिके) कृमियोंको मारते हैं, वे बाह्यकृमिघ्न कहाते हैं। जैसे-कायफल, बच, निमौलीका तेल आदि। इन्हें अंग्रेजीमें 'Insecticids—इन्सेक्टिसाइड्स्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। कृमिघ्न औषधको यूनानी वैद्यकमें 'क़ातिल दीदान' (कृमियोंको मारनेवाले) और 'मुख़रिज दीदान' (कृमियोंको बाहर निकालनेवाले) कहते हैं।

१—अगद—ये द्रव्य विषके लक्षणोंको कम या दूर करते हैं (उतार, वारण)। जैसे— द्रावकाम्लके लिए चूना, तमाखूके लिए कुचला, फिरङ्गोपदंशके विषके लिए पारा, सर्पविषके लिए सोना आदि। इन्हें अङ्गरेजीमें 'Antidotes—एन्टिडोट्स्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। विषघ्न औषधको यूनानी वैद्यकमें 'तिरियाक़' और 'फ़ादज़हर' कहते हैं।

२—जैसे—बकरीका दूध, एरण्डकी पत्ती, सौंफ, गिलोय। इन्हें अंग्रेजीमें 'Galactogogue—गॅलॅक्टोगॉग्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। स्तन्यजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुवल्लिद लब्न' कहते हैं।

स्तन्यशोधनम्—स्तन्यशुद्धिकरम्—

दोषदूषितं स्तन्यं शोधयतीति स्तन्यशोधनम्। "पाठा-महौषध-सुरदारु-मुस्त-मूर्वा-गुडूची-वत्सकफल-किराततिक्तक-रोहिणी-सारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

दोषदूषित (बिगड़े हुए) स्त्रियोंके स्तन्य (दूध) को शुद्ध करनेवाले द्रव्यको स्तन्य-शोधन कहते हैं। जैसे—पाठा, सोंठ, नागरमोथा, गिलोय, अनन्तमूल आदि। सुश्रुतने वचादि, हरिद्रादि और मुस्तादि गणको स्तन्यशोधन लिखा है (सु० सू० अ० ३८)।

शुक्रजननम्—शुक्रलम्—

"जीवकर्षभक-काकोली-क्षीरकाकोली-मुद्गपर्णी-माषपर्णी-मेदा-वृक्षरुहा-जटिला-कुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

पुरुषके शुक्रधातुको (वीर्यको) उत्पन्न करने और बढ़ानेवाले द्रव्यको शुक्र-जनन या शुक्रल कहते हैं। जैसे—जीवक, ऋषभक आदि (च०); असगन्ध, मुसली, मिसरी, शतावर (शा०)।

चरकने पचास गणोंमें शुक्रजनन वर्ग लिखा है। शुक्रजनन (शुक्रल) यह वाजीकर (वृष्य) का एक अवान्तर भेद है। अतः वाजीकरणके विषयमें चरक, सुश्रुत आदि संहिताग्रन्थोंमें तथा टीकाग्रन्थोंमें जो विशेष बातें उपलब्ध होती हैं, वे नीचे एकत्र संग्रह करके दी जाती हैं—

वाजीकरणम्—वाजीकरम्—वृष्यम्[1]—

"वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः। भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनो-पचीयते॥ तद्वाजीकरणं, तद्धि देहस्यौजस्करं परम्॥" (अ. सं. उ. अ. ५०; अ. हृ. उ. अ. ४०)। येन हेतुभूतेन पुरुषो वाजीव अश्व इवाप्रतिहतोऽङ्गना याति, येन च स्त्रीणामतिप्रियो भवति, येन च (शुक्र) धातुरुपचयं प्राप्नोति, तद्वस्तु वाजीकरणमित्युच्यते; तद्धि परं देहस्यौजस्करम् (इ.)। "येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते[2] नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥" (च. चि. अ. २, पा. ४)। वाजीकरणशब्दनिरुक्तिमाह—येनेत्यादि। व्रजेच्चाभ्यधिकमिति पुनः पुनर्गच्छेत्; 'व्यज्यते' इति वा पाठः, तत्रापि स्त्रियो गमनेन नारीषु पुंस्त्वेन व्यज्यते। × × ×। अनेन निरुक्तेन त्रिविधमपि वृष्यमवरुध्यते; यथा[3]—

१—'वृषाय हितं वृष्यम्' (र. वै. भा. पृ. १८३)।

२—'वाजीव लभते' इति पाठान्तरम्।

३—"स्रुतिकरं स्त्रीस्पर्शादि, वृद्धिकरं क्षीरादि, स्रुतिवृद्धिकरं माषादि।" इति (सु. सू. अ. १ टीकायां च. द.)।

शुक्रवृद्धिकरं माषादि, तथा स्रुतिकरं सङ्कल्पादि, शुक्रस्रुति-वृद्धिकरं क्षीरादि। यदुक्तमन्यत्र—"शुक्रस्रुतिकरं किंचित्, किंचिच्छुक्रविवर्धनम्। स्रुति-वृद्धिकरं किंचित्, त्रिविधं वृष्यमुच्यते॥" इति। त्रिविधमपि हीदं व्यवाये बलवत्त्वं पुनः पुनर्व्यवायशक्तिं च करोति (च. द.)। "वाजीकरणतन्त्रं (वाजीकरणं) नामाल्प-दुष्ट-क्षीण-विशुष्करेतसामाप्यायन-प्रसादोपचय-जननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च।" (सु. सू. अ. १)। अल्परेतसः प्रकृत्यैव स्तोकरेतसः, तेषामाप्यायन-निमित्तं; दुष्टरेतसो वातादिदुष्टरेतसः, तेषां प्रसादनिमित्तं; क्षीणरेतसः कारणैः स्वमानादल्पीभूतरेतसः, तेषामुपचयनिमित्तं; विशुष्करेतसः स्वमानादत्यर्थं क्षीण-रेतसः, तेषां जननिमित्तम् (यदौषधं तद्वाजीकरणमित्यर्थः)। अथवाऽल्परेतसः पञ्चविंशतिमप्राप्ताः, क्षीणरेतसस्तु मध्यवयसः कारणादल्पीभूतरेतसः, शुष्करेतसो वृद्धाः। प्रहर्षजननार्थं चेति स्वस्थस्य शुक्रवृद्धि-स्रुतिकरणार्थं चेत्यर्थः। अन्ये तु वजनं वाजो वेगः प्रकरणाच्छुक्रस्य, स विद्यते येषां ते वाजिनः, अवाजिनो वाजिनः क्रियन्तेऽनेनेति वाजीकरणम्; अन्ये तु वाजीशब्देन शुक्रमभिधीयते, तेन शुक्ररहितस्य वाजी शुक्रं क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम् (ड.)। "सेव्यमानो यदौचित्याद्वाजी-वात्यर्थवेगवान्। नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते॥" (सु. चि. अ. २६)। तत् त्रिविधं—जनकं, प्रवर्तकं, जनक-प्रवर्तकं चेति। तत्र जनकं मांस-घृतादिकं, यतस्तद्रसादिधातुक्रमेण परिणतं सप्तधातुपुष्टिं करोति; प्रवर्तकमुच्चटाचूर्णादिकं शुक्र-विरेचनं, तस्य च वैरेचनिकत्वे सत्याशुक्षयकारित्वं स्यात्, अतो विरेचनं शुक्रस्य पतनायाभिमुखीभावमात्रकरणं; जनकप्रवर्तकं तु गव्यघृत-गोधूम-माष-नक्राण्डा-दिकम्। केवलं देहबलकरं जनकं गोधूमादिकं, केवलमनोबलकरं संकल्पादि तु प्रवर्तकं, घृत-क्षीरादि देह-मनोबलकरं तदुभयकरमिति। वृष्यादिद्रव्याणां सद्यः शुक्रादिकरणे प्रभावोऽयम्। तथा च श्रीवाग्भटः—"केचिदाहुरहोरात्राद्दशाहादपरे परे। मासात् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति॥ वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यः शुक्रादि कुर्वते। प्रायः करोत्यहोरात्रात् कर्मान्यच्च भेषजम्।" इति (ड.)। अल्पशुक्रं प्रकृत्यैव यदल्पशुक्रं, तस्याप्यायनाय; दुष्टं दोषतः, तस्य प्रसादाय; क्षीणं स्वमानात् प्राकृतात्, तस्योपचयाय; शुष्कमत्यल्पत्वाच्छुष्कमिव, तस्य जननाय; इति विभागः। × × ×। (च. द.)। "यस्माद् द्रव्याद्भवेत् स्त्रीषु हर्षो वाजीकरं च तत्। यथा नागबलाद्याः स्युर्बीजं च कपिकच्छुजम्॥ यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं तु तदुच्यते। यथाऽश्वगन्धा मुसली शर्करा च शतावरी॥ दुग्धं माषाश्च भल्लातफलमज्जामलानि च। प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः॥ प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य, रेचनं बृहतीफलम्। जातीफलं स्तम्भकं च, शोषणी च हरीतकी॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यस्माद् द्रव्यात् स्त्रीषु स्त्रीपुरुषयोर्हर्षः कामशक्ति-सुरतसुखं भवेत् तद्वाजीकरं ज्ञातव्यम्। यथा नागबलाद्याः स्युरिति

नागबला गाङ्गेरुकी, आदिशब्दाज्जातीफलाहिफेन-भङ्गाप्रभृतीनां ग्रहणम् । कपिकच्छुबीजमपि वाजीकरणं, कपिकच्छुर्वानरी । द्विविधदृष्टान्तेनात्र द्विविधं वाजीकरणं सूचितम् । एकं वीर्यस्तम्भनरूपम् , अपरं वीर्यवर्धनम् , इत्यनेन पुनरुक्त्याऽप्यदोषः । शुक्रलमिति शुक्रवृद्धिकरम् । रेतसः शुक्रस्य दुग्धादीनि द्रव्याणि प्रवर्तकानि कथ्यन्ते; न केवलं प्रवर्तकानि उत्पादनकराणि च कथ्यन्ते । प्रस्तावाद् वाजीकरणानामौषधानां विशेषानाह—प्रवर्तनीत्यादि । शुक्रस्य वीर्यस्य प्रवर्तनी प्रकटकारिणी स्त्री कथितेत्यर्थः । रेचनं बृहतीफलमिति शुक्रस्येत्यत्रापि संबन्धः । बृहती बृहत्कण्टकारिका, तस्याः फलम् । स्तम्भकम् अवरोधकरं जातीफलं भवति; अत्रापि शुक्रस्येति सम्बन्धः । शोषणी हीन (क्षीण) त्वकारिणी हरीतिकी कथिता । चकारादत्रापि शुक्रस्येत्यर्थः । एके 'शोषणी च हरीतकी' इत्यस्य स्थाने 'कालिङ्गं क्षयकारि च' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—कालिङ्गं वर्तुलफलमिति (आ.) । कालिङ्गं ब्रह्मशीर्षं, क्षयकारि स्यात् (का.) ।

जिस द्रव्यके सेवनसे सुरत-मैथुनमें पुरुष और स्त्री दोनोंको अधिक हर्ष उत्पन्न हो तथा पुरुष अश्वके जैसे अति बलवान् होकर बिना रुकावटके स्त्रीगमनमें समर्थ हो, उसे वाजीकरण; वाजीकर या वृष्य कहते हैं । वाजीकर द्रव्यके चार प्रधान भेद हैं—(१) जिस द्रव्यसे शुक्रको (वीर्यकी) वृद्धि हो, उसे शुक्रजनन, शुक्रल या शुक्रविवर्धन कहते हैं; जैसे—वृषण, कंवाँचके बीज, वीदारीकन्द, शतावरी, सालमपंजा, गायका घी आदि । इस वर्गका प्रधान कार्य शुक्र (वीर्य) धातुको उत्पन्न करना और बढ़ाना है (देहबलकर); ये द्रव्य साक्षात् प्रवर्तक—स्रुतिकर—कामोत्तेजक होते हैं या नहीं भी होते । (२) शुक्रस्रुतिकर—शुक्रप्रवर्तक—कामोत्तेजक—ये द्रव्य साक्षात् शुक्रकी वृद्धि नहीं करते, परन्तु केवल कामोत्तेजन मात्र करते हैं (मनोबलकर); जैसे—स्त्रीस्पर्श, अकरकरा, मकरध्वज, कस्तूरी आदि । (३) कुछ द्रव्य जनक और प्रवर्तक दोनों होते हैं (देह-मनोबलकर); जैसे—दूध, उड़द, भिलावेका मग़ज़ आदि; उनको शुक्रस्रुतिवृद्धिकर कहा गया है; (४) शुक्रस्तम्भन—ये द्रव्य शुक्रधातुका स्तम्भन करके सुरतकालको दीर्घ करते हैं; जैसे—जायफल, अफीम आदि[१] ।

१—वाजीकर—ये द्रव्य मैथुनेच्छा और शिश्नेन्द्रियकी शक्तिको बढ़ाते हैं । जैसे—कुचला, भाँग, फॉस्फॉरस, कॅन्थॅरिडिस् । इनमें (१) कई द्रव्य शिश्नेद्रिन्यको नाड़ीके केन्द्र पर प्रत्यक्ष क्रिया करते हैं; जैसे कुचला । (२) कई द्रव्य मूत्राशय और मूत्रनलिकाका क्षोभ करके अप्रत्यक्ष रीतिसे यह क्रिया करते हैं; जैसे—कॅन्थॅरिडिस् । इस वाजीकर वर्गके तीन अवान्तर भेद किये जाते हैं—(१) स्तम्भन—शुक्रस्रावके समयको बढ़ानेवाले द्रव्य; जैसे—जायफल । (२) वृष्य—हर्ष

शुक्रशोधनम्—शुक्रदोषविनाशनम्—

दोषदूषितं शुक्रं शोधयतीति शुक्रशोधनम्। "कुष्ठैलवालुक-कट्फल-समुद्रफेन-कदम्बनिर्यासेक्षु-काण्डेक्षिक्षुरक-वसुकोशीराणीति दशेमानि शुक्रशोधनानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

दोषदूषित शुक्र (वीर्य) की शुद्धि करनेवाले द्रव्यको शुक्रशोधन कहते हैं। जैसे—कूठ, कायफल आदि। सुश्रुतने विदार्यादि, करमर्दादि और मुष्ककादि गणको शुक्रदोषविनाशन लिखा है (सू० अ० ३८)।

स्नेहोपगम्—

स्नेहनस्य सर्पिरादेः स्नेहनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्नेहोपगम्। मृद्वीकादिस्नेहोपगयुक्तस्य सर्पिरादेः स्नेहने प्रकर्षवती शक्तिर्भवतीत्यर्थः (च० द०)। स्नेहोपग इति स्नेहविधौ उपगन्तुं पानाहारादिषु शीलं यस्य तत् तथा, एवं परत्रापि व्याख्येयम् (ग०); स्नेहमुपगच्छति स्नेहनक्रियायां सहायीभवतीति स्नेहोपगम्, एवं स्वेदोपगादयः (यो०)। "मृद्वीका-मधुक-मधुपर्णी-मेदा-विदारी-काकोली-क्षीरकाकोली-जीवक-जीवन्ती-शालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

जो द्रव्य घृत आदि स्नेहन द्रव्योंके साथ पान आदिमें सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी स्नेहन शक्तिको बढ़ाता है, उसे स्नेहोपग कहते हैं। जैसे—मुनक्का, मुलेठी, विदारीकन्द, मेदा आदि।

स्वेदोपगम्—

स्वेदनद्रव्यस्य अग्न्यादेः स्वेदनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति स्वेदोपगम्। "शोभाञ्जनैरण्डार्क-वृश्चीर-पुनर्नवा-यव-तिल-कुलत्थ-माष-बदराणीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

जो द्रव्य अग्नि आदि स्वेदन (पसीना लानेवाले) द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसे स्वेदोपग कहते हैं। जैसे—सहिंजना, एरण्ड आदि।

(कामेच्छा) बढ़ानेवाले और वीर्यको बढ़ाकर गाढ़ा करनेवाले द्रव्य; जैसे-वृषण। (३) वाजीकर मैथुनशक्ति बढ़ानेवाले तथा मैथुनके अनन्तर होने वाली थकानको रोकने वाले द्रव्य (जैसे-सालमपंजा)। इन्हें अङ्गरेजीमें 'Aphrodisiac—अॅफ्रॉडिसिअॅक्' कहते हैं (डॉ० वा० दे०)। यूनानी वैद्यकमें वाजीकर औषधको 'मुक़व्वी बाह' और 'मुव्ही', शुक्रजनको 'मुवल्लिद मनी' और शुक्रस्तम्भनको 'मुमसिक मनी' कहते हैं।

वमनोपगम्—

वमनद्रव्यस्य मदनफलादेर्वमनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति वमनोपगम्। "मधु-मधुक-कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पा-प्रत्यक्पुष्प्य इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

जो द्रव्य मैनफल आदि वमन द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसे वमनोपग कहते हैं। जैसे—शहद (मधु) मुलेठी, कचनार, सैन्धव लवण आदि।

विरेचनोपगम्—

विरेचनद्रव्यस्य त्रिवृदादेर्विरेचन क्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति विरेचनोपगम्। "द्राक्षा-काश्मर्यफल-परूषकाभयामलक-बिभीतक-कुवल-बदर-कर्कन्धु-पीलूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

जो द्रव्य निशोथ आदि विरेचन द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त किये जानेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसे विरेचनोपग कहते हैं। जैसे—मुनक्का, गंभारीके फल, उन्नाब आदि।

आस्थापनोपगम्—

आस्थापनद्रव्याणां पाटलादीनामास्थापनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीति आस्थापनोपगम्। "त्रिवृद्बिल्व-पिप्पली-कुष्ठ-सर्षप-वचा-वत्सकफल-शतपुष्पा-मधुक-मदन-फलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

जो द्रव्य पाटला आदि आस्थापन (आस्थापन बस्तिमें उपयोगी) द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त होनेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसे आस्थापनोपग कहते हैं। जैसे—निशोथ, बेल, सर्षप, वच, इन्द्रयव आदि।

अनुवासनोपगम्—

अनुवासनद्रव्यस्य तैलादेरनुवासनक्रियायां सहायत्वेनोपगच्छतीत्यनुवासनोपगम्। "रास्ना-सुरदारु-बिल्व-मदन-शतपुष्पा-वृश्चीर-पुनर्नवा-श्वदंष्ट्राग्निमन्थ-श्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य अनुवासन (अनुवासन बस्तिमें उपयोगी तैलादि) द्रव्योंके साथ सहायक रूपमें प्रयुक्त होनेपर उनकी शक्तिको बढ़ाता है, उसे अनुवासनोपग कहते हैं। जैसे—रास्ना, देवदार, बेल, मैनफल, सौंफ आदि।

शिरोविरेचनोपगम्—

शिरोविरेचनोपगे तु शिरोविरेचनप्रधानान्येव द्रव्याणि बोद्धव्यानि (च. द.) "ज्योतिष्मती-क्षवक-मरिच-पिप्पली—विडङ्ग-शिग्रु-सर्षपामार्गतण्डुल—श्वेता-महाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनोपगानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

शिरोविरेचनमें उपयोगी प्रधान द्रव्योंको शिरोविरेचनोपग या शिरोविरेचन कहते हैं। जैसे—मालकँगनी, नकछिंकनी, कालीमिर्च आदि[१]।

छर्दिनिग्रहणम्—वमिनिग्रहणम्—

छर्दि निगृह्णाति स्तम्भयतीति छर्दिनिग्रहणं, व्याधिहरणवचनेन तद्धेतुदोषहरणमपि लभ्यते, एवं परत्रापि (ग.)। छर्दि वमिं निगृह्णातीति छर्दिनिग्रहणम्, एवं तृष्णानिग्रहणादयः (यो.)। "जम्ब्वाम्रपल्लव-मातुलुङ्गाम्लबदर-दाडिम-यव-यष्टिकोशीर-मृल्लाजा इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य वमन-उलटीके कारणभूत दोषको शान्त करके वमनको दूर करे, उसे छर्दिनिग्रहण कहते हैं। जैसे—जामुन और आमकी कोंपल, दाड़िम, खस, लाजा (धानका लावा) आदि। सुश्रुतने आरग्वधादि, पटोलादि और गुडूच्यादि गणको वमिहर लिखा है[२] (सू. अ. ३८)।

तृष्णानिग्रहणम्—तृष्णाघ्नम्—पिपासाघ्नं-पिपासाहरम्—तृट्प्रशमनम्—

"नागर-धन्वयासक-मुस्त-पर्पट-चन्दन-किराततिक्त-गुडूची-ह्रीवेर-धान्यक-पटोलानीति दशेमानि तृषानिग्रहणानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य तृषाके कारणभूत दोषको शान्त करके तृषा (प्यास)-का नाश करे उसे तृष्णानिग्रहण कहते हैं। जैसे—नागरमोथा, धमासा, चन्दन, धनिया आदि। सुश्रुतने सारिवादि, परूषकादि, उत्पलादि और त्र्यूषणादि गणको पिपासाहर लिखा है (सू. अ. ३८)।

१—चरकसंहितामें स्नेहोपग, स्वेदोपग, वमनोपग, विरेचनोपग और आस्थापनोपग इन गणोंमें जो द्रव्य आये हैं वे स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और आस्थापनके प्रधान द्रव्योंसे भिन्न हैं। स्नेहोपग आदि द्रव्य प्रधानतया स्नेहन आदि कर्म नहीं करते, किन्तु स्नेहन आदि द्रव्योंकी शक्ति बढ़ाकर उनकी क्रियाओंमें सहायता करते हैं। शिरोविरेचनोपग गणमें शिरोविरेचनमें सहायक द्रव्य नहीं, किन्तु प्रधान शिरोविरेचन द्रव्य ही लिये हैं। शिरोविरेचन—(Errhines—एरहाइन्स) ये द्रव्य नाकमें श्लेष्माको बढ़ाते हैं। इनसे छींकें नहीं आतीं। जैसे—ॲमोनिया, सिरकेकी भाफ (डॉ. वा. दे.)। छिक्काजनन (Sternutatories—स्टर्न्युटॅटरिस्)—ये द्रव्य सूँघनेसे छींकें आती हैं। जैसे—तमाखू, कुटकी, सोंठ, मिर्च, एपिकाक्युआना। छिक्काजनन औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुअत्तिस्' कहते हैं।

२—छर्दिनिग्रहण-'Anti-emetic—ॲन्टिइमेटिक्' (डॉ. वा. दे.)। छर्दिनिग्रहण औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुसक्किन कै' कहते हैं।

हिक्कानिग्रहणम्—हिक्काघ्नम्—

"शटी-पुष्करमूल-बदरबीज-कण्टकारिका-बृहती-वृक्षरुहाभया-पिप्पली-दुरालभा-कुलीरशृङ्गय इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य हिक्का (हिचकी) के निमित्तभूत दोषको शान्त करके हिक्काको दूर करे उसे हिक्कानिग्रहण कहते हैं। जैसे—कचूर, पोहकरमूल, छोटी पीपल, ककड़ासिंगी आदि[1]। जो द्रव्य वमनको बन्द करते हैं वे प्रायः हिक्काको भी बन्द करते हैं।

पुरीषसंग्रहणीयम्—विड्ग्रहणम्—सांग्राहिकम्—संग्राहि—ग्राहि—

पुरीषसंग्रहणं पुरीषस्य स्तम्भनं, तस्मै हितम् (ग.)। पुरीषस्यातिसरतः संग्रहणं संग्रहः, तत्र हितं पुरीषसंग्रहणीयम् (यो.)। "सांग्राहिकमनिलगुण-भूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्।" (सु. सू. अ. ४१)। "दीपनं पाचनं यत् स्यादुष्णत्वाद् द्रवशोषकम्। ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जीरकं गजपिप्पली॥" (शा. प्र. ख. अ.)। यद् द्रव्यं दीपनम् अग्निकरं, पाचनम् आमादीनां, द्रवशोषक-मिति द्रवस्वरूपाणां दोष-धातु-मलादीनां शोषकमित्यर्थः; उष्णत्वात् उष्णवीर्यत्वाद् द्रवशोषकमिति योज्यं; दीपनादिकार्यकरत्वेनोपलक्षितमिति भावः, तद् ग्राहि विज्ञेयम्। यथा—शुण्ठी, जीरकं, गजपिप्पली च। गजपिप्पली चव्यफलम्। ननु संग्राहकमनिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, तत् कथमुक्तम्—उष्णत्वादिति। उच्यते—पक्वामग्राहकत्वेन द्विविधं हि संग्राहकम्। तत्र यद् ग्रहण्यामामं संपाच्य वह्निं कृत्वा तत्रस्थं द्रवं च शोषयित्वा संग्रहणं करोति तदुष्णग्राहकं ज्ञेयं; यद् द्रव्यमतीसारादौ पक्वमलादिकं संस्तभ्य संग्रहं करोति तच्छीतसंग्राहकं ज्ञेयम्, एतदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः (आ.)। "सांग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसंभवम्।" (र. वै. पृ. १८७)। "लवण-तीक्ष्णो-ष्णेभ्योऽन्यत् सांग्राहिकं, तत् पार्थिव-वायव्यम्।" (र. वै. ४।९)। लवणा-देतद्गुणद्वयाच्चान्यद्रसगुणं तस्य (सांग्राहिकस्य) आश्रयः; तत् पार्थिव-वायव्यम्, आभ्यां भूताभ्यां निर्वर्त्यते सांग्राहिकम् (भा.)। "द्वयोर्निग्रहणं सांग्राहिकम्।" (र. वै. ४।२३)। निग्रहणं प्रशमनम्। द्वयोरित्युक्तं, न विशेषितं, तथा पित्त-श्लेष्मणोरिति गम्यते, पार्थिव-वायव्यत्वात्तस्य वीर्यस्य, आश्रयस्य च लवण-तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत्वात् पित्तनिग्रहे समर्थं; पार्थिव-वायव्यत्वाद्रौक्ष्य-वैशद्याभ्यां श्लेष्मनिग्रहे समर्थम् (भा.)। "प्रियङ्ग्वनन्ताम्रास्थि-कट्वङ्ग-लोध्र-मोचरस-समङ्गा-धातकीपुष्प-पद्मा-पद्मकेशराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति।" (च० सू० अ० ४)।

---

[1]—हिक्कानिग्रहण औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुसक्किन फवाक' कहते हैं।

४

जो द्रव्य द्रवीभूत तथा अत्यन्त (बार-बार और प्रभूत मात्रामें) सरनेवाले पुरीष (मल)को बाँधे, उसे पुरीषसंग्रहणीय, विड्ग्रहण, सांग्राहिक, संग्राहि या ग्राहि कहते हैं। जैसे—आमकी गुठली, सोनापाठा, मोचरस, लोध, धायके फूल आदि। (च.)। जो द्रव्य दीपन हो, आमादिकका पाचन करनेवाला हो और उष्ण-वीर्य होनेसे द्रवरूप मलादिकोंका शोषण करनेवाला हो, उसे ग्राहि कहते हैं। जैसे—सोंठ, जीरा, गजपीपल (शा.)। सुश्रुतने न्यग्रोधादिगणको संग्राही, रोध्रादि गणको स्तम्भी (स्तम्भन) तथा प्रियङ्ग्वादि और अम्बष्ठादि गणको पक्वातिसारनाशन लिखा है। (सु. सू. अ. ३८)। सांग्राहिक द्रव्य वातगुण-भूयिष्ठ होता है, क्योंकि वायु शोषण करनेवाला है (सु.)। शार्ङ्गधरने शोषण क्रियाका हेतु 'उष्णत्वात्' दिया है, सुश्रुतमें इसका कारण वायुको कहा है। इस मतभेदका समाधान करते हुए आढमल्ल कहते हैं कि, संग्राहक द्रव्योंके दो भेद हैं—पक्वसंग्राहक और आमसंग्राहक। इनमें जो द्रव्य ग्रहणीमें आमको पक्व, जठराग्निको प्रदीप्त कर और वहाँ स्थित द्रव मलका शोषण करके संग्रहण करता (मलको बाँधता) है, उसे उष्णसंग्राहक कहते हैं। जो द्रव्य अतिसारादिमें पक्वमलादिकका स्तम्भन करके संग्रहण करता है, उसे शीतसंग्राहक कहते हैं। ये पिछले द्रव्य वातगुणकी अधिकतावाले होते हैं। रसवैशेषिकसूत्रमें सांग्राहिक द्रव्यको लवण रस तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुणको छोड़कर अन्य रस-गुणवाला तथा पृथिवी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला कहा है[1]।

वक्तव्य—अतिसार और ग्रहणी रोगमें जब पतले दस्त आते हों तब पुरीष-संग्रहणीय द्रव्योंका प्रयोग किया जाता है। जब मल आमलक्षणयुक्त आता हो तब

१—**स्तम्भन, ग्राहि, संग्राहक** (Astringents—ॲस्ट्रिन्जन्ट्स्)—(१)—**स्तम्भन**—रूक्षता, कषायता और शीतगुणके कारण आँतोंमें रहे हुए पतले द्रव्यों और स्रावोंको रोकनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य शीघ्र और जोरदार क्रिया करते हैं। जैसे—अफीम, कुड़ेकी छाल, सोनापाठा। (२ अ) ग्राहि—अग्निको प्रदीप्त करके और आमका पचन करके आँतोंके पतले द्रवोंको गाढा किंवा शुष्क करनेवाले द्रव्य। ये द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं ; इनकी क्रिया धीरे-धीरे होती है। जैसे—सोंठ, जीरा, बड़ी पीपल ; (Carminatives—कार्मिनेटिव्स् ; Aromatics—ॲरोमॅटिक्स्)। (२ ब) **संग्राहक**—कषाय गुणके कारण पेशियोंका संकोच करनेवाले तथा संयोग को प्राप्त अङ्गोंमें रूक्षता लानेवाले द्रव्य। ये आँतोंकी लसीका या स्रावको कम करके उनको गाढ़ा करते हैं। जैसे—माजूफल तथा माजूफलमें स्थित कषायाम्ल जिन-जिन द्रव्योंमें हो वे द्रव्य, द्रावकाम्ल, फिटकिरी (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें संग्राहक द्रव्यको 'क़ाबिज़' और स्तम्भनको 'हाबिस' कहते हैं।

सोंठ, जीरा, सौंफ आदि उष्णसंग्राहक (ग्राहि) द्रव्योंका तथा जब मल पक्वलक्षण-युक्त होनेपर भी बार-बार पतले दस्त आते हों तब लोध्र, मोचरस, धातकीपुष्प आदि शीतसंग्राहक (स्तम्भन) औषधोंका प्रयोग करना चाहिये। चरकके उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य शीतसंग्राहक और शार्ङ्गधरके उदाहरणरूप लिखे हुए द्रव्य उष्ण-संग्राहक हैं।

पुरीषविरजनीयम्—विड्विरजनम्—

"पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धनिरासं करोतीति पुरीषविरजनीयम्। एवं मूत्रवि-रजनीयेऽपि व्याख्येयम् (च. द.)। दोषसंबद्धस्य पुरीषस्य दोषसंबन्धाद् विगमेन रजनं रागः, तस्मै हितं पुरीषविरजनीयम्। एवं मूत्रस्य च व्याख्येयम् (ग.)। पुरीषस्य विरजनं दोषसंबन्धविगमेन रजनं, तस्मै हितम् (यो.)। 'जम्बू-शल्लकीत्व-क्कच्छुरा-मधुक-शाल्मली-श्रीवेष्टक-भृष्टमृत्पयस्योत्पल-तिलकणा इति दशेमानि पुरीष-विरजनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य दोषदूषित पुरीष (मल)के दोषको दूर करके उसका वर्ण स्वाभाविक कर दे, उसे पुरीषविरजनीय कहते हैं। जैसे—जामुन, कवाँच, कमल, मुलेठी, गन्धाविरोजा आदि।

मूत्रसंग्रहणीयम्—मूत्रग्रहणम्—

अतिमात्रं पुनः पुनश्च प्रवर्तमानं मूत्रं संगृह्णातीति मूत्रसंग्रहणीयम्। "जम्ब्वाम्र-प्लक्ष-वट-कपीतनोडुम्बराश्वत्थ-भल्लातकाश्मन्तक-सोमवल्का इति दशेमानि मूत्रसं-ग्रहणीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य अत्यन्त (बार-बार तथा अति मात्रामें) निकलनेवाले मूत्रको रोके (कम करे), उसे मूत्रसंग्रहणीय कहते हैं। जैसे—जामुन, आम, आम-बड़-गूलर-पीपल इन वृक्षोंकी छाल, भिलावा आदि[1]।

मूत्रविरजनीयम्—मूत्रविरजनम्—

मूत्रं विरजयति दोषसंबन्धनिरासं कृत्वा प्रकृतौ स्थापयतीति मूत्रविरजनीयम्। "पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-मधुक-प्रियङ्गु-धातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य दोषदूषित मूत्रके दोषको दूर करके उसका वर्ण स्वाभाविक कर दे, उसे मूत्रविरजनीय या मूत्रविरजन कहते हैं। जैसे—कमल के फूल, मुलेठी, धायके फूल आदि।

१—मूत्रसंग्रहणीय (Urine diminisher—यूरिन डिमिनिशर्) ये द्रव्य मूत्रको कम करते हैं। जैसे—अफीम, जस्तकी भस्म, तगर (डॉ. वा. दे.)। मूत्रसंग्रहणीय द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'हाबिस बौल' कहते हैं।

मूत्रविरेचनीयम्—

"मूत्रस्य विरेचनं करोतीति मूत्रविरेचनीयम् (च. द.)। मूत्रविरेचनीयमिति मूत्रस्य वर्तनाय हितम् (ग.)। मूत्रस्य विरेचनं बहिःसारणं, तत्र हितम् (यो.)। "वृक्षादनी-श्वदंष्ट्रा-वसुक-वशिर-पाषाणभेद-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य मूत्रका विरेचन (प्रवृत्ति-खुलासा) करे उसे मूत्रविरेचनीय, मूत्रविरेचन, बस्तिशोधन या मूत्रल[1] कहते हैं। जैसे-बाँदा, गोखरू, ककड़ी, पाषाणभेद, दर्भके मूल, पुनर्नवा, कलमी शोरा आदि। सुश्रुतने परूषकादि और तृणपञ्चमूल इन दो गणोंको मूत्रदोषहर लिखा है (सू. अ. ३८)। चरकने त्रपुष और विदारीकन्दके गुणोंमें उसे मूत्रल लिखा है[2]।

कासहरम्—

कासं हरतीति कासहरम्, एवं श्वासहरादयः (यो.)। "द्राक्षाभयामलक-पिप्पली-दुरालभा-शृङ्गी-कण्टकारिका-वृश्चीर-पुनर्नवा-तामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

कास (खाँसी) को नष्ट करनेवाले द्रव्यको कासहर या कासघ्न कहते हैं। जैसे—मुनक्का, हरड़, ककड़ासिंगी, अडूसा आदि। सुश्रुतने विदारीगन्धादि और सुरसादि गणको कासहर लिखा है[3] (सू. अ. ३८)।

१—'मूत्रल' शब्द सु. सू. अ. ४६में श्लो. ९५।३१८ आदि स्थलोंमें आया है।

२—मूत्रजनन (Diuretics—डाइयुरेटिक्स्)-ये द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंके उत्तेजक तथा मूत्रको बढ़ानेवाले हैं। (१) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंको साक्षात् उत्तेजित करते हैं, जैसे—कबाब चीनी, काली मिर्च, अनन्तमूल, हाउबेर, गन्धाविरोजा, कँन्थॅरिडिस्, मद्य। इन्हें मूत्रजनन (Stimulating diuretics—स्टिम्युलेटिंग् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। (२) कई द्रव्य मूत्रग्रन्थियोंमें रक्तका आयात और रक्तका दबाव बढ़ाते हैं। जैसे—जंगली प्याज, बुंददाना (कॉफी), डिजिटेलिस, पुनर्नवा। इन्हें मूत्रविरेचनीय (Hydragogue diuretics—हाइड्रॉगॉग् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। ये मूत्र जोरसे (बलात्) उत्पन्न करनेवाले द्रव्य हैं। (३) कई मूत्रग्रन्थियोंको धो डालते हैं; जैसे—पानी, चावलका माँड, जौखार। इनको मूत्रविरजनीय (Refrigerant iuretics—रिफ्रिजरन्ट् डाइयुरेटिक्स्) कहते हैं। मूत्रका स्वाभाविक रंग लानेवाले द्रव्य। मूत्रविरेचनीय—बांदा, गोखरू, खस, बिसखपरा, पाषाणभेद, डाभ, काँस, रोहिषघासके मूल (डॉ० वा. दे.)। मूत्रविरेचनीय द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुदिर्र बौल' कहते हैं।

३—यूनानी वैद्यकमें कासहर द्रव्यको 'मुज़य्यल सुर्फ़ा' कहते हैं।

श्वासहरम्—श्वासप्रशमनम्—

श्वासं श्वासरोगं हरति हरतीति श्वासहरम्। "शटी-पुष्करमूलाम्लवेतसैला-हिङ्ग्वगुरु-सुरसा-तामलकी-जीवन्ती-चण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

श्वासरोगको नष्ट करनेवाले द्रव्यको श्वासहर या श्वासप्रशमन कहते हैं। जैसे—कचूर, पोहकरमूल आदि। सुश्रुतने विदारीगन्धादि, सुरसादि और दशमूल इन गणोंको श्वासहर लिखा है[1] (सू. अ. ३८)। श्वासहर वर्गके दो भेद होते हैं—(१) जो द्रव्य श्वास रोग के कारणभूत दोषको दूर करके श्वास रोगको दूर करें; जैसे—पुष्पकर मूल, वासा आदि; (२) जो द्रव्य श्वासके वेगको कम करें, जैसे—सोम, धतूरा, वेलाडोना आदि।

शोथहरम्—श्वयथुविलयनम्—

शोथं हरतीति शोथहरम्। "सर्वान् रसान् शीत-मृदु-पिच्छिलांश्च गुणान् विलायनम्। तत् सौम्यं पार्थिवं च।" (र. वै. ४।१९,२०)। "अग्नि-वायुजनितवायुवीर्यनिर्वर्तितत्वाच्छोथस्य तस्य विलायनं तत्प्रतिपक्षभूतनिर्वर्तितं भवति। विलायनं शोथानामुत्सेधप्रशमनम्।" (भा.) "पाटलाग्निमन्थ-श्योनाक-बिल्व-काश्मर्य-कण्टकारिका-बृहती-शालपर्णी-पृश्निपर्णी-गोक्षुरका इति दशेमानि शोथहराणि भवन्ति।" (च. सू. अ ४.)।

शोथ (सूजन) को दूर करनेवाले द्रव्योंको शोथहर कहते हैं। जैसे—दशमूल, पुनर्नवा आदि। सुश्रुतने विदार्यादि और करमर्दादि गणको शोथहर लिखा है। र. वै. सू. में शोफहरको सर्व रस तथा शीत, मृदु और पिच्छिल इन गुणोंको आश्रित तथा पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला लिखा है[2]।

श्वयथुकरं—श्वयथुजननम्—

"सुश्रुत-नागार्जुनाभ्यां श्वयथुकर (श्वयथुकरण-श्वयथुजनन) द्रव्यमपि निर्दिष्टं; "यथा-इहौषधकर्माणि × × × श्वयथुकर-विलयन × × × विषप्रशमनानि वीर्य-प्रधान्याद्भवन्ति।" (सु. सू. अ. ४०।५)। श्वयथुकरत्वं च भल्लातकादीनाम् (हा.) "मधुर-कषाय-वर्जितान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्षांश्च गुणान् श्वयथुजननम्। तदाग्नेयं वायव्यं च।" (र. वै. ४।१७,१८)। "मधुर-कषायवर्जितान् रसान् तीक्ष्णादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते तद्वीर्यम्। अग्नि-वायू विश्लेषणं कृत्वोर्ध्वमुद्धूय शोथजननसमर्थौ भवतः।" (भा.)

१—श्वासहर द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुसकिन तनफ्फुस' कहते हैं।
२—शोथहर द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुहल्लिल वर्म' कहते हैं।

सुश्रुत और नागार्जुनने श्वयथुकर द्रव्य भी लिखा है। नागार्जुन लिखते हैं कि—श्वयथुकर द्रव्य मधुर और कषाय रस छोड़ कर अन्य चार रस (अम्ल, लवण, कटु और तिक्त) तथा तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष इन गुणोंवाला तथा अग्नि और वायु इन महाभूतोंकी अधिकतावाला होता है। कविराज हाराणन्द्रजीने श्वयथुकरका उदाहरण भिलावा लिखा है।

ज्वरहरम्—

ज्वरं ज्वरसंतापं हरतीति ज्वरहरम्। "सारिवा-शर्करा-पाठा-मञ्जिष्ठा-द्राक्षा-पीलु-परूषकाभयामलक-बिभीतकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति" (च. सू. अ. ४)॥

ज्वरको नष्ट (ज्वरके संताप-वेगको कम) करनेवाले द्रव्यको ज्वरहर, ज्वरप्रशमन या ज्वरघ्न कहते हैं। जैसे—पाठा, अनन्तमूल, चीनी, मजीठ, आदि। सुश्रुतने पटोलादि और सारिवादि गणको ज्वरहर लिखा है[१] (सू. अ. ३८)।

श्रमहरम्—श्रमनाशनम्-श्रमघ्नम्—

"द्राक्षा-खर्जूर-प्रियाल-बदर-दाडिम-फल्गु-परूषकेक्षु-यव-षष्टिका इति दशेमानि श्रमहराणि भवन्ति" (च. सू. अ. ४)।

श्रम (थकान) को दूर करनेवाले द्रव्यको श्रमहर कहते हैं। जैसे—मुनक्का, खजूर, चिरौंजी, अनार, अंजीर, फालसा, गन्ना आदि।

१—ज्वरहर (Antipyretics—ॲन्टिपाइरेटिक्स्; Antifebrile—ॲन्टि-फेब्राइल्; Febrifuge—फेब्रिफ्युज्)—ये द्रव्य ज्वरमें किंवा किसी भी रोगमें उष्णता कम करते हैं। इनकी शरीरपर क्रिया अनेक प्रकारसे होती है। (१) कई त्वचामेंसे उष्णताका अपहरण करते हैं; जैसे—ठण्ढे जलसे अङ्ग धोना, स्वेदन द्रव्य। (२) कई त्वचाकी केशिकाओंको विकसित करते हैं, जिससे परिणामरूप में उष्णता स्वयं बाहर निकलती है; जैसे—मद्य, सुरमा, बछनाग। (३) कई ज्वर उत्पन्न करनेवाले विषका नाश करते हैं; जैसे—सोमल। (४) कई उष्णताके केन्द्रोंपर शामक क्रिया करते हैं, जिससे उष्णता उत्पन्न नहीं होती; जैसे —कुनैन, बेदमुश्क। ज्वरहर द्रव्योंका एक भेद कालज (नियतकालिक) ज्वर-नाशन (Anti-periodics—ॲन्टिपीरिऑडिक्स्) है। ये द्रव्य वारीसे आनेवाले रोगोंका विष नष्ट करते हैं। इनसे ज्वर भी कम होता है। जैसे—कुनैन, सोमल (डॉ. वा. दे.)। ज्वरहर द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'दाफिअ हुम्मा' कहते हैं। नियतकालिक ज्वर नाशनको यूनानी वैद्यकमें 'मानिअ नौबत हुम्मा' कहते हैं।

दाहप्रशमनम्—निर्वापणम्—

दाहं प्रशमयतीति दाहप्रशमनम्, एवमुदर्दप्रशमनादयः (यो.)। "निर्वापणं दाहौष्ण्यशमनम्" (च. चि. २५।४० पर च. द.) "लाजा-चन्दन-काश्मर्यफल-मधूक-शर्करा-नीलोत्पलोशीर-सारिवा-गुडूची-ह्रीबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य बाह्य या आन्तर दाह-जलन और उष्णताको शान्त करे, उसे दाहप्रशमन, दाहहर या निर्वापण[1] कहते हैं। जैसे—धानका लावा (खील), चन्दन, चीनी, कमल, अनन्तमूल, गिलोय, खस आदि। सुश्रुतने सारिवादि, अञ्जनादि, न्यग्रोधादि, गुडूच्यादि और उत्पलादि गणको दाहनाशन लिखा है[1]।

दहनम्—

"अग्नेर्दहनशक्तिवत्त्वङ्मांसास्थिदाहे।" (र. वै. ४।२२)। दहनं क्षारादीनाम् (ड. सु. सू. अ. ४०।५)।

जो द्रव्य अग्निकी तरह त्वचा-मांस आदिको जला देता है, उसको दहन कहते हैं[2]।

शीतप्रशमनम्—

शीतं प्रशमयतीति शीतप्रशमनम्। "तगरागुरु-धान्यक-शृङ्गवेर-भूतिक-वचा-कण्टकार्यग्निमन्थ-श्योनाक-पिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति।" (च. सू. अ. ४)। "रास्नागुरूणि शीतापनयनप्रलेपनानाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य शीत (ठण्ढ लगनेको) शान्त करे और रोके, उसे शीतप्रशमन कहते हैं। जैसे—तगर, अगरु, अजवायन, बच, कूठ, चोरा आदि।

उदर्दप्रशमनम्—कोठनाशनम्—

उदर्दो वरटीदष्टाकारः शोथः, तत्प्रशमनम् उदर्दप्रशमनम्; न पुनरिह महारोगाध्याये पठितो वातविकारो गृह्यते, तिन्दुकादीनामुदर्दप्रशमनानां वातं प्रत्यनुकूलत्वात् (च. द.)। "शीतपानीयसंस्पर्शाच्छीतकाले विशेषतः। सरागकण्डूः

१—दाहशमन (Refrigerants—रिफ्रिजरन्ट्स्)—ये द्रव्य ज्वरमें उष्णता कम करते हैं और गले तथा मुखमें आर्द्रता लाकर तृषाको शान्त करते हैं। जैसे—फलोंका रस, बहुत हल्का द्रावकाम्ल, स्वेदजनक द्रव्य (डॉ. वा. दे.)। दाहप्रशमन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुत्फी', 'मुबर्रिद', 'तक्लील हरारत' और 'मुसक्किन हरारत' कहते हैं।

२—दहन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुहरिक़' कहते हैं।

शोफः स्यादुदर्दः स कफोद्भवः ॥" इति ; माधवस्तु—"वरटीदष्टसंस्थानः शोफः संजायते बहिः । सकण्डू-तोदबहुलश्छर्दि-ज्वरविदाहवान् ॥ उदर्दं तं विजानीयाच्छीतपित्तमथापरे ।" इति (यो.) । "तिन्दुक-प्रियाल-बदर-खदिर-कदर-सप्तपर्णाश्वकर्णार्जुनासनारिमेदा इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४) ।

उदर्द (पित्ती-ददोड़े उठने) को शान्त करनेवाले द्रव्यको उदर्दप्रशमन कहते हैं । जैसे—चिरौंजी, बेर, अर्जुन, बिजयसार आदि । सुश्रुतने एलादिगणको कोठनाशन लिखा है ।

अङ्गमर्दप्रशमनम्—

"विदारीगन्धा–पृश्निपर्णी--बृहती--कण्टकारिकैरण्ड–काकोली चन्दनोशीरैला-मधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४) ।

जो द्रव्य अङ्गमर्द (शरीरकी पीड़ा-दर्द) को शान्त करे, उसे अङ्गमर्दप्रशमन कहते हैं ; जैसे—सरिवन, पिठवन आदि ।

शूलप्रशमनम्—

"पिप्ली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-मरिचाजमोदाजगन्धाजाजी-गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति" (च. सू. अ. ४) ।

जो द्रव्य शूलरोगको शान्त करे, उसे शूलप्रशमन कहते हैं । जैसे—छोटी पोपल, पीपलामूल, सोंठ, जीरा आदि ।

शोणितस्थापनम्–रुधिरसंस्थापनम्—

शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य तत् प्रकृतौ स्थापयतीति शोणितस्थापनम् (च. द.) । शोणितं स्थापयति अतिप्रवृत्तं स्तम्भयतीति शोणितस्थापनम्, एवं वेदनास्थापनादयः (यो.) । रुधिरसंस्थापनं पुरुषस्य रुधिरवृद्धि-स्थैर्यकरम् (इ.) । शोणितास्थापनं शोणितातिप्रवृत्तिस्तम्भनम् । (सु. चि. १।४८ ड.) । "मधु-मधुक-रुधिर-मोचरस-मृत्कपाल-लोध्र-गैरिक-प्रियङ्गु-शर्करा-लाजा इति दशेमानि शोणितस्थापनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४) । रुधिरं कुङ्कुमम् (च. द.) ; रुधिरं प्राणिरुधिरम् (इं. अ. सू. अ. १५) ।

जो द्रव्य दोषदूषित रक्तके दोष (विकृति) को दूर करके उसको स्वाभाविक स्थितिमें लाए, उसे शोणितस्थापन कहते हैं (च. द.) । जो द्रव्य अत्यन्त बहते हुए रक्त (रक्तस्राव) को रोके, उसे शोणितस्थापन या शोणितास्थापन कहते हैं (ड., यो.) । रुधिरकी वृद्धि और स्थिरता करनेवाले द्रव्यको शोणितस्थापन कहते हैं (इन्दु) । जैसे—मुलेठी, केसर, मोचरस, लोध, गेरू आदि । सुश्रुतने अञ्जनादि गणको रक्तपित्तहर लिखा है । चरकने गंभारीके फल और

अजाक्षीरको रक्तसांग्राहिक और कमलके केशरको रक्तपित्तप्रशमन लिखा है[1] (च. सू. अ. २५)।

यहाँ 'शोणितस्थापन' शब्दसे टीकाकारोंने तीन वर्ग लिये हैं;—(१) दुष्ट रक्तको शुद्ध करनेवाले (रक्तसंशोधक-रक्तप्रसादन), (२) रक्तस्तम्भन, (३) और रक्तवर्धक ।

वेदनास्थापनम्—

वेदनायां संभूतायां तां निहत्य शरीरं प्रकृतौ स्थापयतीति वेदनास्थापनम् (च. द.)। वेदनायाश्चिच्छक्तेः संतर्पकं वेदनास्थापनम् (इ.)। "शाल[2]-कट्फल-कदम्ब-पद्मक-तुङ्ग-मोचरस-शिरीष-वञ्जुलैलवालुकाशोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य वेदना (पीड़ा) को नष्ट करे, उसे वेदनास्थापन कहते हैं। जैसे—शाल (सखुआ), कायफल, पद्माक, अशोक आदि[3] ।

१—शोणितास्थापन (Hœmatinics—हिमॅटिनिक्स् ; Hœmatics—हिमॅटिक्स् ; Blood tonics—ब्लड् टॉनिक्स्) रक्तको पूर्व स्थितिपर लानेवाले द्रव्य। ये द्रव्य रक्तकी लाली बढ़ाते हैं, रक्तको बढ़ाते हैं और इनके द्वारा रक्तकण अच्छे होते हैं; जैसे—लोह, प्रवाल, जवाखार, साबरसींगकी भस्म, कैल्शियम् (सुधा-चूना) के बने द्रव्य, कोयलेका पत्थर (Manganese—मॅन्गॅनीझ्), फॉस्फॉरस्, फॉस्फॉरस्के चूनेके मेलसे बने क्षार, मच्छीका तेल। रक्तस्कन्दन (सु. सू. अ. १४ श्लो. ३३) (Styptics—स्टिप्टिक्स्)—ये द्रव्य चुपड़े जानेपर अपने कषाय गुणके कारण तथा प्रत्यक्ष संयोगसे रक्तका स्राव बन्द करते हैं, ये रक्तको जमाते हैं किंवा केशिकाओंको संकुचित करते हैं; जैसे—फिटकरी, माजूफल, कसीस। ये केशिकाओंको संकुचित करके स्रावको बन्द करते हैं (स्कन्दन)। कषाय द्रव्य रक्तको जमा करके स्राव बन्द करते हैं (संधान)। रक्तसंग्राहिक (Hæmostatics—हिमॉस्टॅटिक्स्) ये द्रव्य पेटमें पहुँचकर रक्तद्वारा बहते हुए रक्तस्रावको रोकते हैं। जैसे—कैल्शियम् क्लोराइड्, अर्गट, माजूफल, गंधाविरोजा, सीसा, रानघेवड़ा (जंगली सेम) के मूल (डॉ. वा. दे.)। रक्तप्रसादन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुसफ़्फ़ी खून', रक्तस्तम्भनको 'हाबिस दम' तथा 'क़ातिउन्न-ज़ीफ़' और रक्तवर्धक औषधको 'मुवल्लिद खून' कहते हैं।

२—'शैल°' इति अ. सं. पा०।

३—वेदनास्थापन (Anodynes—अॅनोडाइन्स ; Analgesics—अॅनाल्जेसिक्स्)—ये द्रव्य वेदना कम करते हैं। इनकी क्रिया मस्तिष्क किंवा ज्ञाननाड़ियोंपर होती है। जैसे—अफीम, गांजा, बेलाडोना, बछनाग

संज्ञास्थापनम्—संज्ञाप्रदम्—

संज्ञां ज्ञानं स्थापयतीति संज्ञास्थापनम् (च. द. यो.)। "हिङ्गु-कैडर्यारिमेद-वचा-चोरक-वयस्था-गोलोमी-जटिला-पलङ्कषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य संज्ञा अर्थात् ज्ञान (होश) को पुनः लानेवाला हो, उसे संज्ञास्थापन कहते हैं। जैसे—हींग, बकायन, बच, चोरा, ब्राह्मी, जटामांसी, गूगल आदि।

प्रजास्थापनम्—गर्भस्थापनम्—

प्रजोपघातकं दोषं हत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनम् (च. द.)। प्रजां गर्भं स्थापयति दोषं निरस्येति प्रजास्थापनम् (यो.)। "ऐन्द्री-ब्राह्मी-शतवीर्या-सहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा-शिवाऽरिष्टा-वाट्यपुष्पी-विष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४)।

जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की उत्पत्ति या स्थितिके बाधक दोषको नष्ट कर प्रजाकी स्थापना करे (गर्भधारण कराये), उसे प्रजास्थापन कहते हैं। जैसे—ब्राह्मी, दूब आदि[1]।

वयःस्थापनम्—वयस्यम्—

वयः तरुणं स्थापयतीति वयःस्थापनम् (च. द., यो.)। "वयसे हितं वयस्यं, जरामभिहत्य यौवनं रक्षति ।" (र. वै. पृ. १८३)। "अमृताऽभया-धात्री-मुक्ता-श्वेता-जीवन्त्यतिरसा-मण्डूकपर्णी-स्थिरा-पुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति ।" (च. सू. अ. ४)। "आमलकं वयःस्थापनानाम् ।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य वय-तरुणावस्था (जवानी) को स्थिर रखे, उसे वयःस्थापन कहते हैं। जैसे—गिलोय, हरड़, आँवला आदि। यह वर्ग रसायन वर्गका ही एक भेद है। जो द्रव्य जरावस्थाको रोककर यौवनकी रक्षा करे, उसे वयस्य कहते हैं[2] (र. वै. अ. ४।२७)।

(डॉ. वा. दे.)। वेदनास्थापन औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुसक्किन अलम', और 'मुसक्किन वजा' कहते हैं।

१—प्रजास्थापन—ये द्रव्य प्रजा (संतान) का प्रतिबन्ध करनेवाले रोगको दूर कर प्रजोत्पत्तिमें सहायता देते हैं। जैसे—फिरङ्गोपदंशमें सोना, पूयमेहमें चांदी इत्यादि (डॉ. वा. दे.)।

२—वयःस्थापन (Youth preserver—यूथ् प्रिझर्वर्; Youth restorer-यूथ् रिस्टोरर्)—बुढ़ापेको प्रकट न होने देनेवाले द्रव्य (डॉ. वा. दे.)।

चरकके पञ्चाशन्महाकषाय[1]के नामसे कहे हुए पचास वर्गोंका वर्णन किया गया है। चरकके सू. अ. २२ में कहे हुए लङ्घनादि छः वर्गोंमेंसे बृंहणका वर्णन पीछे पृ. ३२ पर किया गया है; शेष लङ्घन, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन इन पाँच वर्गोंकी व्याख्या की जाती है।

लङ्घनम्—

"यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्। लघूष्ण-तीक्ष्ण-विशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम्॥ कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तल्लङ्घनं स्मृतम्।" (च. सू. अ. २२) यत्किंचिद् द्रव्य-गुण-कर्मरूपं देहे लघुत्वमुत्पादयति तल्लङ्घनं स्मृतम्। प्रायोग्रहणा-देवंगुणमपि किञ्चिल्लङ्घनं न भवति, उष्णगुणस्य पिप्पल्यादेर्वृष्यतया संतर्पणकार्य-दर्शनात्। एवं बृंहणेऽप्युन्नेयम्। यथा—शीतस्यापि प्रियङ्गु-श्यामाकादेः कर्शनत्वम्। (च. द.)। "लङ्घनं लाघवाय यत् देहस्य।" (अ. सं. सू. अ. २४)। देहस्य यल्लाघवाय कल्पते तल्लङ्घनम्। आग्नेय-वायव्य-नाभसं लङ्घनमिति (इ.)। लघ्वादिनवगुणयुक्तमग्नि-वायु-नभोगुणाधिकं च द्रव्यं लङ्घनं भवति। चरकेण द्रव्याद्रव्यरूपं दशविधं लङ्घनमुक्तं; यथा—"चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥" (च. सू. अ. २२) इति। चतुष्प्रकारा संशुद्धिरिति अनुवासनं वर्जयित्वा, तस्य बृंहणत्वात्। पिपासेति पिपासानिग्रहः। मारुतो यद्यपि सोमसंबन्धात् तथा लङ्घनं न भवति, तथाऽपि स्वरूपेण लङ्घनमेव। पचन्तमग्निं प्रतिपक्षक्षपणेन बलदानेन च यत् पाचयति तत् पाचनम्; तच्च वाय्वग्निगुणभूयिष्ठम् (च. द.)। अत्र वमन-विरेचनास्थापन-शिरोविरेचन-पाचनानि पञ्च द्रव्यरूपाणि, शेषाणि पिपासादीनि पञ्चाद्रव्यरूपाणि लङ्घनानि ज्ञेयानि। वाग्भटेन शोधन-शमनरूपं द्विविधं लङ्घनमुक्तं; यथा— "शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लङ्घनम्। यदीरयेद्बहिर्दोषान् पञ्चधा शोधनं च तत्॥ निरूहो वमनं काय-शिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः। न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि॥ समीकरोति विषमान् शमनं, तच्च सप्तधा। पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्-व्यायामातप-मारुताः॥" इति (अ. सं. सू. अ. २४; अ. हृ. सू. अ. १४)।

जो द्रव्य (गुण और कर्म भी) शरीरमें हलकापन लाता है, उसे लङ्घन कहते हैं। जो द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन—इन नौ गुणोंसे युक्त होता है, वह प्रायः लङ्घन होता है। 'प्रायः' कहनेका तात्पर्य यह है कि, ऐसे गुणोंवाला होने पर भी कोई द्रव्य लङ्घन नहीं होता; जैसे—छोटी पीपल वृष्य होनेसे उसका संतर्पण कार्य देखा जाता है। इसी प्रकार बृंहण आदिमें

[1]—अष्टाङ्ग-संग्रहमें पञ्चचत्वारिंशन्महाकषायोंका वर्णन सूत्रस्थानके १५ वें अध्यायमें दिया है।

भी 'प्रायः' शब्दका तात्पर्य जानना चाहिए। जैसे--काँग और सामा शीत होनेपर भी शरीरका कर्शन करनेवाले हैं। लङ्घन द्रव्य अग्नि, वायु और आकाशकी अधिकतावाले होते हैं। लङ्घन द्रव्योंका कोई विशेष गण-वर्ग नहीं बताया गया है, परन्तु उसे चरकने छः प्रकारके उपक्रमोंमें तथा वाग्भटने दो प्रकार[1]के उपक्रमोंमें अन्यतम उपक्रम बताया है। चरकने चार प्रकारका शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन), तृषाको रोकना (जल कम पीना), वायु तथा धूपका सेवन, पाचन और उपवास ये दस प्रकारके लङ्घन लिखे हैं। इनमें चार प्रकारके शोधन (वमन-विरेचन-आस्थापन-शिरोविरेचन) और पाचन ये पाँच द्रव्यरूप हैं और शेष पाँच अद्रव्यरूप हैं। वाग्भटने शोधन और शमन दो प्रकारका लङ्घन लिखा है। उन्होंने शोधनमें रक्तमोक्षण और द्रव्यरूप लंघनमें दीपन अधिक बताया है।

रूक्षणम्—

"रौक्ष्यं खरत्वं वैशद्यं यत् कुर्यात् तद्धि रूक्षणम्। रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम्॥ प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्धि रूक्षणम्।" (च. सू. अ. २२)। रौक्ष्यमित्यादौ रौक्ष्यमेव प्रधानं बोद्धव्यं, खरत्व-वैशद्ये तु तदनुगते। रूक्षणद्रव्यकथने यद्गुणमेव लङ्घनद्रव्यमुक्तं तद्गुणमेव रूक्षणं यद्यप्युक्तं, तथाऽपि रूक्षगुणस्यात्र प्राधान्यं, लङ्घने तु लघुगुणप्राधान्यं ज्ञेयं; तथा लङ्घनमद्रव्येणोपवासेनापि क्रियते, रूक्षणं तु द्रव्यकार्यतयैव प्राधान्यादुक्तं; तेन लङ्घन-रूक्षणयोर्नैकता। यत्तु वक्ष्यति—"कृतातिकृतलिङ्गं यल्लङ्घिते तद्विरूक्षिते।" (च. सू. अ. २२।३९) इति, तत् प्रायोवादात्। विरूक्षणस्य हि मुख्यः स्नेहाभावः साध्यः, लङ्घनस्य तु गौरवाभाव इति स्फुट एव भेदः प्रतिभाति (च. द.)। प्रायश इति क्वचिदेवङ्गुणमपि द्रव्यं रूक्षणं न भवति। यथा—लघ्वपि सार्षपं तैलं छागं दुग्धं च स्नेहनम्। एवं वक्ष्यमाणस्नेहनेऽपि ज्ञेयम्। यथा—यवो गुरु-शीत-सारादिगुणयुक्तोऽपि रूक्षणः, तथा राजमाषोऽपि (यो.)।

जो द्रव्य शरीरमें रूक्षता, खरता तथा विशदता (अपिच्छिलता) लाता है, उसे रूक्षण कहते हैं। जो द्रव्य रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण और स्थिर-इन छः गुणोंवाला तथा अपिच्छिल हो, वह प्रायः रूक्षण होता है। 'प्रायः' कहनेका प्रयोजन यह है कि कोई द्रव्य इन गुणोंवाला होता हुआ भी रूक्षण नहीं होता। जैसे—सरसोंका तेल तथा बकरीका दूध लघु होते हुए भी स्नेहन है। स्नेहन द्रव्यके विवरणमें आये हुए 'प्रायः' शब्दका भी यही प्रयोजन जानना चाहिए। जैसे—यव तथा लोबिया गुरु, शीत, सर आदि गुणयुक्त होता हुआ भी रूक्षण होता

१--वाग्भटने संतर्पण (बृंहण) और अपतर्पण (लङ्घन) ये दो उपक्रम लिखे हैं।

है। यहाँ यह जानना चाहिए कि लङ्घन द्रव्यके जो गुण कहे हैं वही रूक्षण द्रव्यके भी, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि-लङ्घन द्रव्यमें लघु गुणकी प्रधानता होती है और रूक्षण द्रव्यमें रूक्ष गुणकी प्रधानता होती है। अपरं च, लङ्घन अद्रव्यभूत उपवास आदिसे भी होता है, परन्तु रूक्षण केवल द्रव्यका ही कार्य है[1]।

स्नेहनम्—

"स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेदकारकम्। द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्॥ प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तत् स्नेहनं स्मृतम्।" (च० सू० अ० २२)। विष्यन्दो विलयनम् (द्रवीभाव इत्यर्थः—यो.) (च. द.)। स्नेहविष्यन्दः शरीरस्य स्नेहविलयनं, शरीरात् स्नेहक्षरणमिव। स्नेहविष्यन्दादिभिरनुमीयते देहे स्निग्धत्वमिति (ग.)।

जो द्रव्य शरीरमें स्निग्धता, द्रवपना अथवा स्नेहका क्षरण (शरीरसे स्नेह चूना, टपकना-सा), मृदुता तथा क्लेद उत्पन्न करे, उसे स्नेहन कहते हैं। जो द्रव्य द्रव, सूक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, शीतल, मन्द तथा मृदु-इन नौ गुणोंवाला हो, वह प्रायः स्नेहन होता है। जैसे—घृत, तैल, वसा, मज्जा आदि[2]।

स्वेदनम्—स्वेदजनकम्—

"स्तम्भ-गौरव-शीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्। उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम्। द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते।" (च० सू० अ० २२)। स्वेदकारकं घर्मकारकम्। स्वेदनगुणकथने स्निग्धं रूक्षमिति स्निग्धं वा रूक्षं वेत्यर्थः। एवं सर-स्थिरावपि विकल्पेन ज्ञेयौ (च. द.) स्तम्भो गात्राणां निश्चलीभावः (यो.)। "स्वेदनाश्चरणायुधाः" (च० सू० अ० २७)।

जो द्रव्य स्तम्भ (अङ्गोंकी निश्चेष्टता-जकड़ना-सा), गौरव तथा शीतको नष्ट करे और पसीना लावे, उसे स्वेदन कहते हैं। जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, सर वा स्थिर तथा गुरु हो वह प्रायः स्वेदन होता है[3]।

१—रूक्षण द्रव्यको यूनानीवैद्यकमें 'मुजफ़्फ़िफ़' कहते हैं।

२—स्नेहन (Demulcents—डिमल्सन्ट्स्)—इन औषधोंका स्पर्श जिस-जिस भागसे होता है, उस-उस भागका ये द्रव्य रक्षण करते हैं। ये स्निग्ध या तैलयुक्त होते हैं। जैसे—अलसी, बादाम, निशास्ता, मुलेठी (डॉ. वा. दे.)। स्नेहन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुरत्तिब' कहते हैं।

३—स्वेदन (Diaphoretics—डाएफॉरेटिक्स्; Sudorifics—सुडॉरिफिक्स्)-इन द्रव्योंसे पसीना छूटता है। इनकी क्रिया अनेक प्रकारसे होती है। (१) सुषुम्णाकाण्डके स्वेदकेन्द्रको उत्तेजित करके। (२) त्वचाकी रक्तवाहिनियोंको

स्तम्भनम्--स्तम्भि—

"स्तम्भनं स्तम्भयति यद्गतिमन्तं चलं ध्रुवम् । शीतं मन्दं मृदु श्लक्ष्णं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ॥ यद् द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तम्भनं स्मृतम् ।" (च० सू० अ० २२)। गतिमन्तमिति प्रव्यक्तगतियुक्तं, चलं किंचिद्गतिमन्तम् (ग.)। गतिमन्तं बहिर्निःसरन्तम् ; एतद्वम्यतीसार-शोणितस्रावादौ बोद्धव्यम् । तथा चल-मन्तश्चलनशीलं, यथा—रुधिरपित्ते; एतच्च पित्त-क्षाराग्निदाह-विषार्तादौ (यो.)। "रौक्ष्याच्छैत्यात् कषायत्वाल्लघुपाकाच्च यद्भवेत् । वातकृत् स्तम्भनं तत् स्याद्यथा वत्सक-टुण्टुकौ ॥" (शा० प्र० ख० अ० ४)। यद् द्रव्यं रौक्ष्यात् रूक्षगुणत्वात् शैत्यादिति शीतवीर्यत्वात्, कषायादिति कषायरसत्वात्, लघुपाकाच्च लघुपरिपाकाद् वातकृद्भवति तत् स्तम्भनं स्यात् ; वातगुणसाधर्म्यें हेतुचतुष्टयम् । अनिलस्य शोषणा-त्मकत्वेनानिलगुणभूयिष्ठं द्रव्यं स्तम्भनं भवतीत्यभिप्रायः । यथा —वत्सक-टुण्टुकौ; वत्सकः कुटजः, टुण्टुकः स्योनाकः । वातकृदित्यनेन कोष्ठवायोर्विष्टम्भकं, तस्मात् तद् द्रव्यं स्तम्भनं भवतीत्यर्थः (अ.)।

जो द्रव्य गतिमान् (स्पष्टगतियुक्त–ग.; वमन, अतिसार आदिके रूपमें शरीरसे बाहर निकलते हुए–यो.) या चल (किंचित् गतिमान्–ग.; शरीरके अन्दर गतिमान् रुधिर और पित्त—यो.) द्रव पदार्थको रोके, उसे स्तम्भन कहते हैं। जो द्रव्य शीत, मन्द, मृदु, श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर तथा लघु-इन नौ गुणवाला हो, वह प्रायः स्तम्भन होता है (च.)। जो द्रव्य रूक्ष, शीत, कषाय रसवाला और वातकर हो, वह स्तम्भन होता है। जैसे—कुड़ा और सोनापाठा (शा.)। सुश्रुतने लोध्रादि गणको स्तम्भी कहा है (सु० सू० अ० ३८)। वमन, अतिसार, रक्तपित, अतिस्वेद आदिके रूपमें शरीरसे निकलनेवाले द्रव पदार्थको रोकनेवाला द्रव्य स्तम्भन कहलाता है[1] ।

संशमनम्—शमनम्—

"आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनम्" (सु० सू० अ० ४१)। "वायु-सोम-महीजातं तथा संशमनं विदुः ॥" (र. वै. पृ. १८७)। "न शोधयति यद्दोषान् समान्नो-दीरयत्यपि । समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा ॥ पाचनं दीपनं क्षुत्तृड्-व्यायामातप-मारुताः । बृंहणं शमनं त्वेव वायोः पित्तानिलस्य च ।" (अ. हृ. सू. अ. १४)। संप्रति शमनाख्यस्य लक्षणं प्रभेदं चाधिकृत्याह—

विकसित करके ; जैसे—सुरमा, इपिकाक्युआना आदि द्रव्य । (३) स्वेदग्रन्थियोंमें स्थित नाड़ियोंके सिरोंको उत्तेजित करके (डॉ. वा. दे.)। स्वेदन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुअरिक़' कहते हैं ।

१—यूनानी वैद्यकमें स्तम्भन द्रव्यको 'हाबिस' कहते हैं ।

नेत्यादि। यदौषधं दोषान् वातादीन् न शोधयति नान्तःस्थितान् बहिर्निष्कासयति, तथा समान् स्वप्रमाणस्थान्नोदीरयति न चोत्क्लेशयति, विषमांश्च स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति, तच्छमनमुच्यते। तच्च सप्तधा सप्तप्रकारं पाचनादिभेदेन। तत्रान्तरे दीपन-पाचनयोर्लक्षणमुक्तं; यथा—"यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। पाचनं तद्विपर्यस्तं यथा वक्ष्यामि लङ्घनम्॥" इति; क्षारपाणिनाऽप्युक्तं—"पाचनं पाचयेद्दोषान् सामान् शमनमेव तु। दीपनं ह्यग्निकृत्त्वामं कदाचित् पाचयेन्न वा॥" इति। क्षुत्तृट्शब्दाभ्यां क्षुत्तृष्णानिग्रहाविह गृहीतौ। पाचनादीनां दोषशमनत्वमुक्तम्। तच्च वाते वात-पित्ते च न संभवतीत्याह—बृंहणमित्यादि। तुशब्दो विशेषे। विशेषस्तु लङ्घनापेक्षया। शोधनं शमनं चेति द्विधा लङ्घनमुक्तम्। बृंहणमपि शोधनं भवति। यथा—दुग्धादिद्रव्यं, शोधनस्वभावद्रव्यत्वात्। तेन तथाविधेन द्रव्येण केवलस्य वातस्य पित्तयुक्तस्य वा कोप आशंक्यते; यथा—लङ्घनेन शोधनद्रव्येण हरीतक्यादिना। ततो बृंहणस्य विशेषार्थस्तुशब्दः कृतः। बृंहणं यच्छोधनं तन्मरुतः केवलस्य पित्तसहितस्य वा शमनं, न तु लङ्घन-शोधनवत् कोपनम्। एवकारोऽवधारणार्थ;। बृंहणं शोधनरूपं वातस्य पित्तयुक्तस्य वा शमनमेवोक्तं, न कोपनं जातुचिदित्यर्थः। लङ्घनं तूभयरूपमपि वातस्य वातपित्तयोर्वा कोपनमेव (अ. द.)। × × ×। शोधन-शमनव्यतिरिक्तस्यौषधस्याभावात्, तयोश्च लङ्घनभेदत्वाद् बृंहणस्यानौषधत्वे प्राप्ते बृंहणं शमनमेवेत्याह—बृंहणं शमनं त्विति। शुद्धस्य पित्तसंसृष्टस्य च वायोर्विषमस्य समीकरणाच्छमनम् (हे.)। "न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान्। समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यत्किंचित् पीत-लीढाशितमनिर्हृत्य दोषं संशमयति तत् संशमनम्। एतेन किमुक्तं? यद् द्रव्यं न वामयति न विरेचयति किन्तु व्याधिना सह एकीभूय तत्स्थमेव व्याधिमुपशमयति तत् संशमनमिति भावः। दोषशब्दोऽत्र दोषेषु दोषकार्येषु व्याधिष्वपि वर्तते, कार्ये कारणोपचारात्। असमं समं करोतीति समीकरोति। यथा—अमृता गुडूची संशमनी प्रसिद्धा। × × ×। केचित्तु—"न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति च क्रुद्धांस्तत् संशमनमुच्यते॥" इति पठन्ति। अत्रापि स एवाभिप्रायः। सम्यक् शमयतीति संशमनं, सम्यग्दुष्टदोषस्यानिर्हरणपूर्वकं शमनमदुष्टस्यानुदीरणं च; व्याधिशमने तु प्रस्तुतव्याधिशमनमप्रस्तुतव्याधेरनुदीरणमिति (आ.)।

जो द्रव्य सम अवस्थामें स्थित दोषोंका वमन-विरेचनादिके द्वारा शोधन नहीं करता, एवं उन्हें बढ़ाता भी नहीं—उनका प्रकोपण भी नहीं करता, किन्तु बढ़े हुए दोषोंको शरीरके भीतर ही शान्त करता है—पुनःसाम्यावस्थामें लाता है, उसे

संशमन या शमन कहते हैं[1]। जैसे—गिलोय। 'दोष' शब्दसे दुष्ट वातादि और उनके कार्यभूत व्याधि दोनों लिये जाते हैं। 'दोष' शब्दसे वातादिदोषपक्षमें अर्थ ऊपर दिया है; व्याधिपक्षमें—उत्पन्न व्याधिका शमन करनेवाला और अनुत्पन्न व्याधिको उत्पन्न न करनेवाला, ऐसा अर्थ लेना चाहिए (शा.)। संशमन द्रव्य आकाशके गुणोंकी अधिकतावाला होता है (सु.)। संशमन द्रव्य वायु, जल और पृथिवीके गुणोंकी अधिकतावाला होता है (र. वै. शा.)।

संशमन द्रव्यके वातसंशमन, पित्तसंशमन और कफसंशमन ये तीन भेद करके उनके उदाहरणार्थ तीन वर्ग सु. सू. अ. ३८, अ. सं. सू. अ. १४, तथा अ. हृ. सू. अ. १५ में दिये गये हैं। वे जिज्ञासुओंको वहीं देखने चाहिएँ। यहाँ विस्तारभयसे नहीं दिये गये हैं।

आयुर्वेदमें सब प्रकारके औषधद्रव्योंका शोधन और शमन इन दो वर्गोंमें अन्तर्भाव माना गया है ("शोधन-शमनव्यतिरिक्तस्यौषधस्याभावात्" हे.।) जो द्रव्य प्रकुपित दोषोंको वमन, विरेचन आदि द्वारा शरीरसे बाहर निकाले उनको शोधन और जो औषध दोषोंको बाहर न निकाले परन्तु उनको शरीरके भीतर ही शान्त करके पुनः समावस्थामें लावे उसे शमन कहते हैं। शमनके विषयमें थोड़ा कहनेका होनेसे शमनकी व्याख्या पहले देकर अब शोधनके भेद और उनकी व्याख्या दी जाती है—

वमनम्-ऊर्ध्वभागहरं—छर्दनीयम्—

"दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्।" (च. क. अ. १)। ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यूर्ध्वभागम् (च. द.)। "तत्रोष्ण[2]तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति[3], तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन्[4] स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणु-प्रवणभावादामा-

---

१—संशमन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुअदिल' कहते हैं।

२—"तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्म-व्यवायिविकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य सौक्ष्म्याद् व्यावायित्वाच्च धमनीरनुसृत्य स्नेहेन मृदूकृतेऽन्तःशरीरे स्वेदोष्मणाऽऽर्द्रं दारुवद्विष्यण्णे स्थूलाणुस्रोतोभ्यः सकलमपि दोषसंघातमौष्ण्यात् पुनर्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्विकाशित्वाच्च विच्छिन्दयन्ति; स विष्यण्ण-विच्छिन्नो दोषसंघातः परिप्लवः स्नेहाक्तभाजनस्थ इवोदकाञ्जलिरसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमनुगम्य उदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वं प्रवर्तते, सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः, उभयतश्चोभयगुणात्मकत्वादुभयभागप्रभावाच्च।" (अ. सं. सू. अ. २६)।

३—'विष्यन्दयन्ति महानिम्ने (कोष्ठे) स्रावयन्ति' (इन्दुः)।

४—'परिप्लवः' इति ग.।

शयमागम्योदानप्रणुन्नोऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावाच्चौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते" (सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात्) इति लक्षणोद्देशः।" (च. क. अ. १)। संप्रति द्वयोरपि वमन-विरेचनद्रव्ययोः साधारणोष्ण-तीक्ष्णत्वादिगुणयोगकृतदोषविष्यन्दनादिसाधारणकार्यदर्शनपूर्वकमग्नि-वाय्वात्मकत्वादिविशिष्टधर्मयोगकृतं विशिष्टं च कार्यं वमन-विरेचनं दर्शयन्नाह—तत्रोष्णेत्यादि। उष्णमिति उष्णवीर्यम्। स्ववीर्येणेति स्वप्रभावेण। धमनीरनुसृत्येति सकलदेहगता धमनीरनुसृत्य; सकलदेहगतधमन्यनुसरणं च वीर्येण ज्ञेयं, न साक्षात्। आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्तीति विलीनं कुर्वन्ति। विच्छिन्दन्ति छिन्नं कुर्वन्ति। परिप्लवन् इतस्ततो गच्छन्। असज्जन्निति न क्वचिदपि सङ्गं गच्छन्। अणु-प्रवणभावादिति अणुत्वात्, प्रवणभावाच्च; प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम्, अणुत्वं च अणुमार्गसंचारित्वम्। उदानप्रणुन्न इति उदानवायुप्रेरितः। अग्नि-वाय्वात्मकत्वादिति अग्नि-वायूत्कर्षवत्त्वात्। ऊर्ध्वभागप्रभावादिति ऊर्ध्वभागदोषहरत्वरूपप्रभावात्। (एवं सलिल-पृथिव्यात्मकत्वमपि व्याख्येयम्। उभयतश्चेति ऊर्ध्वमधश्च क्षिप्यत इत्यर्थः। उभयगुणत्वादिति अग्नि-वाय्वात्मकत्वात् सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः)। इति लक्षणोद्देश इति अनन्तरग्रन्थेन वमन-विरेचनद्रव्यस्वरूपाभिधानं कृतमित्यर्थः। अत्र च प्रकरणे सामान्येनैव वमन-विरेचनद्रव्याणाम् 'आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति' इत्यनेनाग्नेयत्वं प्रतिपादितं, पुनश्च विशेषेण 'अग्नि-वाय्वात्मकत्वात्' इति पदेन वमनद्रव्यस्याग्न्यात्मकत्वं प्रतिपाद्यते; तेन, सामान्ये विशेषे च वमनद्रव्याणामाग्नेयत्वप्रतिपादनात् प्रकृष्टमाग्नेयत्वं भवति; विरेचनद्रव्याणां तु सामान्योक्ताग्नेयत्वसंबन्धाद् विशेषगुणकथनप्रस्तावे च सलिल-पृथिव्यात्मकत्वाभिधानाद्वमनद्रव्यापेक्षयाऽपकृष्टमाग्नेयत्वं भवति। × × ×। यच्चात्रोच्यते—वमनं यद्यूर्ध्वभागहरत्वप्रभावादूर्ध्वयति, तदाऽग्नि-वाय्वात्मकत्वादिति हेतुवर्णनं न युज्यते; यतः, यत् सोपपत्तिकं कार्यं न भवति तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि—"प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।" (सू. अ. २६) इति। तन्न, यतः प्रभावस्यैवेह वमनकार्ये वाय्वग्न्यात्मकगुणतया वाय्वग्न्यात्मकत्वं हेतुरुपदिश्यते, न तु वाय्वाग्न्यात्मकत्वं स्वतन्त्रो वमनहेतुः; तथा हि सति यदन्यदपि वाय्वात्मकमूर्ध्वभागदोषहरत्वप्रभावरहितं तदपि वमनकरं स्यात्; यथा—कटुकरसे द्रव्ये तत् स्यात्; तस्मात् प्रभावगुणतयैव हेतुवर्णनम्। एवं विरेचनद्रव्येऽपि पूर्वपक्ष-सिद्धान्तावनुसर्तव्यौ (च. द.)। × × ×। स दोषसंघातः विच्छिन्नः सन् परिप्लवः सर्वतः प्लावितः संश्च स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थं क्षौद्रं यथा न तद्भाजने सज्जते तथा असज्जन्, प्रवणभावात् प्लावनत्वादामाशयमुपेत्य, उदानप्रणुन्नः सन्नग्नि-वाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रेरणप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते। प्रवणेति 'प्रु, प्लु गतौ' धातु; संतरणादिगति-

विशेषार्थत्वात् प्रवणं प्लवनमित्येकोऽर्थः । × × × । ऊर्ध्वज्वलनत्वादग्नेः प्लवनत्वाद् वायोरग्नि-वाय्वात्मकद्रव्येण वमनं, निम्नगत्वस्वभावात् सलिलस्य, गुरुत्वात् पृथिव्याः सलिल-पृथिव्यात्मकेन द्रव्येण विरेचनं भवति । उभयतश्चोभयगुणत्वादिति यद् द्रव्यमग्नि-वायु-सलिल-पृथिव्यात्मकं तदूर्ध्वाधोगमनप्रभावादुभयतोभागहरं, तेन दोषसंघात उभयतश्च प्रवर्तते (ग.) । "सरत्व-सौक्ष्म्य-तैक्ष्ण्यौष्ण्य-विकाशित्वैर्विरेचनम् । वमनं तु हरेद्दोषं प्रकृत्या गतमन्यथा ॥ यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनम् ॥ गुणोत्कर्षाद् व्रजत्यूर्ध्वमपक्वं वमनं पुनः ॥"(सु. चि. अ. ३३) विरेचनद्रव्येण सह गुणसाम्ये सति कथं वमनद्रव्यस्योर्ध्वभागगामित्वमित्याह—सरत्वेत्यादि । सरस्य भावः सरत्वमानुलोम्यं, गयी तु विसरणस्वभावत्वं सरत्वमाह; सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यं, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारित्वं ; तीक्ष्णस्य भावस्तैक्ष्ण्यं, शीघ्रतरदोषस्रावणकरत्वम् ; उष्णस्य भाव औष्ण्यं, सौम्यद्रव्योपमर्दनकरणसामर्थ्यं; विकाशिनो भावः विकाशित्वं, विकाशिभावेन धातोः शैथिल्यकरणसामर्थ्यम् । अत्र प्रकृतिः, स्वभावः, शक्तिविशेषः, प्रभावो, वीर्यम्, इत्यनर्थान्तरम् । तेन प्रकृत्या वीर्येण, अन्यथागतम् ऊर्ध्वगतं; सत्यपि सरत्वादिविरेचनगुणसाम्ये वमनस्योर्ध्वगामित्वं प्रभावप्रभावितम् । × × × । तथा हि—"ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम् ।" (च. सू. अ. २६) इति । एतेनैतदुक्तं भवति—सरत्वादिभिर्गुणैर्विरेचनमधो दोषानपहरेत् ; वमनस्य तुल्यगुणत्वेऽपि वीर्येणोर्ध्वगामित्वम् । पञ्जिकाकारेण 'प्रकृत्या गतमन्यथा' इत्यत्र 'सम्यग्युक्त्याऽतथाऽन्यथा' इति पठित्वैवं व्याख्यातं—सम्यग्युक्त्या सरत्वादिगुणैर्विरेचनमधोभागेन, वमनमूर्ध्वभागेन, दोषानपहरेत् ; अतथाऽन्यथेति नञत्र वैपरीत्ये, अतथा असम्यग्युक्त्या विरेचनं वमनं चान्यथा वैपरीत्येन दोषान् हरेदिति । केचित्तु 'सम्यग्युक्तं, वृथाऽन्यथा' इति पठन्ति । अयमर्थो युक्तः किल ; सरत्वादयो गुणाः सुयुक्ता आशुतरदोषहराः, तथैव चान्यायोपयुक्ता एव जीवशोणित-धातु रसेन्द्रिय-मन-ओजःप्रभृतीनाकृष्य मारयन्तीति कीदृशं सत् पुनर्विरेचनं वमनद्रव्यं च दोषानादाय अध ऊर्ध्वं च यातीत्याह—यात्यधो दोषमित्यादि । विरेचनद्रव्याणि स्थिर-गुर्व्योः पृथिव्यम्भसोर्गुणभूयिष्ठानि, अत एव स्थिरत्वात् पच्यमानानि गुरुत्वादधो यान्ति ; वमनद्रव्याणि तु वाय्वग्न्योः शीघ्र-लघुगुणयोर्गुणभूयिष्ठानि, अतः शीघ्रगत्वादपक्वान्येव लघुत्वादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति (ड.) । लघुत्वादूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ते इत्यत्र प्रभावसहितादिति ज्ञेयम् । वायुश्च यद्यपि तिर्यग्गतिः, तथाऽप्यूर्ध्वगेनाग्निना युक्तो योगवाहित्वादूर्ध्वं गच्छतीति युक्तम् (च. द.) । "वमनद्रव्याण्यग्नि-वायुगुणभूयिष्ठानि ; अग्नि-वायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमूर्ध्वगुणभूयिष्ठम् ।" (सु. सू. अ. ४१) । लघुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं मदनफलादिसमवेतं ग्राह्यं, न लघुत्वमात्रम्; अन्यथा कपिञ्जल-

लावादीनां वामनीयत्वं स्यात्। ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्तीति धूमवज्ज्वालावच्च। वमनद्रव्यसूर्ध्वगुणभूयिष्ठम् अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठमित्यर्थः (ड.)। "अपक्वपित्त-श्लेष्माणौ बलादूर्ध्वं[1] नयेत्तु यत्। वमनं तद्धि विज्ञेयं मदनस्य फलं यथा॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद्द्रव्यमपक्वं पाकमगच्छन्तं पित्त-श्लेष्माणं व्यस्तं मिश्रितं वा बलात् हठात्कारेणोर्ध्वं नयेत् मुखेन कृत्वा वामयेदित्यभिप्रायः, तद्वमनं ज्ञेयं; यथा—मदनस्य फलम्। बलादिति प्रभावसूचकः शब्दः, यतो वमनद्रव्याणि वाय्वग्निगुणभूयिष्ठानि, वाय्वग्नी हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति; लघुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं मदनफलादिद्रव्यसमवेतं ग्राह्यं, न तु लघुत्वमात्रम् ; अन्यथा कपिञ्जल-लाजा (वा) दीनामपि वामनीयत्वं स्यात्। ननु, कफस्य वमनं, पित्तस्य विरेचनं प्रशस्तमिति प्रसिद्धिः, तत् कथं पित्तस्य वमनमिति ? उच्यते—अपक्वपित्तस्य वमनादेव निर्बर्हणं बोद्धव्यम्। तच्च दृश्यते हि कटु-तिक्त-हरितपीताम्लवमनेन; यतः पित्तं विदग्धमम्लतामुपैतीति, अत एवाम्लपित्तचिकित्सायामादौ वमनमित्यदोषः (आ.)। यद्द्रव्यमपक्वपित्त-श्लेष्मान्नचयमूर्ध्वं नयेत्, हि निश्चयेन, तद्वमनं विज्ञेयम्। अपक्वं पित्तं च, अपक्वः श्लेष्मा च, अपक्वमन्नं च, तेषां चयमपक्व-पित्त-श्लेष्मान्नचयम् (का.)। "तत्र सर्वान् रसानाश्रित्य छर्दनीयम्।" (र. वै. ४।२)। तेषु वीर्येषु सर्वान् रसान् मधुरादीनाश्रित्य वर्तते छर्दनीयं वीर्यम् (भा.)। "तदाग्नेय-वायव्यं च।" (र. वै. ४।३) "तेजोवायुजमूर्ध्वगम्।" (र. वै. अ. ४ सू. ३० पर भाष्य)। "वमनं श्लेष्महराणां (श्रेष्ठम्)" (च. सू. अ. २५)॥

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग (मुख) से दोषोंको बाहर निकाले उसे वमन, ऊर्ध्वभागहर या छर्दनीय कहते हैं। वमन द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी और विकाशी गुणोंवाले होते हैं। वे अपने वीर्य (शक्ति-प्रभाव) से हृदयमें जा, वहाँसे अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुणसे धमनियोंद्वारा समग्र शरीरमें पहुँच, स्थूल-सूक्ष्म सब स्रोतोंसे दोषोंको अपने आग्नेय (उष्ण) गुणसे द्रवीभूत और तीक्ष्णतासे विच्छिन्न करते हैं (उखाड़ते हैं)। वह द्रवीभूत और विच्छिन्न (अपने स्थानसे हटा हुआ) दोष (अपक्व पित्त, कफ तथा अन्न) वमनसे पूर्व शरीरके स्नेहभावित किये जानेके कारण, जैसे स्नेह लगाये हुए पात्रमें शहद नहीं चिपकता इस प्रकार शरीरमें कहीं भी न चिपकता हुआ वमन द्रव्यके सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरण और आमाशयगमनोन्मुख प्रभावसे आमाशय-(आमाशयोर्ध्वभाग) में आकर और उदान वायुसे प्रेरित होकर वमन द्रव्यके ऊर्ध्वभागसे दोष निकालनेके प्रभाव और अग्नि तथा वायुके गुणोंको अधिकतासे मुखमार्गसे बाहर निकलता है (च., सु.)। जो द्रव्य अपक्व

१—'अपक्व-पित्त-श्लेष्मान्नचयमूर्ध्वं' इति का. संमतः पाठः।

पित्त[१], कफ या दोनों और अन्नको मुखद्वारा बाहर निकाले, उसे वमन कहते हैं; जैसे—मैनफल (शा.)। यद्यपि कफके लिये वमन और पित्तके विरेचनको प्रधान शोधन कहा गया है, तथापि अपक्व पित्तका वमनसे ही निर्हरण होता है। इसी लिये अम्लपित्तचिकित्सामें प्रारम्भमें वमनका उपदेश किया गया है(१)।

रेचनं-विरेचनम्-अधोभागहरम्-अनुलोमनीयम्—

"दोषहरणमधोभागं विरेचनसंज्ञकम्।" (च. क. अ. १)। अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इत्यधोभागम् (च. द.)। "तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य, (सौक्ष्म्याद् व्यवायित्वाच्च वृ. वा.) धमनीरनुसृत्य, स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद्विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्ननुप्रवणभावादामाशयमागम्य × × × सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्यापानप्रणुन्नोऽधः प्रवर्तते।" (च. क. अ. १)। "विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि, पृथिव्यापो गुर्व्यः, ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति; तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्।" (सु. सू. अ. ४१)। गुरुत्वादिति गुरुत्वं चेह प्रभावविशेषाधिष्ठितं त्रिवृतादिसमवेतं ग्राह्यं, न तु गुरुत्वमात्रम्; अन्यथा मत्स्य-पिष्टान्नमसूरादीनां विरेचकत्वं स्यात् (च. द.)। "विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्। रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद्द्रव्यं विपक्वमपक्वं वा, मलादि दोषादिकं, द्रवतां नयेत् द्रवभावं करोतीत्यर्थ, न केवलं द्रवतां नयेत् रेचयत्यपि च, तद्रेचनं ज्ञेयं; यथा—त्रिवृता। मलादिकमिति आदिग्रहणाद् दूष्यादीनामत्र संग्रहः। × × × (आ.)। "तथाऽनुलोमनीयम्। तत् पार्थिवमाप्यं च।" (र० वै० ४।४,५)। तथेति पूर्वोक्तमाश्रयमाकर्षतीति सर्वान् रसान् सर्वान् गुणांश्चाश्रित्य वर्तत इति। पृथिवी गुरुत्वादेवाधो गच्छति, आपो द्रवत्वात् सरणमुपजनयन्तीति (भा.)। "अब्भूमिजमधोभागम्" (र० वै०, अ० ४ सू० ३० पर भाष्य)। "विरेचनं पित्तहराणां (श्रेष्ठम्), त्रिवृत् सुखवि-

---

१—वामक (Emetics—एमेटिक्स्)—इन द्रव्योंसे उलटी होकर आमाशय खाली हो जाता है। इनके दो भेद हैं। (१) प्रत्यक्ष—ये द्रव्य आमाशयमें क्षोभ या दाह उत्पन्न कर वमन कराते हैं। जैसे—नीलाथोथा, राई, बाबुनाका गर्म फाण्ट, नमक, फिटिकिरी। (२) अप्रत्यक्ष—ये रक्तमें मिल, रक्तद्वारा वमनकेन्द्रमें पहुँचकर उसे क्षुभित करते हैं, और इस प्रकार वमन कराते हैं। जैसे—सुरमा, इपिकाक्युआना, अडूसा, जंगली प्याज। इस वर्गके बहुतसे द्रव्य रक्तके साथ बहते हुए आमाशयकी कलाद्वारा बाहर पड़ते हैं और उसे उत्तेजित करते हैं (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें वमन द्रव्यको 'मुक़ई' कहते हैं।

रेचनानां, चतुरङ्गुलो मृदुविरेचनानां, स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम् (श्रेष्ठम्)।" (च० सू० अ० २५)॥

जो द्रव्य अधोभाग (गुद)से दोषोंका निर्हरण करे, उसे रेचन, विरेचन, अनुलोमनीय या अधोभागहर कहते हैं। उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, विकाशी (च.) तथा सर (सु.) गुणयुक्त विरेचन द्रव्य अपनी शक्ति (प्रभाव) से हृदयमें पहुँच, वहाँसे अपने सूक्ष्म और व्यवायी गुणसे धमनियोंद्वारा स्थूल और अणु स्रोतोंमें होकर समस्त शरीरमें पहुँचता है, और समग्र शरीरमें स्थित दोषोंके संघातको अपने आग्नेय गुणके कारण विलीन (द्रवीभूत) करता है और तीक्ष्णताके कारण विच्छिन्न करता है (उखाड़ता है)। वह द्रवीभूत तथा विच्छिन्न हुआ दोषसंघात सारे शरीरमें भ्रमण करता हुआ विरेचनके पूर्व शरीरके स्नेहसे भावित किये होनेके कारण जैसे स्नेहसे लिप्त पात्रमें शहद नहीं चिपकता उसी प्रकार शरीरावयवोंमें कहीं भी नहीं चिपकता हुआ अपने अणुप्रवण (अणु-सूक्ष्म-स्रोतोंमें संचार करनेवाले) तथा कोष्ठाभिमुखगमन स्वभाववाला होनेसे आमाशय (आमाशयाधोभाग) में आता है। विरेचन द्रव्य अधोगमन और अधोभागहरत्वरूपप्रभावविशिष्ट पृथिवी तथा जलके गुणों (गुरुत्व-स्थिरत्व-अधोगति) की अधिकतावाले होते हैं। अपने इन विशेष प्रभाव तथा गुणोंके कारण नीचेकी ओर गमन करते हुए अपने साथ अपान वायुद्वारा प्रेरित पच्यमान दोषोंको बलात् नीचेकी ओर ले जाकर बाहर निकालते हैं (च., सु.)। जो द्रव्य पक्व या अपक्व मलादिको द्रव करके विरेचनके द्वारा बाहर निकाले, उसे रेचन कहते हैं ; जैसे—निशोथ (शा.)।

चरकमें पचास कषायवर्गोंमें केवल भेदनीय (या भेदन) गण दिया गया है, विरेचन गण नहीं दिया है। चरकने विरेचन द्रव्यके तीन भेद बताये हैं;—१ सुखविरेचन, जैसे–निशोथ; मृदुविरेचन, जैसे–अमलतास ; तीक्ष्णविरेचन, जैसे थूहरका दूध[१]।

१—रेचन (Purgatives—पर्गेटिव्स्)—इन द्रव्योंसे शौच (पखाना) जल्दी होता है किंवा अधिक होता है। न्यूनाधिक क्रियाके अनुसार इन द्रव्योंके पाँच भेद हैं। (१) आनुलोमिक (च.), सर (सु.) (Laxatives—लॅक्सॅटिव्स्)—मल और वायुकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके उत्तेजक। इनसे मल नरम होता है और आँतोंकी हलन-चलनकी क्रिया (पेरिस्टाल्सिस्) कुछ बढ़कर शौच होता है। इनसे आपक्व मल नहीं आता। जैसे–यासशर्करा (तुरंजबीन), गंधक, सूखे अंजीर, आलू बुखारा, जैतूनका तेल (ऑलिव् ओइल), हरड़। (२) स्रंसन (च.) Simple Purgatives—सिंपल् पर्गेटिव्स्)—इनसे आँतोंकी हलन-चलन क्रिया बढ़ती है, आँतोंकी ग्रन्थियोंको कुछ उत्तेजन मिलता है और इस कारण

वमन और विरेचन द्रव्योंके गण चरक सू. अ. २ तथा वि. अ. ८, सु. सू. अ. ३९, अ. सं. सू. अ. १४ और अ. हृ. सू. अ. १५ में दिये गये हैं। वे जिज्ञासुओंको वहीं देखने चाहिएँ। यहाँ विस्तारभय से नहीं दिये गये[1] हैं। चरकने उभयतोभागहर गण नहीं दिया है।

अनुलोमनम्–सरम्—

"सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः।" (सु० सू० अ० ४६)। अनुलोमनो वातमलप्रवर्तनः

साधारण पतला-ढीला शौच होता है। इनसे पक्व और अपक्व मल और मलकी गांठें निकलती हैं। जैसे–एरंडतैल, सनाय, पारा, एलुआ। (३) भेदन (च.) (Drastic Purgatives—ड्रॅस्टिक् पर्गेटिव्स्)—ये द्रव्य स्रंसन द्रव्योंके समान किन्तु उनकी अपेक्षया जोरदार क्रिया करते हैं। इनसे आँतोंमें थोड़ा दाह होता है और ऐंठन होकर पतला शौच होता है। जैसे–निशोत, इन्द्रायन, रेवन्दचीनी, पोडोफाइलम (पाप्रा)। स्रंसन द्रव्य अधिक मात्रामें दिये जानेसे भेदन होते हैं। (४) विरेचन (च.) (Hydragogue Purgatives— हाइड्रॅगॉग् पर्गेटिव्स्; Hydragogues—हाइड्रॅगॉग्स्)—इनसे आँतोंमें बहुतसा द्रव उत्पन्न होता है और पानी जैसा शौच होता है। ये रक्तमेंसे पुष्कल रक्तद्रवका विरेचन कराते हैं। भेदन-वर्गीय द्रव्य अधिक मात्रामें दिये जानेपर विरेचन क्रिया करते हैं। जैसे–जमालगोटा कंटीली इन्द्रायन। कुछ लवण विरेचन हैं; जैसे–सैन्धा नमक, खारीनमक (सोडियम् सल्फेट्), द्राक्षाक्षार (पोटॅशियम् टार्टरेट्)। (५) पित्तविरेचन(Cholagogue-Purgatives—कॉलॅगॉग् पर्गेटिव्स्)—ये द्रव्य शौचद्वारा पित्तको निकालते हैं। इनसे हरे रंगका पतला शौच होता है। इनकी यकृत् और ग्रहणीपर उत्तेजक क्रिया होती है। यकृत्के उत्तेजनसे पित्तस्राव अधिक होता है और ग्रहणीके उत्तेजनसे उसमें स्रुत हुआ पित्त शीघ्र नीचे (पक्वाशयमें) चला जाता है। जैसे–पारा, पाप्रा, यकृत्के उत्तेजक; पारा, एलुआ और रेवंदचीनी ग्रहणीके उत्तेजक हैं। ये द्रव्य अल्प मात्रामें पित्तसारक हैं। चरकने विरेचनके तीन विभाग किये हैं—(१) मृदु-विरेचन—जैसे–एरंडतेल=आनुलोमिक; (२) सुखविरेचन—जैसे–निशोथ= स्रंसन, पित्तविरेचन; (३) तीक्ष्णविरेचन—जैसे–थूहरका दूध=भेदनविरेचन (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें मृदुविरेचनको 'मुलय्यिन' और तीक्ष्णविरेचन को 'मुसहिल' कहते हैं। इन दोनोंका भेद बताते हुए यूनानी द्रव्यगुणविज्ञानमें लिखा है कि-वह औषध जिससे कब्ज निवारण होकर सरलतापूर्वक मलोत्सर्ग हो जाय और केवल आमाशय और अन्त्रस्थ दोष विसर्जित हो जाय, उसे 'मुलय्यिन' कहते हैं; और जो द्रव्य संपूर्ण शरीरस्थ दोषका मालमार्गसे निर्हरण करे, उसे 'मुसहिल' कहते हैं।

(ड.)। "कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्त्वा बन्धमधो नयेत्। तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं मलानां दोषाणां पाकं कोपशान्ति कृत्वा, बन्धं विबन्धं च भित्त्वा भिन्नतां नीत्वा, अधो नयेत् अधः करोति 'वातादिकम्' इति शेषः ; तेन प्रतिलोमादनुलोमं करोतीत्यर्थः ; तच्चानुलोमनं ज्ञेयम्। अनुलोमनं वातादीनामधःप्रवर्तनं, सरगुणत्वात् ; यथा—हरीतकी। सैवानुलोमनी प्रसिद्धैव। बन्धमिति दोषाणां परस्परग्रथितत्वम् ; एके वात-मूत्र-पुरीषादीनामप्रवृत्तिरूपं विबन्धमाहुः (आ.)। यद् द्रव्यमपरिपच्यमानानां मलानां पाकं कृत्वा, बन्धं च भित्त्वा अधो नयेत् कोष्ठादधः पातयेत् तदनुलोमनं ज्ञेयम् (का.)।

जो द्रव्य मलों और दोषोंको पकाकर और उनके विबन्धको तोड़कर उन्हें अधोमार्गद्वारा बाहर निकालता है, उसको अनुलोमन या सर (सारक) कहते हैं। जैसे—हरड़। वात-मूत्र-पुरीषादिकी अप्रवृत्तिको विबन्ध कहा जाता है। दोषोंके परस्पर ग्रथित होनेको भी कोई विबन्ध कहते हैं। यह अधोभागहर वर्गका ही एक भेद है[1]।

स्रंसनम्—

"पक्तव्यं यदपक्त्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकम्। नयत्यधः स्रंसनं तद्यथा स्यात् कृतमालकः ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं मलादिकमपक्त्वैव तेषां पाकमकृत्वैव, अधो नयति अधःपतनं करोति, तत् स्रंसनं स्यात् ; यथा—कृतमालकः। कीदृशं मलादिकमित्याह—पक्तव्यमिति।—पच्यमानम् ; अत एव कोष्ठे श्लिष्टम्। कोष्ठे इति पाचकस्थाने। श्लिष्टमिति आश्रितम् (आ.)। स्रंसनशब्दो विरेचनसामान्येऽपि प्रयुज्यते-यथा—"पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत्। स्रंसनं" (च. चि. अ. ३)। स्रंसनं विरेचनम् (यो.)।

जो द्रव्य कोष्ठ (पेट) के अन्दर चिपके हुए पच्यमान (पकते हुए) मलादिकोंको पकाये विना ही बाहर निकाल देता है, उसे स्रंसन कहते हैं। जैसे—अमलतास। यह अधोभागहर वर्गका ही एक भेद है। शार्ङ्गधरने 'स्रंसन' वर्गको किसी तन्त्रान्तरसे लेकर भिन्न बताया है ; चरकने 'विरेचन' द्रव्यके लिये ही 'स्रंसन' शब्दका प्रयोग किया है।

शोधनम्—संशोधनम्—देहसंशोधनम्—उभयतोभागम्—

"उभयतश्चोभयगुणत्वात्।" (च. क. अ. १)। उभयतश्चेति ऊर्ध्वमधश्च क्षिप्यत इत्यर्थः। उभयगुणत्वादिति अग्नि-वाय्वात्मकत्वात् सलिल-पृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावच्चेत्यर्थः (च. द.)। "उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्।"

१—अनुलोमन (सर) द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुलय्यिन' कहते हैं।

(सु. सू. अ. ४१)। उभयगुणभूयिष्ठमिति विरेचन-वमननिर्दिष्टभूतचतुष्टयगुण-भूयिष्ठमित्यर्थः (ड.)। "स्थानाद्बहिर्नयेदूर्ध्वमधश्च मलसंचयम्। देहसंशोधनं तत् स्याद्देवदालीफलं यथा॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं स्थानात् प्रकुपित-स्थानात्, मलसंचयं दोषादीनां संचयं, स्वस्थानादूर्ध्वमधश्च नयेत् बहिः करोति, तद्देहस्य शरीरस्य संशोधनं कथितम्। यथा—देवदालीफलम्। ऊर्ध्वं मुखेन, अधः पायुमार्गेण (आ.)। यद्यपि देहसंशोधनशब्देन वमन-विरेचनास्थापन-शिरोविरेचन-मूत्रविरेचन-शोणितावसेकादीनि सर्वाण्यपि प्राप्यन्ते, तथाऽपि तेषां पृथगुक्तत्वात् पारिशेष्यान्मुख-गुदोभयभागनिर्हरणमेवात्र गृह्यते। "वातलान् रसान् पित्तलांश्च गुणानुभयतोभागम्। तत् पार्थिवाप्य-तैजस-वायव्यम्।"(र. वै.४।६,७)। वातलान् वातजननान् कटु-तिक्त-कषायान् रसान्, पित्तलान् पित्तजननान् तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणान्, आश्रितमुभयतोभागम्। तदुभयतोभागं पृथिव्युदकाभ्यां गुरुभ्यामग्नि-वायुभ्यां लघुभ्यां च निर्वर्तते। उभयतोभागं वमनविरेचनकरम् (भा.)। "तथैवोभयतोभागं मह्यग्न्यनिलजं मतम्।"(र. वै., अ. ४, सू. ३० पर भाष्य)।

जो द्रव्य ऊर्ध्वभाग (मुख) और अधोभाग (गुद) दोनों मार्गोंसे दोषोंको निकाले, उसे संशोधन, शोधन या उभयतोभाग (हर) कहते हैं। संशोधन द्रव्य भी वमन और विरेचन द्रव्योंके समान तीक्ष्णत्वादि गुणोंवाले होते हैं। इनकी पूर्वोक्त क्रियासे दोषसंघात आमाशय (आमाशयके ऊर्ध्व और अधोभाग) में आकर उपस्थित होता है। संशोधन द्रव्य उभयतोभागहरत्वरूप प्रभावसे विशिष्ट पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं। ये दोनों मार्गोंसे निकलते हुए अपने साथ उदान और अपानसे प्रेरित दोषोंका भी ऊर्ध्वाधोभागसे बलात् निर्हरण करते हैं (च., सु.)। जो द्रव्य मलों (पुरीष और दोषों) के संचयको अपने स्थानसे हटाकर ऊपर और नीचे दोनों मार्गोंसे बाहर निकाल दे, उसको देहसंशोधन कहते हैं; जैसे—बन्दाल (शा.)। वमन और विरेचन दोनों एक साथ करानेवाले द्रव्यको संशोधन कहते हैं।

छेदनम्—छेदनीयम्—

"श्लिष्टान् कफादिकान् दोषानुन्मूलयति यद्बलात्। छेदनं तद्यथा क्षारा मरिचानि शिलाजतु॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं श्लिष्टान् संचितान्, परस्पर-ग्रथितानित्येके, अत्यर्थं कुपितानित्यपरे; कफादिकान् दोषान्; आदिग्रहणेन वात-पित्त-शोणित-कृमिग्रहणम्। × × ×। बलादिति स्वशक्तितः, उन्मूलयति उच्छेदयति, तच्छेदनं ज्ञेयम्। यथा—क्षारा यवक्षारादयः, मरिचानीति बहुवचनेन श्वेतमरिचमपि ग्राह्यम् (आ.)। यद्द्रव्यं श्लिष्टान् लग्नान् मलादिकान् दोषान् बलादुन्मूलयति स्वभावान्नाशयति तच्छेदनं ज्ञेयम् (का.)। "छेदनोपशमने द्वे कर्मणी।" (च. सू. अ. २६)। द्रव्याणि हि अम्ल-लवण-कटूनि शारीर-

क्लेदादीनि छिन्दन्ति (ग.)। हिङ्गुनिर्यासश्छेदनीय-दीपनीयानुलोमिक-वात-श्लेष्महराणाम् ।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य शरीरमें संचित और चिपके हुए कफादि दोषोंको अपने प्रभावसे अपने स्थानसे उखाड़ दे (पृथक् कर दे), उसे छेदन[1] या छेदनीय कहते हैं। जैसे—क्षार, काली मिर्च, शिलाजीत, हींग आदि।

रसायनम्—

"दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः। प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥ वाक्सिद्धिं प्रणतिं[2] कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥" (च. चि. अ. १, पा. १ ; अ. सं. उ. अ. ४९ अ. हृ. उ. ३९)। रसादिग्रहणेन स्मृत्यादयोऽपि गृह्यन्ते (च. द.)। शस्तानां रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां लाभोपायः प्राप्त्युपायः × × × अतः रसायनमित्युच्यते (यो.)। दीर्घायुःप्रभृतीन् रसायनादधिगच्छति। कस्मादेतानि रसायनाल्लभ्यन्ते ? इत्याह—लाभोपाय इति। श्रेष्ठानां रस-रुधिरादीनां यो लाभोपायः स रसायनमुच्यते (अ. द.)। "रसायनतन्त्रं (रसायनं) नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च।" (सु. सू. अ. १।८)। वयःस्थापनं वर्षशतमायुःस्थापनम्। आयुष्करं शताधिकमपि करोति। अन्ये तु वयःस्थापनं जरापहरणं, तारुण्यं बहुकालं स्थापयतीत्यर्थः। रसानां रस-रक्तादीनामयनमाप्यायनं रसायनम्। अथवा रसानां रस-वीर्य-विपाकादीनामायुःप्रभृतिकारणानामयनं विशिष्टलाभोपायो रसायनम् (ड.)। वयःस्थापनमिति प्रशस्ततरुणवयःस्थापनम्। यदुक्तम्—"अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति।" (च. चि. अ. १, पा. १) इत्यादि। अनियतायुषि युगनियतादधिकस्यायुषः करणम् आयुःकरणम् (च. द.)। "रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं जरा-व्याधिनाशनं भवति तद्रसायनं ज्ञेयम्। रसादीनां धातूनामयनमाप्यायनरूपं रसायनम्। जरा वार्धक्यं, व्याधयो ज्वरादयो रोगा ग्राह्याः। ननु व्याधिग्रहणेन जराग्रहणं, तत् कथमत्र जरा पृथगभिहिता ? उच्यते—जरा स्वाभाविकी ज्ञेया, यतः सप्ततेरूर्ध्वं स्वभावाद्भवतीति स्वभावकथनत्वेन पृथगभिधानमित्यदोषः (आ.)।

जिस द्रव्यसे प्रशस्त रस-रक्तादि धातु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तारुण्य, प्रभा, अच्छा वर्ण, उत्तम स्वर, वाक्सिद्धि, लोकवन्दनीयता, कान्ति और शरीर तथा इन्द्रियों का उत्तम बल आदि प्राप्त हों, उसे रसायन कहते हैं (च., सु.)। जो द्रव्य

१—यूनानी वैद्यकमें छेदन द्रव्यको 'जाली' और 'मुक़त्तिक' कहते हैं।

२—प्रणतिं लोकवन्द्यताम् (च. द.)। 'वृषतां' इति पाठान्तरम्।

जरावस्था और व्याधिका नाश करता है, उसे रसायन कहते हैं[1] ; जैसे गिलोय, रुद्रवन्ती, गूगल, हरड़ आदि (शा.)। चरकके पचास महाकषायोंमें कहे हुए वयःस्थापन और जीवनीय ये दो गण भी रसायनके ही भेद हैं।

सूक्ष्मम्—

"सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः।" (सु. सू. अ. ४६) "देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते। तद्यथा-सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं[2] रुबूद्भवम् ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं देहस्य शरीरस्य, सूक्ष्मच्छिद्रेषु रोमकूपप्रभृतिषु, विशेत् प्रवेशं करोति, तत् सूक्ष्ममुच्यते। यथा—सैन्धवादिकम्। सूक्ष्मो गुणविशेषः, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसरणशीलत्वात्। सैन्धवं प्रसिद्धं, क्षौद्रं मधु; निम्बतैलं निम्बः, तैलं च; यद्वा निम्बस्य तैलं, रुबूद्भवं तैलं च; रुबूद्भवम् एरण्ड-संभवम् (आ.)।

जो द्रव्य देहके सूक्ष्म स्रोतों (मार्गों-छिद्रों) के अन्दर प्रवेश कर सके, उसे सूक्ष्म कहते हैं; जैसे—सैन्धव, शहद, नीम या नीमका तेल, तिलतैल, एरण्डतैल आदि।

व्यवायि—

"व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते।" (सु. सू. अ. ४६)। अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्य-विषवत् पाकं याति (ड.)। "पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि, तद्यथा—भङ्गा फेनं चाहि-समुद्भवम् ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। व्यवायी गुणविशेषः, अपक्वमेवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्य-विषवत् पाकं याति। यथा—भङ्गा, अहिफेनं च। अन्ये तु 'ततो भावाय कल्पते' इति पठन्ति। तत्रापि स्थितये कल्पते नोर्ध्वमधो वा प्रवर्तते इति स एवार्थः। अन्ये पुनर्भावशब्दमभिप्रायार्थमिच्छन्ति। तत्र नियत-द्रव्यप्रभावेणात्मशक्त्यनुरूपं तद् द्रव्यं मद्य-विषवद् विशेषाभिप्रायाय कल्पते इत्यर्थः (आ.)।

जो द्रव्य जठराग्निके द्वारा परिपक्व होनेके पूर्व ही अपने प्रभावसे सारे शरीरके

१—रसायन (Alterative—ऑल्टरेटिव) ये द्रव्य वैद्यकीय मात्रामें देनेसे शरीरपर उनकी क्रिया प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, परन्तु इनसे रोग दूर होता है। इनसे शरीरकी धातुपाक (मेटाबॉलिज्म) की क्रिया सुधरती है और शरीर पूर्वस्थिति प्राप्त करता है (अन्य औषधोंसे अच्छे न होनेवाले रोगोंको अच्छा करनेवाले द्रव्य)। जैसे—सोना, सुरंजान, सुरमा, पारा, सोमल (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें रसायन औषधको 'अक्सीरुल बदन' कहते हैं।

२—'निम्बस्तैलं' इति पाठान्तरम्।

अन्दर व्याप्त होकर अपने गुण-कर्म दिखलाते हैं, उसे व्यवायी कहते हैं; जैसे—भाँग, अफीम और वत्सनाभ आदि ।

विकाशि (सि)—

"विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ।" (सु. सू. अ. ४६)। व्यवायिनिः सकाशाद्विकासिद्रव्यस्य किंचिद् भेदं दर्शयन्नाह–विकासीत्यादि। विकासी गुणः । विकसन् प्रसर्पन् । एवमिति अपक्व एव सकलं देहं व्याप्य, धातुबन्धान् विमोक्षयेत् धातुशैथिल्यं करोतीत्यर्थः (ड.)। "संधिबन्धांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत् । विश्लिष्यौजश्च धातुभ्यो, यथा—क्रमुककोद्रवाः ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४) । यद् द्रव्यं संधिबन्धाञ् शिथिलीभूतान् करोति, तद्विकाशि बोद्धव्यम् । 'विकाशी' इत्यपि गुणविशेषः । न केवलं संधिबन्धान् शिथिलान् करोति, किंतु धातुभ्य ओजो बलं विश्लेष्य विभज्य 'पाकं गच्छति' इत्यध्याहारः; धातुशैथिल्यमपि करोतीत्यर्थः । चकारात् 'अपक्वमेव' इत्यत्रापि संबध्यते । क्रमुक-कोद्रवा इति क्रमुकं पूगफलं, कोद्रवः कुधान्यविशेषः । अत्र क्रमुक-कोद्रवा मदकरा ज्ञेयाः, धातुशैथिल्यकरत्वात् । ओजो बलमिति ; सुश्रुतेन तदुक्तं—"रसादीनां शुक्रान्तानां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते ।" (सु. सू. अ. २१); यतः "देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्" इति । संधिप्रभृतीनां शिथिलत्वेन श्रम उत्पद्यते, तेन ओजःक्षयो भवतीत्यभिप्रायः, अत एवाह कश्चित्—"अभिघातात् क्षयात् कोपाद्ध्यानाच्छोकाच्छ्रमात् क्षुधः । ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम् ॥" (सु. सू. अ. २१) इति । अन्ये तु सरविशेषो व्यवायी, तीक्ष्णविशेषो विकाशीति ब्रुवते, तन्न सर्वसतम् (आ.) ॥

जो द्रव्य जठराग्निके द्वारा पाक होनेके पहले ही धातुओंसे ओजको विभक्त करके संधियोंके बन्धनोंको शिथिल करता है, उसे विकाशी(सी)[1] कहते हैं । जैसे—कच्ची और ताजी सुपारी, कोदों[2]* आदि ।

१—विकाशिन् (Antispasmodics—ॲन्टिस्पॅज्मॉडिक्स्)—इस वर्गके द्रव्योंकी क्रिया अनेक प्रकारोंसे होती है । जैसे—(१) कई द्रव्य कर्मके केन्द्रोंपर या चेष्टावह नाडियोंपर शामक (अवसादक) क्रिया करते हैं । (२) कई सारे शरीरपर अत्यन्त जोरदार शामक क्रिया करते हैं, जिसके कारण शरीरके सब अवयव शिथिल हो जाते हैं । जैसे—तमाखू, बछनाग, देवनल, कुटकी, पद्मकाष्ठ आदि अवसादक द्रव्य । (३) कई आँतोंकी शक्ति बढ़ाते हैं, जिससे अधोवायु छूटता है और उदरशूल शान्त होता है । जैसे—हींग, कस्तूरी, तगर और सुगन्धित द्रव्य । इस प्रकारके द्रव्योंको Aromatics—ॲरोमॅटिक्स् या Carminatives—कार्मिनेटिव्स् कहते हैं । (४) कई द्रव्य अपस्तम्भशाखा

मद्यम्—मादकम्—मदकारि—

"मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् । दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥ लघूष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्माम्ल-व्यवाय्याशुगमेव च । रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥ गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् । प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥ गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः । माधुर्यं, मार्दवं तैक्ष्ण्यात्, प्रसादं चाशुभावनात् ॥ रौक्ष्यात् स्नेहं, व्यवायित्वात् स्थिरत्वं, श्लक्ष्णतामपि । विकासिभावात्, पैच्छिल्यं वैशद्यात्, सान्द्रतां तथा ॥ सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान् । सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥" (च. चि. अ. २४) । मद्यं यथा मदयति तथा प्राह—मद्यमित्यादि । दशभिरिति लघ्वादिभिर्गुणैः, दशापि गुर्वादीनोजोगुणान् संक्षोभ्य, न द्वित्रादिकैः ; चेतो विक्रियां नयति विकृतं करोति । येन गुणेन मद्यस्य ओजोगुण-क्षोभो भवति तदाह—गुरुत्वं लाघवादित्यादि । प्रसादं चाशुभावनादिति प्रसादाख्य-गुणमाशुगत्वाद्धन्ति; आशुगत्वं च यद्यपि प्रसादविरुद्धं न भवति, तथाऽपि मद्यमेव प्रतिकूलतया ओजःप्रसादं हन्ति, तत्राशुगुण आहनने व्याप्रियत इति ज्ञेयम् । व्यवायित्वात् स्थिरत्वमिति व्यवायित्वं व्यापकत्वं, तच्च स्थिरत्वं तद्विपरीतत्वादेव हन्ति ; आशुगत्व-व्यवायित्वयोश्चायं विशेषः—यदाशुगं शीघ्रं गच्छति, व्यवायि तु सर्वव्यापकम् । विकासित्वं विकसनशीलत्वं सरत्वमिति यावत् ; तच्च श्लक्ष्ण-विपरीतत्वादेव श्लक्ष्णतां हन्ति । सान्द्रता घनता । एते विकासित्वाशुगत्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुणगणनायां न पठिताः, तथाऽप्यसंख्येयत्वाद् गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धं ; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेयाः । आश्रयोपघातादा-श्रितोपघातो भवतीति दर्शयन्नाह—सत्त्वमित्यादि । सत्त्वस्य च ओज आश्रयः, ओज उपकार्यम् ; यथा—राजाश्रितः पुरुषः (च. द.) । "बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते । तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम् ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं बुद्धिं ज्ञानविषयं लुम्पति आच्छादयति, अत एव तमो-गुणप्रधानं तमोगुणबहुलमित्यर्थः । यथा—सुरादिकं मद्यम् । बुद्धिशब्दस्तु मेधा-धृति-स्मृति-मति-प्रतिपत्तिषु वर्तते । एतेषां लक्षणं प्रसंगादुच्यते ; तद्यथा—मेधा ग्रन्थाकर्षणसामर्थ्यं; धृतिः संतुष्टिः, अन्ये नियमात्मिकां बुद्धिमाहुः ; स्मृतिः पूर्वानु-भूतस्य स्मरणम्, अर्थधारणशक्तिरित्यन्ये ; मतिः अनागतविषयोपदेशः, त्रिकाल-

---

(श्वासनलिका) के संकोचविकासको कम करते हैं । जैसे—धतूरा, खुरासानी अजवायन, बेलाडोना (डॉ. वा. दे.) ।

*२—कोदोंकी एक जाति जो मादक होती है, वह यहाँ 'कोदों' शब्दसे अभिप्रेत है ।

विषया बुद्धिरित्यन्ये; प्रतिपत्तिः अर्थावबोधप्रागल्भ्यमिति। सुरादिकमित्यादिग्रहणात् सर्वे मद्यविकारा गृह्यन्ते। ननु, मद्यं तु बुद्धि-स्मृति-वाग्विचेष्टादिकरमुक्तं, यदुक्तं—"बुद्धि-स्मृति-प्रीतिकरः सुखश्च पानान्न-निद्रा-रतिवर्धनश्च। संपाठ-गीत-स्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि॥" (मा. नि. म. अ. १८।७); तत् कथं बुद्धिलोपकमभिहितम्? उच्यते—मदस्य चतस्रः पानावस्था कथिताः; तत्र प्रथमं मदपानं बुद्ध्यादिकं करोति, शेषास्तु बुद्ध्यादिकं लुम्पन्तीत्यदोषः। तदुक्तं माधवेन—"अव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः। आलस्य-निद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन॥" इत्यादि (आ.)। "सर्वान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-लघु-विशदांश्च गुणान् मदनीयम्। तदाग्नेयं वायव्यं च।" (र. वै. ४।११,१२)॥

जो द्रव्य तमोगुणप्रधान (किंचित् राजस गुणवाला भी) होनेसे बुद्धिका नाश करके मद (नशा) उत्पन्न करता है, उसे मदकारि, मद्य, मदनीय, मादन और मादक कहते हैं[1]। जैसे—नाना प्रकारके सुरा आदि मद्य (शा.)। मादक द्रव्य लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुग (आशुकारी), रूक्ष, विकाशि और विशद—इन दस गुणोंवाला होता है। ओज गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, सान्द्र, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल और स्निग्ध—इन दस गुणोंवाला होता है। मद्य हृदयमें प्रविष्ट होकर अपने दस गुणोंसे ओजके ऊपर लिखे हुए दस गुणोंको उनसे विपरीत गुणवाला होनेसे क्षुभित और नष्ट करके हृदयको विकृत कर देता है तथा उसके आश्रित सत्त्व (मन) को भी क्षुभित करके मद उत्पन्न करता है। मद्य अपने लघु गुणसे ओजके गुरु गुणका, उष्णसे शीतका, अम्लसे मधुरका, तीक्ष्णसे मृदुका, आशुकारितासे प्रसादका, रूक्षसे स्नेहका, व्यवायीसे स्थिरका, विकासीसे श्लक्ष्णका, विशदसे पिच्छिलका और सूक्ष्मसे सान्द्र गुणका नाश करता है (च.)। मद्य सर्व रसवाला तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, लघु और विशद गुणवाला तथा आग्नेय और वायव्य होता है (र. वै.)।

विषम्-प्राणहरम्-प्राणघ्नम्—

"लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ रौक्ष्याद्वातमशैत्यात् पित्तं, सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति। कफमव्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम्॥ शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात्॥ दुरुपक्रमं लघुत्वाद्व शद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्। दोष-स्थान-प्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति॥" (च. चि.

१—मदकारि (Delirifacients—डिलिरिफेशिअन्ट्स्)-इन द्रव्योंसे प्रारम्भमें मद उत्पन्न होता है और पीछे बेहोशी आती है। जैसे-गांजा, बेलाडोना, खुरासानी अजवायन (डॉ. वा. दे.)। मादकको यूनानी वैद्यकमें 'मुस्किर' कहते हैं।

अ. २३)। विषगुणानाह—लघ्वित्यादि। प्रत्येकं गुणानां कार्यमाह—रौक्ष्यादित्यादि। अशैत्यादिति उष्णत्वात्। सौक्ष्म्यादसृक्प्रकोपणम्, असृजोऽपि सूक्ष्ममार्गानुसारित्वात्। अव्यक्तरसत्वं च कफकोपनाय अव्यक्तरसत्व-कफयोरेकजलरूपकार्यत्वाद्भवति। अन्नरसांश्चानुवर्तते इति अव्यक्तरसत्वेन जलं यथा गन्धग्रहणे योगवाहि भवति, तथा विषमपि अन्नरसान् झटित्यनुगतं भवति, ततः शीघ्रं तेन भावितमन्नं भवति। शीघ्रमित्यादौ शीघ्रत्वादाशु व्याप्नोति, व्यवायित्वात् केवलं देहं व्याप्नोतीति ज्ञेयम्। व्यवायित्वं सर्वतः प्रसरणशीलत्वं पानीयपतिततैलवत्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नमिति मर्मणां सौम्यानां मृदूनां तीक्ष्णेन विरुद्धत्वं बोद्धव्यम्। विकासित्वादिति हिंसनशीलत्वात्; 'वि'पूर्वश्च कसतिर्हिंसार्थः। लघुत्वादिति अनवस्थितत्वात्; यस्य चानवस्थितत्वं तस्य भेषजेनासंबन्धादुपक्रमणमकिंचित्करम्। असक्ता अविश्रान्ता दोषेषु गतिर्यस्य तत् असक्तगतिदोषं; विशदं हि पिच्छाभागरहितत्वात् क्वचिन्न सज्जति। अत्र च गुणानां प्रतिनियमेन विरुद्धकर्मकरणे विषस्याशिवत्वमेव नियामकं ज्ञेयं; तेन रौक्ष्यादिभिः श्लेष्मक्षयादि नाशङ्कनीयम्। सुश्रुते च विषगुणे यत् पाकित्वमुक्तं, तदाशुकारिविषे निष्प्रयोजनमिति नेहोक्तं; तथाहि—विषं नैतावन्तं कालमपेक्षते येन यावत्तस्य पाको भवत्यविचार्यः। सुश्रुते च कालान्तरप्रकोपित्वमपि दूषीविषगोचरतयोक्तं, तदिहापि दूषीविषे चिन्तनीयमिति (च. द.)। "शैघ्र्य-सौषिर्य-व्यवायित्व-विकाशित्वानि च प्राणघ्नम्।" (र. वै. ४।१२,)। शैघ्र्यादीन् विशेषगुणान् पूर्वोक्तान् सर्वान् रसानाश्रित्य वर्तते प्राणघ्नम्। चशब्दात्ते च संगृहीताः, षड्रसं विषमिति वचनात्। "उष्णं सूक्ष्मं च तीक्ष्णं च विकाशि विशदं लघु। व्यवायि रूक्षं शीघ्रं च विषं नवगुणं स्मृतम्॥ पापक्ति धातूनुष्णत्वत्तैक्ष्ण्यान्मर्मच्छिदं विषम्। सौक्ष्म्याद्धातून् प्रविशति, विकाशित्वाद्विसर्पति॥ विश्लेषयति वैशद्यात् सन्धीन्, धावति लाघवात्। व्याप्नोति तद् व्यवायित्वाद्रूक्षत्वात् स्नेहनाशनम्॥ शीघ्रत्वान्मारयत्याशु विषं गौतम! षड्रसम्।" इति (भा.)। "तदाग्नेयम्।" (र. वै. अ. ४।१४)। अग्नेर्दहन-पचनशक्तित्वादप्कार्यस्य जीवनस्य च प्रतिपक्षत्वात् तत् प्राणघ्नमाग्नेयं भवति (भा.)। "व्यवायि च विकाशि स्यात् सूक्ष्मं छेदि मदावहम्। आग्नेयं जीवितहरं योगवाहि स्मृतं विषम्॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं व्यवाय्यादिगुणयुक्तं भवति तज्जीवितहरं प्राणहरं स्मृतं कथितम्। यथा—विषम्। तदेव योगवाहि स्मृतमित्यर्थः। व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छतीति व्यवायी गुणः, विकाशी गुणश्च सकलदेहं व्याप्य धातुशैथिल्यं करोति, सूक्ष्मो गुणस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतस्स्वनुसरः स्मृतः। मनो-दोष-धातु-मलादीन् बलादुन्मूलयति तच्छेदि कथितम्। मदावहमिति मदकारकम्। आग्नेयमिति आग्नेयगुणभूयिष्ठम् (आ.)॥

विषद्रव्य लघु, रूक्ष, आशु (आशुकारी), विशद, व्यवायी, तीक्ष्ण, विकासी, सूक्ष्म,

उष्ण तथा अव्यक्तरस–इन दस गुणोंवाला होता है। विषद्रव्य अपने रूक्षगुणके कारण वायुको, उष्णताके कारण पित्तको, सूक्ष्मताके कारण रक्तको तथा अव्यक्त रसके कारण कफको कुपित करता है ; आशुकारी होनेसे अन्नरसका शीघ्र अनुसरण करता है, व्यवायी होनेसे शीघ्र ही संपूर्ण शरीरमें व्याप्त हो जाता है, तीक्ष्ण होनेके कारण मर्मघ्न होता है, विकासी (हिंसनशील) होनेसे प्राणहर होता है, लघु (अनवस्थित-चञ्चल) होनेके कारण दुश्चिकित्स्य होता है, विशद (अपिच्छिल) होनेसे दोषोंमें उसकी गति निर्बाध (अटके विना) होती है। इन कारणोंसे विषद्रव्य दोषों, उनके स्थानों और वातादि प्रकृतिको प्राप्त होकर सर्व दोषोंको विकृत कर देता है (च.)। विष सर्व रसवाला तथा शीघ्र, सुषिर, व्यवायी और विकासी गुणवाला तथा आग्नेय होता है। विष अपने उष्ण गुणसे धातुओंको पकाता है, तीक्ष्ण गुणसे मर्मोंका छेदन करता है, सूक्ष्म और विकासी गुणोंसे धातुओंमें फैल जाता है, विशद गुणसे धातुओंसे ओजको अलग करता है, लघुगुणसे संधियोंमें प्रवेश करता है, व्यवायी गुणसे समग्र शरीरमें व्याप्त होता है, रूक्षगुणसे शरीरके स्नेहका नाश करता है और शीघ्रगुणसे शीघ्र मारता है (र. वै.)। जो द्रव्य व्यवायी, विकाशी, सूक्ष्म, छेदी (छेदन), मादक, आग्नेय, योगवाही और प्राणहर हो, उसे विष, प्राणहर या प्राणघ्न कहते हैं[1] (शा.)।

प्रमाथि—

"निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसंचयम्। निरस्यति प्रमाथि स्यात्, तद्यथा-मरिचं वचा ॥" (शा. प्र. ख. अ. ४) यद् द्रव्यं निजवीर्येण स्वप्रभावेण कृत्वा स्रोतोभ्यः कर्ण-मुख-नासिकादीनामन्यतमविवरेभ्यो दोषबाहुल्यं निरस्यति, तत् प्रमाथिसंज्ञं कथितम्। यथा—मारिचं, वचा च। दोषशब्दोऽत्र व्याधिष्वपि वर्तते, कारणे कार्योपचारात् ; तेन व्याधिसंचयमपीत्यर्थः (आ.)। यद् द्रव्यं निजवीर्येण स्वप्रभावेण, स्रोतोभ्यो रसवाहिसिरामार्गेभ्यो, दोषसंचयं निरस्यति दूरीकरोति, तत् प्रमाथि स्यात्। (का.)।

जो द्रव्य अपनी शक्तिसे स्रोतोंसे अर्थात् रस-रक्तादिका वहन करनेवाली सिराओं और मार्गों तथा कर्ण, मुख, नासिका आदिके छिद्रोंसे दोषोंके संचयको दूर करे, उसे प्रमाथि[2] कहते हैं। जैसे—कालीमिर्च और बच।

अभिष्यन्दि—

अभिष्यन्दि दोष-धातु-मलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम् (सु. सू. अ. ४६।५१ (ड.)। "मन्दकं दध्यभिष्यन्दजननानाम्।" (च. सू. अ. २५)। "पैच्छि-

१—यूनानी वैद्यकमें विषको 'सम्मी' और 'क़ातिल' कहते हैं।

२—प्रमाथि औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुफ़त्तिह' कहते हैं।

ल्याद्गौरवात् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः। धत्ते यद्गौरवं तत् स्यादभिष्यन्दि यथा-दधि॥" (शा. प्र. ख. अ. ४)। यद् द्रव्यं पैच्छिल्यात् पिच्छिलगुणयोगात्, गौरवात् गुरुगुणयोगात् गुरुपाकस्वभावाद्वा, रसवहाः सिरा रुद्ध्वा संरुध्य, गौरवं गुरुतां धत्ते, तदभिष्यन्दि कथितम्। यथा—दधि अभिष्यन्दीति, श्लेष्मप्रकोपीति रूढिः; गुणसाधर्म्यात् श्लेष्माऽपि पिच्छिल-गौरवादिगुणयुक्तः (आ.)। यद् द्रव्यं पैच्छिल्याच्चैक्ण्याद् गौरवाच्च रसवहाः सिरा रुद्ध्वा गौरवं धत्ते तदभिष्यन्दि स्यात् (का.)। अभिष्यन्दो दोष-धातु-मलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिः; कफजोऽयं विकारः। (च. सू. २६।६४ पर यो.)

जो द्रव्य अपनी पिच्छिलता तथा गौरव (गुरु गुण या गुरु विपाक) से रसवह सिराओंको रुद्ध करके शरीरमें गौरव-भारीपन उत्पन्न करे और कफका प्रकोप करे, उसको अभिष्यन्दी कहते हैं। जैसे—दही।

आशुकारि—आशुगम्-आशु—

"आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्।" (सु. सू. अ. ४६)॥

जो द्रव्य अपने शीघ्रत्व गुणके कारण शरीरमें शीघ्रतासे फैल कर क्रिया करे, जैसे—जलमें तैल, उसे आशुकारी कहते हैं।

विदाहि—

"द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्। पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि॥" (सु. सू. अ. ४५।१५८ पर ड. टीकामें उद्धृत तन्त्रान्तरीय वचन)।

जो द्रव्य अपने द्रव्यस्वभावसे अथवा पचनेमें भारी होनेसे देरमें हजम हो और पकते समय पित्तका प्रकोप करके अन्नवहा नलीमें जलन, खट्टी डकार आदि उत्पन्न करे, उसे विदाही कहते हैं।

योगवाहि—

"गृह्णाति योगवाहि द्रव्यं संसर्गिवस्तुगुणान्।" (भा.)। एतदेव हि योग-वाहित्वं यत् स्वगुणापरित्यागेनांशेन सादृश्यात् परस्य शक्तिपूरणम् (इ.)। "योगवाहि परं मधु।" (च. सू. अ. २७)।

जो द्रव्य अपने गुणोंको न छोड़ता हुआ अपने साथ संसर्गमें आनेवाले द्रव्यके गुणोंको बढ़ावे, उसे योगवाहि कहते हैं; जैसे—मधु, पारद आदि।

षाण्ढ्यकरम्—पुंस्त्वोपघाति—

षण्ढस्य भावः षाण्ढ्यं[1], तत् करोतीति षाण्ढ्यकरं, शुक्रनाशनम् (इ.)।

१—षाण्ढ्यकर इन द्रव्योंसे संभोगशक्ति कम होती है। जैसे—कपूर,

पुंस्त्वमुपहन्तीति पुंस्त्वोपघाति। "क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्" (च. सू. अ. २५)॥

जो द्रव्य वीर्यका क्षय करके षण्ढता (नपुंसकता) लावे (पुरुषत्वका नाश करे) उसको षाण्ढ्यकर या पुंस्त्वोपघाति कहते हैं। जैसे—क्षार।

स्वप्नजननम्—

स्वप्नं निद्रां जनयतीति स्वप्नजननम्। यथा—पारसीकयवानी-सर्पगन्धादि। "माहिषं क्षीरं स्वप्नजननानाम्" (च. सू. अ. २५।

जो द्रव्य निद्रा लावे, उसको स्वप्नजनन या स्वापजनन कहते हैं। जैसे—खुरासानी अजवायन, पीपलामूल, चान्दर (सर्पगन्धा) आदि। चरकने भैंसके दूधको स्वप्नजनन[1] कहा है।

स्वेदापनयनम्—

स्वेदं स्वेदातिप्रवृत्तिमपनयतीति स्वेदापनयनम्। "उशीरं × × स्वेदापनयन-प्रलेपनानाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य स्वेद (पसीना निकलने) की अतिप्रवृत्तिको रोके, उसे स्वेदापनयन[2] कहते हैं। चरकने खसके प्रलेपको स्वेदापनयन द्रव्योंमें श्रेष्ठ बताया है।

सौमनस्यजननम्—

सौमनस्यं मनसः प्रसन्नतां जनयतीति सौमनस्यजननम्। "मद्यं सौमनस्य-जननानाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य मनको प्रसन्न (आनन्दित) करे, उसको सौमनस्यजनन[3] या

तमाखू (Anaphrodisiac— ॲनेफ्रॉडिझिआक्) (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें पुंस्त्वोपघाति औषधको 'क़ातिअ बाह' कहते हैं।

१—स्वप्नजनन—ये द्रव्य प्रारम्भमें मद उत्पन्न किये बिना ही निद्रा लाते हैं। (Hypnotics—हिप्नॉटिक्स्; या Soporifics— सोपोरिफिक्स्) (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें निद्राकारक औषधको 'मुनव्विम' और 'मुसव्वित' कहते हैं।

२—अत्यन्त पसीना आता हो तो ये द्रव्य उसको बन्द करते हैं। इनमेंसे (१) कई रक्ताभिसरणपर, (२) कई स्वेदग्रन्थियोंपर, (३) कई स्वेदकेन्द्रपर और (४) कई स्वेदग्रन्थियोंमें जानेवाली नाड़ियोंके अन्तिम भागोंपर क्रिया करते हैं। जैसे—बेलाडोना, खुरासानी अजवायन, धतूरा, कुनैन (स्वल्प प्रमाणमें), जस्त, कषाय द्रव्य आदि (Anhydrotics—ॲन्हाइड्रोटिक्स्) (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें स्वेदापनयन औषधको 'मानिअ अरक़' कहते हैं।

३—Exhilerents—एग्झिलरन्ट्स् (डॉ. वा. दे.)। सौमनस्य जननको यूनानी वैद्यकमें 'मुफ़र्रह' कहते हैं।

मनःप्रसादकर कहते हैं। जैसे—मात्रा और विधिसे पिया हुआ मद्य (च.)।

चक्षुष्यम्[1]—

चक्षुषे हितं चक्षुष्यम्। "मधुकं चक्षुष्य-वृष्य-केश्य-कण्ठ्य-वर्ण्य-विरजनीयानाम्।" (च. सू. अ. २५)। "त्रिफला × × × चक्षुष्या × × ×।" (सु. सू. अ. ३८)। "चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिः।" (सु. सू. अ. ४५)।

जो द्रव्य नेत्रके (दर्शनशक्तिके) लिये हितकर हो, उसे चक्षुष्य कहते हैं; जैसे—मुलेठी, गायका घी, त्रिफला आदि।

केश्यम्—

केशेभ्यो हितं केश्यम्। "केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्य फलमुच्यते।" (सु. सू. अ. ४६)।

जो द्रव्य बालोंको स्थिर रखने और बढ़ानेवाला हो उसको केश्य कहते हैं; जैसे—मुलेठी, गम्भारीका फल, भँगरा आदि।

मेध्यम्—

मेधायै हितं मेध्यम्। "मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः, क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्। रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः, कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः॥ मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी॥" (च. चि. अ. १ पा ३)।

जो द्रव्य मेधा (स्मरणशक्ति या बुद्धि) को बढ़ानेवाला हो, उसको मेध्य कहते हैं; जैसे—ब्राह्मी, शङ्खपुष्पी, सुवर्ण आदि।

पुरीषजननम्—

पुरीषं जनयति प्रमाणाधिकं पुरपीमुत्पादयतीति पुरीषजननम्। "माषाः पुरीषजननानाम्।" (च. सू. अ. २५)। "बहुवातशकृद्यवः।" (च. सू. अ. २७)।

जो द्रव्य अधिक प्रमाणमें मल उत्पन्न करे, उसको पुरीषजनन कहते हैं; जसे—उड़द, जौ, पत्रशाक आदि।

अब सुश्रुतके कहे हुए शल्यचिकित्सोपयुक्त विम्लापनादि वर्गोंकी व्याख्या दी जाती है—

विम्लापनम्—शोथविलयनम्—

यानि द्रव्याणि व्रणशोथे आरम्भत एव प्रयुक्तानि शोथमपाचयित्वैव विम्लापयन्ति, तानि 'विम्लापनानि' इत्युच्यन्ते। वातज-पित्तज-श्लेष्मज-सांनिपातिकव्रणशोथविल(ला) यनार्थं सुश्रुते मिश्रकचिकित्सिते (सू. अ. ३७) विम्लापनाः प्रलेपा उक्ताः॥

१—चक्षुष्य औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुक़व्वी बसर' कहते हैं।

जो द्रव्य व्रणशोथकी प्रारम्भावस्थामें ही प्रलेपके रूपमें प्रयुक्त होनेपर व्रणशोथको बिना पकाये ही बैठा देते हैं, उनको विम्लापन[1] कहते हैं। सुश्रुत सू. अ. ३७ में वातज, पित्तज, कफज और सांनिपातिक व्रणशोथके विम्लापनके लिये प्रलेप लिखे हैं।

पाचनम्—

पाकाभिमुखं व्रणशोथं यानि द्रव्याणि शीघ्रं पाचयन्ति, तानि 'पाचनानि' इत्युच्यन्ते ; यथा—"शण-मूलक-शिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः। सक्तवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम्" (सु. सू. अ. ३७)। पाचनद्रव्याण्युपनाहरूपेण प्रयुज्यन्ते॥

जो द्रव्य पकने लगे हुए व्रणशोथको शीघ्र पकाते हैं, उन्हें पाचन (व्रणशोथ-पाचन) कहते हैं ; जैसे-सन-मूली और सहेंजनके बीज, तिल, सरसों, सत्तू, किण्व, अलसी-तीसी और उष्णवीर्य द्रव्य (सु.)। इन द्रव्योंका उपनाह (पोल्टिस) के रूपमें व्रणशोथपर बाँधनेमें प्रयोग होता है[2]।

दारणम्-प्रदरणम्—

पक्वमपि स्वयमविदीर्यमाणं व्रणशोथं यानि द्रव्याणि दारयन्ति तानि 'दारणानि' इत्युच्यन्ते। यथा—चित्रक-कपोतविट्-क्षारादीनि (सु. सू. अ. ३७)। "पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदरणम्। तत् पार्थिवमाग्नेयं च" (र. वै. अ. ४।१५,१६)। पित्तलान् कटुकाम्ल-लवणान् रसान् तीक्ष्णोष्णौ च गुणावाश्रितं प्रदरणम्। तत् पृथिव्याग्निभ्यां निर्मितम्। पृथिवी खलु रौक्ष्यात् तत्रस्थं स्नेहमपास्य पृथिवी-परमाणूनामप्संग्रहमपाकरोति ; ततस्तैक्ष्ण्यादग्निर्विदारयति॥

पकनेपर भी अपने आप न फूटनेवाले व्रणशोथको जो द्रव्य फोड़ दें, उन्हें दारण कहते हैं ; जैसे—चित्रक, कबूतरकी बीट, क्षार आदि। दारण द्रव्य पित्तकर रस (कटु-अम्ल-लवण) और गुण (तीक्ष्ण और उष्ण गुण) को आश्रय करके रहता है तथा पृथिवी और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है[3] (र. वै.)।

१—ये द्रव्य व्रणशोथको बैठाते हैं। जैसे—पारा, वछनाग, सुरमा, कुटकी आदि (Antiphlogestic—ॲन्टिफ्लॉजेस्टिक)। ग्रन्थिविलियन(Resolvents—रिझॉल्वन्ट्स्; Disentient—डिसेन्शिअन्ट्—ये द्रव्य व्रणशोथ किंवा सूजी हुई ग्रन्थियोंको ठीक करते हैं। ये रसग्रन्थियोंको उत्तेजन देते हैं। जैसे—उषक, कुन्दरू, अमरकन्द, पारा। इनसे पूय उत्पन्न हुए बिना शोथ बैठ जाता है (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें विम्लापन औषधको 'मुहल्लिल वरम' कहते हैं।

२—यूनानी वैद्यकमें व्रणशोथपाचनको 'मुनज़्ज़िज वरम' या 'मुक़य्यिह' कहते हैं।

३—ये द्रव्य जहाँ लगाये जायँ उस भागका नाश करते हैं, और उस भागके

प्रपीडनम्—

पक्वप्रभिन्नानां मर्मादिसमीपस्थानां सूक्ष्ममुखानां व्रणानां स्वयमेव सम्यक्पूयमवहतां प्रपीडनं कृत्वा यानि द्रव्याणि तेभ्यः पूयं सम्यग्वाहयन्ति, तानि 'प्रपीडनानि' इत्युच्यन्ते। तथा च सुश्रुते—"पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत्॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति। न चाभिमुखमालिम्पेत्तथा दोषः प्रसिच्यते" (सु. चि. अ. १)। पीडनमिति शाल्मलीत्वगादीनां व्रणे कर्मविशेषः (सु. सू. अ. ४०।५०। ङ)। "द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्। यव-गोधूम-माषाणां चूर्णानि च समासतः॥" (सु. सू. अ. ३७)।

जो द्रव्य पककर फूटे हुए किन्तु मुख सूक्ष्म होनेके कारण अच्छी तरह पूयको न निकालनेवाले व्रणोंको पीड़ितकर (दबाकर) पूयको निकालते हैं, उन्हें प्रपीडन कहते हैं। प्रपीड़नके लिए पिच्छिल वृक्षोंकी छाल और मूल, जौ, गेहूँ तथा उड़दका आटा—इनका कल्क पूययुक्त, सूक्ष्म मुखवाले तथा किसी मर्मस्थानके समीपवर्ती व्रणोंके चारों ओर प्रलेपके रूपमें लगाया जाता है। इन प्रलेपोंको सूखने देना चाहिए, तथा इनका लेप व्रणके मुखको छोड़कर चारों ओर करना चाहिये।

शोधनम्—

स्वयमेव विदीर्णं शस्त्रेण भेदितं वा व्रणं यानि द्रव्याणि शोधयन्ति, तानि 'शोधनानि' इत्युच्यन्ते। शोधनं पुनरष्टविधं—कषाय-वर्ति-कल्क-घृत-तैल-रसक्रिया-चूर्ण-धूपन-भेदेन। शोधनद्रव्यविस्तरस्तु सुश्रुते सूत्रस्थाने ३७ तमेऽध्याये चिकित्सास्थाने प्रथमेऽध्याये च द्रष्टव्यः॥

जो द्रव्य अपने आप फूटे हुए वा शस्त्रसे भेदन किये हुए व्रणोंको शुद्ध करते हैं, उन द्रव्योंको शोधन (व्रणशोधन) कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण और धूपनके रूपमें आठ प्रकारसे होता है। उनका विस्तार सु. सू. अ. ३७ तथा चि. स्था. अ. १ में देखें।

रोपणम्—

शुद्धं व्रणं यानि द्रव्याणि रोपयन्ति, तानि 'रोपणानि' इत्युच्यन्ते। रोपणं कषाय-वर्ति-कल्क-घृत-तैल-रसक्रिया-चूर्णभेदेन सप्तविधं भवति। रोपणद्रव्यविस्तरस्तु सुश्रुते सूत्रस्थाने ३७ तमेऽध्याये, चिकित्सास्थाने प्रथमेऽध्याये च द्रष्टव्यः॥

जो द्रव्य शुद्ध व्रणका रोपण करते हैं (व्रणको भर लाते हैं), उनको रोपण

अन्दरके जलको सुखाकर उसका नाश करते हैं; जैसे द्रावकाम्ल, क्षार, सोमल-संखिया (Escharotic—एस्कॅरॉटिक्; Caustic—कॉस्टिक्) (डॉ. वा. दे.)। यूनानी वैद्यकमें दारण औषधको 'मुफ़्ज़िर वरम' कहते हैं।

कहते हैं। इनका उपयोग कषाय, वर्ति, कल्क, घृत, तैल, रसक्रिया और चूर्णके रूपमें सात प्रकारसे होता है; रोपण द्रव्योंका विस्तृत वर्णन सु. सू. अ. ३७ तथा चि. स्था. अ. १ में देखें[1]।

उत्सादनम्—

परिशुष्काल्पमांसान् गम्भीरान् व्रणान् यानि द्रव्याणि मांसवर्धनेनोत्सादयन्ति, तानि 'उत्सादनानि' इत्युच्यन्ते। 'अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला। उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः॥" (सु. सू. अ. ३७)। उत्सादनं मांसवर्धनं; लेपप्रयोगादुत्सादनं भवति (ड.)।

जो द्रव्य शुष्क, अल्प मांसवाले तथा गहरे व्रणोंमें मांसकी वृद्धि करके उन्हें ऊँचे लाते हैं (समतल करते हैं), उन्हें उत्सादन कहते हैं[2]।

अवसादनम्—

उत्सन्नमृदुमांसान् व्रणान् यानि द्रव्याण्यवसादयन्ति, तानि 'अवसादनानि' इत्युच्यन्ते। "कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला। कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च॥ फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च। व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने॥" (सु. सू. अ. ३७)। अवसादने इति मांसस्फोटने (ड.)।

जो द्रव्य उभरे हुए कोमल मांसयुक्त व्रणोंको बैठाकर समतल करते हैं, उन्हें अवसादन कहते हैं; जैसे—कासीस, सैन्धव आदि।

उपशोषणम्—

उपशोषणं यच्छरीरे आर्द्रभावं शोषयति (अ. स. सू. अ. १३ में इन्दु)। "कुटजत्वक् × × उपशोषणानाम्।" (च. सू. अ. २५)।

जो द्रव्य शरीरमें आर्द्रता (गीलापन) को सुखाते हैं, उन्हें उपशोषण कहते हैं; जैसे—कुडाकी छाल (च.)[3]।

रोम (लोम) शातनम्—

प्रलेपाद् रोमाणि शातयति नाशयतीति रोमशातनम्। यथा—हरितालमिश्रं शङ्खचूर्णादि (सु. चि. अ. १)॥

१—रोपण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुदम्मिल' और 'मुलह्हिम' कहते हैं।

२—उत्सादन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुम्बित लह्म' कहते हैं।

३—ये द्रव्य शरीरपरके लसीका, पूय आदि दुःखदायक और दाहजनक मल पदार्थोंका शोषण करते हैं; किंवा महास्रोतस्के अन्दरके वायुका शोषण करते हैं। जैसे—लकड़ीका कोयला; विशेष प्रक्रियासे तय्यार की हुई रूई (ॲब्सॉर्बन्ट् कॉटन) व्रणलेखन (सु.) (Anoesthetics—ॲब्सॉर्बन्ट्) (डॉ. वा. दे.)। उपशोषण द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'नाशिफ़' और 'मुनश्शिफ़' कहते हैं।

जो द्रव्य त्वचापर लगानेसे बालोंको निकाल दे, उसको रो(लो)मशातन कहते हैं ; जैसे—हरताल और शङ्खचूर्ण (या चूने) का लेप[1] ।

रोम(लोम)संजननम्—

रोमाणि सम्यग्जनयतीति रोमसंजननम् । यथा—हस्तिदन्तमसीयुक्तरसाञ्जन-प्रलेपनम् (सु. चि. अ. १) ॥

जो द्रव्य जहाँसे बाल निकल गये हों वहाँ प्रलेप करनेसे बालोंको उत्पन्न करे, उसे रोमसंजनन[2] कहते हैं ; जैसे—हाथीके दाँतकी मसी मिलाई हुई रसौंतका लेप। (सु. चि. अ. १)।

रक्षोघ्नम्—

रक्षांसि अन्तरिक्षचरान् हिंसकान् जन्तून् धूपनादिभिर्हन्तीति रक्षोघ्नम् । यथा—गुग्गुल्वगुरु-वचा-सर्षप-निम्बपत्रादि (सु. सू. अ. ५) ॥

जो द्रव्य अन्तरिक्षचर और हिंसक राक्षसोंको (रोगोत्पादक जन्तुओंको) धूपन आदिसे नष्ट करे, उसे रक्षोघ्न कहते हैं। जैसे—गूगल, अगर, सरसों, बच, अजवायन, नीमकी पत्ती आदि ।

वक्तव्य—स्व. वा. डॉ. वामन गणेश देसाईने ओषधिसंग्रह नामके मराठी ग्रन्थमें द्रव्योंके कुछ और वर्ग लिखे हैं, वे आगे दिये जाते हैं—

स्वाप[3]*(सुप्ति)जनन*—(Anoesthetics—ॲनिस्थेटिक्स्)—ये द्रव्य मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्डमें स्थित नाड़ीकेन्द्रोंपर क्रिया करते हैं और बेहोशी, संज्ञानाश तथा स्पर्शनाश उत्पन्न करते हैं। ये द्रव्य उड़नेवाले होते हैं। इस वर्गमें मद्य, अफीम आदि मादक द्रव्योंका अन्तर्भाव नहीं होता। जैसे—क्लोरोफार्म। कई द्रव्य त्वचा किंवा क्षतपर लगानेसे शून्यता उत्पन्न करते हैं। इनकी क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञानतन्तुओंके सिरोंपर होती है। इनसे जहाँ लगाये जाते हैं, उस स्थानपर क्षति नहीं होती। जैसे – जटामांसी, तगर, बर्फ आदि (डॉ. वा. दे.)।

विरुद्ध—(Antagonists—ॲन्टॅगोनिस्ट्स्)—ये द्रव्य एक दूसरेके विरुद्ध क्रिया करते हैं, कोई वीर्यविरुद्ध और कोई संयोगविरुद्ध। जैसे—मद्य और कुचला ; अफीम और बेलाडोना। इनकी क्रिया परस्पर विरुद्ध होती है, अतः इनका संयोग नहीं होता ; जैसे—बेलाडोना और घारीकून, धतूरा और पद्मकाष्ठ (डॉ. वा. दे.)।

स्तन्यनाशन—(Lactifuge—लॅक्टिफ्युज्)—स्त्रियोंके स्तन्य (दूध) को

१—रोमशातन औषधको यूनानी वैद्यकमें 'हालिक़' कहते हैं ।
२—रोमसंजनन औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुंबित शअर' कहते हैं ।
३—यूनानी वैद्यकमें स्वापजनन औषधको 'मुख़द्दिर' कहते हैं ।

उड़ानेवाले द्रव्य ; जैसे—पानका पत्ता, मोगरेके फूल, कपूरका पत्ता (डॉ. वा. दे.)।

अश्मरीनाशन[1]—(सु. सू. अ. ३८) (Antilithics—ॲन्टिलिथिक्स्), शर्करानाशन (Lithontriptics—लिथोन्ट्रिप्टिक्स्)—ये द्रव्य शरीरमें बनी हुई या संचित पथरियोंको पिघला देते हैं। जैसे—द्रावकाम्ल फॉस्फोरसकी पथरीको ; क्षार लाल रंगकी पथरीको ; सोडा सेलिसिलेट पित्ताश्मरीको पिघलाते हैं। Antilithics—ॲन्टिलिथिक्स्—पथरीका बनना रोकनेवाले द्रव्य (डॉ. वा. दे.)।

कोथप्रशमन (ॲन्टिसेप्टिक्स्)—ये द्रव्य सूक्ष्मजन्तुओंकी वृद्धिका नाश करते हैं और इन जन्तुओंकी वृद्धिसे होनेवाली सड़नेकी क्रिया (कोथ) को रोकते हैं। ये रोगजन्तुघ्न और दुर्गन्धनाशन वर्गसे भिन्न हैं; जैसे—लवङ्गका तैल, सुहागा, पोदीनेका सत्त्व, पारा, सर्वसुगन्धि तैल (डॉ. वा. दे.)।

पित्तसारक—(Cholagogues—कॉलॅगॉग्स्)—ये द्रव्य यकृत्को उत्तेजित करके पित्तका स्राव बढ़ाते हैं; जैसे—नौसादर, सज्जीखार, पारा, पोडोफिलम् (पाप्रा), रेवन्दचीनी, एलुआ (डॉ. वा. दे.)।

दुर्गन्धहर—(Deodorsnta—डिओडरन्ट्स्)—ये द्रव्य दुर्गन्धका नाश करते हैं; जैसे—कोयला (डॉ. वा. दे.)।

रोगजन्तुघ्न—(Disinfectants—डिसिन्फेक्टन्ट्स्)—ये द्रव्य रोग उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म जन्तुओंका नाश करते हैं; जैसे—कार्बोलिक ऍसिड, गर्म हवा, (डॉ. वा. दे.)।

गर्भपाति—(Ecbolics—एक्बॉलिक्स् ; Abortifacients—ॲबॉर्टि-फॅश्यन्ट्स्) ये द्रव्य गर्भाशयकी पेशियोंका संकोच करते हैं; जैसे—सर्पगन्धा, इशरमूल, गाँजा, टंकण, सताप, कुनैन, अर्गट। ये द्रव्य अल्प प्रमाणमें लेनेसे आर्तवको बढ़ाते हैं और अधिक प्रमाणमें लेनेसे गर्भको गिराते हैं (डॉ. वा. दे.)।

आर्तवजनन—(Emmenagogues—एमिनॅगॉग्स्)—ये द्रव्य आर्तव बढ़ाते हैं। इनकी क्रिया दो प्रकारसे होती है; (१) प्रत्यक्ष गर्भाशयको उत्तेजित करके आर्तवस्राव कराते हैं; जैसे—अर्गट, सताप, कपासकी जड़। (२) जिस कारणसे आर्तव बन्द हो उसे दूर करते हैं। जैसे—लोहा, कुचला, एलुआ, कीड़ामारी (डॉ. वा. दे.)।

मार्दवकर—(Emollients—इमॉलिअन्ट्स् ; Protectives—प्रोटेक्टिव्स्) ये द्रव्य जहाँ लगाये जाते हैं उस भागमें मृदुता लाते हैं तथा हवासे उसकी रक्षा करते हैं; जैसे—तैल, चर्बी, निशास्ता (डॉ. वा. दे.)।

---

[1]—यूनानी वैद्यकमें अश्मरीनाशन औषधको 'मुफ़त्तित हसात' कहते हैं।

श्लेष्मनिःसारक[१]—(Expectorant—एक्स्पेक्टोरन्ट्) श्वासनलिका और फेफड़ोंसे कफको बाहर लानेवाले द्रव्य। इनकी क्रिया अनेक प्रकारसे होती है। (१) श्वासहर—ये श्वासनलिकाके संकोच-विकासको कम करते हैं। जैसे—देवनल, तमाखू, धतूरा। (२) उत्क्लेशक—इनसे जी मिचलाकर तथा उलटीकी इच्छा-सी होकर कफ निकलता है। इनसे कफ पतला भी होता है। अधिक मात्रामें देनेसे ये द्रव्य उलटी कराते हैं। जैसे—सुरमा। (३) उल्लेखन—ये श्वासनलिकाकी कलाका शोथ कम करते हैं तथा कफका स्राव कराते हैं। सब वमन द्रव्य अल्प मात्रामें देनेसे उनकी इसी प्रकार क्रिया होती है। इन्हें Nauseating or depressant expectorant—नॉशिएटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट्, या डिप्रेसन्ट् एक्स्पेक्टोरन्ट् कहते हैं; जैसे—सुरमा, खडकी रास्ना, एपिकाक्युआना। (४) छेदन—ये श्वासनलिकाकी कलाको उत्तजित करते हैं तथा कफको पतला करते हैं। कफका लेस कम होनेसे वह खाँसते ही बाहर निकल पड़ता है। इन्हें Stimulating expectorant—स्टिम्युलेटिंग् एक्स्पेक्टोरन्ट् कहते हैं; जैसे—नौसादर, उषक, प्याज, शिलारस, हींग, गन्धा-विरोजा, अड्सा। (५) उदूर्ध्वंसिकाहर—ये श्वास क्रियाके केन्द्रोंको शान्त करते हैं। खाँसीके साथ कफ पड़ना चाहिये। कफ न पड़नेसे जो बहुत ही दुःखदायी खाँसी होती है, वह इन द्रव्योंसे कम होती है। ये द्रव्य बहुत भयंकर और अवसादक होनेसे सावधानीसे बरतने चाहिये। ये केवल सूखी खाँसी कम करते हैं। जैसे—अफीम। (६) स्नेहन—ये द्रव्य गले और श्वासनलिकाके द्वारोंमें स्निग्धता लाते हैं। जैसे—गोंद, मिश्री, मुलेठी। (७) उत्तेजक—ये श्वास क्रियाके केन्द्रोंमें स्फूर्ति लाते हैं। उनको उत्तेजन मिलनेसे खाँसनेकी शक्ति बढ़ती है और जोरसे खाँसनेके साथ कफ ठीक पड़ता है। जैसे—कुचला, बेलाडोना, पुष्करमूल (डॉ. वा. दे.)।

तारकाविकासि[२]—(Mydriatics—मिड्रिएटिक्स्)—ये द्रव्य कनीनिका (आँखकी पुतली) को विकसित करते हैं। इनसे कनीनिकाकी पेशी दुर्बल होती है और कुछ काल दिखना कम होता है। जैसे-धतूरा, बेलाडोना (डॉ. वा. दे.)।

तारकासंकोचन—(Myotics—मायोटिक्स्) इन द्रव्योंसे कनीनिकाका संकोचन होता है और आँखोंका तनाव कम होता है। जैसे—अफीम। (डॉ. वा. दे.)।

१—श्लेष्मनिःसारक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुनफ्फ़िस बल्ग़म' और 'मुख़रिज बल्ग़म' कहते हैं।

२—तारकाविकासि द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुफ़त्तिह सुक्बहे इनबिय्या' कहते हैं।

मोहजनन—(Narcotics—नार्कोटिक्स्)—ये द्रव्य मस्तिष्कपर क्रिया करते हैं और निद्रा लाते हैं। इनसे आरम्भमें थोड़ा-बहुत मद उत्पन्न होता है। जैसे—अफीम, गाँजा, मद्य। ये द्रव्य स्वप्नजनन वर्गसे भिन्न हैं; कारण, स्वप्नजनन वर्गसे प्रारम्भमें मद नहीं होता (डॉ. वा. दे.)।

आविजनन[1]—(Oxytocics—ऑक्सिटॉसिक्स्)—ये द्रव्य प्रसूतिके समय या प्रसूतिके पीछे गर्भाशयकी संकोचन क्रिया बढ़ानेके लिये दिये जाते हैं। जैसे—कुनैन, अर्गट आदि (डॉ. वा. दे.)।

शोणितोत्क्लेशक[2]—(Rubefacients—रुबिफेशिअन्ट्स्) ये द्रव्य त्वचापर लगानेसे त्वचा लाल हो जाती है। जैसे-राई, हुलहुल, चित्रक, पीलु, कॅन्थॅरिडीस्। किन्हींसे त्वचा लाल होती है और किन्हींसे छाले उठते हैं (डॉ० वा० दे०)।

स्फोटजनन[3]—(Vesicant—वेसिकन्ट्)। जैसे-कॅन्थॅरिडिस्, राई, चित्रक-मूल (डॉ० वा० दे०)।

अवसादक[4]—(Sedatives—सिडॅटिव्स्; Depressants—डिप्रेसन्ट्स्)—ये द्रव्य शरीरके विभिन्न अवयवोंका अवसाद करते हैं। मात्रा अधिक हो तो वह भाग दुर्बल हो जाता है। (१) नाड़ीसंस्थानके केन्द्रोंके अवसादक; जैसे—तमाखू, देवनल। (२) रक्ताभिसरणके अवसादक; जैसे—वछनाग, सुरमा, पद्मकाष्ठ (डॉ० वा० दे०)।

लालाप्रसेकापनयन—(Antisialogogues—ॲन्टिसाएलॉगोग्स्)—ये द्रव्य लालाका स्राव कम करते हैं। जैसे—बेलाडोना (डॉ० वा० दे०)।

लालाप्रसेकजनन[5]—(Sialagogues—साएलॅगॉग्स्)—ये द्रव्य लाला-स्रावको बढ़ाते हैं। (१) कई द्रव्य मुखमें रखनेपर लालाग्रन्थियोंको उत्तेजित करते हैं और लार बढ़ाते हैं। जैसे अकरकरा, तमाखू, राई, लाल मिर्च। (२) कई द्रव्य रक्तमें मिश्रित होकर लालाद्वारा बाहर निकलते हैं और लालास्रावको बढ़ाते हैं। जैसे—पारा (डॉ० वा० दे०)।

१—आविजनन औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुख़रिज जनीन व मशीना' कहते हैं। २—शोणितोत्क्लेशक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुहम्मिर' कहते हैं। ३—स्फोटजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुक़र्रह' कहते हैं। ४—अवसादक औषधको यूनानी वैद्यकमें 'मुसक्किन' कहते हैं। ५—लालाप्रसेकजनन द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुदिर्र लुआब दहन' कहते हैं।

उत्तेजक[1]—(Stimulants—स्टिम्युलन्ट्स्)—इन द्रव्योंसे अङ्गोंमें उत्तेजना आती है चाहे इन्हें मुखद्वारा लिया जाय अथवा त्वचापर मसला जाय। इनकी क्रिया विभिन्न अवयवोंपर होती है। (१) सुषुम्णाकाण्डके उत्तेजक ; जैसे—कुचला, फॉस्फरस। (२) यकृत्के उत्तेजक ; जैसे—नौसादर, पित्तसारक वर्ग। (३) आँतोंके उत्तेजक; जैसे—रसकपूर। (४) रक्ताभिसरणके उत्तेजक ; जैसे—डिजिटेलिस, बेलाडोना, कपूर। (५) आमाशयके उत्तेजक ; जैसे—सुगन्धि द्रव्य, मसाले। (६) त्वचाके उत्तेजक; जैसे—राई। (७) नेत्रोंके उत्तेजक; जैसे—रसौत। (८) व्रणशोथ किंवा व्रणके उत्तेजक; जैसे—नीमकी पत्ती, संभालूकी पत्ती (डॉ० वा० दे०)।

हृदयोत्तेजक—(Cordial—कॉर्डिअल्)—सुगन्धि और उष्ण द्रव्य। ये रक्ताभिसरणकी गतिको बढ़ाते हैं (डॉ० वा० दे०)।

एकीयमतेन द्रव्यप्रधानत्वनिरूपणम्—

सुश्रुतने तथा सुश्रुतमतानुयायी भदन्तनागार्जुनने अपने-अपने ग्रन्थमें द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक इनमेंसे प्रत्येककी एकीयमतसे प्रधानता दिखलाकर अन्तमें इन सबमें द्रव्य ही प्रधान है और द्रव्यादि सब मिलकर कार्य करते हैं, यह सिद्धान्त स्थापित किया है। इस ग्रन्थमें द्रव्यविज्ञानीय, गुणविज्ञानीय आदि प्रत्येक अध्यायमें द्रव्यादिमेंसे एक-एककी प्रधानता दिखाकर अन्तमें उपसंहार प्रकरणमें दोनों आचार्यों-का सिद्धान्त दिया जायगा। द्रव्यविज्ञानीयाध्यायमें मूलमें सुश्रुत और टिप्पणमें नागार्जुनके मतसे द्रव्यप्राधान्यवाद (द्रव्यप्राधान्यके विषयमें एकीय मत) लिखा जाता है—

केचिदाचार्या[2] ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानं, कस्मात ? व्यवस्थितत्वात ; इह

१—उत्तेजक द्रव्यको यूनानी वैद्यकमें 'मुहर्रिक' और 'मुनब्बिह' कहते हैं।

२—द्रव्यप्रभृतीनां तु प्रधानं द्रव्यमेके ब्रुवते (र. वै. सू. अ. १ सू. ९९)।—एवं परीक्षितव्यानि परीक्ष्य, तत्र बलाबलचिन्तां चोक्त्वा, द्रव्यादीनां षण्णां पदार्थानां तत्र शरीरभूतानामिदंप्रधानतेदानीं परीक्ष्यते—द्रव्येत्यादि। अत्र षष्ठी निर्धारणलक्षणा। 'तु' शब्दोऽधिकारनिवृत्त्यर्थः (भा.)। द्रव्यं प्रधानं रसादिभ्य इति प्रतीज्ञा ; कुतः! तर-तमयोगानुपलब्धेः (सू. १००)।—तर-तमयोगो रसादिषु दृष्टः। तत्र द्वयोरतिशये तरप्, बहुभ्योऽतिशये तमप्। मधुरतरो, मधुरतमः ; शीततरः, शीततमः ; छर्दनीयतरं, छर्दनीयतमं ; लघुतरो, लघुतमः ; कर्मतरं, कर्मतममिति। द्रव्येषु नास्ति यष्टीमधुकतरो यष्टीमधुकतम इति। तस्मात् तर-तमयोगाभावाद् रसदिभ्यो द्रव्यं प्रधानमिति। × × ×। (भा.)। सर्वेन्द्रियोपलब्धेः (सू. १०१)।—द्रव्यप्राधान्यसाधनार्थमयं च हेतुः—सर्वेत्यादि श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्द्रव्यं गृह्यते, रसादयो ह्येकेन्द्रियग्राह्याः। रसनेन रसः, शीतादि

खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा—आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे

स्पर्शनेन वीर्यं फलदर्शनाच्चक्षुषेति कल्पयामः, विपाकस्तथैव, कर्म चक्षुषा। द्रव्यं पुनश्चक्षुषा दृष्ट्वा यष्टीमधुकं जानाति, स्पृष्ट्वा च रात्रौ यष्टीमधुकमिति प्रतिपद्यते, रसनेनास्वाद्य यष्टीमधुकमिति वेत्ति, घ्रात्वा च यष्टीमधुकमित्यवगच्छति, श्रुतं च यष्टीमधुकज्ञानं भवति ; एवमनेकेन्द्रियग्राह्यत्वात् प्रधानं द्रव्यमिति (भा.)। व्यवस्थानात् (सू. १०२)। × ×। व्यवस्थानादिति द्रव्यं व्यवस्थितं, गुणा ह्यनवस्थिताः। उक्तं च—"दूर्वाङ्कुरनिभं भूत्वा फलं जम्ब्वास्ततः पुनः। मेचकं भजते वर्णं पुनरञ्जनसंनिभम् ॥" इति। एवं तद्गताश्च स्पर्श-रस-गन्धाश्चानवस्थिताः। जम्बूफलमिति द्रव्यं सामान्यम्। × × ×। (भा.)। अधिष्ठानादाश्रयात् (सू. १०३)। × ×। द्रव्यमाश्रयः, आश्रयिणो रसादय इति। आश्रयभूतः प्रधानः स्वामी दृष्ट इति (भा.)। आरम्भसामर्थ्यात् (सू. १०४)। आरम्भश्चिकित्सायां क्रियारम्भः—मूलमाहरेत्यादि। तस्मिन् द्रव्यस्यैव सामर्थ्यं, न रसादीनामारम्भसामर्थ्यम्। अविकलेन्द्रियः पुरुषः प्रधानो दृष्टः पङ्गोरिति (भा.)। विकल्पसामर्थ्यात् (सू. १०५)। × ×। विविधः कल्पो विकल्पः कल्क-कषायादिभेदेन, तस्मिन् विकल्पे सामर्थ्यात्, तत् सर्वं द्रव्यस्यैव नान्यस्येति। × × ×। (भा.)। प्रतीघातसामर्थ्यात् (सू. १०६)। प्रतीघात आवरणं, तस्मिन् सामर्थ्यं द्रव्यस्यैव भवति, मूर्तिमत्त्वात्। अप्रतीघातात्मनां काल-दिगात्मादीनां किं प्राधान्यं निवार्यत इति ? न सर्वेभ्यः प्राधान्यं साधयितुमिष्टं, (किन्तु) रसादिभ्य इत्यदोषः। तेषामपि मूर्तिमत्त्वमिष्यत एव कैश्चिदिति। तदप्यसत्। तस्मादयमन्यः कल्पः — प्रतीघातसामर्थ्यात् स्वस्थानेऽन्यस्यानवकाशदानादिति। रसादयः संपृक्ता-स्तिष्ठन्तीति। आवरणार्थोऽपि स एव घटते यः स्वस्मिन् स्थानेऽन्यस्यावकाशं निरुणद्धि, स प्रधानो दृष्टः—चक्रवर्तीति (भा.)। शास्त्रोपदेशसामर्थ्यात् (सू. १०७)। × ×। आगमादित्यर्थः। शास्त्र एवोपदिश्यते हि—"य एव हि गुणा द्रव्ये शरीरेष्वपि ते स्मृताः। तान् द्रव्यैस्तद्गुणैरेव प्रयोगेणाभिवर्धयेत् ॥" इति। सामान्यप्रयोगवचने विशिष्टेन प्रयोगो निर्दिश्यत इति (भा.)। अवयवेन सिद्धेः (सू. १०८)। × ×। अवयवेन एकदेशेन प्रदेशेन सिद्धेः, 'प्रयोगेषु' इति वाक्यशेषः यथा-मूलत्वगादिना अवयवेन यः साधयति स प्रधानो दृष्टः। × ×। (भा.)। तदनुविधानाच्चेतरेषाम् सू.(१०९)। × ×। इतरेषां रसादीनां द्रव्यस्यानुविधानात्। द्रव्यमनुवर्तन्ते हि रसादयः; तारुण्ये तरुणाः, संपत्तौ संपन्नाः, विपत्तौ विपन्ना भवन्तीति। ये यमनुवर्तन्ते ते तस्मादप्रधाना दृष्टाः। तद्यथा-गुरोः शिष्या इति (भा.)। द्रव्यमाश्रयलक्षणं पञ्चानाम् (र. वै. सू. अ. १ सू. १६६)। रसादीनां पदार्थानां यदाश्रयभूतं तद् द्रव्यम् (भा.) ॥

न सन्ति; नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा[१]—कालादिप्रविभागात्तदेव संपन्नरसगन्धं व्यापन्नरसगन्धं वा भवति; स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि—पार्थिवं द्रव्यमन्याभावं न गच्छत्येवं शेषाणि; पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः; आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयः; आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा—'विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्' इत्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भः; शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे हि योगानां, यथा—"मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते; क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः, संपूर्णे संपूर्णा इति; एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते (न रसादिभिः, कस्मात्? निरवयवत्वात्[२]), यथा—महावृक्षक्षीरेणेति; तस्माद् द्रव्यं प्रधानम्। द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥

पाको नास्ति विना वीर्याद्, वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठमतः स्मृतम् ॥
जन्म तु द्रव्य-रसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्देह-देहिनोः ॥
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥ (सु. सू. अ. ४०)।

अत्र द्रव्यादीनां प्रत्येकं प्राधान्यमेकीयमतेन दर्शयितुं द्रव्यप्राधान्ये प्रथमं सहेतुकमेकीयमतमाह—तत्रेत्यादि। एतच्च एकीयमतोपदर्शनं सम्यग्द्रव्यादिस्वभावज्ञानार्थम्; अभिनिविष्टो हि वादी स्वपक्षसाधनार्थं सर्वं स्वरूपं प्राधान्यख्यापकं दर्शयति, तेन चान्ते वक्ष्यमाणाचार्यसिद्धान्तसहितेन सम्यक् प्रतीतिर्भवति; एतदर्थमेव चरकेऽपि वातादिप्राधान्ये एकीयमतान्युपन्यस्य वातकलाकलीयादवाचार्य-

१—'यथा कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति' इति डल्हणसंमतः पाठः। २—कोष्ठकान्तर्गतः पाठो हाराणचन्द्रेण न पठ्यते।

मतमुपदर्शितम् । व्यवस्थितत्वादिति अवस्थाभेदेन रसादिभेदेऽपि द्रव्यस्य व्यवस्थितत्वात्; यथा—आम्रफलं प्रथमं कषायाम्लं, मध्येऽम्लं, ततो मधुरम्; एवं रसाव्यवस्थानेऽपि द्रव्यामाम्ररूपतया व्यवस्थितम् । हेत्वन्तरमाह—नित्यत्वादिति । नित्यत्वं रसादिनाशेऽप्यव्यवस्थितत्वमिह ज्ञेयं; व्यवस्थितत्वं तु रसाद्यन्यथात्वे तद्रूपतया व्यवस्थितत्वमिति विशेषः । कालादीत्यत्रादिशब्देन जल-वातादयो गृह्यन्ते । व्यापन्नरस-गन्धमिति नष्टरस-गन्धम् । अत्रैकस्मिन् द्रव्यप्राधान्ये साध्ये बहुहेतूपदर्शनं शास्त्रत्वादेव भवति, वादे हि द्वितीयादिहेतुकथनमसाधनाङ्गवचनमिति नोपादीयते । स्वजात्यवस्थानादिति परिणामेऽपि द्रव्यं स्वजातावतिष्ठते, न जात्यन्तरं भवति ; यत् पार्थिवं तत् पार्थिवमिति, यदाप्यं तदाप्यमेवेत्यादि जात्यपरित्यागः; रसस्तु क्षीरे मधुरत्वं परित्यज्य (दध्नि) चाम्लतां यातीत्याद्यनुसर्तव्यम् । जातिश्चेह पार्थिवत्वादिरूपा व्यवस्थिता अभिप्रेता; तेन क्षीरस्य दधित्वं, गुडस्य शर्करात्वमित्यादि जातिभेदो नोद्भावनीयः । पञ्चेन्द्रियग्रहणादित्यत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्द्रव्यं गृह्यत इति चक्षुषा स्पर्शनेन तावद्द्रव्यग्रहणमविवादसिद्धमेव, घ्राण-रसन-श्रोत्राणामपि सुरभि चन्दनं, तथा मधुरः कोषकारः, तथा सुस्वरा वीणेत्यादि सामानाधिकरण्यज्ञाने द्रव्यग्रहणं प्रति स्फुटतरव्यापाराद् द्रव्यग्राहकत्वं ज्ञेयम् । आश्रयत्वाच्चेति रसादीनां द्रव्यमाश्रयः; तेनाश्रिता रसादयः परतन्त्रत्वादप्रधानाः; आश्रयस्तु प्रधानमित्यर्थः । आरम्भसामर्थ्यादिति षष्ठो हेतुर्व्यक्तः । शास्त्रप्रामाण्यादिति शास्त्रेण प्रमाणेन प्राधान्येनोपदेशात् । क्रमापेक्षितत्वादिति द्रव्यक्रमापेक्षितत्वाद्रसादीनाम् । तरुणा इति असंपूर्णाः । एकदेशसाध्यत्वादिति नवमो हेतुर्व्यक्तः । कस्माद्रसादीनामप्येकदेशेन न व्याधयः साध्यन्त इत्याह—निरवयवत्वादिति । व्युत्पादितप्राधान्यस्य द्रव्यस्य लक्षणमाह—द्रव्यलक्षणमित्यादि । क्रियावत्, गुणवत्, समवायि कारणं द्रव्यमिति । क्रिया कर्म, गुणा रसादयः, समवायिकारणं स्वसमवेतकार्यजनकम् । एते क्रियावत्त्वादयो रसादिव्यावर्तका इतीहोक्ताः । × × × । सर्वद्रव्यव्यापक-विजातीयव्यावृत्तं तु लक्षणमिह गुणवत्त्वमेव । एतदेव क्रिया-गुणयोर्यथाक्रमं द्रव्यव्याप्यक्रिया द्रव्ये विद्यते, गुणाः समवयन्तीति व्याप्य द्रव्यमवतिष्ठन्ते, न हि निर्गुणं द्रव्यं किंचिदस्ति । संप्रति पाकाद्यपेक्षणीयतया पाकाद्याश्रयतया च द्रव्यप्राधान्यं दर्शयन्नाह—पाको नास्तीत्यादि । शीतवीर्यं पृथिवी-जलाश्रयं मधुरं गुरु पाकं निष्पादयति तथा उष्णवीर्यमग्न्याश्रयमनिलाकाश-लाघवसहितं कटुकं लघुपाकं जनयति । यदुक्तं—"द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बु-पृथिवीगुणाः । निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादि । यत्तु शालिषु मधुरशीतेष्वपि कटुपाकत्वं, तद् द्रव्यप्रभावसहितवीर्याद्भवतीति नोत्सर्गसिद्धवीर्यकार्यता । विपाकस्य वीर्यस्य वीर्यव्यापकस्य रसस्य च द्रव्यमाधारकारणमिति विपाक-वीर्य-रसानां सर्वेषामेवाधारकारणतया द्रव्यं प्रधानमित्युक्तं भवति । किंवा

विपाकादीनां मुख्यकार्योपदर्शनमेतत्; यथा द्रव्योपयोगादनन्तरं रसः स्वकार्यं करोति, तदनु वीर्यं परिणामावस्थायां कार्यं करोति, ततोऽन्ते विपाकः; तदुक्तं चरके—"रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते॥" (च. सू. अ. २६) इति। अथ द्रव्यं चेद्रसस्य कारणं, कारणं च नावश्यं कार्यं जनयति, तत् किं रसं विनाऽपि द्रव्यं भवतीत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—जन्म त्वित्यादि। तत्र द्रव्यं कार्यद्रव्यं धान्य-फल-वृक्षादि; जन्मशब्देन चाभिव्यक्तिरुच्यते। उत्पादस्य परस्परापेक्षित्वे इतरेतराश्रयादुत्पादश्च न स्यात्; तेन स्वकारणोत्पन्नं द्रव्यं रसं विना द्रव्यमेव न भवति, नीरसस्य कार्यद्रव्यस्यानुपलम्भात्। किंवा रसशब्देन रसधर्मतयोक्ताः सर्व एव गुणा गृह्यन्ते; तेन रसं विना द्रव्यं गुणशून्यतया द्रव्यमेव न भवति, यतो 'गुणवत्' इति द्रव्यलक्षणं व्यापकमुक्तं; रसस्तु द्रव्यं विना आश्रयाभावादेव न भवति। एवं दृष्टान्तेऽपि देहो देहिनं विना न भवति; देहिभोगायतनं हि देहः, स शुक्र-शोणितावच्छिन्नोऽपि देहिनो जीवस्य संबन्धं विना न देहशब्दं लभते। देही त्वात्मविशेषः, स नित्योऽपि देहसंबन्धप्रयुक्तं देहित्वं न देहमन्तरेण लभत इत्यर्थः। अथ 'पाको नास्ति विना वीर्यात्' इत्यादिना मुख्यतया रसं द्रव्याश्रयं प्रतिपाद्य रसाश्रयतया वीर्यस्यापि द्रव्याश्रयत्वं परम्परया प्रतिपादितम्। संप्रति रसवद्वीर्यस्यापि द्रव्याश्रयत्वं प्रतिपादयन्नाह—वीर्यसंज्ञा इत्यादि। अपिशब्दात् स्थूल-सूक्ष्म-संख्या-रूपादयोऽपि गुणा द्रव्याश्रयत्वेन गृह्यन्ते। एतद्गुणकार्यत्वं च स्वल्पं, तच्च द्रव्यधर्मतया रसादिधर्मतया वा वैद्यकतन्त्रव्यवहाराद् गृह्यते। अथ रसाश्रयाः पूर्वममी गुणा उक्ताः, तथा रसगुणकथने च "मधुरो रसः शीतः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसाश्रया वीर्यादयो गुणा वक्तव्याः, तत् कथमिह द्रव्याश्रया उच्यन्त इत्याह—रसेषु न भवन्तीत्यादि। एतेन परमार्थतो रसे गुणे निर्गुणत्वाद् वीर्यरूपा गुणास्तथाऽन्ये संख्यादयो गुणा न भवन्त्येव, एकाश्रयतया तूपचारात् सुखेन द्रव्यगुणप्रतीत्यर्थं रसगोचरतयोच्यन्ते। तदुक्तं चरके—"गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्। विद्याद् द्रव्यगुणान्, कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः॥" (च. सू. अ. २६) इति। विपाकस्यापि द्रव्याश्रयत्वेन द्रव्यप्राधान्यमाह—द्रव्ये द्रव्याणीत्यादि। द्रव्ये आहाररूपे; द्रव्याणीति आहारगतानि पच्यन्ते; न रसा इति रसानां परतन्त्रत्वेन स्वतन्त्रपाकाविषयत्वात्; द्रव्ये त्वग्निसंयोगात् पच्यमाने पाकाज्ज्ञा (ज्ञा) यमानतया रसः पच्यत इति व्यपदिश्यत इत्यर्थः। यदा 'द्रव्यं द्रव्येण पच्यते' इति पाठस्तदा द्रव्येणेति 'जठराग्निना' इति विशेषः। यत्तु पठ्यते 'द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।" इति, यतो न सर्वत्र द्रव्येषु षड्रसाः पच्यन्ते, येनैकरसं द्रव्यं क्षीरादि, मातुलुङ्गादि मधुराम्लं द्विरसं, त्रिरसं न्यग्रोधफलादि "कषायमधुराम्लानि न्यग्रोधादि न च।" (सु. सू. अ. ४६) इति वचनात्, चतूरसं तिलादि, पञ्चरसमा-

मलकादि, षड्रसं त्विह द्रव्यं न ; हारीते तु एणमांसं षड्रसमुक्तं, यथा—"एणमांसं लघु स्वादु षड्रसं कटु पच्यते।" इत्यादि ; एतच्च प्रकृतार्थासंगतार्थत्वान्न मनोहारि। प्रकरणव्युत्पादितं द्रव्यप्राधान्यं निगमयति - द्रव्यं श्रेष्ठतममिति। शेषा भावा इति रस-वीर्य-विपाकाः (च. द.)। ××× व्यवस्थितत्वात् स्वस्वगुणाभावेऽप्यवस्थानात् उक्तमर्थमधगमयति—इहेत्यादीना। नन्वेवं द्रव्यप्राधान्यमनुपपन्नं, य एव हि रसादय आमे फले दृश्यन्ते कालपरिणामात् पक्वे त एवान्यथाभावमापद्यन्ते, न तु ते विनश्यन्ति, अन्ये च उत्पद्यन्त इति निश्चीयते, "अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्ण-लवणो रसे। माधुर्यं भजते" (सु. सू. अ. ११) इत्यादिना पररसादेः पूर्वरसादिपरिणामसंभवत्वेनाभ्युपगमात् ; ये त्वेवं प्रत्यवतिष्ठन्ते तान् प्रति हेत्वन्तरमुपन्यस्यति—नित्यत्वाच्चेति। द्रव्यं प्रधानमिति पूर्वेणान्वयः। नित्यत्वं च द्रव्याणां कालपरिणामेनान्यथाभावेऽपि तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायमानत्वादवगन्तव्यम्। नित्यत्वाद् द्रव्यस्य प्राधान्यमप्राधान्यं च रसादीनां दर्शयति—नित्यमित्यादिना। परिणामान्यत्वे द्रव्यान्यत्वमिति येषां दर्शनं, तेषामाम-पक्कफलयोर्मात्रया परिणामभेदाद् द्रव्यभेदोऽपीति मत्वाऽनुरूपं दृष्टान्तमाह—कल्कादिप्रविभाग इति। कल्कादिरूपेण प्रविभक्तो द्रव्यनिचयः कल्कादिप्रविभागः। अत्र पूर्वापरकालावस्थायिन्यभिन्नपरिमाणे कल्कादिप्रविभागे सत्येव तस्य गन्ध-रसयो, सत्त्वमसत्त्वं चेत्यनियतावस्थायिनो गुणा अनित्या उच्यन्ते, द्रव्यं च तदपेक्षया नियतावस्थायि नित्यमाख्यायते इति द्रष्टव्यम्। न चायं कल्कादिप्रविभागो रूपादितो व्यापन्नः सहसा प्रत्यभिज्ञाविषयो भवतीति संप्रधार्य रस-गन्धावेवोपात्तावित्यनुसंधेयम्। ननु, चम्पककुसुमादिद्रव्यनाशेऽपि तद्वासनावासिततैलादौ तद्गन्धोपलब्धेर्नित्यो गुणो द्रव्यमनित्यमिति वैपरीत्यमापद्यते इति नित्यत्वहेतोरनैकान्तिकतेत्याह—स्वजात्यवस्थानाच्चेति। स्वजात्यवस्थानत्वं विवृणोति—यथेत्यादि। शेषाणि परिशिष्टान्याप्यादीनि। रसादयस्तु नैवमिति शेषः, ते हि स्वां जातिं परित्यज्य जात्यन्तरमाश्रयन्ते। वक्ष्यति हि—"भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादि। नन्विदमप्यश्रद्धेयं मांसत्वेन परिणतस्याप्यस्यापि शोणितस्य पार्थिवत्वदर्शनादित्येवं विवक्षूनपाचिकीर्षुर्हेत्वन्तरमाश्रयते—पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्चेति। पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वं तु द्रव्यस्य पञ्चीकृतत्वात् "भूमौ करकराशब्दो जले चुलुचुलुध्वनिः।" इत्यादि-वेदान्तवाक्यान्यनुसंधायाध्यवसितव्यम्। यद्वा पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वमिह द्रव्यस्य तत्तद्गुणपुरस्कारेण तत्तदिन्द्रियग्रहणविषयत्वम्। तथा च लोकेऽनुभवः—दीर्घा शष्कुली मया श्रुता, दृष्टा, स्पृष्टा, आघ्राता, आस्वादिता चेति। नन्वेवं पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वं पञ्चीकृतत्वादेव वेदान्तवाक्येनाङ्गीक्रियते, वस्तुतस्तु वाग्वस्तुमात्रत्वे नैतत्पर्यवस्यत्यनुभवेनाविषयीकरणात्, गुणपुरस्कारेण पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वे च गुणानामेव प्राधान्यं स्यात् ; किंच कणादानां सत्ता-गुणत्वयोः पञ्चेन्द्रियग्राह्यत्वात्

प्राधान्यं स्यादित्यर्थान्तरम्, किंच 'गुणा एव इन्द्रियग्राह्या न गुणवन्ति द्रव्याणि' इति येषां दर्शनं तेषां स्वरूपासिद्धो हेतुरर्थान्तरं चेत्यत आह—आश्रयत्वाच्चेति। आश्रयत्वात् समवायसंबन्धेन रसादीनामधिष्ठानत्वात्। नन्वाश्रयत्वस्य प्राधान्यं प्रत्यकिंचित्करत्वमित्युत्पश्यामो युक्त्यभावात्, नियमेन हि रसादीनामेव कार्यकरत्वमध्यवस्यन्ति कुशलाः; न हि भिषजः सहस्रमपि संभूय प्रनष्टरसादिकेन केनचिद् द्रव्येण किंचन व्याधिं प्रतिकर्तुमीशते, अत एव गुणप्रकर्षमात्रमभिसमीक्ष्य नवं पुराणं वा द्रव्यं ग्राहयितुमिदमुक्तं च—"विगन्धेनापरामृष्टमव्यापन्नं रसादिभिः। नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेव विनिर्दिशेत्॥" (सु. सू. अ. ३६) इति; यद्यत्र द्रव्यं परमार्थतः प्रधानमभविष्यत् तर्हि द्रव्यविवेकमप्यकरिष्यदित्येवं विप्रतिपन्नानपनुदति–आरम्भसामर्थ्याच्चेति। आरम्भसामर्थ्यात् आहरणादिकर्मार्हत्वादित्यर्थः। अस्त्वारम्भसामर्थ्यं द्रव्यस्य, किं त्वत्र "मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः।" (सु. सू. अ. ४२) इत्याद्यनुशासनाद् रसादीनां कर्तृत्वमध्यवस्य तेषामेव प्राधान्यं पश्यामो नत्वेव द्रव्यस्येति चेन्नेत्याह—शास्त्रप्रामाण्याच्चेति। अन्वयोऽत्र प्राग्वदेव। उक्तमर्थमवगमयति—शास्त्र इत्यादिना। हिरेको हेतौ, अपरश्चावधारणार्थः। यस्माद्योगानां मिश्रकाद्युक्तानां भेषजानामुपदेशे यथा "मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च" (सु. सू. अ. ३७) इत्येवंक्रमेण द्रव्यमुपदिश्यत इति शेषः, न तथा रसादय उपदिश्यन्ते; तस्मात् शास्त्रे द्रव्यमेव प्रधानमिति योजना। नन्वनया युक्त्या द्रव्यस्य प्राधान्यं चेदिष्टं तर्हि रसस्यापि प्राधान्यमनिवार्यं स्यात् "लवणानि मनःशिला।" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादिना लवणरसद्रव्योपदेशेन परमार्थतो लवणरसस्याप्युपदेशात्, न हि विनष्टरसानि तानि लवीयसामपि व्याधीनामुपशमार्थं कस्मिंश्चिदपि योग उपदिश्यन्त इत्याह—क्रमापेक्षितत्वाच्चेति। नन्विदमप्यनुपपन्नं, परस्परापेक्षिणामेषां द्रव्य-रसादीनां क्रमापेक्षितत्वानुपपत्तेः; वक्ष्यति च—"जन्म तु द्रव्य-रसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्॥" (सु. सू. अ. ४०) इत्येवं प्रत्यवस्थामपास्यन्नाह–एकदेशसाध्यत्वाच्चेति। रसादीनां तु निरवयवत्वादेकदेशसाध्यत्वं नोपपद्यते, तस्माद् द्रव्यमेव प्रधानमित्ययमभिसन्धिः। स्यादेतत्, किं नाम तद् द्रव्यम्? इत्यपेक्षायां विनिगमनाविरहाद् द्रव्यलक्षणत्रितयमेवोपदिशति—द्रव्येत्यादिना। अत्र हि त्रयाणामेव लक्षणानां लक्षणत्वमेकविधं भवतीति "द्रव्यलक्षणम्" इत्येकवचनं नानुपपन्नम्; तथा च—क्रियावत्, गुणवत्, समवायिकारणं च द्रव्यमित्यर्थः। क्रियावत्त्वमत्र कर्मवद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्। एवमेव गुणवत्त्वं समवायिकारणं च व्याख्येयम्; तेन गगनादौ, घटादावुत्पत्तिकाले, उत्पन्ने च यथाक्रमं क्रिया-गुण-समवायिकारणत्वाभावेऽपि नाव्याप्तिः। नन्विह किंचिन्नैवं भेषजमस्ति यद्रसेन विनाकृतं भवति, तथा च द्रव्याद्विना रसस्याभावाद् द्रव्यं चेत् श्रेष्ठं स्यात् तर्हि रसाद्विनाऽपि द्रव्यस्या-

भावाद्रसस्यापि श्रेष्ठत्वं प्रसज्येत, इत्याशङ्क्य परिहरति—जन्मेति। देह-देहिनोर्यथा आश्रयाश्रयिभावेनान्योन्यापेक्षिकं जन्म, तथैव द्रव्य-रसयोरित्यर्थः। एतेनाश्रयत्वाद् द्रव्यस्य प्राधान्यमिति सूचितं भवति। रसाश्रयत्वेन द्रव्यस्य प्राधान्यं निरूप्य 'पाको नास्ति विना वीर्यात्' इत्यादिना वीर्य-रसाधीनत्वेनोपदिष्टयोर्विपाक-वीर्ययोरपि परमार्थतो द्रव्यमेवाश्रय इति कृत्वा द्रव्यस्य प्राधान्यं निरूपयति—वीर्येत्यादिना श्लोकद्वयेन। द्रव्ये आहारौषधात्मके शालि-षष्ठिक-नागरादौ सम्यगुपयुक्ते सति, द्रव्याणि क्षित्यादीनि विपच्यन्ते रसरूपेण परिणम्य स्वयमेव विशिष्टं पाकमापद्यन्त इत्यर्थः। विपाको हि नाम सम्यक्परिणत-रसपरिणाम-विशेष इत्यवोचाम। हि शब्दो विशेषणार्थः। रसादयस्तु द्रव्यवत् स्वयमेव न विपच्यन्त इत्यर्थः। कुतः? आह—शेषा भावास्तदाश्रया इति। शेषा द्रव्यातिरिक्ता रसादय इत्यर्थः। अतो द्रव्यं श्रेष्ठं ज्ञेयमिति समन्वयः (हा.)॥

कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्य इनमें द्रव्य प्रधान है। क्योंकि (१) द्रव्य व्यवस्थित (स्थिर, अपरिवर्तनशील) है। अपने गुणोंके बदलनेपर भी जो उसी रूपमें रहे, उसे 'व्यवस्थित' कहते हैं। द्रव्य व्यवस्थित होनेसे प्रधान है। क्योंकि द्रव्य-गुण-रस आदिमें द्रव्य ही स्थिर रहता है, रसादि नहीं। जैसे—एक ही आम्रफल प्रारम्भमें कषायाम्ल, मध्यमें अम्ल और अन्तमें मधुर होता है। इस प्रकार रसोंके बदलनेपर भी आम्ररूप द्रव्य आम्र ही रहता है, बदलता नहीं। इस प्रकार द्रव्य व्यवस्थित और रसादि अव्यवस्थित होनेसे रसादिकी अपेक्षया द्रव्य प्रधान है। (२) नित्य होनेसे द्रव्य प्रधान है। नित्य उसको कहते हैं, जिसमें कालपरिणामसे अन्यथाभावको प्राप्त होनेपर भी 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती हो। जैसे—काल, जल, वातादिके प्रभावसे द्रव्य संपन्न रस-गन्ध वा व्यापन्न रस-गन्धवाला होनेपर भी वही रहता है। इस प्रकार रस-गन्धादि गुणोंका परिवर्तन होनेपर भी रहनेसे (नित्य होनेसे) द्रव्य प्रधान है। (३) द्रव्य अपनी पार्थिवादि विशिष्ट जातिमें ही रहता है। जो द्रव्य पार्थिव है, वह पार्थिव ही रहता है ; जो आप्य है, वह आप्य ही रहता है ; अपनी जातिको छोड़कर अन्य जातिमें परिवर्तित नहीं होता। रस दूधमें मधुरताको छोड़कर अम्लताको भी प्राप्त होता है। परन्तु द्रव्य अपनी पार्थिवादि जातिको नहीं छोड़ता, इसलिये द्रव्य रसादिसे प्रधान है। (४) पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेसे भी द्रव्य प्रधान है। द्रव्योंका ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है, परन्तु रसादिका ग्रहण एक-एक इन्द्रिय द्वारा होता है, पाँचों इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। (५) रसादिका आश्रयभूत होनेसे द्रव्य प्रधान है। रसादि द्रव्यके आश्रित होनेसे परतन्त्र हैं, और परतन्त्र होनेसे अप्रधान हैं। (६) आहरण, कूटना आदि विविध प्रकारके कर्म द्रव्योंपर ही हो सकते हैं, इसलिए द्रव्य

प्रधान है। जैसे—'विदारिगन्धादिगणके द्रव्योंको लाकर कूटे, फिर जलमें पकावे' इत्यादि सब क्रियाओंका आरम्भ द्रव्योंमें ही हो सकता है, रसादिमें नहीं हो सकता। (७) शास्त्रके प्रमाणोंसे भी द्रव्य प्रधान है। जैसे—वातशोथविम्लापन प्रयोगका वर्णन करते समय बिजौरा, अरणी आदि द्रव्योंका ही उपदेश किया गया है। (८) द्रव्यके क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकोंकी क्रमापेक्षा (स्थित्यन्तर) होनेसे द्रव्य ही प्रधान है। क्योंकि रसादि द्रव्यकी स्थिति बदलनेसे बदलते रहते हैं। जैसे—तरुण पदार्थमें रसादि अपूर्ण (अप्रशस्त) होते हैं और परीरक पदार्थमें पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं। (९) द्रव्योंके एक-एक अङ्गका उपयोग करके व्याधियोंकी चिकित्सा होती है। जैसे थूहरके दूधसे कई रोगोंकी चिकित्सा होती है, परन्तु रसादि निरवयव होनेसे उनके एकदेशसे चिकित्सा नहीं होती। इसलिए द्रव्य ही प्रधान है। जिसमें कर्म और गुण रहते हैं और जो समवायिकारण है उनको द्रव्य कहते हैं। (सु.)। नागार्जुनने द्रव्यका लक्षण इस प्रकार लिखा है—जो गुण, रस, विपाक, वीर्य और कर्मका आश्रयभूत होता है, उसको द्रव्य कहते हैं (र. वै. सू. अ. १. सू. १६१)। वीर्यके विना विपाक नहीं, रसके विना वीर्य नहीं और आश्रयभूत द्रव्यके विना रस नहीं, इसलिए द्रव्य सबसे श्रेष्ठ है। जैसे शरीर और शरीरी (आत्मा) का आश्रयाश्रयिभाव होनेसे उनका जन्म एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है, वैसे ही द्रव्य और रसका आश्रयाश्रयिभाव संबन्ध होनेसे दोनोंका जन्म अन्योन्यापेक्षी (एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला) है। वीर्यसंज्ञक शीतादि जो आठ गुण हैं, वे भी द्रव्यमें ही आश्रित होते हैं, रसोंमें आश्रित नहीं हो सकते; क्योंकि गुण स्वयं निर्गुण होते हैं (रस स्वयं गुण होनेसे उसमें शीतोष्णादि गुण नहीं हो सकते)। आहारौषधात्मक द्रव्योंमें आहारगत पृथिव्यादि द्रव्योंका पाक होता है, रसोंका नहीं। द्रव्यके अतिरिक्त अन्य रस-वीर्यादि द्रव्यमें ही आश्रित होकर रहते हैं, इसलिये द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है।

वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं स्वाभावादूर्ध्वमार्गगम्। वमनीयं भवेत्तद्धि करहाटफलादिकम् ॥ अधोगामि च यद्द्रव्यं तद्भूजलगुणाधिकम्। विरेचनं भवेद्दन्ती-कर्णिकारफलादिकम् ॥ संग्राहकं भवेद्द्रव्यं प्रभञ्जनगुणाधिकम्। बृंहणं च जलाधिक्यादाकाशात् स हि संमतम् ॥ अग्न्याधिक्याद्दीपनं च, किंचिद्वारिगुणैर्युतम्। बह्वुर्वीसत्त्वसहितं द्रव्यं बलकरं मतम् ॥ एतेषां लक्षणं चाथ संक्षेपेणावलिख्यते। पक्त्वाऽऽमं पावकं कुर्यात् तत्तु दीपनमुच्यते। कुर्यान्न वह्निमामं यत् पचेत्तत् पाचनं मतम् ॥ अथ जिज्ञासा—पाचनदीपनयोः को भेदः ? तत्रोच्यते—आग्नेयगुणभूयिष्ठमामादींस्तद्विपाचयेत्। तदुक्तं पाचनं द्रव्यं, यथा स्यात् कासमर्दकः ॥ कासमर्दः कथं नाम पाचनो नास्ति दीपनः। वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं द्रव्यं पाचनमुच्यते ॥ औष्ण्यात्

कटुविपाकित्वात् पाचनोऽयमुदाहृतः। माधुर्याच्छीतभावाच्च न पुनर्दीपनो मतः॥ कृष्णात्रेयात्—"यदग्निकृत् पचेन्नामं दीपनं तद्यथा घृतम्। पाचनं विपरीतं स्याद्यथा वक्ष्यामि लङ्घनम्॥" इति। लङ्घनपाचने सत्यपि (किञ्चित्) न दीपनम्। तद्यथा—"संशोधनास्त्रविस्त्राव-स्नेहयोजन-लङ्घनैः। यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत्॥ स्रोतसां कफदुष्टानां निर्मलीकरणं परम्। पाचनं तत् समाख्यातं धातोः पाचनमिष्यते॥ जिज्ञासा वर्तते चात्र पाचने वदतांवर। दोषान् पचति आमं वा सप्तधातूनथापि वा॥ दोषपाकाद्धातुपाकान्मरणं दृश्यते तदा। इति सर्वत्र कथितः पाचनो दोषपाचनः॥" अस्योत्तरम्—स्वहेतूपचितान् दोषान् सामान् रसपथानुगान्। रसमामं पाचयित्वा कुर्याद्दोषं पृथक् ततः॥ स एव पाचनो ज्ञेयो न च दोषान् विपाचयेत्॥ अत्राह—दोषस्य पाको दृश्येत ऊर्ध्वाधोगमनं तथा। अतिप्रवृद्धवातस्य पित्तस्य श्लेष्मणस्तथा॥ पाचनीयेन द्रव्येण दृश्यते पाचनं तथा। वमनीयेन द्रव्येण दृश्यते वमनाद्यपि॥ अत्रोच्यते—स्वयोनिवर्धनद्रव्यैः सुरा-तक्र-जलासवैः। घृतादिभिः प्रवृद्धास्ते प्रकृत्या वृद्धिमाप्नुयुः॥ यथा क्षीरे जलं क्षिप्तं क्षीरवद् दृश्यते बहु। सुस्वादुगुणनिर्मुक्तं भस्माग्नितपनात् पुनः॥ जले दग्धे भवेत् क्षीरं तत् स्वादु स्वगुणैर्युतम्। तथाऽत्र धातुसंश्लिष्टाः सामाः स्वहेतुदूषिताः॥ लङ्घनात् पाचनोल्लेखात् स्वप्रमाणं भजन्त्यपि। पच्यन्ते नैव दोषास्तु पचन्त्याम-रसादयः॥ कुर्यान्न वह्निमामं यत् पचेत्तत् पाचनं मतम्॥ न शोधयति यद्दोषान् समान्नो दूषयत्यपि। शमनं तद्विजानीयात्, को भेदः स्वस्थरक्षणात्॥ अत्राहात्रिः—"क्षयस्थाने विशुध्यर्थं दोषाणां यत् प्रयुज्यते। विना संशोधनद्रव्यैस्तत् संशमनमुच्यते॥"। तच्चानुलोमनं द्रव्यं यद्वातमनुलोमयेत्। यद्बन्धभेदनं कृत्वा मलान् पक्वान्नयत्यधः। स्रंसनं तद्विजानीयाद्, भेदनं प्रोच्यते ह्यतः॥ अधो नयति यद्बद्धमबद्धं भेदनं मतम्। मलं पक्वमपक्वं यद्विद्राव्य पातयत्यधः॥ श्लेष्मपित्ताद्यपक्वं यदूर्ध्वं नयति वामनम्। दोषानुन्मूलयति यत् श्लिष्टांस्तच्छेदनं बलात्। उष्णत्वादीपनं यच्च पाचनं ग्राहि तद्भवेत्। लघुपाकात् कषायत्वाद्भवेद्यत् स्तम्भनं हि तत्। रसायनं तदुद्देश्यं जराव्याधिविनाशि यत्॥ द्रव्येण येन हर्षः स्यात् स्त्रीषु वाजीकरं हि तत्। यस्माच्छुक्रस्य वृद्धिः स्याच्छुक्रलं हि तदुच्यते। यथाऽश्वगन्धा मुशली शर्करा च शतावरी। प्रवर्तकानि कथ्यन्ते जनकानि च रेतसः॥ शुक्रप्रवर्तनी योषा, क्षुद्रा शुक्रस्य रेचनी। तत्स्तम्भकृज्जातिफलं, कालिङ्गं तत्क्षयप्रदम्॥ तनुच्छिद्रेषु सूक्ष्मेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते। तद् व्यवायि तनुं व्याप्य पूर्वं यत् पाकतां व्रजेत्॥ विकाशि तद्यत् करोति बन्धान् संधिस्थितान्श्लथान्। हस्तपादाञ्छिथिलयेद् भवेच्छ्लेष्मि च तन्मतम्॥ यद् बुद्धिनाशने दक्षं मदकारि तदुच्यते। वीर्येण दोषान् स्रोतःस्थान् निरस्यति प्रमाथि तत्॥ रुणद्धि गौरवाद् द्रव्यं स्रैग्ध्याद्रस-वहाः सिराः। कलेवरे गुरुत्वं च धत्तेऽभिष्यन्दि तन्मतम्॥ उदाहरणमेतेषां क्रमाद्

द्रव्येण वक्ष्यते। दीपनश्चित्रको ज्ञेयः, पाचनं नागकेसरम् ॥ गुडूची शमनी ज्ञेया हरीतक्यनुलोमिनी । स्रंसनं कृतमालः स्याद्, भेदिनी कटुरोहिणी ॥ रेचनी त्रिवृता ज्ञेया, मदकारि सुरादिकम् । योगवाहि विषं ज्ञेयं, प्रमाथि मरिचं स्मृतम् ॥ दध्य-भिष्यन्दि विज्ञेयं सिराणां सन्निरोधनात् (टोडरानन्द-तृतीयहर्ष) ॥

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे द्रव्यविज्ञानीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गुणविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः

पूर्वाध्याये द्रव्यं स्वरूपतो भेदतश्च व्याख्यातम् । अग्रे रस-विपाक-वीर्याख्यभि-धेयानि । तत्र रस-वीर्य-विपाकानां गुणरूपत्वात्तद्व्याख्यानतः पूर्वं गुणा एव लक्षणतो भेदतश्च निरूपणीया भवन्ति । अतस्तन्निरूपणार्थं गुणविज्ञानीय आरभ्यते—

अथातो गुणविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयधन्व-न्तरिप्रभृतयः ॥

पहले अध्यायमें द्रव्यका स्वरूप और उसके भेद विस्तारसे कहे गये हैं । आगे रस, विपाक और वीर्यका निरूपण करना है । रस, विपाक और वीर्य ये भी गुण-विशेष ही हैं । अतः उनका व्याख्यान करनेके पहले आयुर्वेदोक्त समग्र गुणोंका निरूपण करना आवश्यक है । इसलिए आत्रेय, धन्वन्तरि आदि आचार्योंके मतानु-सार गुणविज्ञानीय अध्यायका आरम्भ किया जाता है । द्रव्यगुणविज्ञानमें रस, विपाक, वीर्य ये गुणरूप होनेपर भी विशेष ज्ञातव्य विषय हैं, और उनके विषयमें बहुत कहनेका है, अतः उनका निरूपण एक-एक स्वतन्त्र अध्यायमें ही किया जायगा । इस अध्यायमें शेष गुणोंमेंसे जो आयुर्वेदमें विशेष ज्ञातव्य हैं उनका विस्तारसे और अन्योंका संक्षेपसे निरूपण किया जायगा ।

गुणलक्षणम्—

समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ (च० सू० अ० १) ।

समवायीति समवायाधेयः (च. द.) । गुणाः समवायी द्रव्यसमवायी । द्रव्यसमवायवान् गुणः कारणं भवति । समवायिकारणं द्रव्यमपीत्यत आह— निश्चेष्टस्त्विवति । तुकारो द्रव्याद् व्यवच्छिनत्ति । नास्ति चेष्टा यस्य स निश्चेष्टः निष्क्रियः । निर्गुणश्चापि "गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६) इति । द्रव्यं गुण-कर्माश्रयः, गुणस्तु गुण-कर्मानाश्रय इति द्रव्यतो भेदः (यो.) । ×××

प्रमादिनस्तु वैशेषिके कणादोक्तगुणलक्षणं "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्व-कारणमन्यापेक्षो गुणः।" इति गुणलक्षणं दृष्ट्वा गुण-कर्मणी असमवायिकारणे भवत इत्याहुः, तेषामयं हि प्रमादः। सूत्रकृत्कणादेन समवायिकारणमिति पूर्वस्मादनुवर्त्य असमवायिकारणपदं 'द्रव्याश्रयी' इत्यादिसूत्रं कृतम्। तेन 'द्रव्या-श्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यापेक्षः कारणं गुणः' इति गुणलक्षणं पर्यव-सितम्। यदि हि गुणो गुणान्तरस्य समवायिकारणं न भवति कथं तर्हि "गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते" (१।१।१०) इति वचनं तत्रैव कणादेनोक्तं संगच्छते। गुणा द्रव्याश्रिता रूप-रसादयः खल्वन्यापेक्षाः स्वाश्रयद्रव्यनिष्ठक्रियया परिणमन्तः क्वचित् साधारणभूताः पृथक्त्वगुणं समवायेनापद्यमानाः पृथग्भूय तेजोऽम्बु-भूमिषु लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपेण मधुराम्लादिरूपेण गुणान्तरहीनाः सन्तो द्रव्याश्रयिणः सन्तश्च सम-वयन्ति कार्ये, इति समवायिन एव कारणानि गुणाः। न च ते स्वाश्रयद्रव्याणां संयोग-विभागेषु कारणानीति लक्षणसमन्वयः (ग.)॥

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकरणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्॥
(वै. द. अ. १, आ. १ सू. १६)।

यो द्रव्यमाश्रयति, न गुणवान्, न चानपेक्षः सन् संयोग-विभागेषु कारणं भवति, सोऽयं गुणः। कश्च संयोग-विभागेष्वनपेक्षः कारणं? कर्मेत्याह। कर्म संयोग-विभागौ जनयन्न किञ्चिदपेक्षते, संयोग-विभागौ त्वपेक्षेते किञ्चिदिति। द्रव्यं नाम द्रव्यमाश्रयादपि गुणवदेव भवति न त्वगुणवत्। कर्म त्वित्थंभूतमपि कर्मैव। गुणस्तु द्रव्यमाश्रयति न गुणवान्नो खल्वपि कर्मेति (चन्द्रकान्तभाष्यम्)॥

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः॥

कारिकावली गुणग्रन्थ।

जो द्रव्यमें आधेय (आश्रित) रूपसे रहनेवाला (द्रव्याश्रयी)[1] हो, निष्क्रिय हो (जिसमें किसी प्रकारकी क्रिया—संयोग-विभाग रूप कर्म न होती हो), या चेष्टा (क्रिया) रूप जो कर्म उससे भिन्न हो, गुणरहित हो, जिसमें अन्य गुण-गुणान्तर न रहता हो, और स्वसमान गुणकी उत्पत्तिमें कारणभूत हो, उसको गुण कहते हैं। तात्पर्य कि—जो द्रव्यमें आश्रय करके रहा हुआ (द्रव्याश्रयी) हो,

---

१—द्रव्य और गुणका जो परस्पर संबन्ध है उसको **समवाय संबन्ध कहते हैं**— "समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।" (च. सू. अ. १)—पृथिव्यादिका गुणोंके साथ जो अपृथग्भाव (नित्य साथ रहना) है उसको **समवाय-संबन्ध** कहते हैं। गुण द्रव्यमें समवाय-संबन्धसे रहता है (समवायाधेयः) (च. द.)। द्रव्य और गुणके समवायमें द्रव्य आधाररूपसे और गुण आधेय (आश्रित) रूपसे रहता है।

गुणरहित[1] हो, जो कर्मरहित या कर्मसे भिन्न[2] हो और जो स्वसमान गुणान्तरकी उत्पत्तिमें कारण[3] हो उसे गुण कहते हैं।

भदन्तनागार्जुनविरचित रसवैशेषिकसूत्रमें गुणका लक्षण एक और ही प्रकारका कहा गया है। जैसे—

विश्वलक्षणा गुणाः (र. वै. अ. १, सू. १६८)॥

विश्वं विकीर्णं भिन्नं लक्षणं येषां ते विश्वलक्षणा गुणाः। इदमत्रोक्तं भवति—शेषाणां पञ्चानां (द्रव्य-रस-वीर्य-विपाक-कर्मणां) पदार्थानामेकलक्षणावरोधो विद्यते। यथा—शब्दादीनामाश्रयत्वं सर्वद्रव्यभेदानां तुल्यम्, आस्वादग्राह्यावरोधश्च रसभेदानां, कर्मलक्षणावरोधत्वं वीर्याणां, विपाकयोश्च परिणामलक्षणावरोधस्तुल्यः; गुणानामेवमेकलक्षणावरोधो नास्ति। यथा—शीतोष्णादयः स्पर्शनेन्द्रियस्य ग्राह्याः, स्निग्ध-रूक्षौ चक्षुर्ग्राह्यौ स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यौ वा, एवं सर्वे एकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति गुणाः। यस्मादेवमेकलक्षणावरोधं न गच्छन्ति तस्मादेवैतेषामतुल्यं विकीर्णलक्षणत्वमेव लक्षणमिति। चतुर्षु वासस्सु स्थितेषु त्रीणि चिह्नितान्येकमचिह्नितं, तदेव तस्याचिह्नितत्वं तेषु चिह्नं भवति, तद्वदिहापीति; लक्षणलक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वाल्लक्षणप्रसिद्धिरिति (भा.)॥

जिनका लक्षण विश्व (विकीर्ण-भिन्न) हो, वे गुण हैं। गुणको छोड़कर अन्य पदार्थ—द्रव्य, रस, वीर्य, विपाक और कर्म इन प्रत्येकका एक-एक लक्षणमें अवरोध होता है। जैसे—शब्दादिकोंका जो आश्रय वह द्रव्य, रसनेन्द्रियसे जिसका ग्रहण हो वह रस, कर्मलक्षण वीर्य, परिणामलक्षण विपाक; इन लक्षणोंमें जैसे समस्त द्रव्यभेद, रसभेद, वीर्यभेद और विपाकभेदोंका अवरोध होता है, ऐसा गुणका कोई एक लक्षण नहीं है जिसमें सब गुणोंका अन्तर्भाव होता हो। क्योंकि शीतोष्णादि स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं, स्निग्ध और रूक्ष चक्षुर्ग्राह्य या स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य हैं; इस प्रकार

१—क्योंकि गुण द्रव्योंमें रहते हैं, गुणोंमें गुण नहीं रहते।

२—क्योंकि कर्म भी द्रव्यको आश्रय करके ही रहते हैं, गुणोंमें नहीं रहते (क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। वै. द. अ. १, आ. १, सू. १५)।

३—द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्चगुणान्तरम् (वै. द. अ. १, आ. १, सू. १०)। अन्यद् द्रव्यं द्रव्यान्तरम्। येनारभ्यते यच्चारभ्यते तदुभयमपि द्रव्यमिति सजातीयमारभन्ते द्रव्याणि। पृथिवी पृथिवीजातीयमापोऽब्जातीयमिति, एतेन गुणा व्याख्याताः। × × ×। अथापि खलु नायं नियमो द्रव्येण सता सजातीयं द्रव्यमारब्धव्यमिति। किन्तु द्रव्यं द्रव्यमारभमाणं सजातीयमारभते न विजातीयमिति। एतेन गुणस्य गुणारम्भकत्वं व्याख्यातम् (चं. कां. भा.)। क. गङ्गाधरजी गुणको समवायिकारण मानते हैं। वैशेषिकवाले गुणको सयवायिकारण नहीं मानते॥

सब गुणोंका एक ऐसा लक्षण नहीं बन सकता, जिसमें सब गुणोंका अवरोध-अन्तर्भाव होता हो। अतः वे विस्वलक्षण —भिन्नलक्षणवाले हैं, और वही उनका लक्षण है।

गुणसंख्या—

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः (च. सू. अ. १।)

संप्रति गुणान्निर्देष्टुमाह—सार्था इत्यादि। अनेन त्रिविधा अपि वैशेषिकाः, सामान्याः, आत्मगुणाश्चोद्दिष्टाः। तत्रार्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। यदुक्तम्—"अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।" (च. शा. अ. १) इति। एते च वैशेषिकाः; यत आकाशस्यैव शब्दः प्राधान्येन, वायोरेव स्पर्शः प्राधान्येन, एवमग्न्यादिषु रूपादयः। अन्यगुणानां चान्यत्र दर्शनं भूतान्तरानुप्रवेशात्। वचनं हि—"विष्टं ह्यपरं परेण" (न्या. द. अ. ३, आ. १, सू. ६६) इति। गुर्वादयस्तु गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-स्थूल-सूक्ष्म-सान्द्र-द्रवा विंशतिः। एते च सामान्यगुणाः, पृथिव्यादीनां साधारणत्वात्। एते यज्जःपुरुषीये प्राय आयुर्वेदोपयुक्तत्वात् परादिभ्यः पृथक् पठिताः। बुद्धिः ज्ञानम्; अनेन च स्मृति-चेतना-धृत्यहङ्कारादीनां बुद्धिविशेषाणां ग्रहणम्। प्रयत्नोऽन्ते येषां निर्देशे ते प्रयत्नान्ताः; एतेन चेच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्नानां ग्रहणम्। वचनं हि—"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥" (च. शा. अ. १) इति (एते चात्मगुणाः)। इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणं, शारीरे तु चेतनादीनामपि पृथगात्मगमकत्वेन पृथक् पाठः। एतच्च तत्रैव व्याकरणीयम्। परादयो यथा—"परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च। विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥ संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणाः प्रोक्ताः परादयः।" (च. सू. अ. २६) इति। एते च सामान्यगुणा अपि नात्युपयुक्तत्वात्तथा बुद्धिप्राधान्याच्चान्ते प्रोक्ताः। प्रोक्ता इति प्रकर्षेण विशेषगुणत्वादिनोक्ताः (च. द.)। गुणानाह—सार्था इत्यादि। अर्थैः सह वर्तमानाः सार्थाः। ×××। अर्था इन्द्रियाणामर्थाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। ××× मनसश्च अर्थः चिन्त्यादिः। तथा च—"चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥" (च. शा. अ. १) इति। मनसः अर्थोऽपि इह गुणः। अस्य गुणत्ववचनं पुनरिन्द्रियोपक्रमणीयेऽपि; तथा च—"मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्य-गुणसंग्रहः॥" (च. सू. अ. ८) इति। ×××। कणादेनाप्युक्तं—"रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छा-द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः॥" (वै. द. १।१।६) इति (यो.)।

गुर्वादय इति एते आविष्कृततमा एव यज्ञःपुरुषीये उक्ताः, तेन गुणानामसंख्येयत्वादन्येऽपि ज्ञेयाः । अत एव प्रमेहे श्लेष्मगुणेषु अच्छत्वादयो गुणाः पठ्यन्ते । एते च द्रव्याश्रिता वैद्यनये गुणत्वेन परिभाष्यन्ते (शिवदाससेनः) ॥

अर्थ—(श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध), सूत्रस्थानके यज्ञःपुरुषीय (२५ वें) अध्यायमें कहे हुए गुरु आदि बीस गुण (गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव), बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, सयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ; ये ४१ गुण हैं ।

वक्तव्य—इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच वैशेषिक गुण कहलाते हैं ; क्योंकि शब्दादि क्रमसे आकाशादि पाँच भूतोंके एक-एक विशेष गुण हैं ; एकके गुण जो दूसरे भूतमें देखे जाते हैं वे भूतान्तरके अनुप्रवेशसे होते हैं । गुर्वादि द्रवान्त २० सामान्य गुण[1] कहलाते हैं, क्योंकि ये पृथिव्यादि पाँचों महाभूतोंमें सामान्यतया रहते हैं । 'बुद्धि' शब्दसे स्मृति, चेतना, धृति, अहंकार आदि बुद्धिविशेषोंका भी ग्रहण होता है । बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये छः आत्मगुण कहलाते हैं । परत्वादि दस भी सामान्य गुण हैं, परन्तु गुर्वादिकी अपेक्षया आयुर्वेदमें कम उपयुक्त होनेसे वे अन्तमें कहे गये हैं (च. द.) । कविराज योगीन्द्रनाथसेनजी ने पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषयोंके साथ छठे मनके अर्थ चिन्त्य-विचार्य आदिका भी अर्थोंमें ग्रहण किया है, क्योंकि "मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्य-गुणसंग्रहः" (च. सू. अ. ८) इस सूत्र में मनके अर्थोंका भी अध्यात्मगुणोंमें उल्लेख है । इस प्रकार 'मनोऽर्थ' को लेकर योगीन्द्रनाथसेनजीके मतमें गुणोंकी संख्या ४२ होती है ।

नागार्जुनमतेन दश कर्मण्या गुणाः—

शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छिल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णा गुणाः कर्मण्याः (र. वै. अ. ३. सू. १११) ॥

रसपदार्थः सर्वथा परीक्षितः । इदानीं गुणपदार्थः परीक्ष्यते । एते शीतादयो गुणाः कर्मण्या इति कर्मणि चिकित्सायां पृथक् पृथक् शास्त्रे योग्या इत्युद्दिष्टाः ।

१—कविराज गङ्गाधरजी ने गुर्वादि द्रवान्त बीस गुणोंको शारीरगुण कहा है । क्योंकि इन गुणोंका शरीर और शरीरपर प्रयुक्त होनेवाले द्रव्योंसे ही विशेष संबन्ध है "गुर्वादयः इति गुरु × × × द्रवा इति विंशतिः शारीरगुणाः स्वयं वक्ष्यन्ते" इति (ग.) ।

रसादयोऽपि गुणा इति तांत्रिकस्य गुणाभिधानस्य ज्ञापनार्थं 'कर्मण्या गुणाः' इति वचनम् (भाष्यम्) ॥

भदन्तनागार्जुनने रसवैशेषिकसूत्र में शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण इन दस गुणोंको कर्मण्य (चिकित्साकर्ममें विशेष योग्यता रखनेवाले —उपयोगी) गुण बताया है ।

चरक-सुश्रुत आदिमें अष्टविधवीर्यवादीके मतमें नागार्जुनोक्त कर्मण्य गुणोंको वीर्य माना है । परन्तु नागार्जुनने वीर्यशब्दसे छर्दनीय, अनुलोमनीय आदि भिन्न ही वीर्य बताये हैं । अतः परसामर्थ्यसंपन्न शीतादिको नागार्जुनने कर्मण्य गुण माना है ।

अर्थनिरूपणम्—

अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ (च. शा. अ. १)

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी —इन पञ्चभूतोंके गुणतया कहे हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण-इन पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं ; इनको गोचर और अर्थ भी कहते हैं। इनमें रसको छोड़कर शेष चार अर्थोंका विशेष विचार शारीरक्रियाविज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है, द्रव्यगुणविज्ञानका प्रधान विषय नहीं है, अतः उनका यहाँ विशेष विचार नहीं किया जाता । इन पाँच विषयोंके अन्तर्गत रसका आगे रसविज्ञानीय नामके तृतीय अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया जायगा ।

गुर्वादिविंशतिगुणनिरूपणम् —

तस्य (द्रव्यस्य) गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः ॥
(च. सू. अ. २६) ।

स (आहारः) विंशतिगुणः-गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-द्रवानुगमात् (च. सू. अ. २५) ॥

गुरु-लघ्वादयो युग्माः परस्परविरोधिनो ज्ञेयाः । अनुगमादिति अनुगतत्वात् (च. द.) । सुश्रुतस्तु व्यवायीति विकासीति च गुणद्वयं पृथक् पठति । × × × । अनयोः सर-तीक्ष्णप्रकर्षात्मकतया इह सर-तीक्ष्णयोरवरोधः (यो.) ॥

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥
इन्द्रियार्था व्यवायी च विकाषी चापरे गुणाः ।
व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥

विकाषी विकषन् धातून् संधिबन्धान् विमुञ्चति ।
सर-तीक्ष्णप्रकर्षौ तु कैश्चित् तौ परिकीर्तितौ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः ।
(अ. सं. सू. अ. १) ।

तदेव च द्रव्यमाश्रिता विंशतिर्गुणा गुर्वादयः सविपर्ययाः सविपरीताः । गुरुः, लघुः, मन्दः, तीक्ष्णः, हिमः, उष्णः, स्निग्धः, रूक्षः, श्लक्ष्णः, परुषः, सान्द्रः, द्रवः, मृदुः, कठिनः, स्थिरः, चलः, सूक्ष्मः, स्थूलः, विशदः, पिच्छिलः । खरादयस्त्वेतद्भेदा एव यथासंभवं व्याख्येयाः । एतेभ्योऽन्ये गुणा इन्द्रियार्थाः शब्दादयः, व्यवायी, विकाषी च । इन्द्रियार्थानां प्रसिद्धत्वात् लक्षणं नोच्यते । सर्वं देहं व्याप्य यत् पाकं याति स व्यवायी, विकाषी धातून् विकषन् हिंसन् संधिबन्धानुपलेपादिकान् विमुञ्चति नाशयति । कैश्चिदाचार्यैर्व्यवायी सरस्यैव प्रकर्ष इति परिकल्पितः, विकाषी तीक्ष्णप्रकर्षस्तथा । सत्त्वं, रजस्तमश्च तन्त्रे व्यवहारार्थं महागुणशब्देनोक्ताः (इन्दु) ॥

गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥
(अ. हृ. सू. अ. १)

द्रव्यस्य गुणानाह—तत्र द्रव्ये गुर्वादयो दश गुणाः सविपर्यया विंशतिर्ज्ञेयाः । एषां क्रमाद्विपरीता लघु-तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-खर-द्रव-कठिन-सर-स्थूल-पिच्छिलाः । गुरुः, तद्विपर्ययो लघुः । मन्दः, तद्विपर्ययस्तीक्ष्णः । हिमः, तद्विपर्यय उष्णः । स्निग्धः, तद्विपर्ययो रूक्षः । श्लक्ष्णः, तद्विपर्ययः खरः । सान्द्रः, तद्विपर्ययो द्रवः । मृदुः, तद्विपर्ययः कठिनः । स्थिरः, तद्विपर्ययः सरः । सूक्ष्मः, तद्विपर्ययः स्थूलः । विशदः, तद्विपर्ययः पिच्छिलः (अ. द.) । गुणभेदानाह—गुरु-मन्देत्यादि । ते च विंशतिः । तत्र गुर्वादयो दश, तद्विपर्ययाश्च लघु-तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-खर-द्रव-कठिन-चल-स्थूल-पिच्छिला दश । यस्य द्रव्यस्य बृंहणे कर्मणि शक्तिः स गुरुः, लङ्घने लघुः, शमने मन्दः, शोधने तीक्ष्णः, स्तम्भने हिमः, स्वेदने उष्णः, क्लेदने स्निग्धः, शोषणे रूक्षः, रोपणे श्लक्ष्णः, लेखने खरः, प्रसादने सान्द्रः, विलोडने द्रवः, श्लथने मृदुः, दृढने कठिनः, धारणे स्थिरः, प्रेरणे चलः, विवरणे सूक्ष्मः, संवरणे स्थूलः, क्षालने विशदः, लेपने पिच्छिल इति । ननु व्यवायि-विकाश्याशुकारि-प्रसन्न-सुगन्धादयः सविपर्ययाश्चान्येऽपि गुणा दृश्यन्ते । तद्यथा स्वयमेवाह—"तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-सूक्ष्माम्ल-व्यवाय्याशुकरं लघु । विकाशि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद्विपर्ययः ॥" (अ. हृ. नि. अ. ६) चरकः (सू. अ. २७)—"स्वादु[1] शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्ण-

१—'शीतं स्थिरं स्निग्धं' इति गङ्गाधरसंमतः पाठः ।

पिच्छिलम्। गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥ तदेवङ्गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत्॥"; सुश्रुतः (सु. अ. ४६)—"कषायं कफपित्तघ्नं किञ्चित्तिक्तं रुचिप्रदम्। हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते॥"; अयमेव (सू. अ. १)—"पित्तं सस्नेह-तीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्॥"; चरकः (सू. अ. २७) "शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते॥" इत्यादि। तत् कथं विंशतिर्गुणाः? इति। अत्रोच्यते—य एतेऽतिरिक्ता गुणा दर्शिताः, ते विंशतावेवान्तर्भूताः। तथाहि—व्यवायि-विकाश्याशुकारिणस्तावन्मद्ये पठ्यन्ते, प्रसन्नः क्षीरे, मद्यगुणविपरीता ओजसि, य एवौजसि त एव क्षीरे; ततश्च तद्गुणपरस्परविपर्ययपर्यालोचनया व्यवायी द्रवेऽन्तर्भूतः, विकाशी खरे, आशुकारी चले, प्रसन्नः स्थूले; ते हि पारिशेष्याद् बहल-श्लक्ष्ण-स्थिर-सूक्ष्माणां विपर्ययाः। स्वादु-शीत-मन्द-स्निग्ध-पिच्छिल-गुरूणां ह्यम्लोष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विशद-लघवो विपर्ययाः प्रसिद्धा एव। व्यवाय्यादिलक्षणं च द्रवादिष्वेव सम्भवति। यदाह सुश्रुतः (सू. अ. ४६) "व्यवायी देहमखिलं व्याप्य पाकाय कल्पते। विकाशी विकषन्[1] धातून् सन्धि-बन्धान् विमुञ्चति॥ आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्॥" इति। प्रसन्नत्वं स्फुटत्वं, तच्च स्थूल एव, तस्य स्फुटप्रत्यक्षत्वात्। सुगन्ध-दुर्गन्धौ तु मन्द-तीक्ष्णविशेषौ, इन्द्रियप्रसादनोद्वेजनद्वारा शमन-शोधनरूपत्वात्। यदाह सुश्रुतः (सू. अ. ४६)—"सुगन्धो[2] रोचनो मृदुः। दुर्गन्धो विपरीतोऽस्मात्" इति। शुचि-विमलौ तु विशदविशेषौ; अदृष्टानां[3] हि मलानां क्षालने शक्तिः शुचित्वं, दृष्टानां विमलत्वम्। शिवं परिणामे हितं, मृष्टं जिह्वाप्रियं; ते च गुणकार्ये; गुणशब्दस्तूपचारात्। यथा—"क्षुद्बोधनो बस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदः शोणितवर्धनश्च। ज्वरापहारी कफ-पित्तहन्ता वायुं जयेदष्टगुणो हि मण्डः॥" इत्यादौ। यत्तु व्यवायि-विकाशिनौ प्रस्तुत्योक्तं संग्रहे (सू. अ. १) "सर-तीक्ष्ण-प्रकर्षौ तु कैश्चित्तौ परिकल्पितौ" इति, तदेकीयमतत्वादनादरणीयम्। तदादरणे यत्तैले व्यवायि-बद्धविट्कयोरभिधानं तद्विरुद्धं स्यात्, यच्च मद्ये तीक्ष्ण-विकाशिनो-स्तत्पुनरुक्तं स्यात्। यत्तु पित्ते तीक्ष्ण-विस्रयोरभिधानं, तदिन्द्रियोद्वेजकत्वे सत्यपि घ्राणेन्द्रियस्योद्वेजनातिशयार्थम् × × × (हे.)॥

गुर्वादिविंशतिगुणकर्माणि—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।
कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः॥

१—'विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्' इति मुद्रितसुश्रुते पाठः।
२—'सुगन्धी' इति पा०। ३—'प्रदिग्धानां' इति पा०।

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छा-तृट्-स्वेद-दाहजित् ।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः ॥
स्नेह-मार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात् स्तम्भनः खरः ॥
पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः ।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषण-रोपणः ॥
दाह-पाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो, मृदुरन्यथा ।
सादोपलेप-बलकृद् गुरुस्तर्पण-बृंहणः ॥
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।
दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥
दशैवान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ।
द्रवः प्रक्लेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद्बन्धकारकः ॥
श्लक्ष्णः पिच्छलवज्ज्ञेयः, कर्कशो विशदो यथा ।
सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ॥
दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्धृल्लासारुचिकारकः ।
सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो, मन्दो यात्राकरः स्मृतः ॥
व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ।
विकासी विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत् ॥
आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत् ।
सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः ॥
गुणा विंशतिरित्येवं यथावत् परिकीर्तिताः ॥

(सु. सू. अ. ४६) ।

पूर्वं हि संपादितं "तदस्य शैत्येन निहन्ति पित्तं' (सु. सू. अ. ४६) इति, तत्र न ज्ञायन्ते के पुनस्ते शीतादय इति तान्निर्दिशन् लक्षणमाह—अत इत्यादि । अथ शीतगुणः कथं ज्ञायत इत्याह—ह्लादन इत्यादि । ह्लादनः सुखकारीत्यर्थः; तृट्-स्वेद-मूर्च्छा-दाहजिदित्यर्थः । पाचनो व्रणादीनाम् । स्नेहेत्यादि स्निग्धो गुणः स्नेहादिकारण इत्यर्थः । रूक्षो गुणस्तद्विपरीतः रौक्ष्य-काठिन्यकर इत्यर्थः । विशेषात् विशेषतः । स्तम्भनः अतीसारादीनाम् । खरः कर्कशः । पिच्छिलो गुणः जीवनः

प्राणधारणः। सन्धानो भग्नस्य। विशदो गुणः विपरीतोऽस्मादिति असन्धानोऽजीवनोऽश्लेपी च। क्लेदाचूषणः आर्द्रीभावविनाशकर इत्यर्थः। दाहेत्यादि। अन्यथेति अदाह-पाककरोऽस्रावण इत्यर्थः। सादेत्यादि सादः अङ्गग्लानिः, उपलेपः मलवृद्धिः, बलं श्लेष्मा। गुरुः गुणः तर्पणः तृप्तिजनकः, बृंहणः देहवृद्धिकरः। लघुरित्यादि। लघुस्तद्विपरीत इति असादानुपलेपादिकृत् कफहरश्चेत्यर्थः। लेखनः पतलीकरणः। दशाद्या इति दशसंख्योपेता आद्याः शीतादयो गुणाः, कर्मतः प्रोक्ताः कर्मभिः सह प्रोक्ता इत्यर्थः। तेषामिति तेषां मध्ये, कर्मविशेषणैः कृत्वा। द्रवो गुणः प्रक्लेदन आर्द्रभावकरः। सान्द्रो गुणः बन्धकारक उपचयकारक इत्यर्थः। 'द्रवः प्रक्लेदनो व्यापी शुष्कः स्याद्बन्धकारकः' इति केचित् पठन्ति। शुष्को गुणः बन्धकारकः, शुष्कस्य शोषणत्वेनावयवापृथक्त्वमित्यर्थः। श्लक्ष्ण इत्यादि। श्लक्ष्णो गुणः पिच्छिल-वर्ज्जेयः; जीवनः श्लेष्मसन्धानकृदित्यर्थः। कर्कशो गुणः विशदो यथेति अजीवनोऽश्लेषी च, तथाऽसन्धान-कार्श्यकृच्च। सुखानुबन्धी सुखोत्पादक इत्यर्थः। सूक्ष्मोऽवगाहकः। सुगन्धो गुणः हृल्लासारुचिकारक इति पुनररुचिग्रहणं द्विविधा रुचिप्रापणार्थं; तेनाहारं न काङ्क्षति, क्रियमाणाच्च विरसीभवति। हृल्लासः थूत्करणं, छर्दिरित्यन्ये। सरो गुणः अनुलोमनः वात-मलप्रवर्तनः। मन्दो गुणः यात्राकर इति शरीरस्थायित्वाद्देहस्य यात्रां वर्तनं करोति। व्यवायी गुणः अखिलमित्यादि अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति पश्चान्मद्यविषवत् पाकं याति; अन्ये 'भावाय कल्पते' इति पठन्ति, तत्रापि स्थितये कल्पते नोर्ध्वमधो वा प्रवर्तत इति स एवार्थः; अपरे तु पुनर्भावशब्दमभिप्रायार्थमिच्छन्ति, तत्र नियतद्रव्यप्रभावेणात्मशक्त्यनुरूपं तद्द्रव्यं मद्य-विषवद्विशिष्टाभिप्रायाय कल्पत इत्यर्थः। व्यवायिनः सकाशाद्विकासिद्रव्यस्य किंचिद्भेदं दर्शयन्नाह—विकासीत्यादि। विकासीगुणः विकसन् प्रसर्पन्, एवमिति अपक्व एव सकलं देहं व्याप्य, धातुबन्धान् विमोक्षयेत् धातुशैथिल्यं करोतीत्यर्थः। अन्ये तु 'सरविशेषो व्यवायी, तीक्ष्णविशेषो विकासी' इति ब्रुवते; तन्नेच्छति गयी। आशुकारी गुणः, आशुत्वात्। सूक्ष्मो गुणः। अत्र स्थूलगुणमपि केचित् पठन्ति, स च पाठोऽभावान्न लिखितः। गुणा इति नन्वत्र स्थूलगुणेन सह त्रयोविंशतिर्गुणा भवन्ति, कथं विंशतिः कथ्यन्ते? उच्यते—केचिदत्र संख्याभङ्गभयाद् व्यवायि-विकास्याशुकारिणामपाठमेव मन्यन्ते; अन्ये पुनराहुः—अधिकायामपि गुणविंशतावुक्तायां गुणा विंशतिरुक्ताः, न चात्र नियमो विंशतिरेवेति; व्यवायि-विकास्याशुकारिणां तु स्वतन्त्रे परतन्त्रे च दर्शनात् पाठो न्याय्य एव; अपरे पुनः प्रागेव 'दशैवान्यान्' इत्यस्य स्थाने 'दश चान्यान्' इति चकारं पठन्ति; तेन व्यवायि-विकास्याशुकारिणोऽपि समुच्चीयन्ते (ड.)। नह्यञ्जसा भिषग्विद्यायां विपुलप्रज्ञोऽपि कश्चिद् यथोपदेशं द्रवद्रव्यविधिमन्नपानविधिं वाऽधिगम्य द्रव्याणां तांस्तांशैत्यौष्ण्यादिकान् भावान् युक्त्या समन्वीयोपदेष्टुमुपधारयितुं वा

प्रभवत्यनायासेन, कर्मानुमेयत्वात्; तदिदानीं पूर्वाचार्यप्रसिद्धेन क्रमेण द्वेधा विभज्य कर्मतः शीतादीन् गुणाननुवदिदिक्षति—अत इत्यादिना। ह्लादन उष्णार्तानां सुखसंजननः, स्तम्भनः शोणितादीनां गतिमतां संनिरोधनः। विशेषतः प्राचुर्येण पाचन इति संबन्धः, उष्णो ह्यग्निगुणबहुल इत्ययमाशयः। रूक्ष इत्यादि। स्तम्भनो मल-मूत्रादीनामप्रवर्तनः। खरं कर्कशं करोतीति खरः, णिचि पचाद्यच्। गुरुः चिर-पाकी। क्लेदसंशोषणो व्रणरोपणश्चेति क्लेदाचूषण-रोपणः। यथाविभागमर्थमिमं विभज्य शिष्टानर्थानधिकरोति—दशेत्यादिना। तेषां व्याचिख्यासितानां गुणानां मध्ये आद्याः पूर्वाचार्यैरादावुपदिष्टाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-पिच्छिल-विशद-तीक्ष्ण-मृदु-गुरु-लघुसमाख्याता दश गुणाः कर्मतः प्रोक्ताः, इदानीं तु कर्मविशेषणैः कर्मविशेषै-रुक्तेतरैः कर्मभिरिति यावत्, दशैवान्यान् द्रवादीन् प्रवक्ष्यामि, तान् मे मत्तो निबोधेति योजना। द्रव इत्यादि। स्थूलं करोतीति स्थूलः, सान्द्रविशेषणमेतत्। ये त्वत्र सान्द्रादनन्तरं श्लक्ष्ण-कर्कशयोः पाठात् सूक्ष्मान्ता द्रवादयो द्वादशैव भवन्ति न त्वेव दशेति विप्रतिपद्यन्ते तान् पुनः कटाक्षयन्नाह—श्लक्ष्ण इति। अयमभि संधिः—संख्येयं कर्मविशेषमाश्रित्योपदीश्यते, श्लक्ष्ण-कर्कशौ तु पिच्छिल-विशद-साम्यादुक्तगुणौ, नातो द्वादशत्वापत्तिर्गन्धमात्रेणाप्युपलभ्यत इति। कर्मतः सुगन्ध-दुर्गन्धगुणावुपदिश्येते—सुखेत्यादिना श्लोकेन। मन्दो मन्दाख्यो गुणः, यात्राकरः कालक्षेपकरः, "यात्रा स्याद्यापने गतौ" इत्यमरः (कां. ३, व. ३)। विकासी-त्यादि। एवमिति अखिलं देहं व्याप्येत्यर्थः। उक्तमर्थमुपसंहरति—गुणा इत्यादिना। विंशतिरिति शितादिभिर्द्रव-सान्द्र-सुगन्ध-दुर्गन्ध-सर-मन्द-व्यवायि-विकास्याशुकारि-सूक्ष्मगुणानुगमादित्यनुसंधेयम् (हा.)॥

लघुर्गुरुस्तथा स्निग्धो रूक्षस्तीक्ष्ण इति क्रमात्।
नभो-भू-वारि-वातानां वह्नेरेते गुणाः स्मृताः॥
लघु पथ्यं परं प्रोक्तं कफघ्नं शीघ्रपाकि च।
गुरु वातहरं पुष्टि-श्लेष्मकृच्चिरपाकि च॥
स्निग्धं वातहरं श्लेष्मकारि वृष्यं बलावहम्।
रूक्षं समीरणकरं परं कफहरं मतम्॥
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफ-वातहृत्।
सुश्रुते तु गुणाः प्रोक्ता विंशतिस्तान् ब्रुवे शृणु॥
गुरुर्लघुः स्निग्ध-रूक्षौ तीक्ष्णः श्लक्ष्णः स्थिरः सरः।
पिच्छिलो विशदः शीत उष्णश्च मृदु-कर्कशौ॥

स्थूलः सूक्ष्मो द्रवः शुष्क आशुर्मन्दः स्मृता गुणाः ।
श्लक्ष्णः स्नेहं विनाऽपि स्यात् कठिनोऽपि हि चिक्कणः ॥
स्थिरो वात-मलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः ।
पिच्छिलस्तन्तुलो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः ॥
क्लेदच्छेदकरः ख्यातो विशदो व्रणरोपणः ।
शीतस्तु ह्लादनः स्तम्भी मूर्च्छा-तृट्-स्वेद-दाहनुत् ॥
उष्णो भवति शीतस्य विपरीतश्च पाचनः ।
स्थूलः स्थौल्यकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत् ॥
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते ।
द्रवः क्लेदकरो व्यापी शुष्कस्तद्विपरीतकः ॥
आशुराशुकरो देहे धावत्यम्भसि तैलवत् ।
मन्दः सकलकार्येषु शिथिलोऽल्पोऽपि कथ्यते ॥

(भावप्रकाश, पू. खं.) ।

द्रव्यगुण विज्ञानमें नानाप्रकारके द्रव्योंमें रहे हुए गुरु-लघु आदि गुणोंका शरीरपर होनेवाले उनके कर्मोंसे अनुमान किया जाता है । अतः गुर्वादि बीस गुणोंके सुश्रुत-भावप्रकाश आदिमें कहे हुए कर्म चरकोक्त क्रमसे नीचे विस्तारसे लिखे जाते हैं—

१ गुरु—गुरु गुण (वाला द्रव्य) साद (अवसाद-शरीरकी ग्लानि-शिथिलता), उपलेप (मलोंकी वृद्धि और चिकनाहट), बल, तृप्ति और शरीरकी पुष्टि करनेवाला (सु.), वातहर, बृंहण, कफ करनेवाला तथा चिरपाकी (देरीसे पचनेवाला) है (भा.) । जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीरको पुष्ट करनेकी शक्ति हो, वह गुरु है (हे.) । सामान्यभाषामें गुरुगुणको 'भार, वजन' कहते हैं । जल और भूमिमें पतनकर्म (आधोगमन) का जो कारण है, उसे गुरुत्व कहते हैं "गुरुत्वं जल-भूम्योः पतनकर्मकारणम्" (प्रशस्तपादभाष्य, गुणग्रन्थ) । महाभूतोंमें पृथ्वी और जल इन दोनोंमें गुरुत्व रहता है, अतः कार्य द्रव्योंमें पृथिवी और जलके गुणोंकी (अंशकी) अधिकतासे गुरु गुण उत्पन्न होता है । "गौरवं पार्थिवमाप्यं च" (र. वै. अ. ३, सू. ११६) ।

वक्तव्य—वैशेषिक दर्शनमें जिस गुणके द्वारा किसी वस्तुका स्वाभाविक अधःपतन होता है, उसको गुरु कहते हैं । इस लक्षणको मानते हुए भी द्रव्यगुण विज्ञानमें गुरुपाक तथा गौरव जनक द्रव्यको गुरु माना जाता है । मूर्त द्रव्योंमें जिस प्रमाणमें अवयवों (घटक-अणुओं) का संघात और संश्लेष न्यून या अधिक

होता है उस प्रमाणमें उसमें गुरुत्व न्यून या अधिक होता है। लौकिक भाषामें जो द्रव्य वायु मण्डलमें छोड़े जानेपर नीचे गिरता है उसमें गुरुत्व और इसके विपरीतमें लघुत्व माना जाता है।

२ लघु—लघु गुणवाला द्रव्य गुरुसे विपरीतगुणवाला (शरीरमें उत्साह-स्फूर्ति, मलका क्षय, अतृप्ति और दुर्बलता लानेवाला), शरीरको कृश करनेवाला, व्रणका रोपण करनेवाला (सु.), परम पथ्य, कफघ्न, वातकर और शीघ्र पचन (हजम) होनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीरको हलका करनेकी शक्ति हो, वह लघु है (हे.)। लघु गुणको सामान्य भाषामें 'हलका' कहते हैं। लघु गुण वायु, आकाश और अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है "लाघवमन्यदीयम्"[1] (र. वै. अ. ३, सू. ११७)।

वक्तव्य—वैशेषिक दर्शनमें लघुको स्वतन्त्र गुण नहीं माना है, गुरुत्वके अभाव (कमीको) ही लघु कहते हैं। जिस प्रमाणमें मूर्त द्रव्योंमें अवयवों (घटक-अणुओं) का संघात और संश्लेष विरल-कम होता है उस प्रमाण में उसमें लाघव अधिक होता है। लघु और गुरुत्व दो सापेक्ष गुण हैं। एक ही द्रव्य अपनेसे लघुकी अपेक्षया गुरु और अपने से गुरुकी अपेक्षया लघु होता है। परन्तु द्रव्यगुण-विज्ञान में जिस द्रव्यमें ऊपर लिखे हुए गुरुत्वके कर्म विद्यमान हों उसको गुरु और लघुत्वके कर्म विद्यमान हों उसको लघु कहा जाता है।

३ शीत—शीत गुण (वाला द्रव्य) उष्णपीडितको सुख देनेवाला, स्तम्भन; तथा मूर्च्छा, तृषा, स्वेद और दाहका नाश करनेवाला है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में स्तम्भन करनेकी शक्ति हो, वह शीत है (हे.)। सामान्य भाषामें शीत गुणको 'ठण्ढा' कहते हैं। द्रव्योंमें जल महाभूतके गुणोंकी अधिकतासे शीत गुण उत्पन्न होता है। शीत गुणसे द्रव्योंमें संघात (संयोग-घनता) भी उत्पन्न होता है। शीत गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य भी होता है।

४ उष्ण—उष्ण गुण (वाला द्रव्य) शीत गुणसे विपरीत (शरीरको असुख देनेवाला, सररक्तादिकी प्रवृत्ति करनेवाला, मूर्च्छा-तृषा-स्वेद तथा दाहको उत्पन्न करनेवाला) और विशेष करके पाचक है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में स्वेद-पसीना लानेकी शक्ति हो, वह उष्ण है (हे.)। सामान्य भाषामें उष्ण गुणको 'गरम' कहते हैं। उष्ण गुण आग्नेय है "तैजसमौष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च" (र. वै. अ. ३ सूत्र ११३)। वैशेषिक दर्शनमें शीत और उष्ण इन दो गुणों को स्वतन्त्र गुण नहीं माने हैं, परन्तु स्पर्श गुणके भेद माने हैं। शीत और उष्ण

१—पृथिव्युदकाभ्यामन्यस्माद्भूतसमूहाद् वाय्वाकाशाग्निलक्षणाद्भवतीति, (तेषां) त्रयाणां भूतानां लघुत्वादिति (भाष्यम्)।

ये दो गुण भी सापेक्ष हैं। सामान्य व्यवहारमें हमारे शरीरकी उष्णतासे अधिक उष्ण स्पर्शवाले द्रव्यको उष्ण और कम उष्ण स्पर्शवाले द्रव्यको शीत कहा जाता है। द्रव्यगुणविज्ञानमें उष्ण और शीत गुणके जो कर्म लिखे हैं उनको देखकर उनका निर्णय किया जाता है। उष्ण गुण कर्मानुमेय और स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य भी है।

५ स्निग्ध[1] (स्निग्ध गुण वाला द्रव्य) शरीरमें स्नेह और मार्दव (मृदुता) करनेवाला, बल और वर्णको बढ़ानेवाला (सु.), वातहर, श्लेष्मकर और वाजीकर है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) में शरीरको क्लिन्न (आर्द्र) करनेकी शक्ति हो, वह स्निग्ध है (हे.)। स्निग्ध गुण आप्य है (र. वै. अ. ३।११२)। स्नेह यह जल भूतका विशेष गुण है। द्रव्योंमें जल महाभूतकी अधिकतासे स्निग्धता उत्पन्न होती है। स्निग्धगुणसे अवयवोंका संग्रह (चूर्णादिके कणोंका परस्पर संयोजन) और मृदुता उत्पन्न होती है।

६ रूक्ष—रूक्ष गुणवाला द्रव्य स्निग्धके विरुद्ध कार्य करनेवाला (शरीरमें रूक्षता और कठिनता लानेवाला, बल और शरीरके वर्णका ह्रास करनेवाला), विशेष करके स्तम्भन, खर (सु.), वातकर, अवृष्य और कफहर है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शोषण करनेमें शक्ति हो, वह रूक्ष है (हे.)। द्रव्योंमें पृथ्वी, वायु और अग्नि महाभूतोंकी अधिकतासे रूक्षता उत्पन्न होती है। वैशेषिक दर्शनमें स्नेहके अभावको ही रूक्ष माना है, उसको स्वतन्त्र गुण नहीं माना है।

७ मन्द—मन्द गुणवाला द्रव्य यात्राकर (कालक्षेप करनेवाला-मन्दता (देरी) से कार्य करनेवाला—मन्दश्चिरकारी) होता है (सु.)। मन्द गुण सर्व कार्य करनेमें शिथिल और अल्पकार्य करनेवाला होता है। (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शमनकर्ममें शक्ति हो, वह मन्द है (हे.)। पृथ्वी और जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव्योंमें मन्द गुण उत्पन्न होता है।

८ तीक्ष्ण—तीक्ष्ण गुणवाला द्रव्य दाह, पाक और स्राव करनेवाला (सु.), पित्तकर, प्रायः शरीरको पतला करनेवाला (लेखन) तथा कफ और वायुका नाश करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शोधनकर्ममें शक्ति हो, वह तीक्ष्ण है (हे.)। अग्निमहाभूतकी अधिकतासे द्रव्यमें तीक्ष्ण गुण उत्पन्न होता है।

१—"स्नेहोऽपां विशेषगुणः। संग्रह-मृजादिहेतुः।" (प्र. पा. भा.)। "संग्रहः परस्परमयुक्तानां सक्त्वादीनां पिण्डीभावप्राप्तिहेतुः संयोगविशेषः। मृजा कायस्योद्वर्तनादिकृता शुद्धिः। आदिशब्दान्मृदुत्वं च" (न्यायकन्दली)। चूर्ण (आटे) आदिके परस्पर असंयुक्त कणके संग्रह (परस्पर मिलने) में कारण भूत गुणको स्नेह कहते हैं।

९ स्थिर—स्थिर गुणवाला द्रव्य वात और मल (मूत्र-पूरीष-स्वेदादि) का स्तम्भन करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की धारण-स्तम्भन कर्ममें (रोकनेमें) शक्ति हो, वह स्थिर है (हे.)। स्थिर गुणयुक्त द्रव्य चिरस्थायी (अधिक समय तक नष्ट न होनेवाला) होता है। स्थिर गुणयुक्त द्रव्य पृथ्वी महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला होता है।

१० सर—सर गुणवाला द्रव्य वात और मलकी प्रवृत्ति करानेवाला है (सु., भा.)। अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदयमें स्थिरके विपरीत 'चल' गुण लिखा है। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की प्रेरण करनेमें शक्ति हो वह चल है (हे.)। दोनों वाग्भटोंने चल गुण सरके स्थानमें दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव्योंमें सर गुण उत्पन्न होता है।

११ मृदु—मृदु गुणवाला द्रव्य दाह, पाक और स्रावका नाश करनेवाला है (सु.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की श्लथनमें (कोमल-ढीला करनेमें) शक्ति हो, वह मृदु है (हे.)। मृदु गुण आकाश और जल महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला है "मार्दवमान्तरिक्षमाप्यं च" (र. वै. अ. ३, सू. ११५)।

१२ कठिन—जिस गुण (युक्त द्रव्य) की दृढ़ करनेमें शक्ति हो उसे कठिन कहते हैं (हे.)। द्रव्योंमें कठिन गुण पृथिवी महाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होता है "कठिनत्वं पार्थिवम्" (र. वै., अ. २, सू. ५८)।

१३ विशद—विशद गुणवाला द्रव्य पिच्छिलसे विपरीत कर्म करनेवाला, विशेष करके क्लेदका शोषण करनेवाला और व्रणरोपण है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की क्षालन (क्लेदको नाश करने) में शक्ति हो, वह विशद है (हे.)। द्रव्योंमें पृथ्वी, वायु, तेज और आकाश महाभूतकी अधिकतासे विशद गुण उत्पन्न होता है।

१४ पिच्छिल—पिच्छिल गुणवाला द्रव्य जीवन, बलकारक, संधान—टूटी हुई हड्डी आदिको जोड़नेवाला, कफकारक, गुरु (शरीरमें भारीपन लानेवाला) (सु.) और तन्तुल (लेसदार) है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की शरीरके लेपन करनेमें शक्ति हो वह पिच्छिल है (हे.)। पिच्छिल गुण आप्य (जल महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाला) है (र. वै. अ. ३।११२)। पिच्छिल गुणको प्रचलित भाषामें लुआब और पिच्छिल गुण युक्त द्रव्यको लुआबदार कहते हैं।

१५ श्लक्ष्ण—श्लक्ष्ण गुण वाला द्रव्य पिच्छिल गुणके समान ही कर्म करनेवाला है (सु.)। श्लक्ष्ण अर्थात् चिक्कण गुण स्नेहके बिना भी होता है, जैसे घिसा हुआ मणि आदि कठिन द्रव्य भी चिकना होता है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की रोपणमें (व्रणके रोपण करनेमें) शक्ति हो, वह श्लक्ष्ण है (हे.)।

श्लक्ष्ण गुण अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला है "तैजसं श्लक्ष्णत्वं नाम[1]" (र. वै. अ. २, सू. ५८)।

१६ खर—गुण खरस्पर्श (वाला द्रव्य); जैसे-कर्कोड़िका फल। सुश्रुतने खरके स्थानमें कर्कश गुण लिखा है तथा कर्कश गुणके कर्म विशद जैसे बताये हैं। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की लेखनमें (व्रणादिके अन्दर उभरे हुए मांसके छीलने में) शक्ति हो, वह खर है (हे.)। खर=परुष (इन्दु)। कर्कश गुण वायुके गुणोंकी प्रधानतावाला होता है "कर्कशत्वं वायव्यम्[2]" (र. वै., अ. २, सू. ६०)। पृथ्वी, वायु और तेज—इन महाभूतोंकी अधिकतासे द्रव्यमें खरत्व उत्पन्न होता है।

१७ सूक्ष्म—सूक्ष्म गुणवाला द्रव्य अपनी सूक्ष्मताके कारण शरीरके अत्यन्त सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रवेश कर सकता है (सु., भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की विवरणमें (स्रोतोंको खुला करनेमें) शक्ति हो, वह सूक्ष्म है (हे.)। द्रव्यमें अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन महाभूतोंकी अधिकतासे सूक्ष्म गुण उत्पन्न होता है। यहाँ सूक्ष्मका अर्थ छोटा नहीं है।

१८ स्थूल—स्थूल गुणवाला द्रव्य देहमें स्थूलता लानेवाला और स्रोतोंका अवरोध करनेवाला है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की संवरणमें (स्रोतोंके अवरोधमें) शक्ति हो, वह स्थूल है (हे.)। स्थूल गुणयुक्त द्रव्य गुरुपाक होता है। द्रव्यमें पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे स्थूल गुण उत्पन्न होता है।

१९ सान्द्र—सान्द्र गुणवाला द्रव्य शरीरको स्थूल (पुष्ट) करनेवाला है (सु.)। जिस गुण (युक्त द्रव्यकी) प्रसादनमें शक्ति हो, वह सान्द्र है (हे.)। द्रव्यमें पृथ्वी महाभूतकी अधिकतासे सान्द्र गुण उत्पन्न होता है। सान्द्रको प्रचलित भाषामें 'गाढ़ा' कहते हैं।

२० द्रव—द्रव गुणवाला द्रव्य शरीरको आर्द्र (तर) करनेवाला (सु.) और सब जगह व्याप्त होनेवाला होता है (भा.)। जिस गुण (युक्त द्रव्य) की विलोडनमें (व्याप्त होनेमें) शक्ति हो, वह द्रव[3] है (हे.)। द्रव्यमें जल महाभूतकी अधिकतासे द्रव गुण उत्पन्न होता है।

१—सुमसृणमणीनामिव स्पर्शः। स खलु भास्वरसामान्यादग्निनोत्पद्यते (भाष्यम्)।

२—वायुः शोषणात्मकत्वाद् व्यूहकरणाच्च पद्मनालादिषु कर्कशहेतुर्भवति (भाष्यम्)।

३—द्रवत्वं स्यन्दनकर्मकारणम् (प्रशस्तपादभाष्य-गुणग्रन्थ)। जिस गुणके कारण कोई वस्तु बहती है, उसको द्रवत्व कहते हैं।

पाठान्तर और मतान्तरमें लिखे हुए अन्य अधिक गुण—

१ शुष्क—शुष्क गुणवाला द्रव्य द्रव गुणवाले द्रव्यसे विपरीत गुणवाला होता है (भा.)। द्रव्यमें पृथ्वी, वायु और तेज महाभूतकी अधिकतासे शुष्क गुण उत्पन्न होता है।

२ आशु—सुश्रुत और भावप्रकाशमें इस गुणका कर्म जलमें तैलबिन्दुके समान शरीरमें शीघ्र फैलना कहा है। इसे भावप्रकाशमें 'आशु-मन्द' इस युग्ममें दिया है। द्रव्यमें वायु महाभूतकी अधिकतासे आशु गुण उत्पन्न होता है।

३ व्यवायी—व्यवायी गुण(वाला द्रव्य) पहले अपक्वावस्थामें ही सर्व शरीरमें व्याप्त होकर पीछे परिपाकको प्राप्त होता है (सु.)। द्रव्यमें वायु और आकाश महाभूतकी अधिकतासे व्यवायी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य सर गुणकी प्रकर्षावस्थाको व्यवायी गुण कहते हैं (वृ. वा.)।

४ विकासी (शी-घी)—विकासी गुणवाला द्रव्य अपक्वावस्थामें ही समस्त शरीरमें व्याप्त होकर धातुओंमें शैथिल्य उत्पन्न करता है (सु.)। द्रव्यमें वायु महाभूतकी अधिकतासे विकासी गुण उत्पन्न होता है। कई आचार्य सर गुणकी प्रकर्षावस्थाको ही विकासी गुण कहते हैं (वृ. वा.)।

५ सुगन्ध—सुगन्ध गुणयुक्त द्रव्य सुख देनेवाला, सूक्ष्म, अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला और मृदु है (सु.)।

६ दुर्गन्ध—दुर्गन्ध गुण युक्त द्रव्य सुगन्धसे विपरीत गुणवाला, तथा हृल्लास (जी मिचलाना) और अरुचि करनेवाला है (सु.)। वैशेषिक दर्शनमें सुगन्ध (सुरभि) और दुर्गन्ध (असुरभि) इनको गन्धगुणके भेद माने हैं। स्वतन्त्र गुण नहीं माने।

वक्तव्य—यद्यपि 'सार्था गुर्वादयः' इत्यादि श्लोकमें ४१ या ४२ गुण कहे गये हैं, परन्तु जैसा कि चरकने द्रव्यके लक्षणके अनन्तर लिखा है—कि "तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः" (च. सू. अ. २६) उस पाञ्चभौतिक द्रव्यके शब्दादि पाँच और गुर्वादि द्रवान्त बीस गुण हैं। अर्थात् द्रव्यगुणविज्ञानमें प्रधानतया शब्दादि पाँच और गुर्वादि बीस इन २५ गुणोंका विचार और उपयोग होता है। वैसे तो परत्वापरत्वादि दस गुणोंका भी गौणरूपसे कहीं-कहीं उपयोग किया गया है। बुद्धि, बुद्धिके भेद, प्रयत्नान्त पाँच गुण ये आत्मगुण होनेसे वे द्रव्य-गुणशास्त्रके विचार्य विषयोंमें नहीं हैं। इनका विचार मानसशास्त्रमें ही प्रधानतया होता है। अष्टविधवीर्यवादियोंके मतमें शीत, उष्ण, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु (मन्द[1]), तीक्ष्ण—ये आठ गुण और द्विविधवीर्यवादियोंके मतमें शीत

१—अष्टांगसंग्रहमें 'मृदु' के स्थानमें 'मन्द' पाठ पाया जाता है। सुश्रुतमें गुरु और लघुके स्थानमें विशद और पिच्छिल पाठ मिलता है।

और उष्ण ये दो गुण जब उत्कृष्ट शक्तिवाले होते हैं तब उनको वीर्य संज्ञा प्राप्त होती है, परन्तु जब ये उत्कृष्टशक्तिसंपन्न नहीं होते तब ये सामान्यतया गुण ही कहे जाते हैं। जैसा कि वृद्धवाग्भटने लिखा है—"गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा० गुणाः। परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः" (अ. सं. सू. अ. १७)। "पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः, यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिविशिष्टा द्वादश गुणास्ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः, ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्त इति" (इन्दु)। गुरु और लघु ये दो गुण जब निष्ठापाकके रूपमें परिणत होते हैं, तब उनको गुरुविपाक और लघुविपाक यह संज्ञा दी जाती है (सु. सू. अ. ४०, च. सू. अ. २६)। चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदयमें गुर्वादि बीस गुण परस्पर विरोधी दस द्वन्द्वों (युग्मों-जोड़ों) के रूपमें दिये गये हैं। उनमें चरक, अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदयके दस युग्म या बीस गुण समान हैं। सुश्रुतने मन्द-तीक्ष्ण युग्मके स्थानमें मृदु-तीक्ष्ण, स्थिर-सर युग्मके स्थानमें मन्द-सर और श्लक्ष्ण-खर युग्मके स्थानमें श्लक्ष्ण-कर्कश ये गुण दिये हैं; अर्थात् मन्दके स्थानमें मृदु, स्थिरके स्थानमें मन्द और खरके स्थानमें कर्कश गुण लिखा है। सुश्रुतमें कठिन और स्थूल ये दो चरकोक्त गुण नहीं दिये गये हैं। भावप्रकाशमें सुश्रुत-मतसे दस द्वन्द या बीस गुण लिखे गये हैं। चरकोक्त मन्द-तीक्ष्ण और सुश्रुतोक्त मृदु-तीक्ष्ण युग्मके स्थानमें भावप्रकाशमें तीक्ष्ण-श्लक्ष्ण यह युग्म दिया गया है। चरकोक्त मृदु-कठिन युग्मके स्थानमें भावप्रकाशमें मृदु-कर्कश, सान्द्र-द्रवके स्थानमें द्रव-शुष्क और मन्द-तीक्ष्णके स्थानमें आशु-मन्द ये युग्म लिखे हैं। सुश्रुतके वर्तमान पाठमें जो सुगन्ध-दुर्गन्ध गुण कहे गये हैं, वे गन्धके ही भेद हैं, अतः गुर्वादि विंशतिगुणमें इनकी गणना करना ठीक नहीं है। भावप्रकाशमें जो सुश्रुतके गुण लिखे हैं उनमें ये दो गुण हैं भी नहीं। व्यवायी और विकासी ये दो गुण सुश्रुतके वर्तमान पाठको छोड़कर किसी भी ग्रन्थमें नहीं लिये गये हैं। संभव है कि ये चार गुण पीछेसे प्रक्षिप्त किये गये हों। संग्रहकारने व्यवायीको सर-गुणकी प्रकर्षावस्था और विकासी गुणको तीक्ष्ण-गुणकी प्रकर्षावस्था बता करके समाधान किया है और सुश्रुतमें भी ये बीसकी संख्यासे अधिक ही होते हैं। चरकमें मन्द-तीक्ष्णके युग्ममें मन्द मृदुके स्थानमें दिया है, ऐसा प्रतीत होता है। भावप्रकाशमें आशु और मन्द यह युग्म आशु आशुकारी और मन्द चिरकारी, इस अभिप्रायसे दिया हुआ है। द्रव्यगुणके प्रकरणमें ये दो शब्द आते भी हैं, और उनकी टीकाकारोंने ऐसी व्याख्या भी की है। चरक-सुश्रुत आदिने यद्यपि कुछ हेरफेरसे ये बीस गुण लिखे हैं, तथापि द्रव्यगुणके प्रकरणमें अन्य गुणोंका भी

उल्लेख पाया जाता है। इस विषयमें चक्रपाणिदत्तने मद्यगुणके प्रकरणमें (च. चि. अ. २४ में) लिखा है कि—"एते विकासित्वादयो गुणा यद्यपि विंशतिगुण-गणनायां न पठिताः, तथाऽप्यसंख्येयतया गुणानामेषामपि गुणत्वं सिद्धं ; ये तु तत्र पठितास्ते तावदाविष्कृततमा ज्ञेयाः।" अर्थात् विकासी, आशुकारी और व्यवायी गुण बीस गुणोंकी गणनामें नहीं दिये गये हैं, (किन्तु यहाँ उन्हें गुण कहा है), तथापि गुणोंके असंख्येय होनेसे विकासी आदि भी गुणसंज्ञक हैं। बीसगुणोंमें जिनकी गणना की गयी है वे गुण आविष्कृततम[1] (प्रसिद्धतम) हैं।

सुश्रुतने गुणोंके प्रकरणके प्रारम्भमें लिखा है कि—"अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्म विस्तरम्। कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः॥" —अब

१—गुणके विषयमें डॉ. भा. गो. घाणेकरजी सुश्रुतकी व्याख्यामें लिखते हैं कि—गुण—औषधियोंके वैद्यकीय कार्यके द्योतक गुण होते हैं। गुणोंको 'फॉर्मालॉजिकल ॲक्शन्स्' कह सकते हैं। ये संख्यामें साधारणतया बीस हैं; परन्तु व्यवायी, विकासी इत्यादि अन्य गुण भी होते हैं। ×××। कुछ आधुनिक विद्वान् गुणसे भौतिक गुण (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। ४६ वें अध्यायमें गुणोंका विवरण करते समय लिखा है—"कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः" भौतिक धर्म प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु वैद्यकीय गुण कर्मानुमेय होते हैं। इसलिये रस - वीर्यादिद्वारा औषधियोंके जो-जो कार्य शरीरमें होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं। औषधियोंके इन गुणोंका उत्कर्षापकर्ष भी संस्कार तथा भावनाओं द्वारा किया जाता है—"गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात् सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां सिद्धपिण्डिकाः॥" (च. सू. अ. २७)। इसमें संदेह नहीं कि गुरु, लघु, द्रव, कठिन आदि शब्द औषधियोंकी भौतिक स्थिति (Physical State) प्रदर्शित करनेके लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु औषधिविज्ञानकी परिभाषामें गुण मुख्यतया शरीरगत क्रियाओंके द्योतक होते हैं (पृ. २१९, २२०)। 'गुणा विंशतिरित्येवं'—यहाँ यद्यपि गुणोंकी संख्या बीस ही निर्दिष्ट की गई है, तथापि वर्णन किये हुए गुण संख्यामें बाईस होते हैं। यदि इस बातका समन्वय करनेकी आवश्यकता हो तो श्लक्ष्ण और कर्कश-गुणोंका समावेश पिच्छिल और विशदमें कर सकते हैं। परन्तु वास्तवमें मूल सुश्रुतसंहिताका पाठ कुछ दूसरा ही होनेकी संभावना प्रतीत होती है। क्योंकि आयुर्वेदके अन्य ग्रंथोंमें गुणोंकी संख्या बीससे अधिक नहीं होती और उनमें भी सुगन्धी, दुर्गन्धी, विकासी और व्यायी गुण नहीं हैं। ×××। भावमिश्रको जो सुश्रुत संहिता उपलब्ध थी उसके अनुसार उन्होंने बीस ही गुण निर्दिष्ट किये हैं (पृ. ३०९-३१०)।

गुणोंके कर्मोंका विस्तार कहा जाता है, क्योंकि नाना द्रव्योंमें रहे हुए शीतोष्णादि गुणोंका उनके कर्म देखकर अनुमान किया जाता है। अतः आगे शीतोष्णादि गुण-प्रकरणमें प्रत्येक गुणके जो कर्म लिखे हैं, उन कर्मोंको देख करके तत्तद् गुणका अनुमान करना चाहिए, ऐसा वहाँ तात्पर्य समझना चाहिए।

बुद्धीच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्नानां निरूपणम्—

बुद्धिच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्ना ह्यात्मगुणाः। एते च मनोविज्ञानविषया इति नेह प्रपञ्चिताः।

बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मगुण होनेसे इनका विचार प्रधानतया मनोविज्ञान (मानस शास्त्र)का विषय है। वहाँ ही इनका विशेष विवरण देखना चाहिये। द्रव्यगुणशास्त्रमें इनका विशेष विवरण अप्रासंगिक होनेसे नहीं दिया गया है।

परादिदशगुणनिरूपम्—

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः।
सिद्ध्युपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे॥
देश-काल-वयो-मान-पाक-वीर्य-रसादिषु।
परापरत्वे, युक्तिश्च योजना या तु युज्यते॥
संख्या स्याद्गणितं, योगः सह संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्व-सर्वैककर्मजोऽनित्य एव च॥
विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता॥
परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम्।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया॥
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते॥ (च. सू. अ. २६)

संप्रति पूर्वोक्तगुर्वादिगुणातिरिक्तान् परत्वापरत्वादीन् दशगुणान् रस[1]धर्मत्वेनोप-

---

१--"रौक्ष्यात् कषयोरूक्षाणां" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना ग्रन्थेनेत्यर्थः।

देष्टव्यानाह—परेत्यादि। तच्च परत्वं प्रधानत्वम्, अपरत्वम् अप्रधानत्वम्। तद्विवरणं—देश-कालेत्यादि। तत्र देशो मरुः परः, अनूपोऽपरः; कालो विसर्गः परः, आदानमपरः; वयस्तरुणं परम्, अपरमितरत्; मानं च शरीरस्य यथावक्ष्यमाणं शारीरे परं, ततोऽन्यदपरं; पाक-वीर्य-रसास्तु ये यस्य योगिनस्ते तं प्रति पराः, अयौगिकास्त्वपराः। आदिग्रहणात् प्रकृति-बलादीनां ग्रहणम्। किंवा, परत्वापरत्वे वैशेषिकोक्ते ज्ञेये; तत्र देशापेक्षया सन्निकृष्टदेशसंबन्धिनमपेक्ष्य विदूरदेशसंबन्धिनि परत्वं, सन्निकृष्टदेशसंबन्धिनि चापरत्वं भवति; एवं सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टकालापेक्षया च स्थविरे परत्वं, यूनि चापरत्वं भवति। वयःप्रभृतिषु परत्वापरत्वं यथासंभवं काल-देशकृतमेवेहोपयोगादुपचरितमप्यभिहितं, यतो न गुणे मानादौ गुणान्तर-संभवः। युक्तिश्चेत्यादौ योजना दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना, अत एवोक्तं—या तु युज्यते; या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते; अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते, पुत्रोऽप्यपुत्रवत्। युक्तिश्चेयं संयोग-परिमाण-संस्काराद्यन्तर्गताऽप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते। संख्यां लक्षयति—संख्येत्यादि। गणितमिहैक-द्वि-त्र्यादि। संयोगमाह—योग[1] इत्यादि। सहेति मिलितानां द्रव्याणां योगः प्राप्तिरित्यर्थः। सहेत्यनेनेहाकिंचित्करं परस्परसंयोगं निराकरोति। तद्भेदमाह—द्वन्द्वेत्यादि। तत्र द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयो-र्मेषयोः, सर्वकर्मजो यथा—भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानाँ माषाणां बहुलमाषक्रियायोगजः, एककर्मजो यथा—वृक्ष-वायसयोः। अनित्य इति संयोगस्य कर्मजत्वेनानित्यत्वं दर्शयति। विभागमाह—विभागस्त्वित्यादि। विभक्तिः विभजनम्। विभक्तिमेव विवृणोति—वियोग इति; संयोगस्य विगमो वियोगः। तत् किं संयोगाभाव एव वियोग इत्याह—भागशो ग्रह इति।—विभागशो विभक्तत्वेन ग्रहणं यतो भवतीति भावः; तेन विभक्तिरित्येषा भावरूपा प्रतीतिः, न संयोगाभावमात्रं भवति, किंतर्हि

१—"संयोगमाह—योग इत्यादि। द्रव्याणां योगः संबन्ध इत्युक्ते अवयवावय-विसंबन्धस्यापि संयोगत्वं स्यात्, अत आह—सहेति। साहित्यरूपो योगः, स च पृथक्सिद्धयोरेव भवतीति भावः। ननु विभुनोरपि संयोगः कुतो न स्यादित्याह—द्वन्द्व-सर्वैककर्मज इति द्वन्द्वकर्मजो यथा—युध्यमानयोर्मेषयोः, सर्वकर्मजो यथा—भाण्डे प्रक्षिप्यमाणानां माषाणां बहुमाषक्रियासंयोजः, एकतरकर्मजो यथा—वृक्ष-वायसयोः; एतच्चोपलक्षणं, तेन संयोगजोऽपि बोध्यः, यथा—अंगुली तरुसंयोगाद्धस्त-तरुसंयोगः, एतेन विभुद्रव्ययोरुक्तकारणाभावादेव संयोगो नास्तीति भावः। ननु, संयोगोऽनित्य एव कारणापेक्षः, विभुनोस्तु संयोगो नित्य एव भविष्यतीत्याह—अनित्य एवेति। एवेत्यवधारणे। नित्यः संयोगो न संभवत्येव, अप्राप्तिपूर्विकाया प्राप्तेः संयोगत्वात्, नित्यत्वे च तद्विरोधात्" इति शिवदाससेनः।

भावरूपविभागगुणयुक्ते इत्यर्थः। पृथक्त्वं तु 'इदं द्रव्यं पटलक्षणं घटात् पृथग्' इत्यादिका बुद्धिर्यतो भवति तत् पृथक्त्वं भवति। तच्चाचार्यस्त्रैविध्येनाह—पृथक्त्वमित्यादि। तत्र यत् सर्वथाऽसंयुज्यमानयोरिव मेरु-हिमाचलयोः पृथक्त्वम्, एतत् 'असंयोग' इत्यनेनोक्तम्। तथा संयुज्यमानानामपि पृथक्त्वं विजातीयानां महिष-वराहादीनां, तदाह—वैलक्षण्यमित्यादि।–विशिष्टलक्षणयुक्तत्वलक्षितं विजातीयानां पृथक्त्वमित्यर्थः। तथैकजातीयानामप्यविलक्षणानां माषाणां पृथक्त्वं भवतीत्याह—अनेकतेति। एकजातीयेषु हि संयुक्तेषु न वैलक्षण्यं नाप्यसंयोगः, अथ चानेकता पृथक्त्वरूपा भवतीति भावः। किंवा, पृथक्त्वं गुणान्तरमिच्छन् लोकव्यवहारार्थमसंयोग-वैलक्षण्यानेकतारूपमेव यथोदाहृतं पृथक्त्वं दर्शयति। मानं प्रस्थाढकादि तुलादिमेयम्। करणं गुणान्तराधायकत्वं संस्करणमित्यर्थः; यद्वक्ष्यति—"संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।" (च. वि. अ. १) इति। भावस्य षष्टिकादेर्व्यायामादेश्चाभ्यसनमभ्यासः। अभ्यसनमेव लोकप्रसिद्धाभ्यां पर्यायाभ्यां विवृणोति—शीलनं सततक्रियेति; यं लोकाः शीलन-सततक्रियाभ्यामभिदधति, सोऽभ्यास इति भावः। अयं च संयोगसंस्कारविशेषरूपोऽपि विशेषेण चिकित्सोपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते। न यथावत् प्रवर्तत इति वचनेन शब्दादिषु च गुर्वादिषु च परादीनामप्राधान्यं सूचयति। (च. द.)। दीर्घञ्जीवतीये गुणेषु परादयः पठिताः—"सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ताः" (च. सू. अ. १) इति; संप्रति तानाह-परापरत्वे इत्यादि। ते च चिकित्सायाः सिद्ध्युपायाः, सम्यगनुष्ठानस्य तज्ज्ञानाधीनत्वात्। सम्यगनुष्ठानाद्धि कर्मणां सिद्धिः, अतस्तान् परापरत्वादीन् गुणान् लक्षणैः प्रवक्ष्महे कथयामः। परापरत्वे आह—देशेत्यादि। परत्वं संनिकृष्टत्वम् उपयोगितायामासन्नत्वं, तद्विपर्ययः अपरत्वम्। उक्तं च कणादेन—"एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां संनिकृष्ट विप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च।" (वै. द. ७।२।२१) इति। तन्मते परत्वमपरत्वं द्विविधं दिक्कृतं, कालकृतं च। युक्तिमाह—युक्तिरिति। युक्तिरिति लक्ष्यनिर्देशः, लक्षणं—योजनेत्यादि। या युज्यते तादृशी दोष-देश-काल-मात्राद्यपेक्षिणी योजना युक्तिः। गणितं गणनव्यवहारहेतुरेक-द्वि-त्र्यादिसंख्या। संयोगमाह—योग इति। सह योगः परस्परेण सह योगः संहतीभावः, स संयोग उच्यते। रसविमाने च वक्ष्यति—"संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः।" (च. वि. अ. १) इति। संयोगस्य लक्षणमुक्त्वा भेदमाह—द्रव्याणामिति। स च संयोगो द्रव्याणां द्वन्द्व-सर्वैककर्मजः। द्वन्द्वस्य द्वयोः, सर्वेषां बहूनाम्, एकस्य च कर्मणः जायते; तेन त्रिविधः। वैशेषिकास्तु आहुः—"अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्च संयोगः।" (वै. द. ७।२।९) इति। संयोगजः संयोगो यथा—अङ्गुली-तरुसंयोगात् शरीरतरु-संयोगः। ननु संयोगः किं समवायवन्नित्यः? उत नेति? अत आह—अनित्य इति। संयोगोऽनित्य एव, विभागात्तस्य नाशो भवति। विभागमाह—विभागस्त्विति।

विभागो विभक्तिः विभक्तप्रत्ययनिमित्तविभजनं; प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिः विभागः। स च संयोगप्रतिद्वन्द्वी गुणभेदः ; न तु संयोगाभाव एव विभागः, तथात्वे गुण-कर्मणोरपि विभागव्यवहारप्रसंगः स्यात्। तत्पर्यायौ—वियोगो भागशो ग्रह इति। वियोगः संयोगस्य विगमः। भागशः विभागशो ग्रहः विभक्तत्वेन ग्रहणम्। संयोगवत् विभागोऽपि द्वन्द्व-सर्वैककर्मजः, अनित्यश्चापि। पृथक्त्वमाह—पृथक्त्वमिति। इद-स्मात् पृथक् अर्थान्तरमिति पृथक्प्रत्ययनिमित्तं पृथक्त्वम्। तत्पर्यायानाह—असंयोग इत्यादि। पृथक्त्वम्, असंयोगः, वैलक्षण्यम्, अनेकता, इत्यनर्थान्तरम्। इदमस्मात् पृथक्, इदमनेन न संयुक्तम्, इदमस्माद् विलक्षण विशिष्टम्, इदमेतच्च नैकमिति प्रतीतीनां शब्दवैशिष्ट्येऽपि अर्थतोऽभिन्नत्वमेव। ननु, अन्योन्याभाव एव पृथक्त्वम्, इदमस्मात् पृथक् अन्यत् इतिवत् भिन्नमिति प्रतीतेरन्योन्याभावालम्बन-त्वादिति चेत्? न, पृथगादिशब्दानां पर्यायत्वेऽपि न अन्योन्याभावार्थत्वं, तत्र पञ्चमीप्रयोगानुपपत्तेः; इदमस्मात् पृथक्, इदम् इदं न भवति, इति प्रतीत्योर्भिन्न-विषयत्वाच्च। परिमाणमाह—परिमाणमिति। परिमितिव्यवहारकारणं परिमाणं मानं प्रस्थाढकादि। संस्कारमाह—संस्कार इति। करणं गुणान्तराधायकसंस्करणं संस्कारः। रसविमाने च वक्ष्यति—"करणं हि स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते च गुणास्तोयाग्निसंनिकर्ष-शौचमन्थन-देश-कालवशेन भावनादिभिः कालप्रकर्ष-भाजनादिभिश्चाधीयन्ते।" (च. वि. अ. १) इति। अभ्यासमाह—भावेत्यादि। भावानामभ्यसनं पुनः पुनरनुष्ठानं सातत्येन करणमभ्यासः। शीलनं, सततक्रिया, च तत्पर्यायौ। उपसंहरति—इतीति। इति सर्वे परादयो गुणाः स्वलक्षणैरुक्ताः। यैरविदितैः येषामविज्ञाने चिकित्सा न यथावत् प्रवर्तते (यो.)॥

परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये दस परादि गुण कहलाते हैं। इन दस गुणोंके ज्ञानके बिना चिकित्सा ठीक नहीं हो सकती है (और चिकित्सा ठीक होनेसे ही रोगनिवृत्ति होती है), इसलिए उनके लक्षण यहाँ कहे जाते हैं।—

१-२ परत्व और अपरत्व—देश, काल, वय, मान (परिमाण), पाक (विपाक), वीर्य, रस आदिमें परत्व और अपरत्व व्यवहारके हेतुभूत जो गुण उनको परत्व और अपरत्व कहा जाना है। परत्व अर्थात् उत्कृष्टत्व और अपरत्व अर्थात् अवरत्व-निकृष्टत्व; जैसे—देशमें मरुदेश पर—उत्कृष्ट, अनूप अपर-निकृष्ट; कालमें विसर्ग पर, आदान अपर; वयमें तरुणावस्था पर, अन्य अपर; शरीरके मानके विषयमें शारीरस्थानमें जो प्राकृतमान कहा गया है वह पर, अन्य अपर; विपाक, वीर्य और रसोंमें जिनके लिए जो उपयोगी हो उनके लिए वह पर, अन्य अपर।

मूलके 'वीर्य-रसादिषु' इस पदमें आदिशब्दसे प्रकृति, बल आदिका ग्रहण करना चाहिए[1]।

३ युक्ति-योजना—दोष, देश, प्रकृति, काल आदिको देख कर की हुई औषधकी सम्यक् योजना-कल्पनाको युक्ति कहते हैं। यदि वह कल्पना अयौगिकी (अयुक्त) हो तो कल्पना होनेपर भी युक्ति नहीं कहलाती।

४ संख्या—गणना व्यवहारके हेतु एक-दो-तीन आदिको संख्या कहते हैं।

५ संयोग[2]—दो या अधिक द्रव्योंका साथ योग होना—साथ मिलना संयोग कहाता है। यह संयोग द्वन्द्वकर्म (दोके कर्म-चेष्टा) से, सर्वकर्म (अनेकोंके कर्म) से, या एकके कर्मसे होता है और अनित्य है। लड़ते हुए दो मेढोंका संयोग द्वन्द्वकर्मज—दोकी चेष्टासे होने वाला संयोग है। एक पात्रमें डाले हुए उदोंका संयोग सर्वकर्मज है, क्योंकि इसमें अनेक उदोंका एकसाथ मिलना होता है[3]। वृक्ष और काकका संयोग एककर्मज है, क्योंकि वह अकेले काककी चेष्टासे होता है। विभागसे संयोगका नाश होता है, इसलिए संयोग अनित्य है।

१—वैशेषिकवाले 'वह विप्रकृष्ट-दूर है', 'यह सन्निकृष्ट—समीप है' ऐसा प्रयोग जिन गुणोंके कारण होता है उनको क्रमशः परत्व और अपरत्व कहते हैं। उनके मतमें दैशिक और कालिक दो प्रकारका परत्व और अपरत्व होता है। जिसका देश अर्थात् स्थानसे संबन्ध हो उसको दैशिक कहते हैं। यहाँ परका अर्थ दूरदेशीय और अपरका अर्थ निकटदेशीय होता है। जिसका काल अर्थात् समयसे संबन्ध हो उसको कालिक कहते हैं। यहाँ परका अर्थ दूरकालीन और अपरका अर्थ समीपकालीन होता है। आयुर्वेदाचार्योंने सन्निकृष्ट याने उपयोगितामें समीप (प्रधान—उत्कृष्ट) और विप्रकृष्ट याने उपयोगितामें दूर (अप्रधान—निकृष्ट) ऐसा अर्थ लेकर देश, काल, वय, मान, विपाक, वीर्य, रस आदिमें परापरत्वका संबन्ध बताया है।

२—संयोग याने दो वस्तुओंका बाह्य संबन्ध। जो पदार्थ पहले संबद्ध नहीं थे उनका समयविशेषमें साथ मिल जाना संयोग कहलाता है—"अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः।" वैशेषिकवाले अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज ये तीन प्रकारके संयोग मानते हैं। अन्यतरकर्मज (एककर्मज) और उभयकर्मज (द्वन्द्वकर्मज) का उदाहरण मूलमें दिया है। हाथ और शाखाके संयोगसे शरीर और वृक्षका जो संयोग होता है उसको संयोगज संयोग कहते हैं।

३—उर्द अचेतन द्रव्य होनेसे उनमें कर्मकी कल्पना करना ठीक नहीं प्रतीत होता, अतः मेले आदिकी भीड़में परस्पर संलग्न होकर जमे हुए मनुष्योंका उदाहरण देते तो ठीक होता। क्योंकि मनुष्य सचेतन होनेसे उनका संयोग सर्वकर्मजका ठीक उदाहरण बन सकता है।

६ विभाग[1]—विभक्त होना, संयोगका वियोग होना और विभक्ततया ग्रहण होना इसे विभाग कहते हैं। यह भी संयोगकी तरह द्वन्द्वकर्मज, सर्वकर्मज और एककर्मज इस प्रकार तीन प्रकारका होता है। संयोगसे विभागका नाश होता है, इसलिये विभाग अनित्य है।

७ पृथक्त्व—'यह पट घटसे पृथक् है' इस प्रकारकी बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे पृथक्त्व कहते हैं। यह पृथक्त्व तीन प्रकारका होता हैः (१) असंयोग-लक्षण—जिनका कभी भी संयोग न हो ऐसे मेरु और हिमाचलका पृथक्त्व; (२) वैलक्षण्यरूप—विशिष्टलक्षणयुक्त विजातीय द्रव्योंका पृथक्त्व; जैसे-गाय, भैंस, सूअर आदिका; (३) अनेकतारूप—सजातीयोंका भी एक दूसरेसे पृथक्त्व, जैसे—अनेक उर्दोंका सजातीय होनेपर भी एक-दूसरेसे पृथक्त्व होता है।

८ परिमाण—माप या तोलसे जो मान किया जाना है, उस मानव्यवहारका हेतुभूत जो गुण वह परिमाण कहलाता है।

९ संस्कार—मर्दन, भावना, रन्धन आदि अनेक प्रकारकी क्रियाओंद्वारा किसी वस्तुमें जो गुणान्तरका आधान करना, जैसे—रन्धनक्रिया द्वारा शालिसे ओदन (भात)—लावा आदि बनाना, कूटना-पीसना आदि से स्थूल द्रव्यका सूक्ष्म चूर्ण बनाना, इसे संस्कार[2] कहते हैं।

१—जिसके द्वारा संयोगका नाश होता है उसे विभाग कहते हैं। जो पदार्थ पहले आपसमें संयुक्त थे उनका अलग-अलग हो जाना ही विभाग है। वैशेषिकवाले अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और विभागज ऐसे तीन प्रकारके विभाग मानते हैं। जहाँ एक विभाग हो जानेसे दूसरा विभाग भी हो जाता हो, उसको विभागज विभाग कहते हैं। जैसे किसी शाखासे पत्ता गिरनेपर शाखाके साथ वृक्षसे भी पत्तेका विभाग हो जाता है।

२—आयुर्वेदोक्त संस्कार वैशेषिकोक्त संस्कारसे भिन्न है। वैशेषिकमें संस्कारके तीन भेद बतलाये गये हैं—(१) भावना, (२) वेग और (३) स्थितिस्थापक। पूर्वानुभूत विषयोंका स्मरण या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) जिस संस्कारद्वारा होता है, उसको भावना कहते हैं। यह आत्माका गुण है। मूर्तिमान् द्रव्योंमें (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा मनमें) कारणविशेषसे जो गतिप्रवाह उत्पन्न होता है उसको वेग कहते हैं। जिस गुणके कारण पदार्थोंके अवयव स्थानच्युत हो जानेपर पुनः अपने स्वाभाविक स्थानमें आ जाते हैं, उसे स्थितिस्थापक कहते हैं। जैसे वृक्षकी शाखाको पकड़कर झुका दीजिये, वह नीचे चली आयगी; किन्तु उसे छोड़ दीजिये, वह तुरत ही अपने स्थानपर जा पहुँचेगी। एक इसपातकी पट्टीको मोड़ दीजिये, वह टेढ़ी हो जायगी; किन्तु छोड़नेपर पुनः सीधी हो जायगी।

१० अभ्यास—जिसे भावाभ्यसन (पदार्थों का वारंवार अभ्यास करना—पुनः पुनः सेवन करना), शीलन (एक ही पदार्थ का वारंवार अनुशीलन करना) और सततक्रिया (एक ही क्रिया बारबार करना) कहा जाता है, वह अभ्यास है।

उपसंहार—इस प्रकार ये परादि दस गुण, जिनके यथावत् जाने बिना चिकित्साकार्य ठीक नहीं हो सकता है, उनका लक्षण कहा गया है

एकीयमतेन गुणप्राधान्यनिरूपणम्—

गुणाः प्रधाना इति केचित् (र. वै. सू. अ. १, सू. १२१)। गुणाद् रसानामभिभवात् (सू. १२२)।—इदानीं गुणप्रधान्यपक्षः। गुणान् प्रधानान् मन्यन्ते रसेभ्य इति मन्यामहे, रसानामभिभवादिति वचनात्। रसानभिभूय गुणाः स्वं कार्यं निर्वर्तयन्ति। यथा—उष्णोदकं श्लेष्माणं हरति माधुर्यमभिभूय, तथा पटोलश्च महत्पञ्चमूलं च तिक्तमौष्ण्याद्वातं जयति। यद् येनाभिभूयते तत्तस्माद-प्रधानं दृष्टम्। यथा—भानोर्नक्षत्रमिति (भा.)। विपाककारणत्वात् (सू. १२३)। ××× गुणा विपाकयोः कारणं; शीत-स्निग्ध-गुरुपिच्छिला गुरुविपाकस्य, लघु-रूक्ष-विशद-तीक्ष्णा लघुविपाकस्येति। कथमेवं रसेभ्यः प्रधाना? इति। रसानां कार्यनिर्वृत्तिः पाकायत्ता, स च पाको गुणायत्त इति। यदपेक्षया-ऽन्यस्य वृत्तिस्तस्मात् तस्य प्राधान्यं दृष्टम्। यथा वायोर्दोष-धातु-मलानाम् (भा.)। बाहुल्यात् (सू. १२४)। ××× रसेभ्यो बहवो गुणाः दृष्टाः-रसाः षड्, गुणा[1] दशेति; अल्पेभ्यो बहवो विशिष्टा इति लोकप्रसिद्धमेककर्मणि (भा.)। बहुधोप-योगात् (सू. १२५)।—किंच, बहुधाऽभ्यङ्ग-परिषेकावगाहरूपेण शीतादय उप-युज्यन्ते, रसास्तु मुखत एवेति गुणाः प्रधानाः, ये बहुधोपयोगं गच्छन्ति ते प्रधाना दृष्टाः। यथा—कल्पवृक्षाः (भा.)। अनेककर्मत्वात् (सू. १२६)। अनेकं कर्म धातु-मलानां वर्धनक्षपणादि वर्णयन्ति तन्न युक्तम्, अन्येषां च सामान्यादिति; तस्मादन्योऽर्थस्य विन्यासः—अनेकेषां कर्म अनेककर्म, तद् येषां तेऽनेककर्माणः, तस्मादनेककर्मत्वात्। रसादिसहितास्तेषां तेषां तत्तत्कर्मणि साहचर्यकरणादनेककर्माण इति (भा.)। महाविषयत्वात् (सू. १२७)। पूर्ववद् रसेषु यथा (भा.)। गुणानुगृहीतानां रसानां प्राधान्यात् (सू. १२८)। ××× गुणैः शीतादि-भिरनुगृहीता ये रसास्तेषां प्राधान्यदर्शनाद् रसेभ्यो गुणाः प्रधाना इति विद्मः। कथं—"शैत्यात् स्नेहान्मार्दवाच्च पैच्छिल्यादविभागतः। मधुराणां घृतं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च॥ अविदाहान्मृदुत्वाच्च कषाय-मधुरान्वयात्। अम्लेष्वामलकं श्रेष्ठं विपाके लाघवेन च॥ नात्युष्णत्वान्मृदुत्वाच्च स्नेहेनानुगमादपि। लवणानां स्मृतं

१—"शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-विशद-पिच्छल-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णा गुणाः कर्मण्याः।" (र. वै. अ. ३. सू. ११०) इत्यस्मिन् सूत्रे कथिता इत्यर्थः।

श्रेष्ठमविदाहाच्च सैन्धवम् ॥ मृदुत्वाच्च गुरुत्वाच्च वात-पित्तप्रकोपणात्। कटुकानां स्मृताःश्रेष्ठाः पिप्पल्यो गुणसंपदा॥ वृष्यत्वाच्च गुरुत्वाच्च मारुतस्याप्रकोपणात्। तिक्तानां तु स्मृतं श्रेष्ठं पैच्छिल्येन च कूलकम्[1] ॥ वृष्यत्वाद्बृंहणत्वाच्च हिक्कायां वात-निग्रहात्। कषायाणां स्मृतं श्रेष्ठं विविधैश्च गुणैर्मधु ॥" इति (भा.)। उपदेशा-दपदेशादनुमानात् (सू. १२६) ।—किं चान्यत्? उपदेशादिभिस्त्रिभिः पूर्वोक्तैरिति। 'तेषां गुरूष्ण-स्निग्धा वातघ्नाः' इत्यादिरुपदेशः। अपदेशः—तीक्ष्णोऽयं पुरुषः, मृदुरयं गीत इति। अनुमानं पूर्ववत् (भा.) ॥

कई आचार्य कहते हैं कि-रसोंसे गुण प्रधान हैं। क्योंकि (१) गुणोंसे रसोंका पराभव होता है। गुण रसोंका पराभव करके अपना कार्य करते हैं। जैसे-गरम जल मधुर रसका पराभव करके कफको दूर करता है। पटोल और बृहत्पञ्चमूल उष्ण होनेसे तिक्त रसका पराभव करके वातको दूर करतेहैं। जिसका दूसरे से पराभव होता हो वह अप्रधान होता है; जैसे सूर्यकी अपेक्षा नक्षत्र। (२) विपाकका कारण होनेसे भी गुण प्रधान हैं। शीत, स्निग्ध, गुरु और पिच्छल गुण गुरुविपाक और लघु, रूक्ष, विशद और तीक्ष्ण गुण लघुविपाकके कारण हैं। इस प्रकार गुण रसोंसे भी प्रधान हैं। क्योंकि रसोंकी कार्यनिष्पत्ति विपाकके अधीन है और विपाक गुणके अधीन है। (३) अधिक होनेसे भी गुण प्रधान हैं। रस छः हैं, गुण दस[2] हैं। जो ज्यादे होते हैं वे प्रधान होते हैं, यह लोकमें भी प्रसिद्ध है। (४) गुणोंका अनेक प्रकारसे उपयोग होनेसे भी गुण प्रधान हैं। अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाह इत्यादि अनेक रूपसे शीतोष्णादि गुणोंका उपयोग होता है; रसोंका उपयोग केवल मुखद्वारा ही होता है। जिनका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है वे प्रधान समझे जाते हैं। (५) गुण रसादिके साथ रहकर अनेक कर्म करते हैं, इसलिये भी गुण प्रधान हैं। (६) गुणोंके विषय-आधारभूत द्रव्य अनेक होनेसे गुण प्रधान हैं। जैसे—अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षया मनके विषय अधिक होनेसे मन प्रधान है। (७) गुणसे अनुगृहीत रसोंका प्राधान्य देखा जाता है। जैसे—घृतके गुणोंमें लिखा है कि—शैत्य, स्नेह, मार्दव और पैच्छिल्य गुणयुक्त होनेसे और विपाकमें लघु होनेसे मधुर रसवाले द्रव्योंमें घृत श्रेष्ठ है; इत्यादि। (८) गुणोंका उपदेश किया जाता है; जैसे —गुरु, उष्ण और स्निग्ध वातघ्न होते हैं; इसलिए गुण प्रधान हैं। (९) अपदेशसे—गुणवाचक शब्दोंसे उपमा दी जाती है; जैसे—यह पुरुष तीक्ष्ण है, यह गीत मृदु है। इस प्रकार गुणोंके द्वारा व्यवहार होनेसे भी गुण प्रधान हैं। (१०) शीतोष्णादि गुण देखकर द्रव्योंके कर्मका अनुमान होता है कि यह शीत होनेसे पित्तहर है, यह उष्ण होनेसे वातहर है, इत्यादि। इसलिए भी गुण प्रधान हैं। सुश्रुतने एकीय मतसे द्रव्य,

---

१—कूलकं पटोलफलम्। २—देखें इसी ग्रंथमें पृ. १२५।

रस, वीर्य और विपाक इन चारोंके ही प्राधान्यका प्रतिपादन किया है। इसपर चक्रपाणि लिखते हैं कि—"अथ द्रव्यादिप्राधान्यविचारे कस्माद्गुणा नोद्भाविता इत्याह—रसेषु तु गुणसंज्ञेति। रसेष्वित्युपलक्षणं, तेन वीर्यविपाकयोरपि गुणसंज्ञेति बोद्धव्यं; तेन रसादिप्राधान्यव्युत्पादनेनैव गुणविशेषप्राधान्यं लभ्यत इत्यर्थः"।—द्रव्यादिप्राधान्यके विचारमें गुणप्राधान्यका विचार क्यों नहीं किया गया? इसका उत्तर देते हुए सुश्रुत कहते हैं कि—रसोंको (वीर्यों और विपाकोंको भी) गुणसंज्ञा दी जाती है। इसलिए रसादिके प्राधान्यनिरूपणसे गुणोंके प्राधान्यका निरूपण भी सिद्ध होता है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे गुणविज्ञानीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

रसविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः

गुणविज्ञानीयाध्याये इन्द्रियार्थेषु रसोऽपि सामान्यतया निर्दिष्टः। परमायुर्वेदे रसविषये भूरि ज्ञातव्यतया विस्तरेण रसानां स्वरूपोत्पत्ति-भेद-गुणादीन्निरूपयितुं रसविज्ञानीय आरभ्यते—

अथातो रसविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेयादयो महर्षयः॥

गुणविज्ञानीयाध्यायमें इन्द्रियोंके पाँच विषयोंमें रसोंका भी सामान्यतया निर्देश किया गया है, परन्तु आयुर्वेदमें रसोंके विषयमें बहुत ज्ञातव्य विषय लिखे हैं, अतः रसोंका लक्षण, उत्पत्ति, भेद, गुण-कर्म आदिके निरूपणके लिये रसविज्ञानीय अध्याय कहा जाता है।

रसस्य लक्षणमुत्पत्तिक्रमश्च—

> रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा।
> निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रय॥ (च. सू. अ. १)।

रसलक्षणपूर्वकं रसोत्पत्तिक्रममाह—रसनार्थ इत्यादि। रस्यत आस्वाद्यत इति रसः। रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्यः। एतच्च षण्णामपि रसानामनुगतं रूपादिषु च व्यावृत्तत्वात् साधुलक्षणम्। तस्येति रसस्य। द्रव्यमिति आधारकारणम्। द्रव्यशब्दो ह्याधारकारणवाची; यथा—"पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि" (च. सू. अ. ८) इति। क्षितिस्तथेति यथा आप आधारकारणं तथा क्षितिरपि। 'अप्क्षिती' इति वक्तव्ये, 'क्षितिस्तथा' इतिवचनात् क्षितेराधारकारणत्वममुख्यमिति दर्शयति। येनापो हि निसर्गेण रसवत्यः। तथा ह्यात्रेयभद्रकाप्यीये "सौम्याः खल्वापः" (च. सू. अ. २६)

इत्यादिना जल एव रसस्य व्यक्तिरिति दर्शयति। सुश्रुतेऽप्युक्तं—"तस्मादाप्यो रसः" (सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। क्षितिस्त्वपामेव रसेन नित्यानुषक्तेन 'रसवती' इत्युच्यते। यतो नित्यः क्षिति-जलसंबन्धः; वचनं हि – "विष्टं ह्यपरं परेण" (न्या. द. ३।१।६०) इति। अस्यार्थः—ख-वाय्वग्नि-जल-क्षितीनामुत्तरोत्तरे भूते पूर्वपूर्वभूतस्य नित्यमनुप्रवेशः, तत्कृतश्च खादिषु गुणोत्कर्षः। रसस्य किं व्यक्तौ अप्क्षिती कारणं? किंवा विशेषे? इत्याह—निर्वृत्तावित्यादि। निर्वृत्तौ च अभिव्यक्तौ। एतेन रसोऽभिव्यज्यमानो जल-क्षित्याधार एव व्यज्यत इति दर्शयति। चकराद्विशेषेऽपि मधुरादिलक्षणे अप्क्षिती प्रत्ययौ। तेन "सोमगुणातिरेकान्मधुरः, पृथिव्यग्निगुणातिरेकादम्लः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना जल-पृथिव्योरपि विशेषकारणत्वं वक्ष्यमाणमुपपन्नम्। विशेषे च प्रत्ययाः खादय इति मधुरादिविशेषनिर्वृत्तौ निमित्तकारणं ख-वाय्वनलाः, न त्वाधारकारणभूताः। खादय इत्यनेनैव त्रित्वे लब्धे पुनः 'त्रयः' इति वचनं तेषामेव व्यस्त-समस्तानामपि प्रत्ययत्वदर्शनार्थम्; अत एव व्यस्त-समस्ताकाशादिसंसर्गभेदाद्रसानां मधुरतर-मधुरतमाद्यवान्तरभेद उपपन्नः। विशेषे चेति चकारादभिव्यक्तावप्याकाशादीनां निमित्तकारणत्वं दर्शयति। वक्ष्यति हि—"तास्त्वन्तरीक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः।" (च. सू. अ. २६) इति। अन्ये तु विशेषे चेति चकारं खादयश्चेत्यत्र योजयन्ति, तेन चकारात् कालोऽपि विशेषेऽभिव्यक्तौ च कारणं लभ्यते। साक्षात् कालस्यावचनेन खादिभ्योऽप्यपकृष्टं कालस्य कारणत्वं दर्श्यते। किंवा रसस्यापो द्रव्यं क्षितिस्तथेति पूर्ववदेव; निर्वृत्तौ चेति क्षितिरेव निर्वृत्तावभिव्यक्तौ प्रत्ययो नापः; यत आपो ह्यव्यक्तरसा एव, क्षितिसंबन्धादेव च रसोऽभिव्यक्त उपलभ्यते। उक्तं च—"जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, यासु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः।" (च. सू. अ. २६) इति। तेन पार्थिवद्रव्यसंबन्धादेवापां रसो व्यज्यते नान्यथा। विशेषे चेति चकारादप्क्षिती विशेषे कारणे। यद्यपि चाप्क्षिती विशेषे कारणे, तथाऽपि "सोमगुणातिरेकान्मधुरः"—(सू. अ. २६) इत्यादौ तु खादय एव तथा सन्निविशन्ति यथा सोमोऽतिरिक्तो भवति, तेन तत्राप्यूनत्वेन सन्निविष्टाः खादय एव विशेषहेतव इति। यद्यपि चाभिव्यक्तिर्मधुरादिविशेषरहिता क्वचिद्भवति, तथाऽपि सामान्येन सर्वत्र यदभिव्यक्तयेऽनुगतं कारणमुपलभ्यते क्षितिरूपं जलक्षितिरूपं वा तदभिव्यक्तिकारणं; यदनुगमात्तु मधुरादिविशेषोपलब्धिस्तद्विशेषकारणमुच्यते (च. द.)। द्रव्यस्य पाञ्चभौतिकत्वात् तदाश्रितरसोऽपि पाञ्चभौतिकः। वचनं च—"षट् पञ्चभूतप्रभवाः" (च. सू. अ. २६) इति। रसस्य पाञ्चभौतिकत्वं दर्शयति—तस्येत्यादि। तस्य द्रव्यमापः तथा क्षितिः, रसस्य अप्क्षित्योर्गुणत्वात्। तथा च—"तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥"

(च. शा. अ. १) इति। रसोऽपां नैसर्गिकः, क्षितेस्तु अन्वनुप्रवेशकृतः। तेन रसस्य योनिरापः, क्षितिश्चाधारः ; तस्य निर्वृत्तौ निष्पत्तौ विशेषे मधुरादिभेदे च खादयः खं वायुरग्निश्च एते त्रयः प्रत्ययाः कारणानि। गगन-पवन-दहनसमवायात् निर्वृत्तिविशेषौ भवतः। अनेन खादीनां त्रयाणां रसं प्रति कारणत्वमुपदर्शितं भवति, अपां क्षितेश्च तदनिर्बाधमेव। एवं पञ्चानां महाभूतानां रसं प्रति कारणतया वर्तमानत्वाद्रसस्य पाञ्चभौतिकत्वमुपपद्यते (यो.)। तत्र यावद्रसस्वरूपं न ज्ञायते तावत्तद्विशेषधर्माः कथं ज्ञेया इति लक्षणतः, कारणतः, संख्यातश्च रसोऽभिनिरूप्यते। तत्र रससामान्यलक्षणं यदाह चरकः—"रसनार्थो रसः" इति (च. सू. स्था. अ. १)। रसनेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स रस इति लक्षणार्थः। "एतच्च षण्णामपि रसानामनुगतं, रूपादिषु च व्यावृत्तत्वात् साधु लक्षणम्।" इति चक्रः। अस्मत्पितृचरणास्तु "यथाश्रुतमेतल्लक्षणं रसत्वे रसाभावे चातिव्यापकं, तयोरपि रसनेन्द्रियग्राह्यत्वात् ; तथाऽतीन्द्रियरसे चाव्यापकं, तस्मात् "रसनेन्द्रियग्राह्यवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्त्वं रसत्वम्। इति लक्षणं बोध्यम्" इत्याहुः। ननु, "आप्यो रसः" इति (सु. सू. स्था. अ. ४१) सुश्रुतेनोक्तं, तत्र विप्रतिपद्यामहे--यद्याप्यो रसस्तर्हि कथं पार्थिवद्रव्येषु रसोपलम्भ इति प्रथमा विप्रतिपत्तिः, द्वितीया तु यद्याप्य एव रसस्तर्हि अपामव्यक्तरसत्वेन मधुरादिविशेषोत्पादो नोपपद्यत इति ; अथ 'पाञ्चभौतिकत्वमेव रसस्य' इति मन्यसे ; तदपि नोपपद्यते, तेजो-वाय्वाकाशानां नीरसत्वाद् रसं प्रति कारणत्वानुपपत्तेः। अत्राहुः—यद्यप्याप्य एव रसस्तथाऽप्युत्तरोत्तरभूतेषु पूर्वपूर्वभूतगुणानुप्रवेशाद्रसवत्त्वं पृथिव्यामप्युपपद्यते। अत एवोक्तं— "विष्टं ह्यपरं परेण।" (न्या. द. अ. ३, आ. १, सू. ६६) इति। अस्यार्थः— अपरं पूर्वं भूतं परेण भूतेनानुप्रविष्टम्। तेन शब्दगुणस्याकाशस्य वायावनुप्रवेशाद्वायोरपि शब्दवत्त्वं, स्पर्शगुणत्वं च स्वत एव ; एवं वायोस्तेजस्यानुप्रवेशात्तेजः शब्द-स्पर्श-रूप-गुणं ; तेजसोऽपि जलेऽनुप्रवेशाज्जलं शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणम् ; एवं जलस्य च पृथिव्यामनुप्रवेशात् पृथिवी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धगुणेति ज्ञेयम्। नचैवं सर्व एव गुणाः सर्वेषामेव प्रसज्येरन्, तत् कथमाप्यो रस इति वाच्यं ; तेषु तेषु भूतेषु तत्तद्गुणानुप्रवेशेऽप्युत्कर्षाभिप्रायेणाप्यत्वादिव्यपदेशात्। यत आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, तथा वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः,तथा तेजोधिके रूपमधिकं,जलाधिके च रसोऽधिकः, पृथिव्यधिके च गन्धोऽधिकः; इति शब्दादीनामाकाशीयत्वादिव्यपदेश इत्यर्थः। तथा, अपामव्यक्तरसत्वेऽपि भूतान्तरसंबन्धान्मधुरत्वादिवैजात्यमुपपद्यते। उक्तं च सुश्रुते—"स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षड्विधो भवति" (सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। अस्यार्थः—स आप्यो रसो जलादन्यानि भूतानि शेषभूतानि, तेषां संसर्गाद्विदग्धः परिणतः कालसहायभूमिवियदनिलानलसंसर्गेण परिणामान्तरं गतः षट्प्रकारो भवतीति। "तत्र पृथिव्यम्बु-

गुणबाहुल्यान्मधुरः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, पृथिव्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुण-बाहुल्यात् कषायः।"-(सु. सू. स्था. अ. ४२) इति। ननु, यदि तोयाग्निगुण-बाहुल्यादम्लता तर्हि उष्णजलस्याप्यम्लता कुतो न स्यात्? नैष दोषः, नहि भूतसंसर्गमात्रादेव रसविशेषो निष्पद्यते, किं तर्हि विशिष्टां परिणतिमपेक्षते; तद्यथा-पार्थिवस्यापि लोष्ट्रस्याग्नितप्तस्य पृथिव्यग्निगुणबाहुल्येऽपि न लवणता भवति, लवण-त्वसाधनविशिष्टविदाहासंभवादिति। एनमेवार्थं श्लोकेन कश्चिदाह—"तोयाग्नि-गुणबाहुल्येऽप्यम्लत्वं नोष्णवारिणः। नैकस्माद्भूतसंयोगाद्विदाहाच्च रसा यतः॥" इति। ननु, यदि शेषभूतयोगान्मधुरादिषड्विधत्वं तत् कथं पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यं मधुरेऽभिधाय मधुरेऽपि विशेषेऽपां कारणत्वमुच्यते; अत्र वदन्ति—आपो रसा-नामाधारकारणम्, अपां पृथिव्यामनुप्रवेशात् पृथिव्यपि आधारकारणमेव; तेन जल-क्षिती अपि तदाधारतया रसानामभिव्यक्तौ, अभिव्यक्तेश्च मधुरादिरूपता-मन्तरेणासंभवान्मधुरादिविशेषेऽपि कारणे भवतः। अग्न्यादयस्तु त्रयो नीरस-तया मधुरादिविशेषे निमित्तकारणं प्राधान्येन भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणाम्लादिरसा-भावात्; रसाभिव्यक्तेश्चाग्न्यादिभूतत्रयसन्निधानं विनाऽनुपलब्धेरभिव्यक्तावपि कारणत्वमग्न्यादीनां भवति। तदुक्तं चरके—"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥" (च. सू. स्था. अ. १) इति। अत्र हि चकारद्वयाज्जल-क्षित्योरपि विशेषे कारणत्वं, तथा खादीनां च निर्वृत्तावपि कारणत्वमुक्तं; तेन मधुरे विशेषेऽप्यपां कारणत्वात् सुष्ठूक्तं—'पृथिव्य-म्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः' इति, एवं 'तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः' इत्यपि समाधेयम्। न च यथा भूमि-तोयाधिक्यान्मधुरः, एवं तोय-वाय्वाधिक्याद् भूम्याकाशाधिक्याद्वा रसान्तरोत्पत्तिः कुतो न स्यादिति वाच्यं, स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्; यतः पृथिव्यादि-भूतानामेवायं स्वभावः—यत्—केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थिता रसविशेषो-त्पादकाः, न पुनर्यत्किंचिद्भूताधिक्येनेति। अत एव तोयाग्न्योः परस्परविरोधात् कथमेककार्यारम्भकत्वमित्यप्यपास्तमुक्तयुक्त्यैव। ननु च, रसानां षड्विधत्वमनुप-पन्नम्, अन्तरीक्षजलादावव्यक्तस्य सप्तमरसस्यापि विद्यमानत्वात्। नैवं, मधुरादीना-मेव षण्णां तत्रान्तरीक्षजलादावव्यक्तीभावेन तस्याव्यक्तरसस्य मधुरादिभ्योऽभिन्नत्वात्। न च क्षारस्यापि रसत्वात् सप्तमत्वापत्तिरिति वाच्यं, तस्य क्रिया-गुणयोगेन द्रव्यत्वात्; तदुक्तं चरके—"क्षरणात् क्षारो नासौ रसः" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यादि। तत्सहचरितस्य लवण एवान्तर्भावः, लवणवर्गपाठात् (शि.)॥

रसनेन्द्रियसे (जिह्वासे) जिस विषय (गुण) का ग्रहण होता है, उसको रस कहते हैं। जल और पृथ्वी उसके आधारकारण हैं। रसकी उत्पत्ति और उसके

मधुरादि भेदोंमें आकाश, वायु और तेज ये तीन निमित्त कारण हैं (इस प्रकार रस पाञ्चभौतिक है)।

वक्तव्य--'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'—जिसका जिह्वेन्द्रियद्वारा आस्वादन (स्वाद ग्रहण करना) होता है, उसको रस कहते हैं। 'अप्क्षिती' ऐसा द्विवचनका प्रयोग न करके 'आपः क्षितिस्तथा' ऐसा अलग लिखकर बताया है कि—जल नैसर्गिकरीत्या रसवाला होनेसे वही रसका मुख्य आधारकारण (उत्पत्तिकारण) है और पृथिवी जलके अनुप्रवेशसे रसवती होनेसे गौण आधारकारण है। रसकी अभिव्यक्तिमें जल और पृथिवी आधारकारण हैं यह कहनेसे यह बताया है कि—अभिव्यक्त होता हुआ रस जल और पृथ्वीमें ही अभिव्यक्त होता है। 'निर्वृत्तौ च' इस वाक्यमें 'च' से मधुरादि विशेषमें भी जल और पृथिवी निमित्त कारण हैं, जैसा कि आगे कहा गया है कि सोम (जल और पृथिवी) की अधिकतासे मधुर रस होता है। 'विशेषे च' यहाँ 'च'कारसे 'अभिव्यक्तिमें भी आकाश, वायु और अग्नि कारण हैं' यह बताया गया है ; जैसा कि आगे सूत्रस्थानके २६ वें अध्यायमें कहा गया है कि—"वह जल अन्तरिक्षसे गिरता हुआ और गिरकर पञ्चमहाभूतोंके गुणोंसे समन्वित होकर जङ्गम औव स्थावर सब मूर्त द्रव्योंका पोषण करता है, जिनके अन्दर छः रस बनते हैं।"

वक्तव्य—रसनेंद्रिय ग्राह्य गुण (रसनेंद्रियसे ग्रहण होनेवाले विषय) को रस कहते हैं। रसके ग्रहण (ज्ञान होने) में बोधक कफ भी सहायक होता है। जब तक रसवाले द्रव्योंके सूक्ष्म अंश बोधक कफमें विलीन नहीं होते तब तक रसनेन्द्रियसे रसका ज्ञान नहीं होता। मनका रसग्रहण रूप विषयाभिमुख (विषयमें प्रवृत्त) होना, रसनेंद्रियका स्वस्थ होना, रसवाले द्रव्योंकी यथोचित मात्रा होना और रसवाले द्रव्यांशका बोधक कफमें विलीन होना—इतनी सामग्री एकत्र होने पर ही रसका ज्ञान होता है। यदि मन अन्य विषयमें प्रवृत्त हो, रसनेंद्रिय अस्वस्थ हो, रसवाले द्रव्यकी मात्रा कम हो या बोधक कफका स्राव न हो (मुँह बिल्कुल सूखा हो) तो शर्करागत मधुर रसका या सैंधवगत लवण रसका ज्ञान नहीं होता।

रस जल महाभूतका प्रधान गुण है। जल महाभूतका रस अव्यक्त होता है ; पृथिवी महाभूतके संबन्धसे जलमें मधुरादि रसोंकी अभिव्यक्ति होती है। जल और पृथिवी ये दो महाभूत रसके आधाररूप हैं। रसके मधुरादि भेद होनेमें पृथिवी और जलके अतिरिक्त अग्नि, वायु और आकाश भी कारण होते हैं।

रससंख्या—

रसास्तावत् षट्—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः ॥

(च. वि. अ. १)।

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥

(च. सू. अ. १)

रसविशेषानाह—स्वादुरित्यादि। अत्र सर्वप्राणिनामिष्टत्वादादौ मधुर उक्तः; तदनु च प्रायभीष्टोत्कर्षक्रमेणैवाम्लादिनिर्देशक्रमो बोद्धव्यः। षट्क इति पुनः संख्याकरणं परवादिमतसप्तसंख्यत्वादिनिषेधार्थम्। अयं संग्रह इत्यनेनावान्तरभेद-बहुत्वं, तथा वक्ष्यमाणरससंसर्गबहुत्वं च दर्शयति (च. द.)॥

रसाः स्वाद्वम्ल-लवण-तिक्तोषण-कषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः॥

(अ. सं. सू. अ. १; अ. हृ. सू. अ. १)

वातादीनामाध्यात्मिकानां बाह्येन द्रव्येण सादृश्यम्। द्रव्यं च महाभूतकार्यं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावैः कार्यकरम्। स्वाद्वादयः षड्रसाः। रसनेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रसाः। द्रव्यं निर्विशेषं पञ्चभूतात्मकं मूर्तमाश्रिताः। तेषां (रसानां) च यो यस्मात् पूर्वः स तस्माद्देहिनो बलावहः स्वभावविशेषात् (इं.)। यथापूर्वं बलावहा इति यो यः पूर्वो यथापूर्वं, बलावहा बलप्रापकाः। बलमावहन्ति प्रापयन्तीति यावत्। तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः, कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्यबलावहः। तत्र स्वादुर्मधुरो घृत-गुडादिः, अम्लोऽम्लिका-मातुलुङ्गादिः, लवणः सैन्धवादिः, तिक्तो भूनिम्बादिः, ऊषणः कटुको मरीचादिः, कषायो हरीतक्यादिः। स्वादुर्मधुरपर्यायः। ऊषणः कटुकपर्यायः। यथा—त्र्यूषणं त्रिकटुक-मुच्यते। कषाय एव कषायकः, यथा कटुरेव कटुकः। षडिति षडेव, न न्यूना अधिका वा। ते रसा गुणाः स्वाद्वादिभेदतस्तथा संसर्गतस्तथाऽनुरसतस्तारतम्य-परिकल्पनावशतोऽपि भिद्यमानरूपा अपि षट्त्वं नातिवर्तन्ते (अ. द.)। अथ साधर्म्य-वैधर्म्यज्ञानार्थं द्रव्यधर्मानाह। ते च रस-प्रभाव-वीर्य-विपाक-गुणभेदात् पञ्च। तत्र रसनाग्राह्यो गुणो रसः, कायाग्निपाकजो विशिष्टो रसो विपाकः, तथैवोत्पन्नो गुणो वीर्यं, द्रव्यस्यात्मा प्रभावः। तत्र रसभेदानाह—रसा इति। ते च स्वाद्वादयः षट्। ते च द्रव्यमाश्रिताः, द्रव्यधर्मा इत्यर्थः। क्षारस्य द्रव्यविशेष-वाचित्वाद्रसविशेषवाचित्वेऽपि लवणविशेषवाचित्वान्न सप्तमरसत्वम्। बलावहाख्यं रसकर्माह—ते चेति। ते च रसा यथापूर्वं बलावहाः। यो यस्मात् पूर्वः स तस्मादधिकं बलमावहति। कषायो बल्यः, तत ऊषणः, ततस्तिक्त इत्यादि (हे.)॥

मधुर-स्वादु (मीठा), अम्ल, (खट्टा), लवण-पटु (नमकीन), कटु-ऊषण (चरपरा-कडुआ-तीखा), तिक्त (तीता), और कषाय (कसैला), ये

छः रस हैं। ये रस द्रव्यको आश्रय करके रहते हैं[1]। इनमें अन्तसे पूर्व-पूर्व रस उत्तर-उत्तर रसकी अपेक्षया अधिक बल देनेवाला है; जैसे—कषायसे कटु, कटुसे तिक्त, तिक्तसे लवण, लवणसे अम्ल और अम्लसे मधुर विशेष बल देनेवाला हैं[2]।

१—रसके विषयमें सुश्रुतकी व्याख्यामें डॉ. भा. गो. घाणेकरजी लिखते हैं कि—"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः। रसनार्थो रसः" (चरक)। ओषधियोंका जिह्वाग्राह्य अर्थ। इस अर्थके अनुसार समस्त ओषधियाँ मधुरादि छः रसोंमें विभक्त की गई हैं। यद्यपि 'रसनाग्राह्य' ऐसी रसकी व्याख्या की गई है, तथापि ओषधियोंके रसोंका ग्रहण जिह्वाके अतिरिक्त अन्य अङ्गोंसे भी होता है; फर्क इतना ही है कि जिह्वापर रसकी संवेदना अन्य अङ्गोंकी अपेक्षया अधिक और विशेषरूपसे प्रतीत होती है। जैसे कटु या कषाय रसका ज्ञान जैसे जिह्वापर होता है वैसे ही गलेमें भी होता है, आमाशयमें होता है, त्वचापर होता है। शरीरमें रसका कार्य निपातस्थानके साथ सम्बन्ध होते ही होता है, उसमें रूपान्तरकी आवश्यकता नहीं होती—रसो निपाते द्रव्याणां (चरक), रसं विद्यान्निपातेन (अष्टाङ्गसंग्रह)। रसका यह कार्य बहुधा निपातस्थानके ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थानपर मर्यादित रहता है। यथा फिटकरी जैसी कषाय रसयुक्त ओषधिका त्वचापर प्रयोग करनेसे स्थानिक लसिकास्राव तथा रक्तस्राव बंध होता है, आँखोंमें करनेसे पानीका स्राव बंध होता है और मुखद्वारा सेवन करनेपर आमाशय तथा अन्त्रका स्राव (अतिसार) कम होता है। कभी-कभी रस स्थानिक वातनाडियोंके अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है। "अम्लः क्षालयते मुखं", "लवणः स्यन्दयत्यास्यं" कटुः स्रावयत्यक्षिनासास्यं"; ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तनके हैं। पाश्चात्य वैद्यकमें आयुर्वेदकी भाँति यद्यपि रसकी कल्पना नहीं है तो भी सुविधाके लिये तिक्त (Bitter), कषाय (Astringent) और अम्ल (Acids) ऐसे रसोंके अनुसार ओषधियोंके कुछ वर्ग किये गये हैं। पाश्चात्य वैद्यकमें रसके लिये कोई ठीक पर्याय नहीं दिखाई देता जो रसके पूरे अर्थको वतला सके, क्योंकि रुचि (taste) के अतिरिक्त रसमें आधुनिक परिभाषाके अनुसार ओषधियोंकी स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and primary action of drugs) भी अन्तर्भूत होती है (सू. स्था. पृ. २१९)।

२—चरकमें रसोंका क्रम 'कटु-तिक्त-कषाय'–ऐसा है, जो ऊपर दिया है। इन रसोंके बलोंका तारतम्य वाग्भटके अनुसार दिया है। बल-निर्देशमें वाग्भटने 'तिक्त-कटु-कषाय' यह क्रम रखा है। अतः हमने भी अर्थमें क्रम बदल दिया है।

षडेव रसा इति सिद्धान्तप्रतिपादनम्—

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः—यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति। द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः—छेदनीयः, उपशमनीयश्चेति। त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः—छेदनीयोपशमनीय-साधारणा इति। चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः—स्वादुर्हितश्च, स्वादुरहितश्च, अस्वादुर्हितश्च, अस्वादुरहितश्चेति। पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः—भौमौदकाग्नेय-वायव्यान्तरिक्षाः। षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः—गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाः। सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः—मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराः। अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः—मधुराम्ल-लवण--कटु-तिक्त-कषाय-क्षाराव्यक्ताः। अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक् आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात्। षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाः। तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-काल--वशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः; क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवणभूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्; अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये; अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्, एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते; परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति। तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। तच्चैव कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणासंसृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेक्ष्यामः (च. सू. अ. २६)॥

एक एवेत्यादि। इन्द्रियार्थानामिति निर्धारणे षष्ठी। अन्यतममिति एकम्।

अन्यशब्दो ह्ययमेकवचनः, यथा—अन्यो दक्षिणेन गतोऽन्य उत्तरेण, एक इत्यर्थः; तमप्प्रत्ययश्च स्वार्थिकः। जिह्वावैषयिकमिति जिह्वाग्राह्यम्। रसाभावोऽपि जिह्वया गृह्यतेऽत आह—भावमिति। उदकादनन्य इति रसोदकयोरेकत्वख्यापनार्थं पूर्वपक्षत्वाद्दुष्टम्। पूर्वपक्षश्च कपिलमतेन, ते हि रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमित्यादिवचनेन गुणाव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति ब्रुवते। छेदनीय इति अपतर्पणकारकः। उपशमनीय इति बृंहणः। साधारण इति आग्नेय-सौम्यसामान्यादुभयोरपि लङ्घन-बृंहणयोः कर्ता, परस्परविरोधादकर्ता वा। स्वादुरिति अभीष्टः, हित इति आयताप्यावनप्रकारी। आश्रीयत इत्याश्रयो द्रव्यं, गुणाः स्निग्ध-गुर्वादयः, कर्म धातुवर्धन-क्षपणादि, संस्वादो रसानामवान्तरभेदः, एषां विशेषाणां भेदानामित्यर्थः। तत्र द्रव्यभेदादाधारभेदेनाश्रितस्यापि रसस्य भेदो भवति, आश्रयो हि कारणं, कारणभेदाच्च कार्यभेदोऽवश्यं भवतीत्यर्थः। गुर्वादिगुणभेदास्तथा कर्मभेदाश्च रसकृता एव। ततश्च कार्यभेदादवश्यं कारणभेद इति पूर्वपक्षाभिप्रायः। संस्वादभेदस्तु एकस्यामपि मधुरजाताविक्षु-क्षीर-गुडादिगतः प्रत्यक्षमेव भेदो दृश्यते, स तु संस्वादभेदः स्वसंवेद्य एव; यदुक्तं—"इक्षु-क्षीर-गुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्। भेदस्तथाऽपि नाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥" इति। सिद्धान्तं पुनर्वसुवचनेनाह—षडेवेत्यादि। पूर्वपक्षोक्तरसैकत्वादिव्यवस्थामाह—तेषां षण्णामित्यादि। योनिः आधारकारणं, कार्यकारणयोश्च भेदात् सिद्ध उदकाद्रसभेदः प्रत्यक्ष एवेति भावः। क्षितिव्यतिरिक्तमुदकमेव यथा रसयोनिस्तथा "रसनार्थोरसस्तस्य" (च. सू. अ. १) इत्यादौ विवृतमेव दीर्घञ्जीवितीये। तयोर्मिश्रीभावादिति कर्मणोरमूर्तयोर्मिश्रीभावानुपपत्तौ तदाधारयोर्द्रव्ययोर्मिश्रीभावादिति बोद्धव्यम्। साधारणमिति साधारणकार्ययोगित्वम्[1]। भक्तिः इच्छेत्यर्थः। तेन यो यमिच्छति स तस्य स्वादुः, अस्वादुरितरः, इति पुरुषापेक्षौ धर्मौ; न रसभेदकार्यावित्यर्थः; पञ्चमहाभूतेत्यादौ 'तु' शब्दोऽवधारणे; तेन आश्रया एव, न रसा इत्यर्थः। किंभूता भौमादयो भूतविकारा आश्रया इत्याह—प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशा इति; 'वश'-शब्दोऽधीनार्थः, स च प्रकृत्यादिभिः प्रत्येकं योज्यः। तत्र प्रकृतिवशा यथा—मुद्गाः कषाया मधुराश्च सन्तः प्रकृत्या लघवः; एतद्धि लाघवं न रसवशं, तथाहि सति कषाय-मधुरत्वाद्गुरुत्वं स्यात्[2]। विकृतिवशं च व्रीहेर्लाजानां लघुत्वं, तथा सक्तुसिद्धपिण्डकानां च गुरुत्वम्। विचारणा विचारो द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः, तेन विचारणावशं यथा—मधुसर्पिषी संयुक्ते विषं, तथा विषं चागदसंयुक्तं स्वकार्यव्यतिरिक्त-

१—'साधारणकर्मयोगित्वं' इति पाठान्तरम्।

२—"एतद्धि लाघवं स्वाभाविकमेव, न तु रसवशं, तथा सति कषायमधुरत्वाद्गुरुत्वं स्यात्, वक्ष्यते च—"स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः।" इति शिवदाससेनः।

कार्यकारि[1]। देशो द्विविधो भूमिः, आतुरश्च ; तत्र भूमौ 'श्वेतकापोती वल्मीकाधिरूढा विषहरी', तथा 'हिमवति भेषजानि महागुणानि भवन्ति ।' इत्यादि । शरीरदेशे यथा—"सक्थिमांसाद्गुरुतरं स्कन्ध-क्रोड-शिरस्पदाम् ।"(च. सू. अ. २७) इत्यादि । कालवशं तु यथा मूलकमधिकृत्योक्तं—"तद्बालं दोषहरं, वृद्धं त्रिदोषम्" (च. सू. अ. २७), तथा "यथर्तुपुष्पफलमाददीत" (च. वि. अ. १) इत्यादि । अत्र चैकप्रकरणोक्ता येऽनुक्तास्ते चकारात् स्वाभावादिष्वेवान्तर्भावनीयाः । यदुक्तं—"चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः । लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥" (सू. अ. २७) इति । तत्र, चर-शरीरावयव-धातूनां देशेन ग्रहणं, मात्रा विचारे प्रविशति, शेषं स्वभावे ; तथा रसविमाने वक्ष्यमाणं चात्राप्रविष्टमाहारविधिविशेषायतनमन्तर्भावनीयं यथासंभवम् । स्निग्ध-रूक्षाद्या इत्यत्रादिग्रहणेनानुक्ता अपि तीक्ष्ण-मृद्वादयो न रसाः, किंतु द्रव्यगुणाः पृथगेवेति दर्शयति । क्षरणादधोगमनक्रियायोगात् क्षारो द्रव्यं, नासौ रसः, रसस्य हि निष्क्रियस्य क्रियाऽनुपपन्नेत्यर्थः । क्षरणं च क्षारस्य पानीययुक्तस्याधोगमनेन, वदन्ति हि लौकिकाः—'क्षारं स्रावयामः' इति ; शास्त्रे च—"छित्त्वा छित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः ।" (च. चि. अ. ५) इति । हेत्वन्तरमाह—द्रव्यं तदनेकरसोत्पन्नमिति ; अनेकरसेभ्यो मुष्ककापामार्गादिभ्य उत्पन्नमनेकरसोत्पन्नं ; यतश्चानेकरसोत्पन्नमत एवानेकरसं, कारणगुणानुविधायित्वात् कार्यगुणस्येति भावः । अनेकरसत्वमेवाह—कटुक-लवणभूयिष्ठमिति । भूयिष्ठशब्देनाप्रधानरसान्तरसंबन्धोऽस्तीति दर्शयति । हेत्वन्तरमाह —अनेकेन्द्रियार्थसमन्वितमिति ; क्षारो हि स्पर्शेन गन्धेन चान्वितः, तेन द्रव्यं ; रसे हि गुणे न स्पर्शोनापि गन्ध इति भावः । हेत्वन्तरमाह —करणाभिर्निर्वृत्तमिति; करणेन भस्मपरिस्रावणादिनाऽभिनिर्वृत्तं कृतमित्यर्थः, न रसोऽनेन प्रकारेण क्रियत इति भावः । अव्यक्तरसपक्षं निषेधयति—अव्यक्तीभाव इत्यादि । अव्यक्तीभाव इति अभूततद्भावे च्विप्रत्ययेन रसानां मधुरादीनां व्यक्तानामेव क्वचिदाधारेऽव्यक्तत्वं, नान्यो मधुरादिभ्योऽव्यक्तरस इत्यर्थः । रसानामिति मधुरादीनां षण्णाम् । प्रकृतावित्यादि प्रकृतौ कारणेजले इत्यर्थः । अव्यक्तत्वं च रससामान्यमात्रोपलब्धिर्मधुरादिविशेषशून्या, सा च जले भवति, यत उक्तं जलगुणकथने सुश्रुते—"व्यक्तरसता रसदोषः" (सु. सू. अ. ४५) इति, इहापि च 'अव्यक्तरसं च' इति वक्ष्यति, लोकेऽपि चाव्यक्तरसं द्रव्यमास्वाद्य वक्तारो वदन्ति—

१—"विचारणा विचारो द्रव्यान्तरसंयोग इत्यर्थः, तद्वशं यथा— उष्णवीर्यस्यापि तैलस्य चन्दनोशीरादिशीतवीर्यद्रव्यसंस्काराच्छैत्यं, तथा शीतवीर्यस्यापि घृतस्य तत्तद्द्रव्यसंयोगादुष्णता, तथा मांसरससिद्धस्य रक्तशालेर्गुरुत्वमित्यादि ।" इति शिवदाससेनः ।

'जलस्येवास्य रसो न कश्चिन्मधुरादियुक्तः'[1] इति। विशेषमधुराद्यनुपलब्धिश्चानुद्भूतत्त्वेन। यथा—दूरादविज्ञायमानविशेषवर्णे वस्तुनि रूपसामान्यप्रतीतिर्भवति, न शुक्लत्वादिविशेषबुद्धिः, तथाऽनुरसेऽव्यक्तीभावो भवति; प्रधानं व्यक्तं रसमनुगतोऽव्यक्तत्वेनेत्यनुरसः, यथा—वेणुयवे मधुरे कषायोऽनुरसः। यदुक्तं—"रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा।" (च. सू. अ. २७) इति। अनुरससमन्वित इति सर्वानुरसयुक्ते, यथा विषे; वचनं हि—"उष्णमनिर्देश्यरसं" (च. चि. अ. २३) इत्यादि। किंवा, 'अणुरससमन्विते' इति पाठः; तेन, अणुरसेनैकेन मरिचेन शर्करापले[2] कटुत्वमव्यक्तं स्यात्। अपरिसंख्येयपक्षं[3] दूषयति—अपरीत्यादि। तेषामिति रसानाम्, अपरिसंख्येयत्वं न युक्तम्; आश्रयादीनां भावानामिति आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां; विशेषापरिसंख्येयत्वादिति आश्रयादिभेदस्यापरिसंख्येयत्वात्। अत्र हेतुमाह—एकैकोऽपि हीत्यादि। एषामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषानानेकैकोऽपि मधुरादिराश्रयने, न च तस्मादाश्रयादिभेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति। एवं मन्यते—यद्यपि शालि-मुद्ग-घृत-क्षीरादयो मधुरस्याश्रया भिन्नाः, तथाऽपि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति, बलाका-क्षीर-कार्पासादिषु शुक्लवर्ण इव। तथा गुणानां गुरु-पिच्छिल स्निग्धादीनामन्यत्वेऽपि कर्मणां वा रसादिवर्धनायुर्जनन-वर्णकरत्वादीनां भिन्नत्वे सत्यपि न मधुररसस्यान्यत्वं; यत एक एव मधुरस्तत्तद्गुणयुक्तो भवति, तत्तत्कर्मकारी चेति को विरोधः। तथा मधुरस्यावान्तरास्वादभेदेऽपि मधुरत्वजात्यनतिक्रमः, कृष्णवर्णावान्तरभेदे यथा कृष्णत्वानतिक्रमः। ननु मैवं भवत्वपरिसंख्येयत्वं रसानां, परस्परसंयोगात्तु य आस्वादविशेषः स विशेषकार्यकरोऽपि; नहि यन्मधुराम्लेन क्रियते तन्मधुरेण वाऽम्लेन वा शक्यम्; अतस्तेन परस्परसंयोगेनापरिसंख्येयत्वं भविष्यतीत्याह—परस्परेत्यादि। संसृष्टमिति भावेक्तः,

---

१—'मधुरादिर्व्यक्तः' इति पाठान्तरम्। २—'शर्करापानके' इति पा०।

३—"अपरिसंख्येयपक्षं दूषयति – अपरिसंख्येयत्वमित्यादि। आदिशब्देन गुण-कर्म-संस्वादानां ग्रहणम्, आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां ये विशेषा भेदास्तेषामपरिसंख्येयत्वात्तेषां रसानामपरिसंख्येयत्वं यदुच्यते तन्न युक्तं, तत्र हेतुमाह—एकैकोऽपीत्यादि। एषामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषानेकैकोऽपि मधुरादिराश्रयते, न त्वस्मादाश्रयादिभेदादन्यत्वमाश्रितस्य मधुरादेर्भवति। एतेन, आश्रयादय एव परं भिन्नाः, मधुरादिस्त्वेक एवेत्यर्थः। तथाहि—यद्यपि शालि-मुद्ग-घृत-क्षीरादयो मधुरस्याश्रया भिन्नाः, तथाऽपि तत्र मधुरत्वजात्याक्रान्त एक एव रसो भवति, बलाका-क्षीरादिषु शुक्लवर्णवत्। एवं गुणानां गुरु-पिच्छिलादीनामन्यत्वेऽपि तथा कर्मणां रसादिवर्धन-बलवर्णकरणादीनां भिन्नत्वेऽपि तथा मधुरस्यावान्तरास्वादभेदेऽपि न मधुररसस्यान्यत्वं, मधुरत्वजात्यनतिक्रमादिति भावः।" इति शिवदाससेनः।

तेन परस्परसंसर्गभूयिष्ठत्वादेषां मधुरादीनामभिनिर्वृत्तेर्न गुणप्रकृतीनामसंख्येयत्वमिति योजना; अयमर्थः—यद्यपि रसाः परस्परसंसर्गेणातिभूयसा युक्ताः सन्तोऽभिनिर्वृत्ता द्विरसादौ द्रव्ये भवन्ति, तथाऽपि न तेषां गुणा गुरु-लघ्वादयः प्रकृतयो वा मधुरादीनां या या आयुष्यत्व-रसाभिवर्धकत्वाद्यास्ता असंख्येया भवन्ति, किं तु य एव मधुरादीनां प्रत्येकं गुणाः प्रकृतयश्च उद्दिष्टास्त एव मिश्रा भवन्ति। किंवा गुण[1] प्रकृतीनामिति मधुरादिषड्गुणस्वरूपाणामित्यर्थः; तेन रसस्य रसान्तरसंसर्गे दोषाणामिव दोषान्तरसंसर्गे रसानां नापरिसंख्येयत्वमित्यर्थः। प्रकृतिशब्देन कर्म वोच्यते, तेन गुणकर्मणामित्यर्थः। मधुरादीनामवान्तरास्वाद-विशेषोऽपि परस्परसंसर्गकृतो ज्ञेयः। यत एव हेतो रसानां संसृष्टानां नान्ये गुणकर्मणी भवतः, अत एव संसृष्टानां रसानां पृथक्कर्म शास्त्रान्तरेऽपि नोक्तमित्याह—तस्मादित्यादि। कर्मशब्देनेह गौरव-लाघवादिकारका गुरुत्वादयो रस-रक्तादिजनना-दयश्चापि बोद्धव्याः। न केवलमन्यशास्त्रकारै रसानां संसृष्टानां कर्म नोपदिष्टं, किंतु वयमपि नोपदेक्ष्याम इत्याह—तच्चैवेत्यादि। तच्चैव कारणमिति परस्पर-संसर्गेऽपि रसानामनधिकगुण-कर्मत्वम्। लक्षणेन पृथक्त्वं लक्षणपृथक्त्वम्। तत्र लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्; अतस्तु 'मधुरो रसः' इत्यादिना ग्रन्थेन, तथा 'स्नेहन-प्रीणनाह्लाद॰' इत्यादिना च यद्वाच्यं, तत् सर्वं गृह्यते। किंवा लक्षणशब्देन 'मधुरो रस' इत्यादिग्रन्थवाच्यं लक्षणमुच्यते; पृथक्त्वं च रसभेदज्ञानार्थं यद्वक्ष्यति—'स्नेहन-प्रीणन॰' इत्यादि, तद् गृह्यते (च. द.)। रसैकत्वपक्षं खण्डयति—तेषामित्यादि। तेषां षण्णां रसानां योनिः उत्पत्तिकारणमुदकम्। उक्तं च—"आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः" (च. सू. अ. २१) इति। तस्मादुदकादन्य एव रसः; न त्वनन्यः, कार्य-कारणयोर्भेदात्। छेदनं चोपशमनं च ते द्वे रसानां कर्मणी। छेदनं दोषादीनां भागशः करणम्। तच्चेह वमन-विरेचनात्मकं शोधनम्। आस्थापन-शिरोविरेचने तु नाहाररसकर्मणी। रसानां शोधनत्वं "तत्राग्निमारुतात्मका रसाः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना पश्चाद्दर्शयिष्यते। उपशमनं दोषाणामनुत्क्लेशेन

१—"गुणप्रकृतीनामिति परस्परसंसर्गहेतुत्वान्मधुरादिगुणा एव प्रकृतयः, तासां मधुरादिषड्गुणस्वरूपाणामित्यर्थः। तथा च परस्परसंसर्गभूयिष्ठत्वादेषां रसानामभि-निर्वृत्तेः प्रकृतिभूतानां मधुरादिगुणानामसंख्येयत्वं न चेति योजना। तेन, रसानां रसान्तरसंसर्गे रसान्तरभेदसंसर्गे वा तत्संसर्गाणामेवापरिसंख्येयत्वं न पुनः प्रकृति-भूतमधुरादिषड्रसानां षट्त्वातिक्रमः, यथा—दोषाणां परस्परसंसर्गभूयस्त्वेऽपि त्रित्वान-तिक्रम इत्यर्थः। यतः संसृष्टानां रसानां मधुरादिषड्रसप्रकृतिकत्वान्न रसान्तरत्वम्, अत एव संसृष्टरसानां पृथक्कर्म शास्त्रान्तरेऽपि नोक्तमित्याह—तस्मान्न संसृष्टानामित्यादि" इति शिवदाससेनः।

समीकरणम् । रसानां दोषशमनत्वं च—"स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषाय-स्वादु-तिक्तकाः जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः ॥" (च. सू. अ. १) इति । तयोः कर्मणोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वम् । अनेन रसद्वित्व-त्रित्वपक्षौ निराकृतौ । स्वाद्वस्वादुता च भक्ति-द्वेषौ इच्छा-द्वेषौ । यो यमिच्छति स तस्य स्वादुः, यं द्वेष्टि स तस्यास्वादुः । हिताहितौ रसस्य प्रभावौ । प्रभावः शक्तिः । एवं 'चत्वारो रसा' इति हिरण्याक्षेण कौशिकेन यदुक्तं तन्निरस्तम् । भौमौदकाग्नेय-वायवीयान्तरीक्षाः एते पञ्चमहाभूतविकाराः । ते हि षण्णां रसानामाश्रयाः, न तु रसाः । 'पञ्च रसा' इति भरद्वाजवचनमनेन परिहृतम् । गुर्वादीनां षण्णां रसत्वपक्षं निरस्यति—प्रकृतीति । तेषां षण्णां रसानामाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु पञ्चमहाभूतविकारेषु कार्यद्रव्येषु । इह द्रव्यसंज्ञा पञ्चमहाभूतविकाराणाम् । वक्ष्यति च—"सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे ।" (च. सू. अ. २६) इति । प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाः गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षाद्याः । आद्यशब्देनान्येषां द्रव्याश्रितधर्माणां ग्रहणम् । गुणा गुर्वादयो हि द्रव्याश्रितगुणाः, न तु रसाः । ते रसेषु उपचर्यन्ते साहचर्यात् । प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशा इति प्रकृतिवशाः, विकृतिवशाः, विचारवशाः, देशवशाः, कालवशाश्च । तत्र प्रकृतिवशा द्रव्येषूत्पद्यमानेषु ये गुणाः प्रकृत्यपेक्षया जायन्तेः; यथा—अग्निमारुतात्मकं द्रव्यं प्रायेणोर्ध्वभागं लाघवादुत्प्लवत्वाच्च वायोः, ऊर्ध्वज्वल नत्वाच्च वह्नेः । विकृतिवशाः ये प्रकृत्यवस्थायां न सन्तोऽपि भूतेषु ऊनाधिक-भावेन तथा तथा संहन्यमानेषु जन्यन्ते । विकृतिवशत्वं च "षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुणकर्माणि" (च. सु. अ. २६) इत्यादिना दर्शयिष्यते । विचारवशा ये विशिष्टमात्रादिभिर्जायन्ते । देशो देह-भूमिलक्षणो द्विविधः । तत्र देहवशाद् यथा "सक्थिमांसाद्गुरुः स्कन्धः ।" (च. सू. अ. २७) इति । भूमिवशात् अन्यथा जाङ्गले, अन्यथा आनूपे । एवं कालवशादपि । 'सप्त रसा मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय-क्षारा' इति निमिना वैदेहेनोक्तम् । तत्र मधुरादीनां षण्णां रसत्वमनुमतमेव । क्षारस्य रसत्वं निरस्यति—क्षरणादिति 'क्षरणात् क्षारः' इति क्षारस्य निरुक्तिः । क्षरणात् दुष्टत्वङ्मांसादीनां चालनात् शातनादित्यर्थः ; अथवा क्षरणं दोषाणां चालनम् । "तत्र क्षरणात् खननाद्वा क्षारः" (सु. सू. अ. ११) इति सुश्रुतः । खननं दुष्टत्वङ्मांसादीनां हिंसनम् । असौ क्षारो न रसः, तद्धि द्रव्यम् । तदेव विशेषणैरुपपादयति —अनेकेत्यादि । अनेकरसेभ्यो द्रव्येभ्यः पाञ्चभौतिकेभ्यः समुत्पन्नं, तस्मादनेकरसं; कार्यस्य कारणानुविधायित्वात् । अनेकरसत्वेऽपि कटु-लवणरसभूयिष्ठम् । अनेकैरिन्द्रियार्थैः स्पर्श-रूप-रस-गन्धैः समन्वितम् । क्षारः शुक्लः "शुक्लत्वात् सौम्यः" (सु. सू. अ. ११) इति । रसो न रसाश्रयः, न वा तत्र स्पर्शादयः, तस्य गुणत्वात् ; "गुणाः गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६) इति । करणेन क्रियया अभिनिर्वृत्तं, कृत्रिममित्यर्थः ; रसस्तु सहजः, तस्मात्

क्षारो न रसः, द्रव्यं हि तत्। अष्टौ रसा इति अस्मिन् क्षाराव्यक्तौ अननुमतौ। तत्र क्षारस्य रसत्वं प्रागेव परिहृतं, संप्रति अव्यक्तरसपक्षं खण्डयति—अव्यक्तभाव इति। रसानां मधुरादीनां षण्णामव्यक्तभावः अव्यक्तत्वं प्राक् प्रकृतौ योनौ उदके भवति। आपो हि अव्यक्तरसाः। अव्यक्तत्वम् अस्फुटप्रतिभासत्वम्। यो रसनेन्द्रियेण मधुरोऽयम्, अम्लोऽयम्, इत्यादिप्रकारेण स्फुटं नोपलभ्यते सोऽव्यक्तः। अनुरसेऽव्यक्तभावो भवति। अनुरसो हि रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः। अनुरसलक्षणं पश्चाद्वक्ष्यते—"विपर्ययेणानुरसः" (च. सू. अ. २६) इति। ननु, अनुरसेऽपि क्वचित् व्यक्तिरस्तीत्यत आह—अनुरससमन्विते इति। अनुरस-समन्विते द्रव्ये वाऽव्यक्तभावो भवति। द्रव्याणामव्यवहारकाले रस एव व्यज्यते, क्वचिदनुरसस्य यो व्यक्तभावः, स पश्चात्। मधुरादय एव व्यक्ताव्यक्त रसानुरस-रूपाः। न तेभ्यः षड्भ्योऽन्योऽव्यक्ताख्योऽनुरससंज्ञो वा कश्चिद्रसोऽस्ति। वक्ष्यति च—"रसो नास्ति हि सप्तमः।" (च. सू. अ. २६) इति। अपरिसंख्येयपक्षं दूषयति—अपरिसंख्येयत्वमित्यादि। आश्रयादीनां भावानामाश्रय-गुण-कर्म-संस्वा-दानां, विशेषापरिसंख्येयत्वात् विशेषाणामपरिसंख्येयत्वाद्, तेषां रसानामपरिसंख्येय-त्वं न युक्तम्। आश्रय-गुण-कर्म-संस्वादानां विशेषापरिसंख्येयत्वाद्रसा अपरि-संख्येया-भवन्तीति बाह्लीकभिषजा काङ्कायनेन यदुक्तं तन्न युक्तम्। यत आश्रयादीनां विशेषेष्वपि रसानामपरिसंख्येयत्वं न भवति। तदेव दर्शयति—एकैकोऽपीति। सत्यम्। एषामाश्रयादीनां भावानामेकैकोऽपि विशेषमेवाश्रयते, न तस्मात्तेषामन्य-त्वमुपपद्यते। कुतः? परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वात्। अयमर्थः—रसानामाश्रया द्रव्य-संज्ञकास्तद्गुणभूयिष्ठाः पञ्चमहाभूतविकाराः। भूतानामन्योन्यसंसर्गबहुलानामल्पो-त्कर्षापकर्षाभ्यां तेषां विशेषा भवन्ति, न च तेन ते भिद्यन्ते, किन्तु संसृष्टरूपा भवन्ति। यथा—संसर्गे दोषाः। न चेति एषां विशेषाणामभिनिर्वृत्तौ निष्पत्तौ न च गुर्वादिगुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति, येन गुणा अपरिसंख्येयाः स्युः। अतो गुणादीनां विशेषेष्वपि संख्याभेदो न भवति। कर्मभेदोऽपि न भवति, तदेवाह—तस्मादिति। यस्मात् विशेषेषु गुणप्रकृतीनां भेदो न भवति। रसोऽपि गुण एव। विशेषेऽपि मधुरादिप्रकृतयो न भिद्यन्ते, येन कर्मभेदः स्यात्। तस्मात् कारणात्। संसृष्टानां रसानामल्पोत्कर्षापकर्षाभ्यां संसृष्टरूपाणां रसानाम्। रसानां संसर्गो द्रव्यसंसर्गकृतः। कर्म पृथङ्नोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः; यतस्ते मधुरादिभ्यो न भिद्यन्ते, किंतु संसृष्टरूपा भवन्ति; अतस्तेषां कर्म मधुरादीनां कर्मैव संसृष्टरूपम्। तच्चैवेति तच्चैव कारणमवेक्षमाणाः तस्मात् कारणादित्यर्थः। वयं षण्णां रसानां परस्परेणा-संसृष्टानां लक्षणम् आस्वादलक्षणं मुखोपलेपादिरूपं, पृथक्त्वेन पृथक् पृथगुप-देक्ष्यामः—'स्नेहनप्रीणन०' इत्यादिना, न तु संसृष्टानाम्। अतो नास्वादभेदोऽपि

भवति, मधुरस्कन्धनिर्दिष्टेक्षु-क्षीर-गुडादिषु माधुर्यस्य विशेषेऽपि मुखोपलेपादिरूप-तत्तल्लक्षणस्य तुल्यत्वात् ; तस्मात् षडेव रसाः (यो.)।

मधुरस्कन्धनिर्दिष्टघृत-तैल-गुडादिषु ।
गुणास्वादादिभेदेन रसषट्कं न युज्यते ॥
अस्तु भेदादसंख्यत्वमैक्यं वाऽऽस्वादलक्षणात् ।
भूतोत्कर्षापकर्षेण भेदो योऽल्पेन कल्प्यते ॥
संकीर्णत्वात् फले चासौ तुल्यत्वान्न विवक्ष्यते ।
गुर्वादीनां विशेषेऽपि स्वजातेरनतिक्रमात् ॥
संख्याभेदो यथा नास्ति रसानामपि स क्रमः ।
दृष्टं मुखोपलेपादि यत् सर्वेषु घृतादिषु ॥
न च तद्दाडिमाद्येषु षडेवातो रसाः स्मृताः ।
आनन्त्यैकत्वयोश्च स्यान्न विचित्रार्थतन्त्रणम् ॥(अ. सं. सू. अ. १७)

ननु रसानां मधुरादित्वेन षट्संख्यानियम उक्तः, स न युज्यते; केवलमेकरसत्वमनेकरसत्वं वा । तत्रानेकरसत्वे कारणं वक्ष्यमाणमधुरादिस्कन्धनिर्दिष्टानां घृत-तैल-गुड-द्राक्षा-शर्करा-मधु-मधुकादीनां गुणास्वादादिभेदः। तथाहि—त्वया ये मधुरत्वेन निर्दिष्टा गुड–द्राक्षादयः आस्वादनेन ते न परस्परसदृशाः, न च गुरुत्वादिना गुणेन, न चाम्लादियुक्ता इति वक्तुं युज्यते, अतो ज्ञायते अन्ये विशिष्टा एव त इति प्रतिरसस्कन्धमानन्त्यम् । रसैकत्वे कारणं जिह्वेन्द्रियास्वादनसामान्यं; तत्र प्रतिविधीयते—भूतोत्कर्षापकर्षेणेत्यादि । तत्र प्रथमं गुणभेददूषणं परिह्रीयते—योऽयमल्पेन भूतानामुत्कर्षेणापकर्षेण मधुराणां गुणभेदः, स संकीर्णत्वात् फले च सदृशत्वात् सन्नपि न विवक्ष्यते । आस्वादभेदादानन्त्यं परिह्रियते—गुर्वादीनामित्यादि । गुर्वादीनां द्रव्याणां यद्यपि प्रतिद्रव्यं वैलक्षण्यमस्ति, तथाऽपि गुरुत्वादिजात्यनतिक्रमाद् गुरुर्गुरुर्लघुर्लघुरिति संख्याभेदाविवक्षया निर्दिश्यन्ते । तद्वन्मधुरादिस्कन्धपठितानां द्रव्याणां यद्यप्यास्वादवैलक्षण्यं दृश्यते, तथाऽपि यन्मुखोपलेप-ह्लादनादि घृतादिषु मधुरेषु दृष्टं न तन्मुखोपलेपादि दाडिम-सैन्धवादिष्वम्ल-लवणादिषु दृश्यते, न चैतान् रसानतिक्रम्य जात्यन्तरं संभवति ; अतः षडेव रसाः ; नोनाधिकाः । यदि सदेवानन्त्यमैक्यं वा यथोक्तप्रकारेण तन्त्रव्यवहारे गृह्यते, ततो विचित्रस्य रसपृष्ठभाविनो वक्तव्यस्यानेकस्य तन्त्रणं शास्त्रे प्रयोगो न स्यात् । अत आनन्त्येन रसानां तत्स्वरूप-तन्त्रणस्याप्यानन्त्यादवक्तव्यता । एकरसत्वे च विशेषस्यानुक्तत्वात् स्वरूपतन्त्रणमपि न युज्यत इति (इन्दुः) ॥

षट् सूत्रकारप्रामाण्यादास्वादाच्च (र. वै. अ. ३. सू. ५)। सूत्रकार-प्रामाण्यादिति षडेव रसा न सप्तमोऽस्तीति। आस्वादादिति प्रत्यक्षत उपलब्धेरिति। आस्वाद्यमानाः षडेवोपलभ्यन्ते न सप्तमः। अनेनाव्यक्तः प्रतिषिद्धः, अव्यक्तस्य ग्रहणाभावात्। अत्राव्यक्तिर्नाम तेषामेव षण्णामपि विवेकाप्राप्तिः। क्षारो गुणः क्षारगुणशक्तिर्द्व्यस्येति (भा.)।

'रस छः ही हैं' यह सिद्धान्त स्थापित करनेके पूर्व रसके विषयमें भिन्न-भिन्न संख्या माननेवाले वादियोंका मत क्रमशः देते हैं।—(१) भद्रकाप्य कहता है कि—रस एक ही है, जिसे पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषयोंमेंसे एक जिह्वेन्द्रियका विषय तथा भावरूप कहा जाता है, वह जलसे भिन्न नहीं है (यहाँ 'भावरूप' कहनेका आशय यह है कि रसाभाव भी जिह्वाका विषय है, पर उसे रस नहीं कहा जाता)। (२) शाकुन्तेय ब्राह्मण कहता है कि—रस दो हैं—छेदनीय (अपतर्पण-कर्शन-लङ्घन करनेवाला) और उपशमनीय (बृंहण-तर्पण करनेवाला)। (३) पूर्णाक्ष मौद्गल्य कहता है कि—रस तीन हैं—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण (लङ्घन या बृंहण दोनोंमेंसे कुछ भी न करनेवाला या दोनों करनेवाला; जैसे—तैल स्थूलको कृश और कृशको स्थूल करता है)। (४) हिरण्याक्ष कौशिक कहता है कि—रस चार हैं—(१) स्वादु (जिह्वाको प्रिय) और हित (शरीरको हितकर), (२) स्वादु और अहित, (३) अस्वादु (जिह्वाको अप्रिय) और हित, (४) अस्वादु और अहित। (५) कुमारशिरा भरद्वाज कहता है कि—रस पाँच हैं—भौम (पार्थिव), औदक (जलीय), आग्नेय, वायव्य और आन्तरीक्ष (नाभस)। (६) राजर्षि वार्योविद् कहता है कि—रस छः हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। (७) वैदेह निमि कहता कि—रस सात हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय और क्षार। (८) बडिश धामार्गव कहता है कि—रस आठ हैं—उक्त सात और आठवाँ अव्यक्त। (९) बाह्लीक देशका वैद्य काङ्कायन कहता है कि—रसके आश्रयभूत द्रव्य, गुण, कर्म और संस्वाद (एक ही मधुरादि रसवाले द्रव्योंका अपना-अपना विशिष्ट स्वाद) ये अनेक होनेसे रस भी अनेक हैं। रसके विषयमें इन एकान्तवादी (एक-एक पक्षकी स्थापना करनेवाले) महर्षियोंके वचन सुनकर भगवान् आत्रेय पुनर्वसु कहने लगे कि—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः ही रस हैं। भद्रकाप्यने कहा है कि रस एक ही है और वह जलसे भिन्न नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जल छहों रसोंका आधार है। जल रसोंका आधार होनेसे रस नहीं हो सकता। आधार और आधेय भिन्न ही होते हैं। अतः रसको जलसे अभिन्न और एक बताना ठीक नहीं है। शाकुन्तेय ब्राह्मणने छेदनीय और उपशमनीय दो रस बताये हैं, और पूर्णाक्ष मौद्गल्यने छेदनीय उपशमनीय और साधारण ये तीन रस बताये हैं, ये दोनों मत ठीक नहीं हैं; क्योंकि

छेदन, उपशमन और उनके मिश्रणसे जो साधारणत्व होता है वे रसोंके कर्म हैं, वे रस नहीं हैं। हिरण्याक्ष कौशिकने स्वादु हित, स्वादु अहित, अस्वादु हित और अस्वादु अहित ये चार रस बताये हैं; परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि स्वादुता और अस्वादुता ये भक्ति (प्रति मनुष्यकी भिन्न-भिन्न इच्छा) है। जो एकको स्वादु वह दूसरेको अस्वादु, और जो एकको अस्वादु वह दूसरेको स्वादु लगता है। अतः ये रस नहीं हो सकते। हित और अहित ये दोनों प्रभाव हैं। प्रभाव रसाश्रित होता है, वह स्वयं रस नहीं होता। कुमारशिरा भरद्वाजने भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरीक्ष ये पाँच रस बताये हैं, परन्तु ये पाँच रस नहीं हो सकते; क्योंकि पञ्चमहाभूतोंके विकाररूप भौम आदि कार्यद्रव्य रसोंके आश्रय हैं। ये प्रकृति, विकृति (संस्कार), विचार (द्रव्यान्तरसंयोग), देश और कालके वश (अधीन) हैं; अर्थात् इनके हेरफेरसे बदलते रहते हैं। अतः ये पञ्चमहाभूतविकार स्वयं रस नहीं हो सकते। राजर्षि वार्योविद्ने गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये छः रस बताये हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि गुरु, लघु आदि आश्रयभूत द्रव्यके अन्दर रहनेवाले गुणविशेष हैं; रस नहीं हैं। विदेह राजा निमिने कहा है कि मधुरादि सात रस हैं; उनमें मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये छः रस हमें भी संमत हैं; परन्तु सातवाँ क्षार रस नहीं है। क्षार द्रव्य है, क्योंकि वह अनेक रसवाले द्रव्योंसे बनता है, अतः अनेक रसवाला तथा कटु और लवण रसकी अधिकतावाला है; अनेक इन्द्रियोंसे इसका ग्रहण होता है—अर्थात् जिह्वाके अतिरिक्त स्पर्श आदिसे भी क्षारका ग्रहण होता है (परन्तु रसका केवल रसनेन्द्रियसे ही ग्रहण होता है); और क्षार एक विशिष्ट क्रियाद्वारा तैयार किया जाता है। रसमें ये सब बातें नहीं होतीं; अतः क्षार रस नहीं है, किंतु द्रव्य है[1]। बडिश धामार्गवने कहा है कि मधुरादि छः, क्षार और अव्यक्त ये आठ रस हैं; इनमें मधुरादि छः रस हमें भी मान्य हैं। क्षारके रस होनेका खण्डन ऊपर कर चुके हैं। आठवाँ अव्यक्त रस बताया जाता है, यह भी ठीक नहीं है। रसोंका अव्यक्तपना रसोंकी प्रकृतिमें (दिव्य जलमें), अनुरसमें या अनुरससमन्वित द्रव्यमें होता है; अतः वह छः रसोंसे भिन्न सातवाँ रस नहीं हो सकता। क्योंकि छः रसोंमेंसे किसीका भी व्यक्त न होना ही अव्यक्तीभाव है। वाह्लीक वैद्य काङ्कायनने आश्रय, गुण, कर्म और संस्वादोंके अपरिसंख्येय होनेसे रस भी अपरिसंख्येय हैं, ऐसा जो कहा है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक मधुरादि रस आश्रय, गुण, कर्म और संस्वादके विशेषों (भेदों) को आश्रय करता है; परन्तु इन आश्रयादिके भेदसे रसोंका अन्यत्व (भेद) नहीं हो सकता। जैसे–चावल–दूध-घी

१—रसवैशेषिकसूत्रका भाष्यकार-लिखता है कि—क्षार द्रव्यकी क्षार (क्षणन)-गुणयुक्त शक्ति है, रस नहीं है।

आदि मधुर रसके आश्रय भिन्न होते हैं, तथापि उन सबमें मधुरत्व जातिवाला एक ही रस होता है। जैसे बगला-दूध-रूई आदि अनेक आश्रयोंमें शुक्ल वर्ण एक ही होता है; इसी प्रकार गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल आदि गुण तथा प्रीणन, जीवन, तर्पण आदि कर्म भिन्न होनेपर भी मधुर रस एक ही रहता है। एक ही मधुर रस गुर्वादि अनेक गुणयुक्त, तथा बृंहण-तर्पण आदि अनेक कर्म करनेवाला हो, इसमें क्या विरोध है? इसी प्रकार गुड़, द्राक्षा आदिमें अवान्तर आस्वाद होनेपर भी उनमें मधुरत्व जातिवाला एक ही मधुर रस होता है। आप कहेंगे कि—आश्रय-गुण-कर्मादि भेदसे रस अपरिसंख्येय न हों, परन्तु परस्पर संयोगसे जो आस्वादविशेष उत्पन्न होता है, वह विशेष कार्य करनेवाला भी होता है। मधुर और अम्ल मिले हुए रससे जो कार्य होता है, वह केवल मधुर या अम्लसे नहीं हो सकता। अतः परस्पर संयोगसे रस अपरिसंख्येय हैं। तो इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें मधुरादि रस अनेक प्रकारके परस्पर संयोगसे युक्त होते हैं, तथापि उनके गुरु-लघ्वादि गुण या जीवन-बृंहण आदि प्रकृति (स्वभाव-कर्म) अनेक नहीं होते, किन्तु प्रत्येक मधुरादिके जो गुणकर्म होते हैं, वे ही द्वि-त्रिरसादि द्रव्योंमें संसृष्ट (मिश्रित) होते हैं। इस कारण-से उनको असंख्येय मानना ठीक नहीं है (किंवा गुणप्रकृति अर्थात् मधुरादि छः गुणस्वरूप, उनके अनेक परस्पर संयोगसे द्वि-त्रिरसादि संसर्गोंकी (मिश्ररसोंकी) उत्पत्ति होती है, इससे इनके प्रकृतिभूत रसोंको असंख्येय नहीं माना जा सकता। जैसे—वातादि दोषोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका त्रित्व नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार रसोंके अनेक संसर्ग होनेपर भी उनका षट्त्व नष्ट नहीं होता—रस छःसे अधिक नहीं होते)। संसृष्ट रसोंमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिभूत रसोंके ही गुण-कर्म मिश्रित होते हैं, इसलिए संसृष्ट रसोंके जुदे गुण-कर्म शास्त्रान्तरोंमें भी नहीं लिखे गये हैं। इसलिये हम भी यहाँ असंसृष्ट एक-एक रसके ही लक्षण (गुण-कर्म) का उपदेश करेंगे।

रसानामन्यथात्वगमननिरूपणम्—

अन्यथात्वगमनं स्थानात् (र. वै. सू, अ. ३, सू. २९)। एवं रसानां षट्त्वं प्रसाध्येदानीमन्यथात्वगमनं वक्ष्यते—अन्यथात्वेत्यादि। अन्यथात्वगमनं नाम अन्यास्वादस्य प्राप्तिः। अन्यथात्वगमनं स्थानाच्च भवति। स्थानं किंचिद्-व्यवस्थानम्। यथा—रसतो मधुर ओदन अवस्थापितो धान्याम्लं भवति। अथवा स्थानात् स्थीयतेऽत्रेति स्थानमधिकरणं भाजनं, तद्धेतोरपि रसान्तरं भवति; अम्लभाजने प्रक्षिप्तं क्षीरं मधुरमम्लतामापद्यते (भा.)। संयोगतः, अग्नेः पाकात् (सू. ३०)। संयोगतश्च रसानामन्यथात्वं भवति। संयोग इति द्रव्यान्तरसंयोगः। यथा—सुधाचूर्णेन भस्मना वा संयुक्तं चिञ्चाफलमम्लं मधुरं

भवति । अग्नेः पाकात् अग्निनिमित्तं पाकादित्युक्तं भवति । तदेव चिञ्चाफलमग्निपक्वं मधुरं भवति, पाकाज्जाम्बवान्यार्द्राणि वायुना शोषितान्यम्लानि मधुरीभवन्ति (भा.) । आतपात् (सू. ३१) । तुम्बरुफलान्यातपपरिशोषितानि कषायाणि मधुरीभवन्ति (भा.) । भावनया, देशकालाभ्याम् (सू. ३२) । यष्टि-मधुभाविताास्तिलाः कषाय-तिक्त-मधुराः सन्तो मधुरा एव भवन्ति । संयोग-भावनयो-र्महान् विशेष इति न विपच्यन्ते । देश-कालाभ्यां देशतः क्वचिद्देशे आमलक-फलानि परममधुराणि भवन्ति किल ; कालतः कदलीफलं कषायं मधुरतामापद्यते, तदेवान्यरसं भवतीति (भा.) । परिणामतः (सू. ३३) । परिणामोऽन्यथा भावः । यथा क्षीरं दधिभावेन परिणतमम्लं भवति, तथा आसवाश्च । अथवा परिणामतः कालव्यतिक्रमादतिपरिणामतः । यथा–पनसफलमतिक्लिन्नं कालात्ययात् परिणतमम्लं भवति, तथा—तालफलं च (भा.) । उपसर्गतः (सू. ३४) । उपसर्गतः कृमिप्रभृतिभिरुपसृष्टास्त्विक्षवस्तिक्ता अम्ला वा भवन्ति (भा.) । विक्रियातः (सू. ३५) । विक्रियातश्चान्यथात्वगमनं भवति ; विरुद्धा विप्रतिषिद्धा वा क्रिया विक्रिया, तद्धेतोश्च रसान्तरप्राप्तिर्भवति । तद्यथा—तालफलं दग्धं भूमौ बहुशः परिवर्तितं तिक्तं भवति ; पनसफलं हस्तेन बहुशः परीपीडितं क्लिष्टं चाम्लं भवतीति (भा.) ॥

स्थानसे अर्थात् अवस्थानसे (कुछ समय रहनेसे) रसोंका अन्यथात्व (एक रस से दूसरे रसमें बदलना) होता है । जैसे—मधुर रसवाला ओदन-भात जलके साथ मिलाकर कुछ दिन रखनेसे धान्याम्ल (काँजी) के रूपमें बदल (अम्ल रस वाला) जाता है । अथवा स्थान अर्थात् पात्र, पात्रसे भी रस बदलता है ; जैसे—खटाईवाले पात्रमें रखनेसे दूध खट्टा बन जाता है । संयोगसे (अन्य द्रव्यके संयोगसे) रस बदलता है ; जैसे - चूने या भस्म (राख) के संयोगसे इमलीका खट्टा फल मीठा हो जाता है । अग्निमें पकानेसे द्रव्यका रस बदल जाता है ; जैसे—इमलीके फल अग्निमें पकानेसे मीठे हो जाते हैं, जामुनके खट्टे फल अग्निपर पकाकर हवामें सुखानेसे मीठे हो जाते हैं । सूर्यके तापमें सुखानेसे द्रव्योंका रस बदल जाता है ; जैसे—कषाय रसवाले तुम्बरु (तेजबल) के फल (तोमर) धूप में सुखानेसे मीठे हो जाते हैं । भावनासे द्रव्यका रस बदल जाता है ; जैसे—कषाय, तिक्त और मधुर रसवाले तिलोंको मुलेठीके क्वाथकी भावना देनेसे वे मधुर हो जाते हैं । देशविशेषसे कहीं खट्टे फल मीठे होते हैं । कालसे भी रस बदल जाता है ; जैसे—कषाय रसवाले केले कुछ काल पड़े रहनेसे मीठे हो जाते हैं । परिणामसे (रूपान्तरको प्राप्त होनेसे) द्रव्यका रस बदलता है ; जैसे—दूधका दहीमें रूपान्तर होनेसे अम्लता उत्पन्न होती है । कृमि आदिके उपसर्गसे द्रव्यका रस बदलता है ; जैसे—कीड़े पड़े हुए गन्ने तिक्त या अम्ल रसवाले हो जाते हैं । विक्रियासे द्रव्यका

रस बदलता है ; जैसे—तालफलको अग्निमें पकाकर भूमिपर रगड़नेसे वह तिक्त हो जाता है।

रसानुरसयोर्लक्षणम्—

व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।
विपर्ययेणानुरसो रसो नास्तीह सप्तमः॥ (च. सू. अ. २६)।

पूर्वोक्तरसानुरसलक्षणमाह—व्यक्त इत्यादि। शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य च, आदौ चेति चकारादन्ते च ; तेन शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासंबन्धे वाऽऽस्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते, स रसः ; यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्ह्यव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यदर्शनेन वा मीयते, सोऽनुरस इति वाक्यार्थः। यतश्च मधुरादय एव व्यक्तत्वाव्यक्तत्वाभ्यां रसानुरसरूपाः, अतोऽव्यक्तो नाम सप्तमो रसो नास्ति। अयं चार्थः पूर्वं प्रतिषिद्धोऽप्यनुगुणस्पष्टहेतुप्राप्त्या पुनर्निषिध्यते। अन्ये त्वाहुः—शुष्कस्य चेत्यनेन यस्य द्रव्यस्य शुष्कस्य चार्द्रस्य चोपयोगः, तत्र शुष्कावस्थायां यो व्यक्तः स रस उच्यते ; यस्त्वार्द्रावस्थायां व्यक्तः सन् शुष्कावस्थायां नानुयाति, नासौ रसः, किन्त्वनुरसः। यथा—पिप्पल्या आर्द्राया मधुरो रसो व्यक्तः, शुष्कायास्तु पिप्पल्याः कटुकः ; तेन कटुक एव रसः पिप्पल्याः, मधुरस्त्वनुरसः, यस्तु द्राक्षादीनामार्द्रावस्थायां शुष्कावस्थायां च मधुर एव, तत्र विप्रतिपत्तिरपि नास्ति, तेन तत्र मधुर एव रसः ; नित्यार्द्र प्रयोज्यानां तु काञ्जिक-तक्रादीनामादौ व्यक्तो य उपलभ्यते स रसः, अनु चोपलभ्यते यः सोऽनुरसो युक्तस्तिक्तादिः ; तथाऽऽर्द्रावस्थायां शुष्कावस्थाविपरीतो यः पिप्पल्या इव मधुरः, सोऽनुरस इति। किं त्वार्द्राऽपि पिप्पली मधुररसैवेति पश्यामः, यतो वक्ष्यति—"श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली।" (च. सू. अ. २७) इति ; मधुरस्य तत्रानुरसत्वे गुरुत्व-श्लेष्मकर्तृत्वे अनुपपन्ने ; तेन आर्द्रा पिप्पली व्यक्तमधुररसैव, शुष्का तु मधुरानुरसेति युक्तम् (च. द.)। ननु रसानुरसौ कथं विज्ञायेते इति ? अत आह—व्यक्त इत्यादि। मुखे क्षिप्तस्य शुष्कस्य द्रव्यस्य व्यक्तो रस आदौ लक्ष्यते। तस्य द्रव्यस्यार्द्रीभावे पुनस्तद्व्यक्तरसविपर्ययेणानुरसो लक्ष्यते, न त्वतिरिक्तो रसो लक्ष्यते। तस्मादिह जगति सप्तमो रसो नास्ति (ग.)। रसानुरसयोर्लक्षणमाह—व्यक्त इति। द्रव्यस्य व्यक्तो मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिस्फुटप्रतिभासो रसो लक्ष्यते। ननु रसैर्द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते, यत्र आर्द्रावस्थायामेकस्य रसस्य अभिव्यक्तिः, शुष्कावस्थायां पुनरन्यस्य यथा-पिप्पल्याः, तत्र केन व्यपदेशः स्यादिति ? अत आह—शुष्कस्येति। शुष्कस्य द्रव्यस्य। शुष्कस्येति सम्यग्रससंपत्तेरूपलक्षणम्। ननु, अनुरसस्यापि क्वचिदन्ते व्यक्तिरस्तीत्यतस्तद्वारणाय पुनराह—आदौ चेति। आदौ प्रथमजिह्वासंबन्धे सति यो

व्यज्यते स रसः। अनुरसस्य अभिव्यक्तिस्तु अन्ते। अनुरसलक्षणमाह—विपर्ययेणेति ; रसलक्षणविपर्ययेण अनुरसः व्यक्तः शुष्कस्य चादौ इति रसलक्षणं, तद्विपर्ययश्च अव्यक्तः, आर्द्रस्य च अन्ते य इति रसलक्षणविपरीतलक्षणोऽनुरसः। निष्कृष्टार्थश्चायं—सर्वं द्रव्यं पञ्चमहाभूतसमवायसंभवं, तस्मादनेकरसं ; तत्र यो व्यक्तः स रसः, यस्तु रसेनाभिभूतत्वान्न व्यज्यते व्यज्यते वा किंचिदन्ते सोऽनुरसः ; इति रसानुरसयोर्लक्षणम्। एवं हि मधुरादीनां षण्णां व्यक्तानुव्यक्तरूपाणां रसानुरससंज्ञा। तस्मात् सप्तमो रसोऽनुरसाख्यो नास्ति (यो.)॥

तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो, व्यक्तो वा किंचिदन्ते ॥ (अ. सं. सू. अ. १७)।

तत्र च द्रव्ये रसनेन्द्रियग्राह्यो व्यक्तः स्फुटो 'रस' शब्देनोक्तः। यश्च रसो यस्मिन् द्रव्येऽनुरसत्वेनोक्तः स प्रधानरसेनाभिभूतत्वादव्यक्त एव तिष्ठति। प्रधानरसविजातीयकार्यकर्तृत्वात्तस्य सद्भावोऽनुमीयते, आगमाच्च। अथवा यो रसः प्रधानरसस्यान्ते किंचिद् व्यक्तोऽप्युपलभ्यते सोऽनुरसः (इन्दुः)॥

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घातसंभवात्।
× × × तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।
अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते ॥

(अ. हृ. सू. अ. ९)।

अथ को रसोऽनुरसो वेत्याह—तत्रेत्यादि। तत्र तस्मिन् द्रव्ये, यो व्यक्तः स्फुट उपलभ्यते, स रसः स्मृतस्तन्त्रकृद्भिः। यश्चाव्यक्तः अस्फुटप्रतिभासो रसनेन्द्रियेणोपलभ्यते, सोऽनुरसः। हीनार्थोऽत्रानुशब्दः, अल्पो रस इत्यर्थः। न चैतावदेवानुरसलक्षणमित्याह—किञ्चिदित्यादि। मुखक्षिप्तस्य हरीतक्यादेर्द्रव्यस्य रसनेन्द्रियेण किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽप्युपलभ्यते यः सोऽप्यनुरस इष्यते, 'मुनिभिः' इति वाक्यशेषः। अन्ते इत्यनेनैतद्बोधयति—अन्ते अवसाने ; न त्वादावापातमात्रे, न च मध्ये। तयोर्हि रसस्यैवोपलम्भः। अनुशब्दस्यात्र पश्चादर्थत्वात् पश्चात् स्फुटोऽपि किञ्चिद्य उपलभ्यते सोऽप्यनुरस इत्यर्थः (अ. द.)। सर्वेषां सर्वधर्मत्वादविशेषे प्राप्ते तन्निरासार्थं धर्मतारतम्यमाह—तत्र व्यक्त इति। तत्र द्रव्ये, कश्चिद्धर्मः सद्यो व्यक्तः, कश्चिदव्यक्तः, कश्चिदीषद्व्यक्तः, कश्चिदन्ते व्यक्तः। तेष्वाद्यो रसाख्यः, इतरे त्रयोऽनुरसाख्याः (हे.)॥

सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होनेसे अनेक रसवाले होते हैं। उनमें शुष्क या आर्द्र द्रव्यको जीभ पर रखते ही प्रारम्भसे अन्ततक यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि प्रकारसे उसका जो रस व्यक्त-स्पष्टरूपसे मालूम होता है, उसको **रस** कहते हैं। अर्थात् द्रव्य की शुष्कावस्था, आर्द्रावस्था, प्रारम्भावस्था (जिह्वाका संयोग होते ही)

और अन्तिमावस्था (खानेके अन्ततक) इन चारों अवस्थाओंमें जिसका यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि रूपसे स्पष्टतया अनुभव होता हो उसको रस कहते हैं ; और जो रस इससे विपरीत हो अर्थात् उक्त चारों अवस्थाओंमें स्पष्टरूपसे न मालूम होता हो किन्तु अव्यक्त-अस्पष्टरूपसे (आभासमात्र) मालूम होता हो, या कार्य देखकर जिसका अनुमान किया जा सकता हो उसको, या अन्तमें कुछ स्पष्टरूपसे मालूम हो उसको, या जो आर्द्रावस्थामें उस द्रव्यमें स्पष्टरूपसे मालूम होनेपर भी वह द्रव्य शुष्क होनेपर उसमें वह रस दब जाय और अन्य रस मालूम होने लगे तो उस (आर्द्रावस्थाके रस) को अनुरस कहते हैं। इस प्रकार मधुरादि प्रत्येक रस ही अवस्थाभेदसे रस या अनुरस संज्ञाको प्राप्त होता है, अनुरस नामका कोई सातवाँ रस नहीं है (च. द.)। द्रव्यमें जो रस उसको जीभपर रखते ही तुरत स्पष्टरूपसे मालूम हो, उसको रस कहते हैं तथा जो रस अव्यक्त (कार्यदर्शनानुमेय), कुछ व्यक्त या अन्तमें व्यक्त होता हो उसको अनुरस कहते हैं (हे.)।

रसोपलब्धिहेतवः—

प्रत्यक्षतोऽनुमानादुपदेशतश्च रसानामुपलब्धिः (र. वै. अ. ३, सू. १०८)। आस्वाद्य प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते। अनुमानात् पूर्वोक्तं लिङ्गं दृष्ट्वा मधुरोऽयमित्युपलभ्यते। उपदेशतः आगमात् कषायं मधु, मधुरमुदकम्, इत्यादि। अथवा आस्वादतः रसानां सामान्यत उपलब्धिर्भवति, अनुमानाल्लिङ्गपूर्वकाद् विशेषोपलब्धिर्भवति, उपदेशतः कर्मणि रसानां प्रवृत्त्युपलभ्यत इति। अथवा सर्वत्रास्वादत एव रसो न गृह्यते, आगमतश्च क्वचित्, क्वचिदनुमानाच्चेति। "शीतं कषायं मधुरं विषघ्नं वर्ण्यं च मेधास्मृतिवर्धनं च। रसायनीयं लघु रूक्षमुक्तं, कषायतिक्तं लघु रूप्यमाहुः॥" अत्रास्वादतो रसो न लभ्यते इति (भा.)।

कहीं स्वादसे, कहीं कार्य देख कर अनुमानसे और कहीं शास्त्रोपदेशसे रसोंका ज्ञान होता है। जैसे नीम्बूके अम्ल रसका ज्ञान प्रत्यक्षसे और सुवर्णके कषाय और मधुर रसका ज्ञान शास्त्रोपदेशसे तथा सुवर्णके कार्य देख कर अनुमानसे होता है।

पाञ्चभौतिकत्वेऽपि रसस्य षड्विभक्तौ हेतुः—

षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्।
षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः॥ (च. सू. अ. २६)।

षड्विभक्तीरिति मधुरादिड्विभागानित्यर्थः। षट् पञ्चभूतप्रभवा इति पञ्चभूतप्रभवाः सन्तो यथोक्तेन प्रकारेण 'सोमगुणातिरेकात्' इत्यादिना यथा षट्संख्याताः षट्संख्यापरिच्छिन्ना भवन्ति, तथा वक्ष्यामीति योजना (च. द.)॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च,

तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता[1] जङ्गम-स्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः। तेषां षण्णां रसानां सोम[2]गुणातिरेकान्मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वा-दम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वा-काशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवन-पृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां, भूतानामिव स्थावर-जङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः; षड्तुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषः (च. सू. अ. २६)॥

संप्रति रसानामादिकारणमेव तावदाह—सौम्या इत्यादि। सौम्याः सोम-देवताकाः। भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसम्बन्धव्यतिरेकेणान्तरिक्षेरितैः पृथिव्यादि-परमाणवादिभिः संबन्धो रसारम्भको भवतीति दर्श्यते। मूर्तीरिति व्यक्तीः। अभिप्रीणयन्तीति तर्पयन्ति, किंवा जनयन्ति। अभिमूर्च्छन्ति रसा इति व्यक्तिं यान्ति। अत्र चान्तरिक्षमुदकं रसकारणत्वे प्रधानत्वादुक्तं, तेन क्षितिस्थमपि स्थावर-जङ्गमोत्पत्तौ रसकारणं भवत्येव। सोमगुणातिरेकादिति अतिरेकशब्देन सर्वेष्वेव रसेषु सर्वभूतसान्निध्यमस्ति, क्वचित्तु कस्यचिद्भूतगुणस्यातिरेकाद्रसविशेषो भवतीति दर्शयति ; एतच्च मधुरं प्रति अब्गुणातिरिक्तत्वं विशेषोत्पत्तौ कारणत्वेन ज्ञेयं ; यच्चाधारकारणत्वमपां, तत् सर्वसाधारणम्। एवं लवणेऽप्यपां कारणत्वं ज्ञेयम्। लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात् पठितः, अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधो

१—गङ्गाधरस्तु 'पञ्चमहाभूतविकारगुणसमन्विताः' इति पठित्वा ""तत्काले पञ्चमहाभूतानां विकारभूता एतदाकाश-पवनार्क-चन्द्रास्तथा सततमाकाशे समुड्डीयमाना भौमास्त्रसरेणवस्तेषां गुरुत्वादिगुणसमन्विताः सत्यस्तदधोगानां सेन्द्रियाणां प्राणिनां मनुष्यादीनां स्थावराणां च वृक्षादीनां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति" इति व्याख्यानयति।

२—"पृथ्वी-सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, भूम्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, तोयाग्नि-गुणभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणातिरेकात्तिक्तः, पवन-पृथ्वीगुणातिरेकात् कषायः।" इति योगीन्द्रनाथसेनसंमतः पाठः। "ननु कारणानां भूतानां पञ्चविधत्वेन कार्यस्यापि रसस्य पञ्चविधत्वमेव युक्तमित्यभिप्रेत्य षट्त्वमुप-पादयति—सोमगुणातिरेकादित्यादि। सोमो जलदेवता, तेन जलगुणातिरेकादित्यर्थः; किंवा सोमशब्देन पृथिवी-जलयोरेव ग्रहणम्, उभयोरपि सौम्यत्वात् ; अत एव सुश्रुतेऽपि "पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः" इत्यादि, तथा तत्रैव "पृथिव्यग्निगुण-बाहुल्याल्लवणः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इति यदुक्तं तदपि न विरुध्यते, भूमि-जलयोः सौम्यत्वेनैकरूपतया कार्यविरोधाभावात्।" इति शिवदाससेनः॥

नास्त्येव। ननु, उष्ण-शीताभ्यामग्नि-सलिलाभ्यां कृतस्य लवणस्याप्युष्णशीतत्वेन भवितव्यं, तल्लवणं कथमुष्णं भवति ? नैवं, यतो भूतानामयं स्वभावः—यत्—केनचित् प्रकारेण सन्निविष्टाः कञ्चिद्गुणमारभन्ते, न सर्वम्। यथा—मकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रसः क्रियते, न स्नेहः ; तथा सैन्धवे वह्निनाऽपि नोष्णत्वमारभ्यते। अयं च भूतानां सन्निवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव, स च सन्निवेशः कार्यदर्शनेनोन्नेयः। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्प्यते, यथा—लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। आगमवेदनीयश्चायमर्थः, नात्रास्मद्विधानां कल्पनाः प्रसरन्ति। एतेन यदुच्यते—तोयवत् पृथिव्यादयोऽपि किमिति पृथग्रसान्तरं न कुर्वन्ति, तथा तोयवातादिसंयोगादिभ्यः किमिति रसान्तराणि नोत्पद्यन्त इति, तदपि भूतस्वभावापर्यनुयोगादेव प्रत्युक्तम्। इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेष एव निमित्तकारणरूपमुच्यते, तेन नीरसानामपि हि दहनादीनां कारणत्वमुपपन्नमेव व्युत्पादितम्। रसभेदं दृष्टान्तेन साधयन्नाह—एवमित्यादि। रसानां षट्त्वं महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात् सोमगुणातिरेक-पृथिव्यग्न्यतिरेकादेः षडुत्पादकारणादुपपन्नं, षड्भ्यः कारणेभ्यः षट् कार्याणि भवन्तीति युक्तमेवेति भावः। भूतानां यथा नानावर्णाकृतिविशेषा महाभूतानां न्यूनातिरेकविशेषात्, तथा रसानामपीति। भूतानां यथोक्तानां न्यूनातिरेकविशेषहेतुमाह—षड्तुकत्वादित्यादि। षड्तुकत्वेन कालो नानाहेमन्तादिरूपतया कञ्चिद्भूतविशेषं क्वचिद्वर्धयति, स चात्मकार्यं रसं पुष्टं करोति ; यथा—हेमन्तकाले सोमगुणातिरेको भवति, शिशिरे वाय्वाकाशातिरेकः; एवं तस्याशितीयोक्तरसोत्पादक्रमेण वसन्तादावपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः। षड्तुकत्वाच्चेति चकारेणाहोरात्रकृतोऽपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः, तथाऽदृष्टकृतश्च; तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः क्वचिद्वस्तुन्युपपन्नो भवति। यद्यपि च ऋतुभेदेऽपि भूतोत्कर्षविशेष एव कारणं, यदुक्तं—"तावेतावर्क-वायू" (सू. अ. ६) इत्यादि, तथाऽपि बीजाङ्कुरकार्यकारणभाववत् संसारानादितयैव भूतविशेषर्त्वोः कार्यकारणभावो वाच्यः (च. द.)। रसानां पञ्चभूतप्रभवत्वं दर्शयति—सौम्या इति। × ×। अन्तरीक्षप्रभवा दिव्या आपः। प्रकृत्या शीताः, लघ्व्यश्च। चकारात् शुचिशिवत्वादीनामन्येषां वक्ष्यमाणगुणानां समुच्चयः। वक्ष्यति च—"शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम्। प्रकृत्या दिव्यमुदकं" (च. सू. अ. २७) इति। ताः अन्तरीक्षाद् भ्रश्यमानाः पतन्त्यः अव्यक्तरसाः। "पानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसम्" (सु. सू. अ. ४५) इति। भ्रष्टाः पतिताश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विताः "भ्रष्टं पात्रमपेक्षते" (च. सू. अ. २७); भ्रष्टानां पञ्चमहाभूतगुणसंपर्कः पात्रापेक्षया। जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीः व्यक्तीः। × ×। तासु मूर्तिषु षड् रसाः अभिमूर्च्छन्ति व्यज्यन्ते। × × ×। रसानां पञ्चभूतप्रभवत्वमुक्त्वा संप्रति तेषां षट्त्वमुपपादयितुं यद्यद्भूतगुणातिरेकाद्यो यो रसो निष्पद्यते तदेव व्याकृत्य दर्शयति—

तेषामिति । तेषां षण्णां रसानां मध्ये मधुरो रसः पृथ्वी-सोमयोः पृथिव्युदकयो-र्गुणातिरेकादुत्पद्यते । पृथिव्यग्न्योर्गुणभूयिष्ठत्वाद् गुणबाहुल्यादम्लः । एवं लवणा-दयो व्याख्येयाः । × × × । दृष्टान्तेन रसानां षट्त्वमुपपादयति—एवमिति । एवं महाभूतानां पृथिव्यादीनामूनातिरेकविशेषाद्रसानां पञ्चभूतप्रभवत्वेऽपि षट्त्वमुपपद्यते । यथा भूतानां स्थावर-जङ्गमात्मकानां नानावर्णाकृतिविशेषाः महाभूतानामूनातिरेक-विशेषादुपपद्यन्ते, एवं रसानां षट्त्वम् । महाभूतानामूनातिरेकश्च कस्माद् भवतीत्यत आह—षड्तुकत्वाच्चेति । कालस्य संवत्सरात्मनः षड्तुकत्वान्महाभूताना-मूनातिरेकविशेष उपपद्यते । शिशिरे वाय्वाकाशयोर्गुणातिरेको भवति, वसन्ते पवन-पृथिव्योः, ग्रीष्मे वाय्वग्न्योः । × × × । (यो.) ॥

आकाश-पवन-दहन-तोय-भूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः, तस्मादाप्यो रसः । परस्परसंसर्गात् परस्परानु-ग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् । न खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते, तद्यथा-मधुरः, अम्लः, लवणः, कटुकः, तिक्तः, कषाय इति । ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते । तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः[1], वाय्वग्निगुण-बाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुण-बाहुल्यात् कषाय इति (सु. सू. अ. ४२) ॥

रससामान्यस्य प्रथमं कारणसंभवं दर्शयन्नाह—आकाशेत्यादि । आकाश-पवन-दहन-तोय-भूमिषु यथासंख्यं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धा 'जायन्ते' इति शेषः । किंविशिष्टास्ते ? एकोत्तरपरिवृद्धा इति ; तथाहि—शब्दगुणमाकाशं, शब्द-स्पर्शगुणो वायुः, शब्द-स्पर्श-रूपगुणं तेजः, शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणा आपः, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धगुणा पृथ्वी; परस्परं भूतानुप्रवेशादित्थमेकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया । आप्यः जलसंभवः । तत्र सर्वेष्वेव भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति दर्शयन्नाह—परस्परसंसर्गादित्यादि । परस्परसंसर्गात् अन्योन्यसंयोगात्, परस्परानुग्रहात् अन्यो-न्योपकारात्, परस्परानुप्रवेशात् अनुप्रवेशादेकात्मीभावात्, सर्वेषु भूतेषु, सर्वेषाम् आकाशादीनां, 'सर्वेषु द्रव्येषु' इत्यन्ये । सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां भूतानां प्राप्नुवन्तीत्याह—उत्कर्षापकर्षादित्यादि ।—उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः ; आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स्पर्शो-

---

१—'भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः' तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः' इति पा० ।

ऽधिकः, एवं शेषेषु भूतेषु शेषगुणाः ; तेन सर्वेषामेव भूतानां सर्वात्मकत्वेऽप्युत्कर्षेणाभिधानादाप्य एव रसः ; यदि पुनरसौ रस आप्य एव, नान्यभूतजः, स एवमपां स्वभावेनाव्यक्तरसत्वात्तेनाप्यव्यक्तरसेन भवितव्यमित्याह—शेषेत्यादि । पानीयादन्यानि भूतानि शेषभूतानि, तेषां संसर्गो मिलनं, ततो हेतोराप्यो रसोऽव्यक्तोऽपि कालसहाय-भूमि-वियदनिलानलसंसर्गेण परिपाकान्तरं गतः, षोढा विभज्यते षट्प्रकारो भवति । तत्र यस्य यस्य शेषभूतस्य संसर्गाद्यो यो रस उत्पद्यते तं तं रसं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि । ननु च, शेषभूतसंसर्गः प्रतिपादनीयः, तत् कथमुदकोपादानम् ? उच्यते—निष्पत्तावेव तोयप्राधान्यमुक्तं ; विशेषे तु न प्राप्नोतीति विशेषेऽपि तोयस्य प्राधान्यप्रतिपादनाय 'पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यात्' इत्युक्तम् । 'तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्ल' इत्येके पठन्ति (ड.)। रसस्य कारणं परिपाट्या प्राह—आकाशेत्यादि । एकैकेन शब्दादिगुणेन उत्तरोत्तरे भूते परिवृद्धा एकोत्तरपरिवृद्धाः । × × × । तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः, शब्दादयस्त्वाकाशादीनां नैसर्गिकाः । यस्मात् क्रमेण शब्दादयो नैसर्गिकास्तस्मादाप्यो रसः । ननु, यद्याप्यो रसस्तत्कथं पार्थिवादिसर्वद्रव्येषु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाद्यभिधानमित्याह—परस्परेत्यादि । परस्परानुग्रहो भौतिककार्यद्रव्येऽपि स्वगुणेऽपीतरभूतानुग्रहकृदुत्पादः । अनुप्रवेशस्तु भूतानां मेलकः । उत्कर्षात्तु ग्रहणमिति यस्मिन्नाकाशीयादिद्रव्ये आकाशादिभूतोत्कर्षस्तदुत्कर्षात्तद्गुणशब्दाद्युत्कर्षः, स व्यञ्जको भवति ; इदमाकाशीयं, शब्दगुणोत्कर्षात् ; इदमाप्यं, रसगुणोद्रेकादित्यादि । एवंविधमेव चरके शुद्धाकाशादिस्वरूपकथने उक्तं ; यत्—"महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे । पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥" (च. शा. अ. १) इति । संप्रति अपामव्यक्तरसत्वेऽपि यथा मधुरादिविशेषवान् भवत्याप्यो रसस्तदाह—स खल्वत्यादि । × × × । विदग्ध इति परिणतः ; कालसहितभूम्यादिसंसर्गात् पाकादवस्थान्तरगतः षड्विधो भवतीत्यर्थः । ननु, यदि शेषभूतयोगान्मधुरादिषड्विधत्वं, तत्कथं 'पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरो रसः' इत्यनेन मधुरेऽपि रसविशेषेऽपां कारणत्वमुच्यते ? ब्रूमः— आपो रसानामाधारकारणम् , अपां पृथिव्यामनुप्रवेशात् पृथिव्याधारकारणमेव ; तेनाप्क्षिती अपि तदाधारतया रसानामभिव्यक्तौ कारणे, अभिव्यक्तेश्च मधुरादिरूपतामन्तरेणासंभवान्मधुरादिविशेऽपि कारणे भवतः ; अग्न्यादयस्तु त्रयो नीरसतया मधुरादिविशेषे निमित्तकारणं प्राधान्येन भवन्ति, तद्व्यतिरेकाणाम्लादिरसाभावात् ; रसाभिव्यक्तेश्चाग्न्यादिभूतत्रयसंनिधानं विनाऽनुपलब्धेरभिव्यक्तावपि कारणत्वमग्न्यादीनां भवति । तदुक्तं चरके—"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा । निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्यया खादयस्त्रयः ॥" (च. सू. अ. १) इति । अत्र हि चकारद्वयाज्जलक्षित्योरपि

विशेषे कारणत्वं, तथा खादीनां च निर्वृत्तावपि कारणत्वमुक्तं; तेन मधुरे विशेषेऽप्यपां कारणत्वात् सुष्ठूक्तं--"पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुर" इति। एवं भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवण' इत्यपि समाधेयम्। न च रसानां षड्विधत्वमुक्तं रसान्तरयोगाद् बाध्यते इति वाच्यं, यतोऽव्यक्तारसत्वमन्तरीक्षजलादौ यदुक्तं तदव्यक्तमधुरादिरसरूपमेव। यदुक्तं—"अव्यक्तीभावस्तु रसानां प्रकृतावनुरसेऽनुरससमन्विते च द्रव्ये भवति" (च. सू. अ. २६) इति। क्षारस्य च रसत्वं क्षाराध्याय एव निषिद्धं, तद् युक्तं षड्विधो भवतीति। चरके तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः पठितः, इह तु तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः पठ्यते; तदत्र प्रमेये विरोधो नास्त्येव, उभयथाऽपि वक्ष्यमाणरसगुणानामुपपत्तेः; अम्लस्य गुणपर्यालोचनया तोयाग्निबाहुल्यमेव युक्तं, तेन चरके प्रमादपाठाद्वा अविरोधोऽयमिति। अम्ले यद्यपि तोयाग्न्योर्बाहुल्यं, तथाऽम्लस्योष्णत्वेऽग्निः कारणं, स्निग्धत्वे चापः कारणमिति यथादर्शनमदृष्टवशाद् दृष्टत्वाच्च भवति; नात्र वस्तुस्वभावे युक्तयः क्रोशनीयाः, अपर्यनुयोज्यत्वाद्भावस्वभावानाम्। एवं कषायस्य रूक्षत्वे वायुः कारणं, गौरवे पृथिवीत्यादि यथादृष्टं व्युत्पादनीयम्। तथाऽनेकरसे हरीतक्यादौ तद्रसोत्पत्तौ भूतानां व्यापारो, न तु परस्परविरोधादभावो रसानां; नापि रसकारणतयाऽवगतसर्वभूतानां गुरु-लघूष्णत्वादिप्रसङ्गः, तत्र यथादृष्टगुणे एव परं कारणं भूतानां दृष्टत्वादि; एवमन्यदप्येवंजातीयं समाधेयम् (च. द.)॥

रसः खल्वाप्यः प्रागव्यक्तश्च। स षड्तुकत्वात् कालस्य महाभूतगुणैरूनातिरिक्तैः संसृष्टो विषमं विदग्धः षोढा पृथग्विपरिणमते मधुरादिभेदेन। तत्र भू-जलयोर्बाहुल्यान्मधुरो रसः, भू-तेजसोरम्लः, जल-तेजसोर्लवणः, वाय्वाकाशयोस्तिक्तः, वायु-तेजसोः कटुकः। वाय्वूर्व्योः कषायः (अ. सं. सू. अ. १८)।

रसः खल्वाप्यः, योऽयं जिह्वेन्द्रियग्राह्यः, सोऽबाख्यान्महाभूतात् संपद्यते। स च रसः प्राक् प्रथममनासादितान्यभूतानुरागोऽव्यक्त एव स्वरूपेण। ततो महाभूतानां पृथिव्यादीनां गुणैः पार्थिवादिभिः कैश्चिदूनैः कैश्चिदभ्यधिकैः संसृष्टस्तैश्च गुणैर्विषममूनाधिक्यादिनियमेन विदग्धः परिणत्या गृहीतमहाभूतगुणानुराग एक एव रसः पृथङ्मधुराम्लादिभेदेन षड्भिर्विकारैर्विपरिणमते। कथं महाभूतानामूनाधिक्यम्? उच्यते—कालस्य संवत्सराख्यस्य षड्तुकत्वाद्रसस्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद्रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायु-पृथिव्योः कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वोः कटुकता, वर्षास्वग्नि-पृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हेमन्ते पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्याद् व्यपदेशः; तेनान्यर्तूद्भवानामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक्यमेव कारणं विज्ञेयम् (इन्दुः)॥

क्ष्माम्भोऽग्नि-क्ष्माम्बु-तेज-ख-वाय्वग्न्यनिल-गोऽनिलैः ।
द्वयोल्बणैः क्रमाद् भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥

(अ. हृ. सू. अ. १०) ।

पृथिव्यादिभिर्महाभूतैर्द्वयोल्बणैः द्व्यधिकैः, क्रमात् परिपाट्या यथासङ्ख्यमित्यर्थः, मधुरादीनां षण्णां रसानामुद्भवः अभिनिर्वृत्तिर्भवति । द्वयमुल्बणं येषु भूतेषु तानि द्वयोल्बणानि, तैः द्वयोल्बणैः । द्वयोल्बणशब्दोपादानाच्च द्रव्यवद्रसस्यापि पाञ्चभौतिकत्वमिति प्रतिपादयति । कतमत् पुनर्भूतद्वयं कतमस्मिन् रसेऽधिकमारम्भकं स्यादिति यथासंख्येन दर्शयन्नाह—क्ष्माम्भ इत्यादि । × × × । ननु, यथा भूमि-तोयाधिक्यान्मधुरः, एवमम्बु-वाय्वाधिक्यादन्यो भूम्याकाशाधिक्यादन्य इत्येवमादिविकल्पैरसंख्येयरसप्रसङ्गः प्राप्नोति ? अत्रोच्यते—स्वभावाददोषः । एषां भूम्याकाशादीनामीदृशः स्वभावो यत् केनचिदेव भूताधिक्येन व्यवस्थितानि भूम्यादीनि रसान्तरोत्पादनसमर्थानि भवन्ति, न सर्वेणेति (अ. द.) ॥

तत्र पृथिव्यपां बाहुल्यान्मधुरं विद्यात्, अम्लमपामग्नेश्च, लवणमग्नेरपां च, कटुकमग्नेर्वायोश्च, तिक्तं खस्य वायोश्च, कषायमवनेर्वायोश्च (र. वै. अ. ३, सू० ३८—४३) ।

बाहुल्यं च पञ्चात्मकत्वे सत्यपीत्यर्थः । पृथिव्यम्बुविशिष्टो मधुर इत्यर्थः । उभयोर्विशेषप्रदर्शनार्थमग्नेर्लवणकारणत्वे पूर्ववचनं, लवणेऽग्निरधिकः । अम्ले त्वाप अधिका इति (अपां पूर्ववचनम्) (भा.) ।

अब, रस पाञ्चभौतिक होनेपर भी उत्पत्तिकालमें पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिकभावसे मिलनेके कारण रसोंके छः भेद कैसे होते हैं ? यह कहा जाता है । अन्तरिक्षमें उत्पन्न हुआ दिव्य जल स्वभावसे ही ठण्ढा, सौम्य, लघु और अव्यक्त रसवाला होता है । वह जल अन्तरिक्षसे गिरता हुआ मध्यमें (आकाशमें) आकाशस्थ और भूमिपर गिरकर भूमिस्थ पञ्चमहाभूतोंके (पञ्चमहाभूतविकाररूप आकाश, वायु, चन्द्र, सूर्य), वायुमण्डलमें निरन्तर उड़नेवाले पार्थिव अणु और पृथ्वीपर गिरनेके अनन्तर भूमिस्थ पार्थिव अणु इनके गुणोंसे समन्वित होकर जङ्गम और स्थावर मूर्तियोंको (साकार पदार्थोंको) उत्पन्न और तृप्त करता है ; उन मूर्त पदार्थोंके अन्दर छः रस उत्पन्न होते हैं । आकाशका शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका रस और और पृथिवीका गन्ध नैसर्गिक (स्वाभाविक) गुण है । परन्तु उत्तरोत्तर महाभूतमें पूर्व-पूर्व महाभूतके अनुप्रवेश (मिलने) से आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमिमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण एक-एककी वृद्धिके साथ रहते हैं ; जैसे—आकाशमें शब्द, वायुमें शब्द और स्पर्श ; इत्यादि । इस प्रकार रस जलका

नैसर्गिक गुण होनेसे रस आप्य (जलसे उत्पन्न हुआ किंवा जलप्रधान गुणवाला) कहलाता है। पञ्चमहाभूतोंके परस्पर संसर्ग (संबन्ध) से, परस्पर एक दूसरेपर अनुग्रह (उपकार) से और एक-दूसरेमें परस्पर अनुप्रविष्ट होनेसे सब कार्यद्रव्योंमें सब भूतोंका सांनिध्य पाया जाता है। परन्तु जिस द्रव्यमें जिस महाभूतका उत्कर्ष होता है उसपरसे उस द्रव्यका नाभस, वायव्य आदि नामसे ग्रहण किया जाता है। यह आप्य रस शेष महाभूतोंके विषम संसर्गसे (न्यूनाधिकभावसे मिलनेसे) परिपाकको प्राप्त होकर छः प्रकारका होता है; जैसे—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। इनमें सोम (जल और पृथिवी) के गुणोंकी अधिकतासे मधुर, पृथिवी (सुश्रुतके मतसे जल) और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे अम्ल, जल (सुश्रुतके मतसे पृथ्वी) और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे लवण, वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे कटु, वायु और आकाशके गुणोंकी अधिकतासे तिक्त तथा वायु और पृथिवीके गुणोंकी अधिकतासे कषाय रस उत्पन्न होता है। जैसे पञ्चमहाभूतोंके न्यूनातिरेकविशेषसे संबन्धित होनेसे स्थावर और जङ्गम प्राणी आदिके अनेक वर्ण और आकृति आदि विशेष होते हैं, इसी प्रकार पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिकभावसे मिलनेसे पदार्थोंमें छः प्रकारके रस उत्पन्न होते हैं। काल भिन्न-भिन्न स्वभाववाले छः ऋतुओंवाला होनेसे पञ्चमहाभूतोंमें कालस्वभावसे न्यूनाधिकभाव होता रहता है।

वक्तव्य—चरक तथा चरकमतानुयायी वृद्धवाग्भट और वाग्भटने अम्ल रसको भूमि और अग्निके गुणोंको अधिकतावाला तथा लवण रसको जल और अग्निकी अधिकतावाला माना है। सुश्रुत ने अम्ल रसको जल और अग्निकी अधिकतावाला तथा लवण रसको पृथिवी तथा जलकी अधिकतावाला माना है। नागार्जुन ने अम्ल और लवण दोनों रसोंको जल और अग्निकी अधिकतावाला बताया है। नागार्जुनने अम्लमें अग्निकी अपेक्षया जलकी विशेष अधिकता तथा लवणमें जलकी अपेक्षया अग्निको विशेष अधिकता अम्लमें जल और लवणमें अग्नि शब्दको पहले लिखकर बताई है।

मधुरादिरसानां सोमगुणातिरेकत्वादि कथं निर्धार्यते ? इति प्रतिपादनम्—

ते निर्धार्यन्तेऽनुमानात् (र. वै अ. सू. ४४)। एतैर्भूतैरेते रसा निर्वर्तिता इति कथं निर्धार्यत इत्याह—ते इत्यादि। आगमेन पूर्वमुपलब्धानां प्रमाणान्तरेण दृढीकरणार्थमयमारम्भः; आप्तवचनस्य त्रैविध्यात्—श्रद्धेयार्थम्, अनुमेयार्थं, प्रत्यक्षार्थं चेति। श्रद्धेयार्थम्-उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इति। अनुमेयार्थं प्रत्यक्षार्थं च यथा—चक्षुरिन्द्रियं रूपस्य ग्राहकमिति। चक्षुष्यसति रूपदर्शनं न भवति, तस्मादस्ति चक्षुरित्यनुमीयते; प्रत्यक्षतश्च रूपमुपलभ्यते इति। इहाप्ययमागमोऽनुमानार्थः (भा.)। कथमिति ? वर्धनात् समानजातीयस्य, असमानजातीयस्य

क्षपणाच्च (सू. ४५)। आप्यस्य श्लेष्मणो वर्धनादाग्नेयस्य पित्तस्य क्षपणाच्च मधुरस्याप्यत्वमुपपन्नमिति। एवं शेषाणामपि। अनेनैवाम्ल-लवणयोराग्नेयत्वाच्छ्लेष्मणः प्रतिपक्षत्वं कस्मान्न भवतीत्ययं कुचोद्यप्रकारश्च परिहृतो भवति। न ह्यायुर्वेदे प्रत्यक्षार्थानुमेयार्थाभ्यामागमाभ्यामन्यच्छ्रद्धेयार्थमस्ति, दृष्टफलत्वादिति (भा.)॥

विरुद्ध महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंका क्षय और समान महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न दोषोंकी वृद्धिको देखकर 'यह रस इन महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न हुआ है' यह अनुमान किया जाता है। जैसे—मधुर रससे आप्य कफकी वृद्धि और आग्नेय पित्तका क्षय होता है यह देखकर, मधुर रस जल और पृथ्वीकी अधिकतासे उत्पन्न हुआ है, यह अनुमान किया जाता है।

विदाह्यविदाहिभेदेन रसानां द्वैविध्यम्—

"कट्वम्ल-लवणा वेद्यै विदाहिन इति स्मृताः स्वादु-तिक्त-कषायाः स्युर्विदाह-रहिता रसाः॥ विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्ति प्रयोजिताः। विदाहरहिता मूर्च्छां शमयन्तीति निश्चितम्॥" (र. वै. भा.)॥

कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाही और मूर्च्छा करनेवाले हैं; तथा मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) विदाह न करनेवाले और मूर्च्छाका प्रशमन करनेवाले हैं।

सौम्याग्नेयभेदेन रसानां द्वैविध्यं, तयोर्गुणाश्च—

केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—सौम्याश्चाग्नेयाश्च। मधुर-तिक्त-कषायाः सौम्याः, कट्वम्ल-लवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः (सु. सू. ४२)॥

केचिदित्यादि। अग्नीषोमीयत्वादिति अग्निश्च सोमश्च योनिर्जगत इत्यर्थः। सौम्याश्चाग्नेयाश्चेति चकारद्वयात् स्नेह-रूक्ष-गुरुत्व-लघुत्वैरपि द्वैविध्यं सूचयति (ड.)। केचिदित्यादिना एकीयमतमाह; एतच्चाविशेषादविरुद्धत्वादनुमतमेव (च. द.)॥

कई आचार्य कहते हैं कि—जगत् अग्नीषोमीय (अग्निगुण-उष्णता-प्रधान या सोमगुण-शीतता-प्रधान) होनेसे रसोंके सौम्य और आग्नेय ये दो भेद होते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस सौम्य हैं; कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस आग्नेय हैं। मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस स्निग्ध और गुरु हैं; तथा कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीत और आग्नेय रस उष्ण होते हैं।

तत्राग्नि-मारुतात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवादुत्प्लवनत्वाच्च वायो-रूर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नेः; सलिल-पृथिव्यात्मकास्तु प्रायेणाधोभाजः, पृथिव्या गुरुत्वान्निम्नगत्वाच्चोदकस्य; व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतोभाजः (च. सू. अ. २६)॥

भूतविशेषकृतं रसानां धर्मान्तरमाह—तत्रेत्यादि। प्रायेणेति न तर्वे। रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि। प्लवनत्वादिति गतिमत्वात्; यद्यपि गतिरधोऽपि स्यात्, तथाऽपि लघुत्वपरिगतगतिरीह वायोरूर्ध्वमेव गमनं करोति; यथा—शाल्मली-तूलानाम्। हेत्वन्तरमाह—ऊर्ध्वज्वलनत्वाच्चाग्नेरिति; अग्नेरप्यूर्ध्वगतित्वादित्यर्थः। निम्नगत्वमधोगत्वमेव (च. द.)। रसानां सामान्यतो गुण-कर्माण्याह—तत्रेत्यादि। तत्र तेषु, अग्नि-मारुतात्मका अग्नि-वायुगुणभूयिष्ठा रसाः, वाय्वग्निगुणबहुलानि द्रव्याणीत्यर्थः। प्रायेण न तु सर्वे। ऊर्ध्वभाजो भवन्ति ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति तूलकवद् धूमवच्च। कस्मात्? वायोर्लाघवात् लघुत्वात् तथा उत्प्लवनत्वाच्च ऊर्ध्वगतिमत्त्वाच्च, वह्नेरग्नेश्चोर्ध्वज्वलनत्वात्। लाघवमग्नेरपि बोद्धव्यम्। सलिल-पृथिव्यात्मकाः सलिलपृथिवीगुणभूयिष्ठा रसास्तु प्रायेण अधोभागभाजः अधोगच्छन्ति, उपलादिवत्। कुतः? पृथिव्या गुरुत्वात्, उदकस्य सलिलस्य निम्नगत्वात् अधोगामित्वाच्च। व्यामिश्रात्मकाः पुनः उभयतोभाजः ऊर्ध्वं च अधश्च गच्छन्ति। तदुक्तं सुश्रुतेनापि—"तत्र विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि। पृथिव्यापो गुर्व्यः। ता गुरुत्वादधो गच्छन्ति। तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमनद्रव्याण्यग्नि-वायुगुणभूयिष्ठानि। अग्नि-वायू हि लघू। लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति। तस्माद्वमनमूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्।" (सु. सू. अ. ४१) इति (यो.)॥

अग्नि और वायुकी महाभूत अधिकतावाले रस प्रायः ऊपरकी तरफ गति करनेवाले (वमनादि द्वारा दोषको निकालनेवाले) होते हैं; क्योंकि वायु लघु और ऊपरकी ओर गति करनेवाला है तथा अग्नि ऊर्ध्वज्वलन स्वभाववाला है। जल और पृथिवी महाभूतकी अधिकतावाले रस प्रायः नीचेकी ओर गति करनेवाले (मल-मूत्रादिका विरेचन करानेवाले) होते हैं; क्योंकि जल स्वभावसे और पृथिवी गुरु होनेसे नीचेकी ओर गति करनेवाली होती है। जो रस ऊपर कहे हुए दोनों प्रकारोंवाले (पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि इन चारों महाभूतकी अधिकतावाले) होते हैं, वे उभयतोभाग (वमन और विरेचन दोनों करानेवाले) होते हैं।

षड्रसविज्ञानम्—

षण्णां रसानां विज्ञानमुपदेक्ष्याम्यतः परम्।
स्नेहन-प्रीणनाह्लाद-मार्दवैरुपलभ्यते॥

मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवँल्लिम्पतीव च ।
दन्तहर्षान्मुखास्रावात् स्वेदनान्मुखबोधनात् ॥
विदाहाच्चास्यकण्ठस्य प्राश्यैवाम्लं रसं वदेत् ।
प्रलीयन् क्लेद-विष्यन्द-मार्दवं कुरुते मुखे ॥
यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ।
संवेजयेद्यो रसनं निपाते तुदतीव च ॥
विदहन्मुख-नासाक्षिसंस्रावी स कटुः स्मृतः ।
प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च ॥
स तिक्तो मुखवैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकः ॥
वैशद्य-स्तम्भ-जाड्यैर्यो रसनं योजयेद्रसः ।
बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥

(च. सू. अ. २६)।

विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं लक्षणमित्यर्थः। प्रलीयन्निति विलीनो भवन्[१]। संस्रावयतीति संस्रावी। विकासीति[२] हृदयविकसनशीलः; उक्तं हि सुश्रुते—"हृदयं पीडयति" (सु. सू. अ. ४२) इति (च. द.)। प्रीणनं प्रसादनमिन्द्रियाणाम्। मुखस्य बोधनं शोधन-क्षालनं, तस्मात् मुखबोधनात्। विष्यन्दः रसस्रुतिः। यो रसो निपाते रसनायोगे सति रसनं रसनाग्रं संवेजयेत् उद्वेजयति, विदहन् देहं तुदतीव, मुखं नासे अक्षिणी च तत् संस्रावयतीति मुख-नासाक्षि-संस्रावी, स कटुः स्मृतः। यो रसो निपाते रसनं रसनेन्द्रियं प्रतिहन्ति अन्यरस-ग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः, न च स्वदते, मुखस्य वैशद्य-शोष-प्रह्लादकारकश्च, स तिक्तः स्मृतः। वैशद्यं स्तम्भो जाड्यं च। कण्ठं बध्नाति रुणद्धीव (यो.)॥

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति, प्रह्लादयति, तर्पयति, जीवयति, मुखोपलेपं जनयति, श्लेष्माणं चाभिवर्धयति, स मधुरः; यो दन्तहर्षमुत्पादयति, मुखास्रावं जनयति, श्रद्धां चोत्पादयति, सोऽम्लः; यो भक्तरुचिमुत्पादयति, कफप्रसेकं जनयति, मार्दवं चापादयति, स लवणः; यो जिह्वाग्रं बाधते, उद्वेगं जनयति, शिरो गृह्णीते, नासिकां च

१—प्रलीयन्निति रसनेन्द्रियसंबन्धादेव विलीनो भवतीत्यर्थः।

२—"विकासी धातूनां हिंसकः" तदुक्तं—"विकासी विकसन् धातून्" इति; अन्ये तु "हृत्पीडाजनक इत्याहुः" इति शिवदाससेनः।

स्रावयति, स कटुकः ; यो गले चोषमुत्पादयति, मुखवैशद्यं जनयति, भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च, स तिक्तः ; यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बध्नाति, हृदयं कर्षति पीडयति च, स कषाय इति (सु. सू. अ. ४२) ॥

परितोषः परितुष्टिः। प्रह्लादयति सुखमुत्पादयति। तर्पयति तृप्तिं करोति। जीवयति प्राणान् धारयति। उपलेपः मलवृद्धिः। दन्तहर्षः दन्तकुण्ठता। कफप्रसेकः श्लेष्मास्रावः। शिरो गृह्णीते उद्वेजकत्वेन, न तु कफ-वातवेदनाभिः। चोष आकर्षणम्। हर्षो रोमहर्षः (ड.)। परितोषं भोजनकाले आनन्दम्। प्रह्लादयति भोजनायोपनीत एव सुखमुत्पादयति। तर्पयति अभ्यवहृतस्तृप्तिमापादयति, अम्लेतरेषां भोजनेच्छां निवारयतीति यावत्। चोषं चूषणवद्वेदनाविशेषम्। हर्षं दाह-तृष्णाप्रशमनेन संतोषम् (हा.) ॥

तेषां स्वादुरास्वाद्यमानो मुखमुपलिम्पति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रह्लादयति, षट्पद-पिपीलिकादीनामभीष्टतमः ; अम्लस्तु जिह्वामुद्वेजयति, उरःकण्ठं विदहति, मुखं स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दशनान् हर्षयति रोमाणि च ; लवणो मुखं विष्यन्दयति, कण्ठ-कपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति ; तिक्तो विशदयति वदनं, विशोधयति कण्ठं, प्रतिहन्ति रसनां ; कटुको भृशमुद्वेजयति जिह्वाग्रं, चिमचिमायति कण्ठ-कपोलं, स्रावयति मुखाक्षि-नासिकं, विदहति देहं ; कषायस्तु जडयति जिह्वां, बध्नाति कण्ठं, पीडयति हृदयम् (अ. सं. सू. अ. १८) ॥

ननु केन रूपेण रसविशेषो विज्ञायते ? अत आह—तेषामित्यादि। तेषां रसानां मध्ये यो रसो मुखलेपादिकरः स स्वादुरिति विज्ञेयः। आस्वाद्यमानो जिह्वया संयोगं नीयमानः। आस्वाद्यमान इति सर्वरसानां योज्यम्। प्रह्लादनः आश्वासकरः। अम्लरसो जिह्वोद्वेजनादिस्वरूपः, उरसि कण्ठे च विदाहं करोति। लवणो मुखमन्तर्विष्यन्दयति स्रावयति, कण्ठे कपोलयोश्च विदाहं करोति, अन्ने च रुचिमुत्पादयति। तिक्तो मुखवैशद्यादिकरणस्वरूपः। वैशद्यं पैच्छिल्यनाशः। कण्ठं चोपलेपनाशनेन शोधयति, रसनं रसनेन्द्रियं प्रतिहन्ति अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः। कटुक आस्वाद्यमानो भृशमत्यर्थमुद्वेजयति जिह्वाग्रे उद्वेगं करोतीत्यर्थः, कण्ठे कपोलयोश्च तैक्ष्ण्याच्चिमचिमायनमग्निज्वालासंस्पर्शादिव करोति, मुखादिकं विस्रावयति, सकले च शरीरे विदाहं करोति। कषायो जिह्वां जडयति रसनादिक्रियासु मन्दीकरोति, कण्ठबन्धं श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव करोति (इन्दुः) ॥

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिम्पति।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः॥
प्रियः पिपीलिकादीनामम्लः क्षालयते मुखम्।
हर्षणो रोम-दन्तानामक्षि-भ्रुवनिकोचनः॥
लवणः स्यन्दयत्यास्यं कपोल-गलदाहकृत्।
तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहन्ति च॥
उद्वेजयति जिह्वाग्रं कुर्वंश्चिमचिमां कटुः।
स्रावयत्यक्षि-नासास्यं कपोलौ दहतीव च॥
कषायो जडयेज्जिह्वां कण्ठस्रोतोविबन्धकृत्। (अ. हृ. सू. अ. १०)

ननु, स्वलक्षणं विनाऽनुक्तो रसविशेषः कथं ज्ञायताम्? इति तल्लक्षणार्थमाह—तेषामित्यादि। तेषां रसानां मध्ये य आस्वाद्यमानो वक्त्रमनुलिम्पति मुखोपदेहं जनयति, तथा देहस्य ह्लादनः आश्वासकः, तथाऽक्षाणामिन्द्रियाणां प्रसादनः प्रसन्नत्वकृत्, तथा पिपीलिकादीनां प्रियः; एतेनैतद्दर्शयति—प्रमेहादिषु मूत्र-त्वगादौ पिपीलिकोपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा मधुमेहत्वादि ज्ञायते। आस्वाद्यमान इत्युत्तरत्रापि योज्यम्। अम्लो रस आस्वाद्यमानो मुखं क्षालयते स्रावयति, तथा रोम-दन्तनां हर्षणः "हृषु अलीके" अलीककारी, उद्वेजक इत्यर्थः; तथा अक्षि-भ्रुवनिकोचनः अक्षिणी च भ्रुवौ चाक्षिभ्रुवम्, अचतुरादिसूत्रे निपातितम्। लवणो रसो मुखं स्यन्दयति, तथा कपोलयोर्गले च दाहं करोति; अन्नस्य रोचन इतीहातिप्रसिद्धत्वान्नोक्तं, संग्रहे तु स्पष्टार्थमुक्तम्। यथा—"कण्ठकपोलं विदहति, अन्नं प्ररोचयति" (अ. सं. सू. अ. १८) इति। तिक्तो मुखं विशदयति अपैच्छिल्ययुक्तं करोति, रसनां प्रतिहन्ति जिह्वां कुण्ठति, रसनेन्द्रियं च प्रतिहन्ति अन्यरसग्रहणशक्तिं नाशयतीत्यर्थः। कटुरास्वाद्यमानो जिह्वाग्रमुद्वेजयति सोद्वेगं करोति, चिमचिमां कुर्वन् दहनज्वालासंस्पर्शादिवाद्यादि स्रावयति, गण्डौ च दहतीव। कषायो जिह्वां जडयति रसनादिक्रियायां मन्दीकरोति, तथा कण्ठस्य स्रोतांसि सिराविशेषास्तेषां विबन्धं करोति श्वासादीनामयथाप्रवृत्तिमिव कुरुत इत्यर्थः (अ. द.)। उपलिम्पति पिच्छिलादिगुणसाहचर्यात्। देहस्य ह्लादनः प्रियतमत्वात् सर्वशरीराप्यायनः। अक्षप्रसादनः इन्द्रियवैमल्यकरः। क्षालयते प्रक्षालयते। रोमहर्षणः रोमाञ्चकृत्। दन्तहर्षणः दन्तकार्याक्षमत्वकृत्। अक्षि-भ्रुवनिकोचनः अक्ष्णोः भ्रुवोश्च संकोचकः। कटुलक्षणे अग्रग्रहणं संबन्धमात्र एवाद्वेजकत्वात्। चिमचिमां सर्षपलिप्त इव दुःखानुभवम्। जडयेत् स्तम्भयेत्। कण्ठसंबन्धिनां स्रोतसां विबन्धमवरोधं करोति (हे.)॥

लिङ्गं पुनर्मधुरस्य ह्लादनं, श्लेष्मजननं, कण्ठतर्पणं च ; हृद्यत्वं, दन्तहर्षः, प्रस्रावणं, प्रक्लेदनं, चाम्लस्य; लवणस्य विसरणम् , उष्णत्वं, प्रसेचनं च; कटोर्जिह्वाग्राबाधः, उद्वेगो, नासास्रावः, शिरोग्रहश्च ; तिक्तस्य हर्षणं, हरिमता, शैत्यमास्यस्य, गलद्वारशोषणं च ; कषायस्य मुखपरिशोषः, श्लेष्मसंवृत्तिः, गौरवं, स्तम्भश्च (र. वै. अ. ३, सू. १८)।

लिङ्गं पुनर्वक्ष्यते । पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । मधुरस्य लिङ्गमित्यर्थः । ह्लादनं हर्षणं प्रीणनमिति, श्लेष्मजननं चेति कण्ठे । एतेनास्वादकाल एवोपलभ्यानीमानि, न फलकाल इत्युक्तं भवति । मुखस्थानामेतानि हि रसानां लिङ्गानि, आस्वादस्य प्रत्यक्षागोचरस्य वक्तुमशक्यत्वात् । कण्ठतर्पणं कण्ठस्य पूरणभावं जनयति । हृद्यत्वादि अम्लस्य मुखस्थस्य लिङ्गानि भवन्ति । हृद्यत्वं हृदयप्रीणनत्वम् । दन्तहर्षः दन्तानां भक्षणेऽसामर्थ्यम् । प्रस्रावणम् आस्यस्य प्रभूतोदकत्वम् । प्रक्लेदः शुष्कगलकण्ठस्यापि । अथवा प्रस्रावणमन्यस्याम्लभक्षणं दृष्ट्वा लक्षणत्वम् । लवणस्य लिङ्गानि विसरणं सर्वास्यव्याप्तिरिति, उष्णत्वमास्ये, प्रसेचनं मुखस्यास्रावप्रायत्वं, चशब्दः समुच्चयार्थः । जिह्वादाहादयश्च कटोर्लिङ्गानि । जिह्वाग्रबाधो जिह्वाग्रस्योषाभावः । उद्वेगः प्रतिकूलता । नासास्रावः नासाया उदकास्रावः । तैक्ष्ण्याच्छिरोग्रहः शिरोरुजा । तिक्तस्य हर्षणमित्यादि तिक्तस्य लिङ्गानि । हरिमता हरिमगन्धता गलसंधिमाश्रित्य । शैत्यमास्यस्य । गलद्वारस्य शोषणं कण्ठबिलस्येत्यर्थः। मुखपरिशोषः मुखस्य परिशोषः समन्ताच्छुष्कता । श्लेष्मसंवृत्तिः श्लेष्मणः संवृत्तिः घनता । गौरवं मुखस्य । स्तम्भो जिह्वायाः सुखपरिस्पन्दनाभावः ; कषायस्य लिङ्गानि । एवं षण्णां लिङ्गान्युक्तानि, षट्त्वं च (भाष्यम्) ।।

रसोंका ज्ञान द्रव्यका जिह्वाके साथ सम्बन्ध होते ही होता है, यह आगे कहा जायगा । यहाँ निपातकालमें (जिह्वाके साथ सम्बन्ध होते ही) प्रत्येक रसकी स्वादग्रहणके अतिरिक्त अन्य भी जो विशेष क्रियाएँ होती हैं, जिनसे वह रस अव्यक्त अस्पष्ट-होनेपर भी उसका ज्ञान होता है, वे कही जाती हैं । मधुर रस मुखमें जाते ही सारे मुखमें व्याप्त होता है और मुखको माधुर्यसे लिप्त-सा कर देता है ; स्नेहन, सब इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, आह्लाद (सुख), मृदुता (च.), भोजनकालमें आनन्द और तृप्ति उत्पन्न करता है, मूर्च्छितको संज्ञाप्रदान करता है, कफको बढ़ाता है (सु,). भौरों और चींटियोंको अत्यन्त प्रिय (अ. सं.) तथा कण्ठको तृप्त करनेवाला है (र. वै.) । इन लक्षणोंसे मधुर रस जानना चाहिए । अम्ल रस खाते ही दन्तहर्ष (दाँतोंकी भक्षणमें असमर्थता), मुखमें लालास्राव, शरीरमें स्वेद (पसीना आना), मुखकी शुद्धि, मुख—छाती (अन्ननली) और कण्ठका विदाह-जलना (च.), अन्न खानेके प्रति रुचि (सु.), जिह्वाको उत्तेजन, नेत्र और

भौंहोंका संकोच, रोमाञ्च (अ. सं.) और क्लेदन करता है तथा हृदय (मन) को प्रिय लगता है (र. वै.)। इन लक्षणों (कर्मों) से अम्ल रसका ज्ञान करना चाहिए। लवण रस खाते ही मुखमें घुल जाता है तथा क्लेद (गीलापन-आर्द्रता), लालास्राव, मृदुता, मुखमें विदाह (च.), अन्नपर रुचि, कफका स्राव (सु.), कण्ठ तथा कपोलमें जलन (अ. सं.), सारे मुखमें शीघ्र फैल जाना और उष्णता उत्पन्न करता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे लवण रस जानना चाहिये। कटु रस जीभपर लगते ही जीभमें उद्वेग, सुई चुभनेकी-सी वेदना, विदाहके साथ मुख-नासिका और नेत्रका स्राव (च.), सिरमें वेदना (सु.), कण्ठ और कपोलों में चिमचिमाहट और अन्नपर रुचि (अ. सं.) उत्पन्न करता है। इन लक्षणों से कटु रस जानना चाहिए। तिक्त रस जीभपर रखते ही जीभकी अन्य रसोंके ग्रहणकी शक्तिका नाश करता है, जीभको अप्रिय लगता है, मुखमें स्वच्छता लाता है और मुखशोष, प्रह्लाद (अरुचिनाश) (च.), गलेमें कोई खेंचता हो ऐसी पीड़ा, अन्नपर रुचि, रोमहर्ष (सु.) तथा कण्ठकी शुद्धि करता है (अ. सं), मुँहमें ठण्डापन लाता है और गलेको सुखाता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे तिक्त रस जानना चाहिये। कषाय रस जिह्वामें विशदता, स्तब्धता और जड़ता उत्पन्न करता है, कण्ठको जकड़ता-सा है (च.), मुखको सुखाता है, हृदयमें खींचनेकी-सी पीड़ा करता है (सु.), मुखके कफ (लाला) को गाढ़ा करता है और मुखमें भारीपन लाता है (र. वै.)। इन लक्षणोंसे कषाय रस जानना चाहिए।

आस्वाद्यमानस्य द्रव्यस्य रसः कदा उपलभ्यते ?—

रसो निपाते द्रव्याणां × × × × ×। (च. सू. अ. २६)

रसादीना (रस-वीर्य-विपाकाना) मेकद्रव्यनिविष्टानां भेदेन ज्ञानार्थं लक्षणमाह-रसो निपात इत्यादि। निपाते इति रसनायोगे। × × ×। द्रव्याणामिति उपयुज्यमानद्रव्याणाम् (च. द.)। द्रव्याणां निपाते रसनायोगे जिह्वास्पर्शमात्रेण, रसः मधुरादिः, उपलभ्यते (यो.)। यद्येवं द्रव्याणां स्वभावो वीर्यं, गुणाश्च रसादयः सर्वाणि वीर्याणि, तत् कथं रसादीनां भेद उपलभ्यत इत्यत उच्यते—रसो निपात इत्यादि। द्रव्याणामभ्यवह्रियमाणानां मुखे रसनायां निपाते रसो मधुरादिरुलभ्यते, नतु सर्वं वीर्यम् (ग.)॥

रसं विद्यान्निपातेन × × × × ×। (अ. सं. सू. अ. १७)

रसादीनां द्रव्यस्थितानां स्वरूपविशेषः कथं ज्ञायत इत्याह—रसमित्यादि। निपातेन जिह्वास्पर्शमात्रेण रसविशेषं विद्याद् द्रव्यस्य (इन्दुः)॥

खाये जानेवाले द्रव्यका जीभके ऊपर स्पर्श होते ही मधुरादि रसविशेषका ज्ञान होता है।

रसानां गुणकर्माणि—

तेषां षण्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माण्यनुव्याख्यास्यामः । तत्र मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्राभिवर्धन, आयुष्यः, षडिन्द्रियप्रसादनो, बल-वर्णकरः, पित्त-विष-मारुतघ्नः, तृष्णा-दाह-प्रशमनः, त्वच्यः, केश्यः, कण्ठ्यो, बल्यः, प्रीणनो, जीवनः, तर्पणो, बृंहणः, स्थैर्यकरः, क्षीणक्षतसंधानकरो, घ्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वा-प्रह्लादनो[1], दाह-मूर्च्छाप्रशमनः, षट्पद-पिपीलिकानामिष्टतमः, स्निग्धः, शीतो, गुरुश्च ; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं, मार्दवम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नं, गौरवम्, अनन्नाभिलाषम्, अग्नेर्दौर्बल्यम्, आस्य-कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं, श्वास-कास-प्रतिश्यायालसक-शीतज्वरानाहास्य-माधुर्य-वमथु-संज्ञास्वरप्रणाश-गलगण्ड-गण्डमाला-श्लीपद-गलशोफ-बस्ति-धमनीगलोपलेपाक्ष्यामयाभिष्यन्दानित्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति[2] । अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति, ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति, बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति क्लेदयति जरयति, प्रीणयति, लघुः, उष्णः, स्निग्धश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलाययति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-शून-प्रच्युतावमूत्रित-परिसर्पित-मर्दित-च्छिन्न-भिन्न-विश्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेय-स्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च[3] । लवणो रसः पाचनः, क्लेदनो, दीपनः,

१—"प्रसादनः" इति पाठान्तरम् ।

२—"इह हि मूर्च्छाद्यभिभूतानां सद्यो जीवनरक्षणं जीवनम्, आयुष्यत्वं कालप्रकर्षेणायुषो हितत्वम् । मधुररससमानाधिकरणाः स्निग्धादयस्त्रयो गुणाः, रसादिवर्धनानि च कर्माणि । अभिष्यन्दो मुखनासादिस्रावः; न तु नेत्राभिष्यन्दो नाम रोगः, अक्ष्यामयवचनेन तस्योक्तत्वात् ।" इति गङ्गाधरः ।

३—"ऊर्जयति संन्यासादिभिरचेतनस्य मनःप्रबोधनपूर्वकजीवनं स्थापयति । मनो-

च्यावनः, छेदनो, भेदनः, तीक्ष्णः, सरो, विकासी, अधः (व)स्रंसी, अवकाशकरो, वातहरः, स्तम्भ-बन्ध-संघातविधमनः, सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम्, आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः, स्निग्धः, उष्णश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलि-पलित-खालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्त-वीसर्प-वातरक्त-विचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारानुपजनयति[1]। कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसक-श्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्द-स्नेह-स्वेद-क्लेदमलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुः, उष्णो, रूक्षश्च ; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति, रस-वीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति,

---

बोधयति मूर्च्छादिभिरचेतनं मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दश दृढीकरोति। बलं च वर्धयति पार्थिवत्वात्। वातमनुलोमयति पार्थिवत्वेन गुरुत्वात्। हृदयं तर्पयति हृदयस्थमनस्तर्पकत्वात्। आस्यमास्रावयति आग्नेयत्वेन तीक्ष्णत्वात्। अम्लो रसो लघुरुष्णः स्निग्धश्च लघूष्ण-स्निग्धसमानाधिकरणः; लघ्वादयस्त्रयो गुणा अम्लरसे द्रव्ये वर्तन्ते (एवमन्यत्रापि रसगुणवर्णने व्याख्येयम्)। अक्षिणी संमीलयति मुद्रीकरोति। रोमाणि संवीजयति उद्गमयति। इत्यम्लरसातियोगनिमित्तं कर्म। समान-हीन-मिथ्यायोगेभ्यस्तु नैवं, न वा रसान्तरसहितोपयोगाच्चेति। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्।" इति गङ्गाधरः।

१—"च्यवनः स्रावकरः। अवकाशकरः स्रावादिकरणादाकाशांशप्रकाशकरः। आहारयोगी आहारद्रव्यसंस्कारकरत्वेन उपयोगशीलः। मूर्च्छयति तमः प्रवेशयति। मांसानि कुष्णाति हिनस्ति। विषं भुक्तं शरीरस्थं वर्धयति। खालित्यं केशोन्मूलीभावः, नेन्द्रलुप्तं नाम। अम्लपित्तं तु अष्टोदरीये यद्यपि नोक्तं, तथाऽपि महारोगाध्याये पित्तव्याधिष्ववगन्तव्यम्।" इति गङ्गाधरः।

सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति ; अपि च वाय्वग्निगुणबाहुल्याद् भ्रम-दवथु-कम्प-तोद-भेदैश्चरण-भुज-पीलु-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु मारुतजान् विकारानुपजनयति[1] । तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णु-रप्यरोचकघ्नो, विषघ्नः, कृमिघ्नो, मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ-तृष्णाप्रशमनः, त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो, ज्वरघ्नो, दीपनः, पाचनः, स्तन्यशोधनो, लेखनः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र–पुरीष-पित्त–श्लेष्मोपशोषणो, रूक्षः, शीतो, लघुश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खर-विशदस्वभावाच्च रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमापादयति, बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति[2] । कषायो रसः संशमनः, संग्राही, संधानकरः, पीडनो, रोपणः, शोषणः, स्तम्भनः, श्लेष्म-रक्त-पित्तप्रशमनः, शरीरक्लेदस्योपयोक्ता, रूक्षः, शीतोऽलघुश्च ; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वात-मूत्र-पुरीष-रेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खर-विशद-रूक्षत्वात् पक्षवध-ग्रहापतानकार्दितप्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति[3] । इत्येवमेते षड्रसाः

१—"वक्त्रं शोषयति मुखगतक्लेदं छेदयति । घ्राणं घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानम् । व्रणान् अवसादयति अवसन्नान् करोति । मोहयति रसवीर्यप्रभावात् कटुरसप्रभावाद् रूक्षोष्ण-प्रभावाच्च । कटुरसस्य कटुविपाकः, तत्प्रभावात् पुंस्त्वोपघाती ; न तु रसप्रभावाद्वीर्य-प्रभावाद्वा । कणा-शुण्ठ्योर्हि रसतः कटुत्वेऽपि विपाकतो माधुर्याद्वृष्यत्वम् । सर्वत्रैवं विपाकप्रभावाद् वृष्यत्वावृष्यत्वमवधार्यम् । कर्षति शरीरधातूनपकृष्टान् करोति । मूर्च्छयति अन्धकारमिव दर्शयंश्चेतो हरति । पीलु हस्ततलम् ।" इति गङ्गाधरः ।

२—"शरीरस्थविषघ्नः क्रिमिघ्नश्च । खर-विशदस्वभावाच्च खर-विशदसहावस्थान-स्वभावाच्च पुनः रसादीन्युपशोषयति, ततश्च स्रोतसां खरत्वमुपपादयति ।" इति गङ्गाधरः ।

३—"संग्राही चलद्रवधातुसंक्षेपकारी । सन्धारणः चलत्स्तम्भनकारी । स्तम्भनः चलतां स्खलतां वा भावानां स्थिरीकरणः ।" इति गङ्गाधरः ।

पृथक्त्वेनैकश्येन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकाराय भवन्त्यध्यात्म-लोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युपयुज्यमानाः ; तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति (च. सू. अ. २६) ॥

यथाद्रव्यमिति यद्यस्य रसस्य द्रव्यमाधारस्तदनतिक्रमेण । एतेन रसानां गुण-कर्मणी रसाधारे द्रव्ये बोद्धव्ये इति दर्शयति । तत्रेत्यादि । मधुर आदावुच्यते प्रशस्तायुष्यादिगुणतया प्रायः प्राणिप्रियतया च । षडिन्द्रियाणि मनसा समम् । जीवनः अभिघातादिमूर्च्छितस्य जीवनः । आयुष्यस्तु आयुःप्रकर्षकारित्वेन । क्षीणस्य क्षतसंधानकरो धातुपोषकत्वेन ; किंवा क्षीणश्चासौ क्षतश्चेति, तेन क्षीणक्षतस्य उरः-क्षतं संदधाति । षट्पदाद्यभीष्टत्वकथनं प्रमेहपूर्वरूपादिज्ञानोपयुक्तम् । यदुक्तं—"मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ।" (च. चि. अ. ६) इति, तथाऽरिष्टे वक्ष्यति—"यस्मिन् गृध्नन्ति माक्षिकाः ।" (च. इ. अ. ५) इति, अनेन च मधुरत्वं ज्ञायते । अध्यामयेनैवाभिष्यन्दे लब्धे विशेषोत्पादनार्थं पुनर्वचनं ; किंवा अभिष्यन्दो नासादिष्वपि ज्ञेयः । हृदयं तर्पयति हृद्यो भवति । भुक्तमपकर्षयतीति सारयति ; क्लेदयति तथा जरयति भुक्तमेव । अवमूत्रितं मूत्रविषैर्जन्तुभिः, परिसर्पितं च स्पर्शविशेषैः कारण्डादिभिः । विकासी क्लेदच्छेदनः । अवस्रंसी विष्यन्दनशीलः । सर्वरसप्रत्यनीक इति यत्र मात्रातिरिक्तो लवणो भवति तत्र नान्यो रस उपलक्ष्यते । आहारयोगीति आहारे सदा युज्यते । मोहयति वैचित्त्यं कुरुते । मूर्च्छयतीति संज्ञानाशं करोति । विपाकस्य प्रभावो विपाकप्रभावः, विपाकश्च कटूनां कटुरेव ; रसस्य वीर्यस्य च प्रभावो रस-वीर्यप्रभावः ; अयं च वक्ष्यमाणे सर्वत्र हेतुः । चरणादीनां साक्षाद्ग्रहणं तत्रैव प्रायो वातविकारभावात् । अत्र च विपाकप्रभावादिकथनमुदाहारणार्थं, तेन मधुरादिषु विपाकादिकार्यमुन्नेयम् । ग्लपयति हर्षक्षयं करोति । पीडनः व्रणपीडनः । शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति आचूषकः । 'शीतोऽलघुश्च' इत्यकारप्रश्लेषादलघुः[१] । अवगृह्णातीति बद्धानि करोति । पृथक्त्वेनेति एकैकशो मात्रशः । एकैश्येनेति एकीकृत्य समुदायमात्रश इत्यर्थः । मात्रश इति मात्रया । तच्चैकीकरणं द्वि-त्र्यादिभिः सर्वैर्ज्ञेयम् । अध्यात्मलोकस्येति सर्वप्राणि-जनस्य । अन्यथेति अमात्रया (च. द.) । अथ एकैकरसस्य गुण-कर्माणि वक्तुं प्रतिजानीते—तेषामिति । तेषां षण्णां रसानां मध्ये एकैकस्य रसस्य यथाद्रव्यं यस्य रसस्य यद् द्रव्यं पाञ्चभौतिकं तदनतिक्रम्य, तदनुसारेणेत्यर्थः । मधुरस्य

१—'शीतोऽलघुश्चेत्यकारप्रश्लेषादलघुः, उक्तं च वाग्भटे—"कषायः पित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः ।" (अ. हृ. सू. अ. १०) इति । यत्तु सुश्रुते "कषायो रसो लाघवाद्वातं वर्धयति" (सु. सू. अ. ४२) इत्युक्तं, तत्तस्य लघुपाकतयेति न विरोधः' इति शिवदाससेनः ।

द्रव्यं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्, अम्लस्य पृथिव्यग्निगुणबहुलं, लवणस्य सलिलाग्निगुणोत्कटं, कटुकस्य वाय्वग्निगुणभूयिष्ठं, तिक्तस्य वाय्वाकाशगुणोल्बणं, कषायस्य पवन-पृथिवीगुणबहुलम्। मधुरस्य यथाद्रव्यं गुण-कर्माण्याह— तत्रेत्यादि। तत्र तेषु मध्ये। मधुरो रसः। शरीरसात्म्यात् जन्मप्रभृति देहसात्म्यात्; बाल्ये एव क्षीरादिना पुरुषस्य वृत्तिः। रसादिशुक्रान्तानां सप्तानां धातूनामोजसश्च अभिवर्धनः। पित्तादीनां प्रशमनः। त्वचो हितः त्वच्यः। एवं बल्यः, केश्यः; कण्ठ्यश्च। प्रीणयतीति प्रीणनः। तर्पणः तृप्तिकृत्। बृंहणः उपचयकरः। स्थैर्यकरः शरीरस्य दार्ढ्यकृत्। × × ×। भग्नानामपि संधानकृत्। घ्राणादीनां प्रह्लादनः। दाहस्य मूर्च्छायाश्च प्रशमनः। षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः। अनेनैतद्दर्शयति-प्रमेहादिषु मूत्रगन्धोदये षट्पदाद्युपसर्पणान्माधुर्यानुमानं कृत्वा प्रमेहादिर्ज्ञायते। वक्ष्यति च प्रमेहनिदाने—"षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्" (च. नि. अ. ४) इति। मधुरस्य अतिसेवने दोषमाह—स इति। एवंगुणोऽपि स मधुरः। एक एव, अत्यर्थम् अतिमात्रया, उपयुज्यमानः सेव्यमानः। स्थौल्यं शरीरस्य स्थूलत्वं, मार्दवं मांसानां शैथिल्यम्, आलस्यम्, अतिस्वप्नम्, अतिनिद्राम्, गौरवं गात्राणां गुरुत्वम्, अनन्नाभिलाषं तृप्तिम्, अग्नेर्दौर्बल्यम् अग्निसादम्, आस्य-कण्ठयोः मांसाभिवृद्धि; तथा श्वासः, कासः, प्रतिश्यायो नासारोगः, अलसक-विसूचिके आमदोषौ, शीतज्वरः, आनाहः, आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुरास्वादत्वं, संज्ञा-स्वरयोः प्रणाशः, गलगण्डः, गण्डमाला, श्लीपदं, गलशोफः, बस्ति-धमनी-गलानामुपलेपः, अक्ष्यामयो नेत्ररोगः, अभिष्यन्दो दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिः कफजोऽयं विकारः, तदादीन् एवं विधानन्यानपि कफजान् व्याधीन् आपादयति जनयति। × × ×। अम्लो रसः भक्तमन्नं रोचयति तत्र रुचिं जनयति। अग्निं दीपयति अग्निदीपनः। देहं बृंहयति। ऊर्जयति बलं वर्धयति। मनो बोधयति मनसः पाटवं जनयति विकाशयति। इन्द्रियाणि दृढीकरोति तेषां बलं वर्धयति। × × ×। अम्लस्य अतिसेव्यमानस्य दोषमाह—स इति। दन्तान् हर्षयति दन्तहर्षमुत्पादयति। तर्षयति तृष्णां जनयति। अक्षिणी संमीलयति। रोमाणि संवेजयति अञ्चयति। कफं विलाययति द्रवयति। कायं शिथिलीकरोति शरीरशैथिल्यं जनयति। क्षीणक्षतादीनां श्वयथुमापादयति। अपि च क्षतं नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्, अभिहतं दण्डादिना, दष्टं व्यालादिना, दग्धमग्नि-क्षारादिना, भग्नं शूनं श्वयथुमत्, च्युतं भ्रष्टं स्वस्थानात्, × × × छिन्नं खड्गादिना द्विधाकृतं, भिन्नं भेदः आशयविदारणं, विश्लिष्टम् अभिघातादिना विच्छिन्नं, विद्धं कण्टकादिना, उत्पिष्टं प्रहारादिना चूर्णितम्, आदिना पिच्चित वेष्टित-पीडितादीनां ग्रहणं, तानि आग्नेयस्वभावात् पाचयति। तथा आग्नेयस्वभावात् कण्ठमुरो हृदयं च परिदहति। × × ×। पाचयतीति पाचनः। च्यावयतीति च्यावनः प्रत्यवयवानां स्वस्थानाच्युतिकरः।

सरः स्थिरविपरीतः। अवकाशकरः अवकाशः छिद्रम्। स्तम्भादीनां विधमनो विनाशनः। संघातः काठिन्यम्। सर्वरसानां प्रत्यनीकभूतो विपक्षभूतः उच्छेदक इत्यर्थः। मार्गान् स्रोतांसि शोधयति। आहारं रोचयति आहारे रुचिं जनयति। × × ×। न अत्यर्थं गुरुः, न वा अत्यर्थं स्निग्धः। स लवणः। तर्पयति तृष्णां जनयति। मूर्च्छयति मूर्च्छा चेतनाच्युतिः। मोहयति मोहः अत्यन्तं चित्तनाशः। दारयति दारणमङ्गानां स्फोटनम्। मांसानि कुष्णाति निष्कर्षति मांसशैथिल्यं जनयतीत्यर्थः। कुष्ठानि प्रगालयति स्रावयति। शोफान् स्फोटयति दारयति। पुंस्त्वमुपहन्ति पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः। इन्द्रियाणि उपरुणद्धि तेषां स्वकर्महानिं करोति। वलिः शिथिलीभूतं चर्म, पलितं केशानां शौक्ल्यं, खालित्यं च, तेषां समाहारः; तत् आपादयति। खालित्यमिह रोम्णां प्रच्युतिमात्रम्। इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं तु शिरसि, इति केचित्। लोहितपित्तं रक्तपित्तम्, अम्लपित्तं, वीसर्पः, वातरक्तं, विचर्चिका क्षुद्रकुष्ठभेदः, इन्द्रलुप्तम्, प्रभृतिना कण्डू-कोठादीनां ग्रहणं ; तान् विकारानुपजनयति। विमाने च वक्ष्यति—'लवणं पुनरौष्ण्य-तैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुर्वनतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रंसनसमर्थमन्नद्रव्यरुचिकर-मापातभद्रं प्रयोगसमसादगुणयाद्, दोषसंचयानुबन्धम्। तद्रोचन-पाचनोपक्लेदन-विस्रंसनार्थमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानि-शैथिल्य-दौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्राम-नगर-निगम-जनपदाः सततमुपयुञ्जते ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्य-पालित्यानि तथा वलयश्चाकाले भवन्ति।" (च. वि. अ. १) इति। × × ×। वक्त्रं मुखं शोधयति क्षालयति रसस्रावात्। भुक्तमन्नं शोषयति। चक्षुर्विरेचयति स्रावयति। मुख-नासाक्षिसंस्रावीति। इन्द्रियाणि स्फुटीकरोति इन्द्रियपाटवं जनयति। अलसकम् आमदोषः, श्वयथुः, उपचयः स्थौल्यम् × × × अभिष्यन्दः दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदीभावः, स्नेहः शरीरस्य स्निग्धत्वं, स्वेदः, क्लेदः, मलश्च, तान् उपहन्ति। अशनमाहारं रोचयति। कण्डूं विलालयति उपशमयति। व्रणान् अवसादयति रोपयतीत्यर्थः। मांसं विलिखति विलेखनम् ईषच्चर्मविदारणम्। शोणितसंघातं भिनत्ति द्रवीकरणात्। बन्धान् संधिबन्धान् छिनत्ति विश्लेषयति। मार्गान् स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति। स कटुकः। विपाकस्य प्रभावात् कटुरसस्य विपाकः कटुः, "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति। विपाक-प्रभावात् पुंस्त्वमुपहन्ति शुक्रक्षयं करोति, कटुविपाकस्य शुक्रनाशनत्वात्; "शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति। रसस्य वीर्यस्य च प्रभावः तस्मात्। × × ×। सादयति अवसादयति। कर्शयति कार्श्यमा-पादयति। नमयति शरीरम्। तमयति, क्लमयति, भ्रमयति, वाय्वग्निगुणबाहु-

ल्यात्; भ्रमः चक्रारूढस्येव। मदः अपस्मारपूर्वरूपं हर्षक्षयो वा। दवथुः दाहः, कम्पः, तोदः सूचीभिरिव व्यधनं, भेदश्च, तैः; वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् भ्रमादिकृदित्यर्थः। × × ×। मारुतजान् वातजान् विकारान् उपजनयति, वाय्वग्निगुणाधिक्यात्। × × ×। स्वयमरोचिष्णुः स्वयं मुखस्य अरोचनशीलोऽपि अरोचकं हन्तीति अरोचकघ्नः। मूर्च्छादीनां प्रशमनः। त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणः स्थैर्यकृत्। क्लेदादीनामुपशोषणः। × ×। स तिक्तः। रौक्ष्यात् रुक्षत्वात् खर-विशद-स्वभावत्वाच्च रसादीन् धातूनुपशोषयति। स्रोतसां मार्गाणां खरत्वमुपपादयति। बलमादत्ते क्षिणोति। धातूनामुपशोषणः। स्रोतसां खरत्वं, बलक्षय-कर्शनादीनि च, एते हि वातजा विकाराः; अन्यांश्च वातविकारान् पक्षवध-शूलापतानकार्दितप्रभृतीन् उपजनयति। × × ×। संग्राही मलविबन्धकृत्। संधानकरो भग्नस्य। पीडनो हृदयस्य व्रणस्य वा, वातकारित्वात्। रोपणो व्रणस्य। श्लेष्मादीनां प्रशमनः। शरीरक्लेदस्य उपयोक्ता उपशोषणः। स कषायः। आस्यं मुखं शोषयति। वाचं निगृह्णाति, वाङ्निग्रहो वाक्संगः। स्रोतांसि अवबध्नाति रुणद्धि। श्यावत्वं श्याववर्णत्वमापादयति, वातकारित्वात्। विष्टभ्य जरां गच्छति जीर्यति; सवाततोदशूला मलस्याप्रवृत्तिः विष्टम्भः। खर-विशद-रूक्षत्वात् पक्षवधादीन् वातविकारान् उपजनयति। × × ×॥ (यो.)॥

रसगुणानत[1] ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, मधुरो रसो रस-रक्त-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्र-स्तन्यवर्धनः, चक्षुष्यः, केश्यो, वर्ण्यो, बलकृत्, संधानः, शोणित-रसप्रसादनो, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीणहितः, षट्पद-पिपीलिकानामिष्टतमः, तृष्णा-मूर्च्छा-दाहप्रशमनः, षडिन्द्रियप्रसादनः, कृमि-कफकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कास-श्वासा-लसक-वमथु-वदनमाधुर्य-स्वरोपघात-कृमि-गलगण्डानापादयति, तथाऽर्बुद-श्लीपद-बस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतीञ्जनयति। अम्लो जरणः, पाचनो, दीपनः, पवननिग्रहणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, बहिः शीतः[2], क्लेदनः, प्रायशो हृद्यश्चेति; स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्ष-नयनसंमीलन[3]-रोमसंवेजन-कफविलयन-शरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहत-दग्ध-दष्ट-भग्न-रुग्ण-शून-प्रच्युतावमूत्रित-विसर्पित-च्छिन्न-भिन्न विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं

१—'रसगुणान् रसधर्मान्' इति चक्रः। २—'बहिःशीत इति स्पर्शशीतः' इति चक्रः। ३—'नयनसंमीलनं सर्वदा पिहिताक्षत्वम्' इति चक्रः।

चेति। लवणः संशोधनः, पाचनो, विश्लेषणः, क्लेदनः, शैथिल्यकृत्, उष्णः, सर्वरसप्रत्यनीको, मार्गविशोधनः, सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डू-कोठ-शोफ-वैवर्ण्य-पुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपताप-मुखाक्षिपाक-रक्तपित्त--वातशोणिताम्लीकाप्रभृतीनापादयति। कटुको दीपनः, पाचनो, रोचनः, शोधनः, स्थौल्यालस्य-कफ-कृमि-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रशमनः, संधिबन्धविच्छेदनः, अवसादनः, स्तन्य-शुक्र-मेदसामुपहन्ता चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रम-मद-गलताल्वोष्ठशोष-दाह-संताप-बलविघात-कम्प-तोद-भेदकृत् कर-चरण-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति। तिक्तश्छेदनो, रोचनो, दीपनः, शोधनः, कण्डू-कोठ-तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वरप्रशमनः, स्तन्यशोधनो, विण्मूत्र-क्लेद-मेदो-वसा-पूयोपशोषणश्चेति; स एवं-गुणोऽप्येक एवात्यर्थ-मुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दित-शिरःशूल-भ्रम-तोद-भेद-च्छेदा-स्यवैरस्यान्यापादयति। कषायः संग्राहको, रोपणः, स्तम्भनः, शोधनो, लेखनः, शोषणः, पीडनः, क्लेदोपशोषणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मान-वाक्प्रग्रह-मन्यास्तम्भ-गात्रस्फुरण-चुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति (सु. सू. अ. ४२)

रसगुणानित्यादि। षष्ठमिन्द्रियं मनः। तस्येदानीमतिसेव्यमानस्यातिसेवां दोषकरीं निदर्शयन्नाह—स एवंगुण इत्यादि। अम्लस्य सेवितस्य गुणान् दर्शयन्नाह—अम्ल इत्यादि। जरण आहारस्य। पाचनो दोषामयोः, व्रणशोथस्य वा। अनुलोमनो वात-मूत्र-पुरीषाणाम्। तस्यैकस्यातिसेवितस्य दोषं निर्दिशन्नाह—स एवंगुण इत्यादि। रोमसंवेजनं रोमाञ्चः। अभिहतम् अभिघातः, दष्टं व्यालादिभिः, भग्नं काण्डभग्नाद्यनेकधा, रुग्णं वक्रीभूतं, प्रच्युतं भ्रष्टं स्वस्थानात्, अवमूत्रितं मूत्रविषाणां जन्तूनां मूत्रसंगः, विसर्पितं स्पर्शविषाणां जन्तूनां विसर्पितसंगः, छिन्नं निःशेषतः, भिन्नं कोष्ठादि, विद्धं सिरादि, उत्पिष्टं प्रहारचूर्णितादि। × × ×। संशोधनो वमनविरेचनाभ्यां, व्रणस्य च दुष्टस्य। विश्लेषण इति पृथक्करणः प्रत्यवयवानां, छेदित्वात्। क्लेदनो व्रणस्य। सर्वरसानां प्रत्यनीको विपक्ष उच्छेदक इत्यर्थः। मार्गविशोधनो मूत्र-नाडीव्रणादिमार्गविशोधनः। कोठः पीडका, पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः, इन्द्रियोपतापः चक्षुरादीनां स्वकर्म-गुणहानिः, अम्लीकेति अम्लोद्गारः। आपादयति करोति। कटुकस्य प्रकृतिकर्म निर्दिशन्नाह—कटुक इत्यादि। अवसादनः अनुत्साहकृत्। भ्रमः चक्रारूढस्येव; मद उन्मादपूर्वरूपं,

हर्पक्षयो वा। × × ×। रोचन इति इतरभक्ष्यवस्तूनां, न पुनः स्वयमेव। × × ×। सन्ये द्वे, तयोः स्तम्भ इति। रोपणो व्रणस्य। स्तम्भनो गात्राणां, मृदूनां वा दृढीकरणः। शोधनो व्रणस्य। लेखनो व्रणाद्युत्सन्नमांसस्य। शोषणो द्रवधातोः, व्रण-मेहादीनां वा। पीडनो व्रणस्य हृदयस्य वा, वातकारित्वात्। × × ×। चुमचुमायनं राजिकालिप्तस्येव त्वकपीडा, आक्षेपणमतिशयेन कम्पनम्। प्रभृतिग्रहणादन्यानपि वातविकारानर्दितादीन् करोति[1] (ड.)॥

तत्र मधुरो रसो जन्मप्रभृतिसात्म्यात् सर्वधातुविवर्धन, आयुष्यो, बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-बल-वर्णेन्द्रिय-त्वक्केश-कण्ठहितः, प्रीणनो, बृंहणो, जीवनः, तर्पणः, स्थैर्य-संधान-स्तन्यकरो, वात-पित्त-विष-दाह-मूर्च्छा-तृष्णाप्रशमनः, स्निग्धः, शीतो, मृदुर्गुरुश्च॥

एवं गुणोऽपि स सदाऽत्युपयुज्यमानः
स्थौल्याग्निसाद-गुरुतालसकातिनिद्राः।
श्वास-प्रमेह-गलरोग-विसंज्ञताऽस्य-
माधुर्य-लोचनगलार्बुद-गण्डमालाः॥
छर्द्युदर्द-मूर्धरुक्कास-पीनस-कृमीन्
श्लीपद-ज्वरोदर-ष्ठीवनानि चावहेत्।

अम्लोऽनिलनिवर्हणः, अनुलोमनः, कोष्ठविदाही, रक्तपित्तकृत, उष्णवीर्यः, शीतस्पर्शो, बोधयतीन्द्रियाणि, रोचनः, पाचनो, दीपनो, बृंहणः, तर्पणः, प्रीणनः, क्लेदनो, व्यवायी, लघुः, स्निग्धो, हृद्यश्च॥

जनयति शिथिलत्वं सेवितः सोऽति देहे
कफविलयन-कण्डू-पाण्डुता-दृग्विघातान्।
क्षत-विहतविसर्पं रक्तपित्तं पिपासां
श्वयथुमपि कृशानां तैजसत्वाद् भ्रमं च॥

लवणः स्तम्भ-बन्ध-संहतिविध्मापनः, सर्वरसप्रत्यनीको, दीपनो, रोचनः, पाचनः, क्लेदनः, शोषणः, स्नेहनः, स्वेदनो, भेदनः, छेदनः, सरो,

---

१—'बहिःशीत इति स्पर्शशीतः। नयनसंमीलनं सर्वदा पिहिताक्षत्वम्। सर्वरसप्रत्यनीकता लवणस्य लवणयोगे सर्वेषामेव रसानामभिभवादनुभवसिद्धत्वाज्ज्ञेया' इति चक्रदत्तः॥

व्यवायी, विकाषी, हरति पवनं, विष्यन्दयति कफं, विशोधयति स्रोतांसि, नातिगुरुः, तीक्ष्णोष्णश्च ॥

खलति-पलित-तृष्णा-ताप-मूर्च्छा-विसर्प-
श्वयथु-किटिभ-कोठाक्षेप-रोधास्रपित्तम् ।
क्षत-विष-मदवृद्धिं वातरक्तं करोति
क्षपयति बलमोजः सोऽति वा सेवनेन ॥

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुः, अरुचि-विष-कृमि-मूर्च्छोत्क्लेद-ज्वर-दाह-तृट्-कुष्ठ-कण्डूहरः, क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-विण्मूत्र-पित्त-श्लेष्मोपशोषणो, दीपनः, पाचनो, लेखनः, स्तन्य-कण्ठविशोधनो, मेध्यो, नातिरूक्षः, शीतो, लघुश्च ॥

धातुबलक्षय-मूर्च्छा-ग्लानि-भ्रम-वातरोग-परुषत्वम् ।
खर-विशद-रौक्ष्यभावैः सोऽतिसमासेवितः कुर्यात् ॥

कटुकोऽलसक-श्वयथूदर्द-स्थौल्याभिष्यन्द-कृमि-वक्त्ररोग-विष-कुष्ठ-कण्डूप्रसाधनो, व्रणावसादनः, स्नेह-क्लेदशोषणो, रोचनः, पाचनो, दीपनो, लेखनः, शोधनः, शोषयत्यन्नं, स्फुटयतीन्द्रियाणि, भिनत्ति शोणितसंघातं, छिनत्ति बन्धान्, विवृणोति स्रोतांसि, क्षपयति श्लेष्माणं, लघु-रूक्ष-तीक्ष्णोष्णश्च ॥

कुरुतेऽतिनिषेवितः स तृष्णा-मद-मूर्च्छा-वमि-मोह-देहसादान् ।
बलशुक्रगलोपशोष-कम्प-भ्रम-ताप-ग्लपनातिकर्शनानि ॥
कर-चरण-पार्श्व-पृष्ठप्रभृतिष्वनिलस्य कोपमतितीव्रम् ।
संकोच-तोद-भेदैर्वाय्वग्निगुणाधिकत्वेन ॥

कषायो बलासं सपित्तं सरक्तं निहन्त्याशु बध्नाति वर्चोऽतिरूक्षः ।
गुरुस्त्वक्सवर्णत्वकृत् क्लेदशोषी हिमः प्रीणनो रोपणो लेखनश्च ॥
अत्यभ्यासात् सोऽपि शुक्रोपरोधं तृष्णाध्मान-स्तम्भ-विष्टम्भ-कार्श्यम् ।
स्रोतोबन्धं वात-विण्मूत्रसङ्गं पक्षाघाताक्षेपकादींश्च कुर्यात् ॥

(अ. सं. सू. अ. १८)

रसानां स्वरूपमुक्त्वा तत्र मधुर इत्यादिना कर्म निर्दिशति । तत्र तेषु रसेषु मध्ये, मधुर उपयुक्तो धातूनां रसादीनां सप्तानां वृद्धिकरः । कुतः ? आजन्म-

सात्म्यात् ; जन्मनः प्रभृति देहस्य सात्म्यादित्यर्थः। बालभाव एव क्षीरादिना मधुरेण देहवृत्तिः पुरुषस्य। हित इति बालादिभिः संबध्यते। प्रीणनः तुष्टिकरः। जीवन ओजस्यः। एवंगुणोऽपि मधुरो रसः सदैवात्युपयुज्यमानः स्थौल्यादीन् रोगान् कुरुते। यदा त्वतिमात्रत्वेन रहितः सदोपयुज्यते तदा सुखकर एव। स्थौल्यादयो रोगाः केचिद्वक्ष्यमाणलक्षणाः। अर्बुदशब्दस्य लोचन-गलाभ्यां संबन्धः। अम्लोऽनिलनिबर्हणत्वादियुक्तः। स चातिसेवितो देहे शैथिल्यादीञ्जनयति। लवणरसः स्तम्भादीनां विध्मापनो विनाशकरः। स्तम्भोऽङ्ग-दोषादेः, बन्धः तस्यैव मार्गरोधः। संघातो भावानां निबिडत्वम्। सर्वेषां च शेषाणां रसानामुपलम्भे प्रत्यनीकः प्रतिपक्षः विघातित्वात्। विष्यन्दयति स्रावयति। नातिगुरुर्नातिस्निग्धश्च। सोऽतिसेवितः खलत्यादीन् करोति, बलादींश्च क्षपयति। तिक्तो रसः स्वयं पुरुषस्यारोचनशीलः, अरुचि चाहारद्रव्यविषयां नाशयति विषादींश्च, देहे च क्लेदादीनामुपशोषणः। सोऽतिसेवितो धातुक्षयादीन् करोति खरत्वाद्, वैशद्याद्, रौक्ष्याच्च। कटुको रसोऽलसकादीनां प्रसाधनो विनाशनः। व्रणस्य चावसादनः रोहणप्रतिबन्धकः। अन्नं शोषयति विदहति। सोऽतिनिषेवितस्तृष्णादीन् कुरुते। बल-शुक्रयोरुपशोषो हानिः, गलस्य यत्त्वन्तरुपशुष्कत्वमुपशोषः। करचरणादिष्वनिलस्य वायोः कोपं करोति। किंभूतं ? संकोचादिभिस्तीव्रं दुःसहम्। एतच्च तृष्णादिकं वाय्वग्निगुणाधिक्येन हेतुना करोति। हेतुकीर्तनं देशादिवशाद्धेतोरूनाधिक्येन तत्कार्यस्यापि तथाभावसूचनाय, अन्यत्र च तद्धेतुसद्भावे तथैवेति प्रदर्शनाय च। कषायः बलासं श्लेष्माणं सपित्तं सरक्तं चाशु निहन्ति। वर्चः पुरीषं, बध्नाति रुणद्धि। सोऽप्यत्यभ्यासात् शुक्रोपघातादीन् कुर्यात् (इन्दुः) ॥

मधुरो रसः।

आजन्मसात्म्यात् कुरुते धातूनां प्रबलं बलम् ॥
बाल-वृद्ध-क्षतक्षीण-वर्ण-केशेन्द्रियौजसाम्।
प्रशस्तो बृंहणः कण्ठ्यः स्तन्य-सन्धानकृद् गुरुः ॥
आयुष्यो जीवनः स्निग्धः पित्तानिलविषापहः।
कुरुतेऽत्युपयोगेन स मेदः-श्लेष्मजान् गदान ॥
स्थौल्याग्निसाद-सन्न्यास-मेह-गण्डार्बुदादिकान्।
अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धो हृद्यः पाचन-रोचनः ॥
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनः क्लेदनो लघुः।
करोति कफ-पित्तास्रं मूढवातानुलोमनः ॥

सोऽत्यभ्यस्तस्तनोः कुर्याच्छैथिल्यं तिमिरं भ्रमम् ।
कण्डु-पाण्डुत्व-वीसर्प-शोफ-विस्फोट-तृड्-ज्वरान् ॥
लवणः स्तम्भ-सङ्घात-बन्धविध्मापनोऽग्निकृत् ।
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेद-भेदकृत् ॥
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम् ।
तृट्-कुष्ठ-विष-वीसर्पाञ्जनयेत् क्षपयेद्बलम् ॥
तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं कृमि-विड्विषम् ।
कुष्ठ-मूर्च्छा-ज्वरोत्क्लेश-दाह-पित्त-कफाञ्जयेत् ॥
क्लेदमेदो-वसा-मज्ज-शकृन्मूत्रोपशोषणः ।
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्य-कण्ठविशोधनः ॥
धातुक्षयानिलव्याधीनतियोगात् करोति सः ।
कटुर्गलामयोदर्द-कुष्ठालसक-शोफजित् ॥
व्रणावसादनः स्नेह-मेदः-क्लेदोपशोषणः ॥
दीपनः पाचनो रुच्यः शोधनोऽन्नस्य शोषणः ॥
छिनत्ति बन्धान् स्रोतांसि विवृणोति कफापहः ।
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम् ॥
मूर्च्छामाकुञ्चनं कम्पं कटि-पृष्ठादिषु व्यथाम् ।
कषायः पित्त-कफहा गुरुरस्रविशोधनः ॥
पीडनो रोपणः शीतः क्लेद-मेदोविशोषणः ।
आमसंस्तम्भनो ग्राही रूक्षोऽतित्वक्प्रसादनः ॥
करोति शीलितः सोऽति विष्टम्भाध्मान-हृद्रुजः ।
तृट्-कार्श्य-पौरुषभ्रंश-स्रोतोरोध-मलग्रहान् ॥

(अ. हृ. सू. अ. १०) ।

मधुरो रसो धातूनां बलं प्रबलं कुरुते प्रकृष्टया शक्त्या युक्तं बलं जनयेत्, निजं बलं यत् तत्प्रकृष्टं जनयतीत्यर्थः । स्तन्यं क्षीरं, संधानं श्लेषः, ते करोतीति स्तन्य-संधानकृद् ; गुरुश्च । तथा आयुष्यादिगुणः । ननु, आयुष्य-जीवनयोरेकार्थत्वादेक-तरोपादानमेव युक्तं ? मैवम्, एतयोर्भिन्नार्थत्वात् । तथाहि—आयुष्यः स उच्यते योऽपरिमितायुषो हितः, अधिकायुषो हेतुत्वात्; तथा च मुनिः—"तेनायुरमितं

लेभे" (च. सू. अ. 1) इति । यस्त्वायुषो नियतरूपस्य तामेव मर्यादामनुबध्नाति, स जीवयतीति जीवन उच्यते। तदनयोः स्पष्ट एव भेदः। तथा जीवनमोजस्य-मित्यभिन्नार्थौ, त्वेतयोरपीह यदुपादानं तदोजसो द्विविधाया अपि वृद्धेः कारकोऽयमिति प्रतिपादयितुम् । तथा च, मधुरो रसो रुधिरादिक्रमेण ओजसो वृद्धिकरः सामान्याद्विशेषाच्च । यथा—क्षीरं धातुवर्धनमुक्तं वृष्यं च । तत्र धातुवर्धनत्वेनैव वृष्यत्वस्योक्तत्वाद् वृष्यशब्दोपादानं यान्यन्यानि वृष्याणि द्रव्याण्यात्मगुप्तादीनि, तेभ्यः सकाशाद्विशेषेणास्येव वृद्धिकरमिति द्योतयितुं कृतमिति । मूढम् अननुलोमगं वातमनुलोमयतीति मूढवातानुलोमनः। आजन्मसात्म्यात् निरुपाधिकसात्म्यादित्यर्थः । प्रबलम् इतररसकृतेभ्यो बलेभ्यः । बलं देहधारणसामर्थ्यम् । स्थौल्यादयो मेदः—श्लेष्मजानामुदाहरणम् । हृद्यः हृदयप्रियः । रोचनः जिह्वायाः । स्तम्भादीनां विध्मापनो नाशनः । स्तम्भः निष्क्रियत्वम् । संघातः काठिन्यम् । बन्धः स्रोतोरोधः । छेदः विलम्बिमांसादेः । भेदः पक्वशोफादेः । अस्रपवनं वातशोणितम् । खलति-पलिते कपालरोगौ । वलिः शैथिल्यकृत्त्वक्संकोचः । विषजननं विषातिवृद्धिजननम् । कण्ठविशोधनः कण्ठरोधहरः । चलव्याधीन् वातव्याधीन् । कर्माण्याह—कटुरिति । उदर्दस्त्रिधा—स चोक्त आयुर्वेदप्रकाशे—"उदर्द उक्तो वक्षोऽभिष्यन्दोऽन्यैः शीतवेपथुः । शीताम्बुस्पर्शजः शोफो राग-कण्डूयुतः परैः ॥" इति । व्रणावसादनः व्रणोत्सेधहरः । स्नेहादीनामुपशोषणः । शोषणः नाशनः, अन्नस्यादनीयत्वं नाशयतीत्यर्थः । स्रोतांसि विवृणोति प्रसारयति । आकुञ्चनं सिरादिसंकोचः । अस्रविशोधनः रक्तदुष्टिहरः । पीडनः व्रणानामाचूषणः । आमसंस्तम्भनः आमदोषाणां पाकप्रतिबन्धकरः । ग्राही स्तम्भनः । अतित्वक्प्रसादनः त्वचमतिनिर्मलां करोति । पौरुषभ्रंशः शुक्रहानिः (हे.)

अब मधुरादि छः रसोंमेंसे प्रत्येकके गुण और कर्म उनके आधारभूत द्रव्य जो पृथिव्यादि महाभूत, उनके अनुसार कहे जाते हैं ।—

मधुर रस (मधुर रसवाला द्रव्य) जन्मसे ही मनुष्यके शरीरको निरुपाधिक सात्म्य होनेसे रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-ओज शुक्रको बढ़ानेवाला, आयुष्यको टिकाने और बढ़ानेवाला, मनसहित छः इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेवाला, बलकारक, शरीरकी कान्तिको अच्छा करनेवाला, पित्त-विष तथा वायुका नाश करनेवाला, तृषा और दाहका शमन करनेवाला, त्वचा-केश और कण्ठके लिए हितकर, शरीरको बल देनेवाला, शरीरका पोषण करनेवाला, अभिघातादिसे मूर्च्छितको जीवन देनेवाला, तृप्तिकर, बृंहण, शरीरको दृढ़ करनेवाला, उरःक्षत और भग्न अस्थिका संधान करनेवाला, घ्राणेन्द्रिय-मुख-कण्ठ-ओष्ठ और जिह्वाको आनन्द देनेवाला, दाह और मूर्च्छाका नाश करनेवाला, भौंरों और चींटियोंको अत्यन्त प्रिय, स्निग्ध, शीत,

गुरु[१] (च.); स्तन्यवर्धक, नेत्रोंके लिए हितकर, रक्त और रस धातुको शुद्ध करनेवाला, बाल-वृद्ध और क्षतक्षीणके लिए हितकर, कृमि और कफको करनेवाला (सु.); मृदु (अ. सं.) और रस आदि सब धातुओंको उत्तम बल देनेवाला है (अ. हृ.)। मधुर रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे स्थूलता, मृदुता, आलस्य, अतिनिद्रा. भारीपन, अन्नपर अरुचि, अग्निमान्द्य, मुख और कण्ठमें मांसकी वृद्धि, श्वास, खाँसी, जुकाम (प्रतिश्याय), अलसक (आमविकार-विशेष), शीतज्वर, आनाह (कब्ज), मुखमाधुर्य, वमन, संज्ञानाश, स्वरभङ्ग, गलगण्ड, गण्डमाला, श्लीपद, गलेकी सूजन, मूत्राशय-धमनियों और गलेमें क्लेद (मलवृद्धि, चिकनापन), नेत्रके रोग (आँख आना आदि), अभिष्यन्द (नाक-गले आदिकी सर्दी) आदि कफरोग (च.); कृमि, अर्बुद, गुदोपलेप (गुदामें चिकनाहट) (सु.); प्रमेह, नेत्रार्बुद, गलार्बुद, उदर्द, सिरदर्द, उदररोग, बार-बार थूकना (अ. सं.); मेदोरोग और संन्यास आदि (कफप्रधान) विकारोंको (अ. हृ.) उत्पन्न करता है।

अम्ल रस (रसवाला द्रव्य) अन्नपर रुचि उत्पन्न करनेवाला, अग्निदीपन, शरीरको बढ़ानेवाला, उत्साहवर्धक, मनको जागरित (उत्तेजित) करनेवाला, इन्द्रियोंको दृढ़ करनेवाला, बलवर्धक, मूढ़-वातानुलोमन (रुके हुए) वायुका अनुलोमन करनेवाला, हृदयको तृप्त करनेवाला, मुखमें लालास्राव उत्पन्न करनेवाला, खाये हुए अन्नको नीचे ले जानेवाला—क्लिन्न करनेवाला (गलानेवाला) और पकानेवाला, प्रीणन, लघु, उष्ण, स्निग्ध[२] (च.); व्रणशोथको पकानेवाला, वातहर, पेटमें विदाह करनेवाला, स्पर्शमें ठण्डा (परन्तु वीर्यमें उष्ण), क्लेदन, प्रायः हृद्य (सु.); रक्त और पित्तको उत्पन्न-प्रकुपित करनेवाला, इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाला, तर्पण, व्यवायी (अ. सं.) तथा कफकर (अ. हृ.) है। अम्ल रस ऊपर लिखे हुए गुणोंवाला होते हुए भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे दन्तहर्ष, तृषा, नेत्रसंमीलन (आँख मिंची-सी रहना), रोमाञ्च, कफविलयन (कफका पिघलना), पित्तप्रकोप, रक्तदोष, मांसमें विदाह (पाक), शरीरशैथिल्य, क्षीण-क्षत-कृश और दुर्बल पुरुषोंमें श्वयथु (सूजन), क्षत-अभिहत (चोट)—सविष प्राणिका दंश-दग्ध (जला हुआ)—टूटी हुई हड्डी—अस्थि आदिका स्थानभ्रंश—अवमूत्रित (सविष प्राणियोंका शरीरपर पेशाब कर जाना)—परिसर्पित (सविष प्राणियोंका स्पर्श)—

१—स्निग्ध, शीत और गुरु (मृदु अ. सं.) ये मधुर रसके साथ रहनेवाले (सहचर) गुण हैं तथा रस-रक्त आदिकी वृद्धि करना आदि मधुर रसके कर्म हैं (ग.)। २—लघु, उष्ण और स्निग्ध ये अम्ल रसके साथ रहनेवाले गुण हैं तथा अन्नपर रुचि उत्पन्न करना आदि अम्ल रसके कर्म हैं (ग.)।

मर्दित (अङ्गका जोरसे मसला जाना) —छिन्न (कटना) —भिन्न (फटना)— विश्लिष्ट (संधिका अलग होना)—विद्ध (अङ्गका विंध जाना)—उत्पिष्ट (अङ्गका कुचल जाना) आदिमें अपने आग्नेय स्वभावके कारण पाक (पूय) की उत्पत्ति, कण्ठ-छाती और हृदयमें दाह (च.) ; खाज, पाण्डुरोग, दृष्टिकी मन्दता, क्षतविसर्प, रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर आना) (अ. सं.) ; तिमिर (आँखोंके आगे अन्धकार लगना), फोड़े-फुन्सी और ज्वर (अ. हृ.) इन विकारोंको उत्पन्न करता है ।

लवणरस (लवण रसवाला द्रव्य) पाचन, क्लेदन, दीपन, शरीरके धात्वादि अवयवोंको अपने स्थानसे च्युत करनेवाला, छेदन, भेदन, तीक्ष्ण, अनुलोमन, विकासी, द्रव करके बहानेवाला, स्रोत आदिमें अवकाश करनेवाला, वातहर, स्तम्भ (अङ्गका जकड़ जाना)—स्रोतोंका अवरोध और काठिन्यको दूर करनेवाला, अन्य सब रसोंका विरोधी (उनके स्वादको छिपा देनेवाला), मुखमें लालास्राव करनेवाला, कफको पिघलानेवाला, स्रोतोंका शोधन करनेवाला, शरीरके सब अवयवोंको मृदु करनेवाला, रोचक, आहारके साथ उपयोगमें आनेवाला ; कुछ गुरु, स्निग्ध और उष्ण[1] (च.); संशोधन, विश्लेषण (अपने छेदन स्वभावसे अवयवोंको पृथक् करनेवाला), शिथिलता लानेवाला (सु.) ; शोषण, स्नेहन, स्वेदन, लटकते हुए मांस आदिका छेदन करनेवाला, अनुलोमन, व्यवायी, तथा कुछ तीक्ष्ण (अ. सं.) है । लवण रस ऊपर कहे हुए गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे पित्तप्रकोप, रक्तकी अतिवृद्धि (प्रकोप), तृषा, मूर्च्छा, ताप, अङ्गोंमें चीरे पड़ना, मांसमें शैथिल्य, कुष्ठमें गलाव, शरीरस्थ विषकी वृद्धि, शोथोंका फटना, दाँतोंका गिरना, पुंस्त्वनाश (शुक्रक्षय), इन्द्रियोंकी अपने-अपने कार्योंमें अशक्ति, वली (झुर्री), बाल पकना, खालित्य (गंजापन), रक्तपित्त, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, इन्द्रलुप्त (बाल झड़ना) (च.); खाज, कोठ (ददोड़े-पित्ती), शोथ, शरीरका वर्ण बिगड़ना, इन्द्रियोंका उपताप, मुखपाक, नेत्रपाक, खट्टे डकार आदि अन्नविदाहके लक्षण (सु.) ; किटिभ (कुष्ठविशेष), आक्षेप, घावको बढ़ाना, मदवृद्धि (नशेको बढ़ाना), बलक्षय, ओजःक्षय (अ. सं.) और कुष्ठ (अ. हृ.)— इन विकारोंको उत्पन्न करता है ।

कटुरस (वाला द्रव्य) मुखको शुद्ध करनेवाला, अग्निदीपन, खाये हुए अन्न का शोषण करनेवाला, नासिका और नेत्रोंसे स्राव करानेवाला, इन्द्रियोंको उत्तेजित

१—गुरु, स्निग्ध और उष्ण (कुछ तीक्ष्ण अ. सं.) ये लवण रसके साथ रहनेवाले गुण हैं और पाचन-क्लेदन आदि लवण रसके कर्म हैं (ग.)। लघु, उष्ण और रूक्ष ये कटुरसके साथ रहनेवाले गुण हैं तथा मुखशोधन आदि उनके कर्म हैं (ग.)।

करनेवाला, अलसक—सूजन—मांसादिकी वृद्धि—पिती-अभिष्यन्द-स्वेद-क्लेद और मल—इनका नाश करनेवाला, रोचक, कण्डूका नाश करनेवाला, व्रणावसादन (व्रणमें उभरे हुए मांसको बैठानेवाला), कृमिघ्न, मांसका लेखन करनेवाला, रक्तके जमावको तोड़नेवाला, बन्धों (स्रोतोंमें रुकावट)को दूर करके स्रोतोंको खोलनेवाला, कफनाशक, लघु, उष्ण, रूक्ष[1] (च.) ; शोधन, स्थूलता – आलस्य – कफ – विष और कुष्ठ— इनको दूर करनेवाला, संधियोंके बन्धों (जकड़ने) को तोड़नेवाला, स्तन्य—शुक्र तथा मेदका नाश करनेवाला (सु.) ; स्नेह और क्लेदको सुखानेवाला, मुखरोगहर, लेखन (शरीरको कृश करनेवाला), तीक्ष्ण (अ. सं.) तथा गलरोगहर (अ. हृ.) है। कटुरस ऊपर लिखे हुए गुणोंवाला होते हुए भी केवल उस अकेलेका ही अति उपयोग करनेसे कटुविपाकके प्रभावसे पुरुषत्वका नाश करता है ; अपने रस और उष्णवीर्यके प्रभावसे मोह, ग्लानि, अवसाद, कृशता, मूर्च्छा, शरीरका झुकना, अंधेरी, चक्कर, कण्ठमें दाह, शरीरमें ताप, बलक्षय और तृषा उत्पन्न करता है ; वायु और अग्निके गुणकी अधिकतासे चक्कर, दाह, कम्प, सुई चुभने-सी वेदना, मेद और हाथ-पाँव-पार्श्व-पृष्ठ आदिमें वातविकारोंको उत्पन्न करता है (च.); एवं गले-तालु और ओठका सूखना (सु.); वमन, शुक्रक्षय, हाथ-पाँव-पार्श्व-पीठ आदिमें संकोच, और भेदन-सी वेदना (अ. सं.)–इन विकारोंको उत्पन्न करता है।

तिक्त रस (वाला द्रव्य) स्वयं न रुचनेवाला होनेपर भी अरुचिका नाश करनेवाला, विषघ्न, कृमिघ्न, मूर्च्छा-दाह-कण्डू-कुष्ठ और तृषाका नाश करनेवाला, त्वचा और मांसको दृढ़ करनेवाला, ज्वरघ्न, दीपन, पाचन, स्तन्यशोधन, लेखन, क्लेद-मेद-वसा-मज्जा-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त और कफको सुखानेवाला, रूक्ष, शीत, लघु[2] (च.); छेदन, शोधन, कोठप्रशमन (सु.); कण्ठशोधन, मेधाको बढ़ानेवाला और उत्क्लेदको दूर करनेवाला तथा अति रूक्ष नहीं ऐसा (अ. सं.) है। तिक्त रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे अपने रूक्ष विशद और खर गुणसे रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा और शुक्र इनको सुखाता है, स्रोतोंमें कठिनता उत्पन्न करता है ; बलक्षय, कृशता, ग्लानि, मूर्च्छा, चक्कर, मुख-शोष और इस प्रकारके अन्य वातरोग (च.), शरीरकी स्तब्धता, मन्यास्तम्भ, आक्षेप,, अर्दित, सिरदर्द, सुई चुभने-सी वेदना, फटने या कटने-सी वेदना, मुखका बेस्वादपना (सु.) और धातुक्षय (अ. सं.)—इन रोगोंको उत्पन्न करता है।

कषाय रस (वाला द्रव्य) संशमन, ग्राही, संधानीय, व्रणपीडन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, कफ-रक्त और पित्तका शमन करनेवाला, शरीरके क्लेदको सुखानेवाला,

---

१—रूक्ष, शीत और लघु ये तिक्त रसके सहचर गुण हैं तथा अरुचिनाशन आदि उसके कर्म हैं (ग.)।

रूक्ष, शीत, गुरु[1] (च.); लेखन (सु.) ; विकृत त्वचाको स्वाभाविक वर्णमें लानेवाला, प्रीणन (अ. सं.); रक्तशोधक, मेदका शोषण करनेवाला और आम-स्तम्भक (आम दोषोंके पाकको रोकनेवाला) (अ. हृ.) है। कषाय रस ऐसे गुणोंवाला होनेपर भी केवल उस अकेलेका अति उपयोग करनेसे मुखशोष, हृदयकी पीड़ा, पेटका अफारा, वाक्संग (बोल न सकना), स्रोतोंका अवरोध, वर्णकी श्यामता और षण्ढता लाता है ; पेटमें गुड़गुड़ाहट करके हजम होता है ; वात, मूत्र, मल, और वीर्यको रोकता है, शरीरमें कृशता, ग्लानि, तृषा और स्तब्धता उत्पन्न करता है ; खर, विशद और रूक्ष होनेसे पक्षाघात, अपतानक (च.) ; मन्यास्तम्भ, अङ्गोंका फड़कना, चुमचुमाहट, आकुञ्चन, आक्षेप (सु.) आदि विकारोंको उत्पन्न करता है।

इस प्रकार ये छः रस अलग-अलग या एकसे अधिक साथ मिलाकर योग्य मात्रा में ठीक उपयोग करने से लोगोंके उपकारके लिए होते हैं। इससे विपरीत यदि अतिमात्रामें उपयोग किये जाएँ तो हानिकर होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि उपकारके लिये ही इनका योग्य मात्रामें ठीक उपयोग करें।

नागार्जुनमतेन रसानां कर्म—

तत्र बृंहणीयाः, तर्पणीया, बल्या, वृष्याः, स्वादवो, गुरुविपाका, मेदुराः, स्थिराः, पयस्या, हृद्याः, स्निग्धा, जीवनीयाः, सृष्टमूत्र-पुरीषाः, पूजिताश्चाभ्यवहरणाय पूर्वे भूयिष्ठम् (र. वै. सू. अ. ३, सू. ३४)।

इदानीं रसानां कर्मोच्यते—तत्रेत्यादि। तत्र तेषु पूर्वोद्दिष्टेषु षट्सु, पूर्वे मधुराम्ल-लवणा इति योज्यम्। बृंहणीयाः बृंहणे हिता योग्या वा। तर्पणीयाः प्रीणनशीलाः। बल्याः बले हिता बलकराः। वृष्याः वृषत्वे हिताः। स्वादवः मृष्टाः। गुरुविपाकाः चिरपाकिनः। मेदुराः मेदोवर्धनाः। स्थिराः स्थैर्यकराः, अभेदोपचारात्; अथवा स्थिरकारणात् स्थिराः, 'अन्नं प्राणाः' इतिवत्। पयस्याः स्तन्यवर्धनाः। हृद्याः प्रार्थनीयाः। जीवनीयाः प्राणस्थितिहेतवः। सृष्टमूत्र-पुरीषाः सुखसृष्टमलाः। अभ्य-वहरणाय आहाराङ्गत्वाय, पूजिताः पथ्याः; अम्लमूर्तिर्मधुरमूर्तिरिति द्विविध एवाहार इति। भूयिष्ठं प्रायशः; तेष्वपि प्रधाना विद्यन्त इत्यर्थः। इतरे विपरीताः (सू. ३५)। इतरे कटु-तिक्त-कषायाः (भा.)॥

मधुरादि छहों रसोंमें पहले तीन रस (मधुर, अम्ल और लवण) आहारमें प्रधान और पथ्य, प्रायः बृंहण (शरीरको पुष्ट करनेवाले), तृप्ति करनेवाले,

---

१—रूक्ष, शीत और गुरु ये कषाय रसके सहचर गुण हैं तथा संशमन आदि उसके कर्म हैं (ग.)।

बलकारक, वृष्य, स्वादिष्ट, गुरुविपाक (देरीसे हजम होनेवाले), मेदको (चर्बीको) बढ़ानेवाले, शरीरको दृढ़ करनेवाले, स्तन्य (दूध) को बढ़ानेवाले, हृद्य, स्निग्ध, शरीरके धारणमें उपयुक्त (जीवनीय) और मल तथा मूत्रकी सुखसे प्रवृत्ति करानेवाले हैं। शेष तीन रस (कटु, तिक्त और कषाय) रसवाले द्रव्य इन गुणोंसे विपरीत गुणवाले अर्थात् आहारमें गौण, शरीरको कृश करनेवाले, तृप्ति न करनेवाले, बलको कम करनेवाले, अवृष्य, अस्वादु, शीघ्र हजम होनेवाले, मेदको घटानेवाले, शरीरको शिथिल करनेवाले, स्तन्य (दूध) को कम करनेवाले, अहृद्य, रूक्ष, जीवनके लिये कम उपयुक्त तथा मूत्रको रोकनेवाले हैं।

साहचर्योपचाराद् द्रव्यगुणानां रसेषूपदेशः—

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान्[1], कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥

(च. सू. अ. २६)।

संप्रति रसानां परस्परसंयोगो गुणा उक्तः, तथाऽग्रे च स्निग्धत्वादिर्गुणो वाच्यः, स च गुणारूपे रसे न संभवतीति यथा रसानां गुणानिर्देशो बोद्धव्यस्तदाह—गुणा इत्यादि। गुणा गुणाश्रया नोक्ता इति दीर्घञ्जीवितीये "समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः।" (च. सू. अ. १) इत्यनेन। रसगुणानिति रसे स्निग्धादीन् गुणान्निर्दिष्टान् तद्रसाधारद्रव्यगुणानेव विद्यात्। ननु, यदि द्रव्यगुणा एव ते, तत् किमिति रसगुणत्वेनोच्यन्त इत्याह—कर्तुरित्यादि। कर्तुरिति तन्त्रकर्तुः। अभिप्राया इति तत्र तत्रोपचारेण तथा सामान्यशब्दादिप्रयोगेण तन्त्रकरणबुद्धयः; सामान्यशब्दोपचारादिप्रयोगश्च प्रकरणादिवशादेव स्फुटत्वात् तथा प्रयोजनवशाच्च क्रियते। × × ×। इह च द्रव्यगुणानां रसेषु यदुपचरणं तस्यायमभिप्रायो यत्—मधुरादिनिर्देशेनैव स्निग्ध-शीतादिगुणा अपि प्रायो मधुराद्यव्यभिचारिणो द्रव्ये निर्दिष्टा भवन्तीति न मधुरत्वं निर्दिश्य स्निग्धत्वादिप्रतिपादनं पुनः पृथक् क्रियत इति (च. द.)। "नानौषधभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमुपलभ्यते" इत्यत्र "तां तां युक्तिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य" (च. सू अ. २६) इत्युक्तं, संप्रति तदेव विवरीतुमाह—गुणा इति। गुणा न गुणानामाश्रया उक्ताः, गुणेषु गुणा न संभवन्ति; तदुक्तं गुणलक्षणे कणादेन—"द्रव्याश्रय्यगुणवान्" (वै. द. १।१।१६) इति, सुश्रुतेनापि—"निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः।" (सु. सू. अ. ४०) इति; तस्माद् भिषग्रसगुणान्

१—'गुणा गुणाश्रया नोक्ता इति सगुणत्वे द्रव्यत्वप्रसङ्गादिति भावः, तस्माद्रसनिर्दिष्टान् गुणान् द्रव्यगुणानेव विद्यात्, एकार्थसमवायेनोपचारादिति भावः' इति शिवदाससेनः।

रसगुणत्वेन वक्ष्यमाणान् शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्षादीन् द्रव्यगुणान् रसाश्रयतत्तद्द्रव्यस्यैव गुणान् विद्यात्। रसानां गुण-कर्माणि यानि पश्चाद्वक्ष्यन्ते तानि रसाश्रयतत्तद्भूतोल्बणपाञ्चभौतिकद्रव्यस्यैव, रसस्य स्वयं गुणतया गुणकर्माश्रयत्वायोगात्। (यो.)॥

तदाश्रयेषु (रसाश्रयेषु) च द्रव्यसंज्ञकेषु पृथिव्यादिषु गुणाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाद् गुर्वादयो रसेषु साहचर्यादुपचर्यन्ते (अ. सं. सू. अ. १७)॥

तेषां च रसादीनामाश्रयभूतेषु पृथिव्यादिषु पञ्चसु द्रव्यसंज्ञकेषु कार्यद्रव्यावस्थायां ये गुणा गुर्वादयो गुरु स्नेहोष्ण-सूक्ष्म-लघ्वादयः ते द्रव्यगुणाः सन्तो रसेषु गुणत्वेनोपचारादुच्यन्ते। उपचारस्य बहुहेतुदर्शनाय साहचर्यं विशेषणम्। ननु कथं ते द्रव्यस्येत्याशङ्क्याह—प्रकृतीत्यादि। क्वचित् प्रकृत्यवस्थायां न सन्तोऽपि नानाविधक्रियासाध्यया विकृत्या जन्यन्ते। केचित्तु विचारादिभिः; विचारो विशिष्टमात्रादिकः संयोगः। देशो द्विविध उक्तः, तद्वशाद् गुर्वादिगुणयोगो द्रव्यस्य। देहदेशवशात् "सक्थिमांसाद् गुरुः स्कन्धः" (च.सू. अ.२७) इत्यादि। भूमिदेशवशादन्यथा जाङ्गलेऽन्यथाऽऽनूप इति। एवं कालेऽपि। तेन यत्रापि प्रकृत्यादिवशाद्रसानां संभवः, तत्रापि ये रसगुणास्ते द्रव्यस्यैव विज्ञेयाः। एषा च प्रकृत्यादिवशाद् गुर्वादिकल्पना रसाश्रयस्य द्रव्यस्यैव गुणाश्रयत्वात् संभवति, न रसस्य; तस्य तु साहचर्यादुपचर्यते (इन्दुः)॥

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः॥

(अ. हृ. सू. अ. ९)।

ननु, मधुरादयो रसा गुर्वादिगुणयुक्ताः कथं वक्तुं पार्यन्ते? यतो मधुरादयो रसा गुणाः, गुर्वादयश्च गुणाः; न च गुणानां मधुरादीनां गुर्वादिगुणाधारत्वमुपपन्नं, तथा च वैशेषिकाः—"निर्गुणा गुणाः" इति, तस्मिन् पर्यनुयोगे इदमाह—पृथिव्यादावित्यादि। पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे द्रव्ये रसाश्रये गुर्वादयो गुणाः परमार्थत आश्रिताः, न तु रसेषु मधुरादिषु; यत्तु रसेषु व्यपदिश्यन्ते तत् साहचर्योपचारतः। सह चरतीति सहचरः, तस्य भावः साहचर्यम्। यस्मिन्नेव गुडादौ मधुरो रस आश्रितस्तस्मिन्नेव गुरुगुण आश्रित इति मधुररस-गुरुगुणयोः सहचरभावः। साहचर्येण तुल्याश्रयत्वेनोपचारः साहचर्योपचारः, तस्मात् साहचर्योपचारतो गुर्वादयो गुणा रसेषु मधुरादिषु व्यपदिश्यन्ते। यथा—गुरुर्मधुरो रसः, लघुरम्ल इत्यादि। न पुनः परमार्थतो रसेषु गुर्वादयः सन्ति। अस्ति च साहचर्येण

व्यपदेशः। यथा—घृतसहचरेण घृतस्थेनाग्निना दग्धो 'घृतदग्ध' इत्युच्यते (अ. द.)। गुर्वादीनां रसाश्रयत्वाद् द्रव्यस्यासर्वधर्मत्वे प्राप्ते परिहारमाह—गुर्वादय इति। गुर्वादयो गुणा द्रव्य एव, न रसेषु। यस्तु मधुरो गुरुः, अम्लो लघुरित्यादि व्यपदेशः, स साहचर्योपचारतः। एकस्मिन्नाश्रये द्वयोरवस्थानं साहचर्यम्। साहचर्यमेव कुतः? इत्याह—रसाश्रय इति। द्रव्यं हि गुर्वादीनामिव रसानामप्याश्रयः। अत एकाश्रयत्वात् साहचर्यं, तेन उपचारः अविद्यमानस्याप्याश्रयाश्रयिभावस्यारोपः। ननु, किमेतद्रसाद् व्यतिरिक्तं द्रव्यं नाम? इत्यत आह—पृथिव्यादाविति। पृथिव्यादिशब्दाभिलप्यं द्रव्यमित्यर्थः (हे.)॥

गुरु लघु-शीत-उष्ण आदि गुण रसोंके आश्रयभूत पार्थिव आदि द्रव्योंके अन्दर ही रहते हैं; क्योंकि गुण गुणका आश्रय करके अर्थात् गुणोंमें नहीं रह सकता है, इसलिए मधुरादि रसोंके जो गुण कहे गये हैं वे मधुरादि रसवाले द्रव्यके ही जानने चाहिए। मधुरादि रस और गुर्वादि गुणोंका नित्य साहचर्य—(साथ रहनेका संबन्ध) होनेसे, गुर्वादि गुण यद्यपि मधुरादि रसवाले द्रव्योंके हैं, तथापि औपचारिक भाषामें 'मधुर रस गुरु है, अम्ल रस लघु है' इत्यादि रूपमें कहा जाता है[1]।

वीर्यतो विपाकतश्चाविरुद्धानां रसोपदेशेन गुणोपदेशः, तत्रापवादश्च—

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः।
तयोरम्लं यदुष्णं च यद् द्रव्यं कटुकं तयोः॥
तेषां[2] रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः।

१—जिन गुड़ आदि द्रव्योंमें मधुर आदि रस रहते हैं उनमें गुरु आदि गुण भी साथ ही रहते हैं; जैसे कि रसोंके गुण-कर्ममें लिखा गया है कि—मधुर रस स्निग्ध, शीत और गुरु हैं; अम्ल रस लघु, उष्ण और स्निग्ध है, इत्यादि; इस प्रकार मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणोंका सहचरभाव (साथ रहनेका संबन्ध) होनेसे मधुर आदि रस और गुरु आदि गुणोंका आश्रयाश्रयिभाव न होनेपर भी मधुरादि रसोंमें गुर्वादि गुणोंका आरोप करके औपचारिक भाषामें मधुर रस गुरु है, अम्ल लघु है, इत्यादि प्रयोग किया जाता है।

२—"संप्रति मधुर-तिक्त-कषायाणां शीतत्वं, तथा कट्वम्ल-लवणानां चोष्णत्वं, तथा कटुतिक्त-कषायाणां चावृष्यत्वमित्यादयो रसद्वारेण द्रव्याणां ये गुणा उक्तास्तदपवादमाह—तेषामित्यादि। रसोपदेशेन रसगुणकथनद्वारेण द्रव्याणां यः शीतोष्णादिगुणसंग्रहः कृतः, स वीर्यतः पाकतश्चाविपरीतानां तेषां वक्ष्यमाणक्षीरादिद्रव्याणामेव निर्देष्टुं शक्यः, न तु रसविपरीतवीर्य-विपाकानामित्यर्थः। तेष्वविपरीतवीर्यविपाकानुपदिशति—उपदेक्ष्यत इत्यादि। उपदेक्ष्यत इति 'यथा पय' इत्यादिभिः संबध्यते।

वीर्यतोऽविपरीतानां[1] पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥
मधुरं[2] किंचिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च ।
यथा महत्पञ्चमूलं यथाऽब्जानूपसामिषम् ॥
लवणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा ।
अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥
किंचिदम्लं हि संग्राहि, किंचिदम्लं भिनत्ति च ।
यथा कपित्थं संग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥
पिप्पली[3] नागरं वृष्यं, कटु चावृष्यमुच्यते ।
कषायः स्तम्भनः शीतः, सोऽभयायामतोऽन्यथा ॥
तस्माद्रसोपदेशेन[4] न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ।
दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥

(च. सू. अ. २६)।

संप्रति रसद्वारेणैव द्रव्याणां वीर्यमाह—शीतमित्यादि[5]। यद् द्रव्यं रसे पाके च मधुरं तच्छीतं वीर्येण ज्ञेयं, तथा तयोरिति रस-पाकयोर्यदम्लं द्रव्यं तदुष्णं वीर्येण,

---

एतानि हि द्रव्यगुणकथनप्रसंगे रसाविपरीतवीर्य-विपाकतयैवोपदेष्टव्यानीति रसानुरूप-गुणत्वमेषां ज्ञातव्यमित्यर्थः। इदं तूदाहरणैकदेशमात्रं, तेनापराण्यप्येवंजातीयान्युदाहर्तव्यानीत्याह – एवमादीनीत्यादि। एवमादीनि एवंप्रकाराणि गोधूमादीनीत्यर्थः।" इति शिवदाससेनः।

१—'वीर्यतो विपरीतानां' इति गङ्गाधरसंमतः पाठः।

२—"संप्रतिविरुद्धवीर्यत्वेन विरुद्धविपाकत्वेन वा रसद्वारेण येषां गुणा न निर्देश्यास्तानाह – मधुरमित्यादि।" इति शिवदाससेनः।

३—"पिप्पलीत्यादि। अत्र पिप्पली-नागरयोः कटुकयोरपि तद्विपरीतमधुर-विपाकित्वेन नोष्णत्वं ज्ञेयम्।" इति शिवदाससेनः।

४—"तस्मादित्यादि। उक्तरीत्या तुल्यरसेऽपि द्रव्ये यतो गुणान्तरं दृष्टं, तस्मादित्यर्थः।" इति शिवदाससेनः।

५—"इदानीं रसविशेषाद्विपाकविशेषाच्च वीर्यविशेषो ज्ञातव्य इत्याह—शीत-मित्यादि।" इति शिवदाससेनः।

तथा यच्च द्रव्यं तयोरिति रस-पाकयोः कटुकमुक्तं तच्चोष्णं वीर्येण, 'भवति' इति शेषः। किंवा 'यच्चोष्णं कटुकं तयो।' इति पाठः। तत्र यद्रसतो मधुरं तद्वीर्यतः शीतमिति वक्तव्ये यत् 'रस-पाकयोः' इति करोति, तन्मधुररसोचितपाकस्यैव मधुरद्रव्यस्य शीतवीर्यताप्राप्त्यर्थम्; एवमम्ल-कटुकयोरपि वाच्यम्। तेषामिति मधुरपाकादीनां, रसोपदेशेनेति रसमात्रकथनेनैव, यतो विपाकोऽपि रसत एव प्रायो ज्ञायते; यद्वक्ष्यति—"कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इत्यादि। एतच्च न सर्वत्रेत्याह—वीर्यत इत्यादि। वीर्ततोऽविपरीतानां रसद्वारा वीर्यज्ञानं, न तु रसविरुद्धवीर्याणां महापञ्चमूलादीनां; न केवलं रसेन किं तर्हि पाकतश्च य उपदेक्ष्यते गुणसंग्रहः "शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना, स च वीर्यतोऽविरुद्धानां विज्ञेयः; यदि तत्र वीर्यं विरोधि भवति तदा विपाकोऽपि यथोक्तगुणकारी न स्यात्। किंवा, पाकतश्चाविपरीतानां रसोपदेशेन गुणसंग्रहः शीतोष्णलक्षणो निर्देश्यः, यस्यास्तु पिप्पल्याः कटुकाया अपि विपरीतमधुरपाकित्वं, न तत्र कटुरसत्वेनोष्णत्वमित्यर्थः। अस्मिंश्च पक्षे 'उपदेक्ष्यते' इति 'यथा पयः' इत्यादिना संबध्यते। तान्येवाविपरीतवीर्यविपाकान्याह—यथा पय इत्यादि। पयः प्रभृतीनि हि द्रव्यगुणकथनेऽविरुद्धवीर्यविपाकान्युपदेष्टव्यानि। संप्रति यत्र विरुद्धवीर्यत्वेन रसेनोष्णत्वादि न निर्देश्यं तदाह—मधुरमित्यादि। किंचित् कषायं चोष्णं, तिक्तं चोष्णमिति योजना। कषायतिक्त-लवणानामुदाहरणमसूत्रितानामपि प्रकरणात् कृतम्। महत्पञ्चमूलं बिल्वादिपञ्चमूलमिह। एतच्च तिक्तस्य कषायस्य चोष्णतायामुदाहरणम्, अब्जानूपामिषं तु मधुरस्योष्णवीर्यत्वे। वीर्यप्रसङ्गादन्यमप्यम्लादीनां विरुद्धगुणमाह—किंचिदित्यादि। अभयायामतोऽन्यथेति अभयायां कषायो रसो भेदनश्चोष्णश्चेत्यर्थः (च. द.)। रसद्वारेण द्रव्याणां गुण-कर्माण्युक्तानि, रसवद्वीर्य-विपाकप्रभावद्वारेणापि द्रव्याणां कर्म दृश्यते, तदेव दर्शयितुं प्रकरणं सोदाहरणमारभते—शीतमित्यादि। यद् द्रव्यं वीर्येण शीतं शीतवीर्यं, रस-विपाकयोर्मधुरं मधुररसं मधुरविपाकं च, वीर्य-विपाकौ वक्ष्येते; तथा यद्द्रव्यं तयो रस-विपाकयोरम्लम् अम्लरसमम्लविपाकं च, (तत्) उष्णम् उष्णवीर्यं स्यात्। तथा यच्च द्रव्यमुष्णमुष्णवीर्यं तयो रस-विपाकयोः कटुकं कटुरसं, कटुविपाकं चोक्तं, तेषां तथाविधानां द्रव्याणां रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः वाच्यः। मधुरो रसः शीतः, अम्लकटुकौ उष्णौ, विपाकश्च रसैः तुल्यफलः, एवं तत्तद् द्रव्येषु रसस्य वीर्य-विपाकाभ्यामविरुद्धत्वात्तेषां यथास्वं रसतो गुणान् दोषकोपन-शमनत्वं च विद्यात्। विपरीतानामुक्तेभ्योऽन्येषाम् अर्थात् यत्र रस-वीर्यविपाकानामन्योन्यविरुद्धत्वं विजात्यन्वयः; तादृशद्रव्याणां गुणसंग्रहो वीर्यतः, पाकतो विपाकतः, चकारात् रसतोऽपि उपदेक्ष्यते। तथाविधं द्रव्यं रसेन किंचित् कर्म कुरुते, किंचिद्वीर्येण, किंचिद्विपाकेनापि।

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यमित्यादौ उदाहरणमाह—यथा पय इत्यादि। यथा पयः क्षीरं, यथा सर्पिर्घृतं; गव्ये क्षीर-सर्पिषी मधुररसे, मधुरविपाके, शीतवीर्ये च। यथा वा चव्य-चित्रकौ; एतौ कटुरसौ, कटुविपाकौ, उष्णवीर्यौ च। तयोरम्लं यदुष्णं स्यादित्यस्योदाहरणं मदिरादिकं स्वयमूहनीयम्। भिषक् एवमादीनि चान्यानि तद्विधानि द्रव्याणि रसतो निर्दिशेत्, न तु सर्वाणि; कथमिति चेत् ? अत्राह—मधुरमित्यादि। किंचिद् द्रव्यं मधुरमपि उष्णम् उष्णवीर्यम्। यथा—अब्जानूपम् औदकानूपम्, आमिषं मांसम्। किंचित् कषाय-तिक्तं द्रव्यमुष्णवीर्यं स्यात्। यथा—महत्पञ्चमूलम्। औदकानुपपिशितं रसतो मधुरमपि न पित्तं जयति किं तु जनयति, उष्णवीर्यत्वात्। कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात्। किंचिद् द्रव्यं लवणमपि नोष्णम्। यथा सैन्धवं लवणमपि न उष्णम् उष्णवीर्यं, किंतु शीतवीर्यम्। तथा किंचिदम्लं नोष्णं, यथा—आमलकमम्लमपि नोष्णवीर्यं, किंतु शीतवीर्यम्। लवणं सैन्धवं पित्तं जयति, शीतवीर्यत्वात्; न तु वातम्। एवमम्लमामलकम्। तिक्तानामर्कागुरु-गुडूचीनामुष्णं वीर्यमिष्यते। तिक्ता अपि अर्कागुरु-गुडूच्यः पित्तं जनयन्ति, उष्णवीर्यत्वात्। उक्तेषूदाहरणेषु वीर्यं रसमभिभूयात्मकर्म कुरुते, रस-विपाक-वीर्याणामुत्तरोत्तरातिशायित्वात्; "रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।" (च. सू. अ. २६) इति। किंचिदम्लमिति किञ्चित् अम्लम् अम्लरसं द्रव्यं, संग्राहि मलविबन्धकृद् भवति। यथा—कपित्थं संग्राहि। किंचिदम्लं द्रव्यं भिनत्ति भेदि भवति। यथा—आमलकं भेदि। कपित्थामलकयोस्तुल्यरसत्वेऽपि गुणभेदो द्रव्यप्रभावात्। "रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।" (च. सू. अ. २६) इति। एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम्। पिप्पलीति कटु कटुरसं द्रव्यमवृष्यमुच्यते, किन्तु कटुकाऽपि पिप्पली नागरं शुण्ठी च वृष्यमुच्यते। "प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र पिप्पली-विश्वभेषजात्।" (च. सू. अ. २७) इति। विश्वभेषजं शुण्ठी। कषायो रसः स्तम्भनः शीतश्च, यथा—धातक्याम्; अभयायां हरीतक्यां, स कषायः, अतोऽन्यथा भेदन उष्णश्च। तथा च—"कपित्थं दाडिमं चाम्लं ग्राहि, नामलकीफलम्। कषाया ग्राहिणी शीता धातकी, न हरीतकी॥" (अ. सं. सू. अ. १७) इति। यस्मात्तुल्यरसेऽपि द्रव्ये द्रव्ये प्रतिद्रव्यमेवं गुणान्तरं दृष्टं गुणभेदो दृश्यते, तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेद्भिषक् (यो.)। अथैषां द्रव्याणामारम्भकभूतन्यून-मध्याधिक-तर-तमादिभेदेनासंख्येयानां गुण-कर्मोपदेशो यथा कर्तव्यस्तदाह—शीतमित्यादि। यद् द्रव्यं वीर्येण शीतं रस-पाकयोर्मधुरं तस्य गुणसंग्रहो रसोपदेशेन 'मधुरम्' इत्युपदेशेन निर्देश्यो बुद्धिमद्भिः। 'सोमगुणातिरेकात् पञ्चभूतारब्धद्रव्ये मधुरो रसोऽभिव्यज्यते' इत्युक्त्या तन्मधुररससहचरितास्तु नियता गुणाः स्निग्ध-गुरु-शीताः, 'स्वादुर्मधुरं पच्यते' इति च वक्ष्यते, तेन मधुररसोपदेशेन

शीतवीर्य-मधुरविपाकौ ज्ञेयौ। पृथिव्यामम्बुप्रवेशे तदुभयाज्जाता गुणा भूमेर्गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धास्तथाऽपां द्रव-स्निग्ध-शीत-मन्द-सर-सान्द्र-मृदु-पिच्छिला गुणा इत्येषां गुणानां संग्रहो निर्देश्यो भवति। तथा यद् द्रव्यं तयो रसपाकयोरम्लं वीर्येणोष्णं तस्यापि रसोपदेशेनाम्लरसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः। भूम्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, स च "लघुरुष्णः स्निग्धश्च" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या, तथा "अम्लोऽम्लं पच्यते" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या 'अम्ल' इति रसमात्रोपदेशेनोष्णवीर्याम्लरस-पाक-लघु-स्निग्धा ज्ञेयाः। तथाऽपि भूम्यग्न्योरनभि-भवाच्च शेषा गुणा ये भूमेर्गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धाः, अग्नेश्च ये उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपाणि गुणाः, तेषामपि गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। एवं यच्च द्रव्यं वीर्येणोष्णं तयो रस-पाकयोः कटुकं मरिचादिकं तस्यापि कटुरसोपदेशेन गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। वाय्वग्निगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः, स च "लघुरुष्णो रूक्षश्च" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या, "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रयाशः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इत्युक्त्या च, 'कटुकम्' इतिमात्रोप-देशेन लघु-रूक्षोष्णवीर्य-कटुरस-पाका ज्ञेयाः। तत्रापि शेषाणां वाय्वग्निगुणानां वायोर्लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्शगुणानामग्नेरुष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुणानां मेलनेन यादृशलघुत्वादयो भवन्ति तादृशानां तेषां गुणानां संग्रहो निर्देश्यः। विपरीतानां वीर्यतः पाकतश्च विपरीतानां मधुराम्ल-कटुकानां वीर्यतः पाकतश्चोपदेक्ष्यते गुणसंग्रह इति। यच्च व्याख्यायते—यद् द्रव्यं रस-पाकयो-र्मधुरं तद्वीर्येण शीतं, यच्च रस-पाकयोरम्लं तद्वीर्येणोष्णं, यच्च रस-पाकयोः कटुकं तद्वीर्येणोष्णमिति; तदयुक्तं, 'तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रह' इति वचनस्या-संगतेः। तथा च शीतवीर्य-मधुररस-मधुरपाकद्रव्याणां मधुररसोपदेशेन गुण-संग्रहः—यथा पयो यथा च सर्पिर्मधुरं स्निग्ध-गुरु-शीतादिकम्, एवमुष्णवीर्याम्ल-रसाम्लपाकद्रव्याणामम्लरसोपदेशेन गुणसंग्रहो यथा—भव्यमम्लं, तेन लघूष्ण-स्निग्धत्वादिसंग्रहः। एवमुष्णवीर्य-कटुरस-कटुपाकद्रव्याणां कटुरसोपदेशेन शेषगुण-संग्रहो यथा—चव्य-चित्रकौ। तत्र चित्रकः—"कटुकः, कटुकः पाके, वीर्योष्ण-श्चित्रको मतः।" (च. सू. अ. २७) इति वक्ष्यते, तेन लघूष्ण-रूक्षादीनामपि संग्रहः। एवमादीनि चान्यानि शीतवीर्य-मधुररस-मधुरपाकानि द्रव्याणि मधुररसतो यथा, तथोष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकानि द्रव्याणि चाम्लरसतः, तथोष्ण-वीर्य-कटुरस-कटुपाकानि द्रव्याणि कटुरसतो भिषग्गुणतो निर्दिशेत्। वीर्यतो विपाकतश्च विपरीतानां मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषायाणां वीर्यतश्च पाकत-श्चोपदेशो यथा तदाह—मधुरमित्यादि। किंचिद् द्रव्यं यथाऽनूपमामिषं मधुरं वीर्यत उष्णं, तद्वीर्यतो रसतश्च निर्देश्यम्। तथा किंचिद् द्रव्यं कषायं तिक्तमेव किंचिद् द्रव्यं यथा बृहत्पञ्चमूलं वीर्यत उष्णं तद्वीर्यत उपदेक्ष्यते। कषाय-तिक्तौ शीतावुक्तौ।

ननु तिक्त-कषाययोः पाक एकान्तेन कटुः, तेन तयो रसोपदेशेन गुणसंग्रहो निर्देश्यः कुतो नोक्त इति चेत् ? न, रस-विपाक-वीर्याणामसामान्यात्। प्रायेण हि तिक्त-कषाययोः शीतं वीर्यं, कटुः पाक इति। अपरमुदाहरति—लवणमित्यादि। सर्वं लवणमत्यर्थं गुरु स्निग्धमुष्णं च, सैन्धवं तु लवणं नोष्णवीर्यम्। तथा सर्वमम्लमुष्णं, लघु, स्निग्धं च; आमलकमम्लं नोष्णमिति वीर्यतो विपरीतं वीर्यतो निर्देश्यम्। तथाऽर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तानामुष्णं वीर्यं न शीतं, "सर्वं तिक्तं शीतमुक्तम्" इति वीर्यतोऽर्कादय उपदेश्या इति। वीर्यतो विपरीतान्युदाहृत्य पाकतोऽमुमुदाहरति—किंचिदम्लमित्यादि। अम्लस्याम्लपाके सृष्टविण्मूत्रता कर्म; तत्र किंचिदम्लं द्रव्यं संग्राहि, यथा—कपित्थफलं संग्राहि, तेनानुमीयते—कपित्थं कटुपाकं; वक्ष्यते हि—"शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६) इति; तस्मात् पाकत उपदेक्ष्यते द्रव्यम्। आमलकं चाम्लं भेदि शीतं च, तस्मात् पाकतोऽविपरीतं वीर्यतो विपरीतं वीर्यत उपदेक्ष्यते। एवं सर्वं कटु द्रव्यं कटुपाकादुष्ण-शुक्रघ्नत्वादवृष्यं ; पिप्पली-नागरं तु वृष्यं, तस्मान्मधुरपाकं च पाकतो विपरीतं पाकत उपदेक्ष्यते। कषायः सर्वः स्तम्भनः शीतश्च; कटुपाकात् स्तम्भनः, सोमगुणः स्तम्भनः शीतश्च; अभयायां हरीतक्यां विपर्ययो रेचनश्चोष्णश्च; इति वीर्यतो विपरीता हरीतकी, पाकतश्च विपरीता, रेचनत्वात्। तस्मात् सर्वं द्रव्यं न रसोपदेशेनादिशेत्। यत्तु शीतवीर्य-मधुररस-मधुरपाकं तन्मधुररसोपदेशेन आदिशेत्, यच्चोष्णवीर्याम्लरसाम्लपाकं तदप्यम्लरसोपदेशेनादिशेत्, एवं यदुष्णवीर्य-कटुरस-कटुपाकं तदपि कटुरसोपदेशेनादिशेदिति निगमनम् (ग.)॥

जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें मधुर होता है, वह शीतवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल होता है, वह उष्णवीर्य होता है। जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें कटु होता है, वह भी उष्णवीर्य होता है। जिन द्रव्योंका वीर्य और विपाक रससे विपरीत न हो अर्थात् रसके समान ही हो, उन द्रव्योंके गुण-कर्म, रसोंके जो गुण-कर्म विस्तारसे कहे गये हैं उनके अनुसार ही जानने चाहिये। जैसे-दूध और घीके रस, वीर्य और विपाक समान ही हैं अर्थात् उनका रस मधुर, विपाक मधुर और वीर्य शीत हैं; एवं चव्य और चित्रकका रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है; ये और इस प्रकारके अन्य द्रव्य जिनके रस, विपाक और वीर्य एकसे हों उनके गुण-कर्म रससे ही जानने चाहिए। तन्त्रकारोंने भी उनके गुण-कर्मका निर्देश रसोपदेशसे यह मधुर है, यह अम्ल है, यह कटु है, एतावन्मात्र ही किया है। परन्तु ऊपर कहा हुआ नियम सब द्रव्योंमें लागू नहीं हो सकता। क्योंकि कुछ मधुर, कषाय और तिक्त रसवाले द्रव्य उष्णवीर्य होते हैं; जैसे बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त होनेपर भी उष्णवीर्य हैं; जलचर और आनूप प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य है; सैन्धव लवण होनेपर भी उष्ण वीर्य नहीं है (किंतु शीतवीर्य है), आँवले

अम्ल होनेपर भी उष्णवीर्य नहीं हैं (किन्तु शीतवीर्य हैं); आक, अगर और गिलोय तिक्तरसवाले होनेसे इनका वीर्य शीत होना चाहिए, परन्तु इनका वीर्य उष्ण है; कुछ अम्ल द्रव्य ग्राही हैं, जैसे-कैथका फल; कुछ अम्ल द्रव्य भेदन हैं, जैसे—आँवले; कटुरसको अवृष्य बताया गया है, परन्तु पीपल और सोंठ वृष्य हैं; कषाय रसको स्तम्भन और शीतवीर्य बताया गया है, परन्तु हरड़ कषाय रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य और भेदन है। इस प्रकार तुल्यरसवाले द्रव्योंमें भी भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं, अतः रसोंके जो गुणकर्म कहे गये हैं, उनपरसे सब द्रव्योंके गुण-कर्म नहीं बताये जा सकते।

ऊपर हमने जो अर्थ दिया है वह चक्रपाणिदत्तके मतानुसार है। चक्रपाणिदत्तने मूलमें 'वीर्यतोऽविपरीतानाम् (वीर्यतः अविपरीतानाम्') ऐसा पाठ मानकर ग्रन्थ लगाया है। कविराज गङ्गाधरजी और योगेन्द्रनाथसेनजीने 'वीर्यतो विपरीतानां' ऐसा पाठ मानकर कुछ भिन्न व्याख्या की है। उनके मतानुसार संपूर्ण प्रकरणका अर्थ इस प्रकार होता है—जिन द्रव्योंका रस, विपाक और वीर्य समान हो अर्थात् विपाक और वीर्य रसके समान हों, जैसे--रस मधुर हो, विपाक मधुर हो और वीर्य शीत हो; रस अम्ल हो, विपाक अम्ल हो और वीर्य उष्ण हो; तथा रस कटु हो, विपाक कटु हो और वीर्य उष्ण हो; ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म केवल रसके उपदेशसे अर्थात् तत् तत् रसके जो गुण-कर्म लिखे गये हैं उनपरसे ही जानने— बताने चाहिए। मधुर रस शीतवीर्य है, अम्ल और लवण रस उष्णवीर्य हैं, विपाक रसोंके तुल्य फल (गुण-कर्म) वाला होता है। इस प्रकार ऐसे द्रव्य रस, वीर्य और विपाकमें अविरुद्ध होनेसे उनका केवल रसोपदेशसे ही तत्तद्रसके गुण-कर्म और दोषप्रकोपत्व वा दोषप्रशमकत्वका बोध हो जाता है। अतः तन्त्रकारोंने प्रायः ऐसे द्रव्योंके गुणोंमें मधुरः, अम्लः, कटुकः, इतना ही संक्षेपमें लिख दिया है। परंतु जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय रसवाले द्रव्य वीर्य और विपाकसे विपरीत हैं, ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म वीर्य और विपाकसे कहे जायँगे। जैसे-आनूपमांस मधुर होनेपर भी उष्ण वीर्य है, उसके गुण-कर्म वीर्यसे जानने चाहिए। तथा बृहत्पञ्चमूल तिक्त और कषाय रसवाला होनेपर भी उसके विपरीत उष्णवीर्यवाला होनेसे उसके गुण-कर्म वीर्यके अनुसार होते हैं, क्योंकि वीर्य-रस और विपाक दोनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है। अन्य विरुद्धवीर्यके उदाहरण—लवण रस गुरु, स्निग्ध और उष्ण वीर्य वाला होता है, परन्तु सैन्धव लवण होनेपर भी उष्ण नहीं किन्तु शीतवीर्य है; अम्ल रस लघु, स्निग्ध और उष्ण वीर्यवाला होता है, परंतु आँवले अम्ल होनेपर भी शीतवीर्य हैं; तिक्त रसवालें द्रव्य शीत वीर्यवाले होते हैं, परन्तु आक, अगर और गिलोय तिक्त होनेपर भी उष्णवीर्यवाले हैं; अतः ये सब वीर्यसे विपरीत होने से उनके गुण-कर्म उनके वीर्यपरसे कहे गये हैं। विपाकविरुद्धके उदाहरण-जैसे-कैथका फल अम्ल होनेपर भी ग्राही है, इससे

अनुमान होता है कि—इसका विपाक कटु है, और कटुविपाक होनेसे अम्ल होनेपर भी ग्राही है। कटु द्रव्य कटुविपाकवाले होनेसे उष्णवीर्य और कटुविपाक शुक्रघ्न होनेसे अवृष्य होते हैं, परन्तु सोंठ और पीपल मधुरविपाक होनेसे वृष्य हैं। ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म विपाकपरसे जानने चाहिए। कषाय रस स्तम्भन और शीतवीर्य होता है, परन्तु हरड कषाय होनेपर भी रेचन और उष्णवीर्य है। ऐसे द्रव्योंके गुण-कर्म वीर्य और विपाकसे जानने चाहिये। तुल्यरसवाले द्रव्योंमें भी गुणोंमें अन्तर देखा जाता है, इस लिये सब द्रव्योंका उपदेश रसोंसे नहीं हो सकता। अतः जिन द्रव्योंमें रस, वीर्य और विपाक समान हों उनके गुण-कर्म रसोंसे और जिनमें रससे विपरीत वीर्य और विपाक हों, उनके गुण-कर्म वीर्य या विपाकसे जानने चाहिए। क्योंकि विपाक रसका और वीर्य रस तथा विपाक दोनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है "रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।"

केषां द्रव्याणां रसेभ्य एव गुणा दोषप्रकोपकत्व-प्रशमनत्वं च विज्ञेयम् ?—

तत्र यन्मधुरं रस-विपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं, यच्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च, यद्वा कटुकं, तेषां यथास्वं रसेभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोप-शमनत्वं च विद्यात् (अ. सं. सू. अ. १७)॥

अनन्तरं वाग्भटस्तत्र यन्मधुरमित्यादिना प्रकृतं प्रस्तौति। यद्द्रव्यं मधुररसं, मधुरविपाकं, शीतवीर्यं च; तथा तयो रस-विपाकयोरम्लं सदुष्णवीर्यं; यद्वा कटुकं तयो रस-विपाकयोरुष्णवीर्यं च; तेषां त्रयाणामपि यथात्मीयरसगुणान् सातिशयान् विद्यात्। रसानुरूपेण च तेषां दोषकोप-शमौ। तेनैतदुक्तं भवति—यत्र रस-वीर्य-विपाकानामेकजात्यन्वयत्वं तत्रैकगुणत्वमपि। तथा च—क्षीरे मधुररस-विपाके शीतवीर्ये च मधुररसवत् श्लेष्मकोपनत्वं, वात-पित्तशमनत्वं च; एवं मदिराया अम्लरस-विपाकाया उष्णवीर्यायाश्चाम्लरसवद्वातशमनत्वं पित्त-श्लेष्मप्रकोपनत्वादिकं च; कटुरस-विपाकस्योष्णवीर्यस्य मरिचस्य कटुकरसवत् श्लेष्मशमनत्वं वात-पित्त प्रकोपनं च (इन्दुः)॥

जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें मधुर तथा शीतवीर्य हो, जो द्रव्य रस और विपाक दोनोंमें अम्ल तथा उष्णवीर्य हो और जो द्रव्य रस तथा विपाक दोनोंमें कटु और उष्णवीर्य हो, उन द्रव्योंके गुण तथा वातादि दोषोंका प्रकोपकत्व और प्रशमनत्व प्रायः उनके रसोंसे (रसोंके गुणोंके अनुसार) जानना चाहिए।

पूर्वोक्तनियमापवादः—

रसादिसङ्करेण त्वन्यथात्वम्। यथा—मधु मधुरं श्लेष्माणं शमयति कटुविपाकतया सकषायत्वाद्रौक्ष्याच्च, वातं जनयति शीतवीर्यत्वाच्च, तथा

यवोऽपि ; आनूपौदकपिशितं मधुरमपि पित्तं करोति, उष्णवीर्यत्वात् ; तथा तैलं मधुरं कटुविपाकतया विपाकत एव बद्धविण्मूत्रम् ; अम्लं काञ्चिकं कफं जयति, रूक्षोष्णत्वात् ; कपित्थं तु रौक्ष्यात् कफं, पित्तं तु शीतवीर्यतया ; आमलकं पित्तं शीतवीर्यत्वात् स्वादुपाकतया च, कफं रौक्ष्याल्लाघवाच्च ; लवणं सैन्धवं स्वादुपाकतया पित्तं जयति, लाघवात् कफं च ; कटुकाऽपि शुण्ठी स्नेहौष्ण्य-स्वादुपाकैर्वातं क्षपयति, पिप्पली च लशुनोऽपि स्नेहौष्ण्यगौरवैः पलाण्डुश्च ; स तु स्नेहगौरवाभ्यां जनयति श्लेष्माणम्, वृद्धं मूलकं च स्वादुपाकतया; स्निग्धानि तिक्तानि व्याघ्री-विशल्यार्कागुरूण्युष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयन्ति ; कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति, न तु पित्तमुष्णवीर्यत्वात् ; कषायश्च कुलत्थोऽम्लपाकतया च। इत्येतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्। (अ. सं. सू. अ. १७)॥

यत्र तु रसादीनां विजात्यन्वयेन सङ्करस्तत्र क्वचिद्रसाधिक्येन कार्यकारित्वं, क्वचिद्वीर्याधिक्येन, क्वचिद्विपाकाधिक्येन, इत्यस्यैवार्थस्य यथा मधु मधुरमित्या-द्युदाहरणं। सुबोधम्। वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तुः कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्य-वाग्भटेन मधुरपाकित्वं कारणमुक्तं तत् स्वयं हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटु-पाकित्वं (वि) स्मृतं, किंवाऽन्यत् किंचिदिति न जाने (इन्दुः)॥

जहाँ (जिस द्रव्यमें) रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर सजातीय (एक-सा-अनुकूल) संबन्ध होता है वहाँ रसोंके जो गुण-कर्म शास्त्रमें लिखे हैं उनपरसे द्रव्यके समग्र गुण-कर्म जानने चाहिए, यह ऊपर लिखा गया है ; परन्तु जिस द्रव्यमें रस, विपाक और वीर्य इनका परस्पर विजातीय (एक-दूसरेके विरुद्ध) सम्बन्ध होता है उस द्रव्यमें रसके गुणोंसे विपरीत गुण भी पाये जाते हैं। वहाँ केवल उसके रसके गुणोंसे द्रव्यके समग्र गुण-कर्म नहीं बताये जा सकते। जैसे—मधु (शहद) मधुर रसवाला है तथापि वह कुछ कषाय, रूक्ष और कटु विपाकवाला होनेसे कफका शमन करता है तथा शीतवीर्य होनेसे वायुको उत्पन्न करता है। वैसा ही जौके विषयमें भी जानना चाहिए। आनूप और औदक प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाता है। तैल मधुर होनेपर भी कटुविपाक होनेसे मल-मूत्रका विबन्ध (कब्ज) करता है। काँजी अम्ल होनेपर भी रूक्ष और उष्ण होनेसे कफको शान्त करती है। कैथका फल अम्ल होनेपर भी रूक्ष होनेसे कफको और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करता है। आँवले अम्ल होनेपर भी मधुर-विपाक और शीतवीर्यसे पित्तका और रूक्ष तथा लघु होनेसे कफका शमन करते हैं। सैन्धानमक मधुर विपाकसे पित्तका और लघु होनेसे कफका शमन करता है।

सोंठ और पीपल कटुरसवाली होनेपर भी मधुरविपाक, स्निग्ध और उष्ण वीर्यसे वायुका शमन करती है। लहसुन और प्याज कटुरसवाले होनेपर भी स्निग्ध, उष्णवीर्य और गुरु होनेसे वायुका शमन करते हैं। प्याज स्निग्ध और गुरु होनेसे कफको बढ़ाता है। पकी मूली मधुरविपाक होनेसे कफको बढ़ाती है। कटेरी, पाढ़, आक और अगर तिक्तरस और स्निग्ध होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाते हैं। बृहत्पञ्चमूल कषाय और तिक्त रसवाला होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे वायुका शमन करता है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करता। कुलथी कषायरसवाली होनेपर भी अम्लविपाक होनेसे वायुका शमन करती है, किन्तु पित्तका शमन नहीं करती।

रसानां गुणतारतम्यम्—

रौक्ष्यात् कषायो रूक्षाणामुत्तमो, मध्यमः कटुः।
तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाल्लवणः परः॥
मध्योऽम्लः, कटुकश्चान्त्यः, स्निग्धानां मधुरः परः।
मध्योऽम्लो, लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते॥
मध्योत्कृष्टावराः शैत्यात् कषाय-स्वादु-तिक्तकाः[1]।
स्वादुर्गुरुत्वादधिकः कषायाल्लवणोऽवरः॥
अम्लात् कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुत्तमोत्तमः[2]।
केचि[3]ल्लघूनामवरमिच्छन्ति लवणं रसम्॥
गौरवे लाघवे चैव[4] सोऽवरस्तूभयोरपि। (च. सू. अ. २६)।

रौक्ष्यादित्यादि। रौक्ष्येण कषाय उत्तम इति रूक्षतमः, तिक्तो रूक्षः, कटुस्तु मध्यो रूक्षतरः; एवमन्यत्रापि। कटुकश्चान्त्य इति अवर इत्यर्थः। एवं लवणश्चान्त्य इति अवर इत्यर्थः। लवणोऽवर इति गुरुत्वेनेत्यर्थः। अम्लात् कटुरित्यादौ

१—'तिक्तात् कषायो मधुरः शीताच्छीततरः परः।' इति पाठान्तरम्।

२—'लघुत्वादुत्तमो मतः' इति पाठान्तरम्।

३—"मतान्तरमाह—केचिदित्यादि। प्रतिसंस्कर्ता उभयोरपि मतयोरवबोधार्थं मतद्वयं सङ्कलय्य दर्शयति—गौरव इत्यादि। उभयोरपीति मतद्वयेऽपि स लवणोऽवरः; अग्निवेशमते गौरवेऽवरः, मतान्तरे लाघवेऽवरः। एतेन गौरवेऽवर इति येनोच्यते तेनापि किंचिल्लघुत्वं स्वीक्रियत एव, तथा लाघवेऽवर इति मतेऽपि किंचिद्गुरुत्वमर्थायातमेवेति न कश्चिदर्थभेद इत्यर्थः।" इति शिवदाससेनः।

४—'चैवं' इति पाठान्तरम्।

अम्लात् कटुर्लघुः, ततः कटुकादुत्तमात्तिक्तो लघुत्वेनोत्तमोत्तमः ; उत्तमात् कटुकादुत्तम उत्तमोत्तमः। एकीयमतमाह—केचिदित्यादि। एकीयमतं वचनभङ्ग्या स्वीकुर्वन्नाह—गौरव इत्यादि। एतेन गौरवे लाघवे चावरत्वं लवणस्य स्वीकुर्वन् गौरवेऽवर इत्यनेनाम्ल-कटु-तिक्तभ्यो गुरुत्वं स्वीकरोति लवणस्य, लाघवे चावर इत्यनेनाम्लादपि लघुनोऽल्पं[1] लाघवं लवणस्य स्वीकरोति। न च वाच्यम्—अम्ले पृथिवी कारणं लवणे तु तोयं, ततः पृथिव्यपेक्षया तोयजन्यस्य लवणस्यैव लाघवमुचितमिति; यतो न भूतनिवेशेन गौरव-लाघवे शक्येते अवधारयितुं, तथा हि—तोयातिरेककृतो मधुरः पृथिव्यतिरेककृतात् कषायाद् गुरुर्भवति (च. द.)॥

रसाः कट्वम्ल-लवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम्।
तिक्तः कषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः॥
तिक्तः कटुः कषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा।
पट्वम्ल-मधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्र-मारुताः॥
पटोः कषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः।
लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः॥ (अ. हृ. सू. अ.१०)

कट्वम्ल-लवणा रसा यथोत्तरमुष्णवीर्याः। कटुरुष्णः, अम्ल उष्णतरः, लवण उष्णतमः। एवमुत्तरत्रापि यथोत्तरत्वं योज्यम्। तिक्तादयश्च तद्वदेव यथोत्तरं शीतवीर्याः। तेन तिक्तः शीतवीर्यः, कषायः शीतवीर्यतरः, मधुरः शीतवीर्यतम इति स्थितम्। तिक्त-कटु-कषाया रूक्षा विष्टम्भकृतश्च। तथेति यथोत्तरमित्यर्थः। पट्वादयः स्निग्धा निःसारितविण्मूत्र-वाताश्च। तथेत्यत्रापि वर्तते। अर्थात् लवणात् कषायो गुरुतरः, कषायान्मधुरः परमं गुरुः अतिशयेन गुरुरित्यर्थः। अम्लो लघुः, तस्मात् अम्लात् कटुर्लघुतरः, तस्माच्च कटोस्तिक्तो लघुतमः (अ. द.)। अथ रसानां गुणतारतम्यम्। तत्र वीर्यतारतम्यमाह—रसा इति। कटुको रस उष्णवीर्यः, ततोऽम्लः, ततोऽपि लवणः। तिक्तो रसः शीतवीर्यः, ततः कषायः, ततोऽपि मधुरः। तद्वदेवेति वीर्येण यथोत्तरं च। तिक्तो रूक्षो बद्धमलश्च, ततः कटुः, ततोऽपि कषायः। लवणः स्निग्धः सृष्टमलश्च, ततोऽम्लः, ततोऽपि मधुरः। लवणो गुरुः, ततः कषायः, ततोऽपि मधुरः। अम्लो लघुः, ततः कटुः, ततोऽपि तिक्तकः। अत्रापि 'प्रायः' इत्यनुवर्तते। तेनाम्लस्याप्यामलकस्य शीतवीर्यत्वमित्यादि स्वयमूह्यम्। अत एव "मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटु-तिक्त-कषाया रूक्षा लघवश्च।" (सु. सू. अ. ४२. ६) इति सुश्रुतोक्तमम्लस्य गुरुत्वं, कषायस्य लघुत्वमप्युपपन्नम्॥

१—अल्पमिति अवरम्।

रूक्ष रसोंमें कषाय रस उत्तम (रूक्षतम), कटु मध्यम (रूक्षतर) और तिक्त अवर-हीन (रूक्ष) है। उष्ण रसोंमें लवण उत्तम (उष्णतम), अम्ल मध्यम (उष्णतर) और कटु अवर (उष्ण) है। स्निग्ध रसोंमें मधुर श्रेष्ठ (स्निग्धतम), अम्ल मध्यम (स्निग्धतर) और लवण अवर (स्निग्ध) है। शीत रसोंमें मधुर उत्तम (शीततम), कषाय मध्यम (शीततर) और तिक्त अवर (शीत) है। गुरु रसोंमें मधुर उत्कृष्ट (गुरुतम), कषाय मध्यम (गुरुतर) और लवण अधम (गुरु) है। लघु रसोंमें तिक्त उत्तम (लघुतम), कटु मध्यम (लघुतर) और अम्ल अधम (लघु) है। कई आचार्य लवण रसको लघुओंमें अवर मानते हैं (च.)।

कटु, अम्ल और लवण ये रस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं। तिक्त, कषाय और मधुर ये उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं। तिक्त, कटु और कषाय ये तीनों रस उत्तरोत्तर रूक्ष हैं और मलको बांधनेवाले हैं। लवण, अम्ल और मधुर ये तीनों रस उत्तरोत्तर स्निग्ध और मल, मूत्र तथा अधोवातको साफ लानेवाले हैं। लवणसे कषाय और उससे मधुर गुरु है। अम्लसे कटु और उससे तिक्त लघु है (अ. हृ.)। कई आचार्य लवण रसको गुरु, लघु, स्निग्ध और रूक्ष गुणोंमें साधारण-मध्यम मानते हैं (अ. सं.)।

के रसाः कं दोषं जयन्ति कोपयन्ति च—

स्वाद्वम्ल-लवणा वायुं, कषाय-स्वादु-तिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तकाः॥
कट्वम्ल-लवणाः पित्तं, स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम्।
कटु-तिक्त-कषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्॥ (च. सू. अ. १)।

रसानामुपयुक्ततरं कार्यमाह—स्वाद्वम्लेत्यादि। अत्र च वायोर्नीरसस्यापि रससहचरितस्निग्धत्वादिगुणैर्विपरीतैः प्रशमो ज्ञेयः। एवं मधुररसस्यापि श्लेष्मणोऽम्ललवणाभ्यां स्निग्धत्वाभिष्यन्दित्वादिसहचरितगुणयोगादेव वृद्धिः। अत्र च ये रसा वातादीनां प्रशमकत्वेन नोक्तास्ते वर्धका बोद्धव्याः। यदाह वाग्भटः—"तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥" (वा. सू. अ. १) इति। रसकर्मातिदेशेनैव गुण-वीर्य-विपाकानामपि कर्मनिर्देशः कृत एव। यतो मधुरादिरसेनैव सर्वगुणान् वीर्य-विपाकांश्च निर्देक्ष्यत्यात्रेयभद्रकाप्यीये—"तत्र स्वादुः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना ; तथा "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।" (च. सू. अ. २६); तथा "अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।" (च. सू. अ. २६); तथा "शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। तयोरम्लं यदुष्णं च यच्चोष्णं कटुकं तयोः॥"

(च. सू. अ. २६) इत्यादिना (च. द.)। जयन्ति शमयन्ति। × ×। एतदुक्तं भवति—मधुरो वात-पित्तघ्नः, श्लेष्मकरः। अम्लो वातं शमयति, कफ-पित्ते च करोति। लवणो मारुतं हन्ति, कफ-पित्ते तु जनयति। कटुकः कफं नाशयति, वात-पित्ते तु कुरुते। तिक्तः कफ-पित्ते जयति, वातं जनयति। कषायः कफ-पित्ते हन्ति, वातं तु कोपयति (यो.)। कर्माण्याह—स्वाद्वम्लेत्यादि। स्वाद्वम्ल-लवणा वायुं जनयन्ति वृद्धं समं कुर्वन्ति, समं ह्रासयन्ति, क्षीणमति-ह्रासयन्ति। नीरसत्वेऽपि वायोः स्वाद्वादिरससहचरितैः स्निग्ध-गुरुत्वादिभिर्मधुरः, स्निग्धोष्णादिभिरम्लः, स्निग्धोष्ण-गुरुत्वादिभिर्लवणः, इत्येते वातविजेतृत्वेन व्यपदिश्यन्ते। कषाय-स्वादु-तिक्तकाः पित्तं जयन्ति ; कषायः शैत्य-गौरवाभ्यां, स्निग्ध-शीत-गुरुत्वैः मधुरः, शैत्य-रौक्ष्याभ्यां तिक्तः ; तिक्तस्यापि पित्तस्य तिक्तेन जयो वीर्याद्, विदग्धत्वे सामत्वे[1] च। श्लेष्माणं कषाय-कटु-तिक्तका जयन्ति रौक्ष्येण, लघूष्ण-रूक्षत्वैः, रूक्ष-लघुत्वाभ्यामिति क्रमेणोन्नेयम्। एषां वातादिप्रशमकत्व-वचनेन कट्वादीनामेभ्यो भिन्नानां वातादिकोपनत्वमुन्नेयम्। × × ×। अन्ये च पठन्ति—"कट्वम्ल-लवणाः पित्तं कोपयन्ति, समीरणम्। कषाय-कटुतिक्ताश्च स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम् ॥" इति। अत्र कट्वम्ल-लवणाः पित्तं कोपयन्ति रूक्षोष्ण-लघुत्वैः ; कटुको रसः पित्तं वृद्धं करोति उष्ण-तीक्ष्ण-कटुत्वैः, क्षीणं समं वा वृद्धं वा ; अम्लो रसो लघूष्णत्वाभ्यां पित्तं सममुष्ण-तीक्ष्णत्वादिभिर्वृद्धं करोति, क्षीणं समं वा वृद्धं वा ; लवणो रस उष्णत्वेन पित्तं समं वर्धयति उष्णत्व-तीक्ष्णत्वाभ्यां, क्षीणं समं वा वृद्धं वा करोति। स्वाद्वम्ल-लवणाः कफं कोपयन्ति; मधुरो रसःस्निग्ध-शीत-गुरुत्वैः कफं समं वृद्धं करोति, अम्लो रसः स्निग्धत्वेन, लवणो रसः स्निग्धत्व-गुरुत्वाभ्यां ; क्षीणं तु समं वृद्धं वा। कटु-तिक्त-कषायाश्च कोपयन्ति समीरणमिति कटुको रसः समीरणं लघूष्ण-रूक्षत्वैः, तिक्तको रसः शीत-रूक्ष-लघुत्वैः, कषायो रसः शीत-रूक्षत्वाभ्यां समं समीरणं वृद्धं करोति, क्षीणं समं वृद्धं वा (ग.) ॥

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा—कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ल लवणास्त्वेनं शमयन्ति ; कट्वम्ल-लवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुर-तिक्त-कषायास्त्वेन-

---

१—"उष्ण-तीक्ष्ण-द्रव-सर-तिक्तत्वविपरीतैः शैत्य-मान्द्य-सान्द्र-स्थिर-कषाय-माधुर्यगुणैः पक्वस्य पित्तस्य प्रशमनम् ; आमस्याम्लस्य विपरीतेन तिक्तेन प्रशमः। कट्विति तिक्तं ; तेन तिक्त-रसस्य पित्तस्य विदग्धावस्थायामम्लरसत्वे तद्विपरीतत्वेन तिक्तरसः पित्तप्रकोपनाशकत्वेनोपपद्यते। उक्तं च सुश्रुते—"पित्तं × × × कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च।" (सु. सू. अ.) इति "सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च" (च. सु. अ. १) इत्यस्य व्याख्यायां गङ्गाधरः।

च्छमयन्ति, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटु-तिक्त-कषाया-स्त्वेनं शमयन्ति (च. वि. अ. १)॥

रसनामसंसृष्टानां कर्माह—तत्रेत्यादि। अनेन च रसकर्मोपदेशेन दोषाणमपि तत्तद्रसोत्पाद्यत्वं तथा तत्तद्रसोपशमनीयत्वमुक्तं भवति। कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्तीति असति परिपन्थिनीति ज्ञेयं, तेनार्कागुरु-गुडूच्यादीनां तिक्तानामपि वाताजनकत्वे न दोषः। तत्र ह्युष्णवीर्यता परिपन्थिनी विद्यते, तेन न ते वातं जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम्। एनमिति पदेन यश्च कट्वादिजो वायुस्तमेव मधुरादयः सर्वात्मवैपरीत्याद्विशेषेण शमयन्तीति दर्शयति; जागरणादिजे हि वायौ जागरणादि-विपरीताः स्वप्नादय एव विशेषेण पथ्याः। एवं पित्त-श्लेष्मणोरपि एनदेनंशब्दयो-स्तात्पर्यं दर्शयति (च. द.)। रसानां प्रभावमाह—तत्र दोषमेकैकमिति। दोषशमनत्वं दोषकोपनत्वं च रसानां प्रभावः, "हिताहितौ च प्रभावौ" (च. सू. अ. २६) इति। कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, कटु-तिक्त-कषायाणां वातजननत्वं सामान्यात्। मधुराम्ल-लवणास्तु एनं वातं शमयन्ति, मधुराम्ल-लवणानां वात-शमनत्वं च विपर्ययात्। सर्वत्र वृद्धि-ह्रासयोः सामान्य-विपर्ययनियतत्वात्। तदुक्तं—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च" (च. सू. अ. १) इति। विशेषो विपर्ययः, "विशेषस्तु विपर्ययः।" (च. सू. अ. १) इति। "एते रसाः स्वयोनिवर्धनाः, अन्ययोनिप्रशमनाश्च।" (सु. सू. अ. ४२) इत्याह सुश्रुतः। रसानां समानगुणत्वं समानभूतभूयिष्ठत्वात्। तथा च वाय्वाकाश-धातुभ्यां वायुः, पित्तमाग्नेयम्, अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा। पृथिवी-सोमयोर्बाहुल्या-न्मधुरः, भू-तेजसोरम्लः, अम्ल-तेजसोर्लवणः, अनिलानलयोः कटुकः, वाय्वा-काशयोस्तिक्तः, वायु-पृथिव्योः कषायः, एवं समानभूतभूयिष्ठत्वात् कटु-तिक्त-कषाया वातस्य समानगुणाः, कट्वम्ल-लवणाः पित्तस्य, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्मणः; तस्मात् कटु-तिक्त-कषाया वातं जनयन्ति, कट्वम्ल-लवणाः पित्तं, मधुराम्ल-लवणाः श्लेष्माणम्। मधुराम्ल-लवणा वातं शमयन्ति, विपरीतगुणत्वात्; एवं मधुर-तिक्त-कषायाणां पित्तशमनत्वं, कटु-तिक्त-कषायाणां श्लेष्मशमनत्वं च विपर्ययात्। रसानामेवं दोषकोप-शमनत्वं दीर्घंजीवितीयेऽप्युक्तम्। × × ×। तदुक्तं भेलेनापि—"तत्र वायुगुणैस्तुल्यान् कषाय-कटु-तिक्तकान्। कट्वम्ल-लवणैस्तुल्यान् तथा पित्तगुणान् विदुः॥ मधुरं लवणाम्लौ च विद्यात् कफसमान् रसान्। तस्मा-दभ्यस्यमानैस्तैर्देहे दोषः प्रवर्धते॥ गुणसाम्याद्विवर्धन्ते यथास्वं धातवो नृणाम्। यथैकत्र कृतौ राशी द्वौ महत्त्वमिहर्च्छतः॥ रसैस्तद्विपरीतैश्च यान्त्येते क्षयामहतः। यथोदकं समासाद्य शान्ति गच्छति पावकः॥ कषाय-तिक्त-कटुकै रूक्षै रूक्षो विवर्धते। मारुतः, स्निग्धभावाच्च ततोऽन्यैरुपशाम्यति॥ कट्वम्ल-लवणैः पित्त-मुष्णमुष्णैर्विवर्धते। शीतैः शाम्यति शेषैस्तु गुणानामप्यशेषतः॥ स्निग्धः

स्निग्धैः कफश्चापि वर्धते मधुरादिभिः। रसैः शाम्यति रूक्षैश्च कषाय-कटु-तिक्तकैः॥ एकैकमेव सामान्याद् वर्धयन्ति त्रयस्त्रयः। घ्नन्ति चान्यगुणत्वेन रसा दोषं शरीरिणाम्॥" (भेलसंहिता, वि. अ. १) इति (यो.)॥

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्॥
कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।
(अ. सं. सू. अ. १; अ. हृ. सू. अ. १)।

एषां च रसानां दोषविशेषप्रशमन-प्रकोपनविभागं तत्रेत्यादिना दर्शयति। अन्ये तु कुर्वते इत्येतद् घ्नन्तीत्येतच्च मारुतादिभिः प्रत्येकमभिसंबध्यते। तेषु रसेषु मध्ये आद्यास्त्रयः स्वाद्वम्ल-लवणा मारुतमनिलं घ्नन्ति, अन्ये तु तिक्तोषण-कषायाः तमेव चानिलं कुर्वते; तिक्तादयस्त्रयः तिक्तोषण-कषायाः कफं घ्नन्ति, अन्ये तु मधुराम्ललवणाः तमेव कफं कुर्वते; कषाय-तिक्त-मधुराः पित्तं घ्नन्ति नाशयन्ति, अन्ये त्वम्ललवणोषणाः तदेव पित्तं कुर्वते (इन्दुः)। तत्र तेषु रसेषु मध्ये। × × ×। एतेनेदमुक्तं भवति—मधुरो वात-पित्तघ्नः, श्लेष्मकरः; अम्लो वातं हन्ति, कफ-पित्ते तु जनयति; लवणो मारुतं हन्ति, कफ-पित्ते तु कुरुते; तिक्तः कफ-पित्ते नाशयति, वातं तु जनयति; ऊषणः कफं नाशयति, वात-पित्ते तु जनयति; कषायः कफ-पित्ते हन्ति, वातं तु करोतीति (अ. द.)। वातादीनां साक्षाद्रसाकथनादस्पष्टे दोष-द्रव्ययोः साधर्म्य-वैधर्म्ये स्पष्टयति—तत्राद्या इति। × × ×। तेन तिक्तोषणकषाया वायुं कुर्वन्ति, स्वाद्वम्ल-लवणाः कफम्, अम्ल-लवण-कटुकाः पित्तम्। अत एव ते ते रसास्तत्र तत्र सन्तीत्यनुमेयम्। उक्तं च कपिलेन—"कट्वम्ल-लवणं पित्तं, स्वाद्वम्ललवणः कफः। कषाय-तिक्त-कटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः॥" इति(हे.)॥

तत्र मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः, मधुर-तिक्त-कषायाः पित्तघ्नाः, कटु-तिक्त-कषायाः श्लेष्मघ्नाः। तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति। त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च। × × ×। तत्र शैत्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्य-वैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः; तस्य समानयोनिः कषायो रसः; सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद्वैष्टम्भ्यमिति। औष्ण्य-तैक्ष्ण्य-रौक्ष्य-लाघव-वैशद्यगुणलक्षणं पित्तं; तस्य समानयोनिः कटुको रसः; सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद्वैशद्यमिति। माधुर्य-स्नेह-गौरव-शैत्य-पैच्छिल्य-गुणलक्षणः श्लेष्मा; तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधुर्या-

न्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति। तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः; स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद्गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति (सु. सू. अ. ४२)॥

षण्णां रसानां क्रियाविशेषं दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। दोषाणामुत्पत्तिकारणमाह—तत्रेत्यादि। आत्मैवात्मेति आत्मैव योनिः वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः; पित्तमाग्नेयमिति अनलः पित्तस्य योनिरित्यर्थः; श्लेष्मा तु सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः। स्वयोनिवर्धना इति येभ्यः कारणेभ्यो मधुरादयो रसा उत्पद्यन्ते तानि वर्धयन्तीत्यर्थः। ×××। समानयोनिः तुल्ययोनिरित्यर्थः। तस्य श्लेष्मणः। प्रत्यनीकत्वात् विरुद्धत्वात्। निदर्शनमात्रमुक्तमिति दृष्टान्तमात्रमुक्तम् (ड.)। तत्र मधुरेत्यादिना वातादिनाशकत्वे रसद्वि-त्रिकानामभिहितेऽपि रसानां तर-तमभावेनापि शमकत्वं 'तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रस' इत्यादिना वक्ष्यमाणगुणयोगाज्ज्ञेयम्। ×××। स्वयोनिवर्धना इति स्वकारणवातादिवर्धनाः। तत्र वातारब्धा ये रसाः कटु-तिक्त-कषायास्ते वातवर्धनाः, ये चाग्निकारणकाः कटुकाम्ललवणास्तेऽग्निरूपपित्तवर्धनः, यौ जलकारणकौ मधुराम्लौ तौ जलात्मकं सौम्यं श्लेष्माणं वर्धयतः, तथा लवणोऽपि सौम्यपृथिव्यारब्धतया श्लेष्माणमपि वर्धयति। ये तु भूयसा अनिलाद्यारब्धाश्च कषाय-कटुक-मधुरास्ते भूयसा वात-पित्त-कफान् वर्धयन्तीति तत्रेत्यादिनाऽत्रैव दर्शयिष्यति। एवमन्ययोनिप्रशमना इत्यपि व्याख्येयम्। ×××। उक्तं स्वयोनिवर्धनत्वं व्याकरोति-तत्रेत्यादि। वैष्टम्भ्यं विष्टम्भजनकत्वम्। कषायो रसो यद्यपि गुरुश्चरके प्रोक्तः, तथाऽपि तस्य लघुपाकतया इह वातलाघवेन लघुत्वं तुल्यमुक्तम्। तिक्तरसो यद्यपि वातयोनिस्तथाऽपि तस्य वातं प्रति सर्वथा तुल्यगुणताभावान्नोदाहरणम्। एवं पित्तसमानयोनितया कटुके चोदाहृते, श्लेष्मसमानयोनितया मधुरे चोदाहृते, पित्तयोनितया श्लेष्मयोनितया वा अम्ले लवणे चानुदाहृते व्याख्येयम्। तस्य पुनरित्यादिना अन्ययोनिप्रधानं कटुकमाह। पित्तानिलयोरप्यनेन न्यायेनान्ययोनिप्रधानेन मधुरेण शमनं, तथा तिक्त-कषायाभ्यां च श्लेष्मशमनम्, इत्यादि च सूचयन्नाह—तदेतन्निदर्शनमात्रमिति। निदर्शनं दृष्टान्तः (च. द.)। त एत इत्यादि। ते प्राग्व्रणप्रश्ने दोषप्रकोपणत्वेनोपदिष्टा एते मधुरादयो रसाः। स्वयोनिः "भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिस्मरणात् तत्तद्भूम्यम्ब्वादिर्योनिरिव योनिर्यस्य तस्य वर्धनाः स्वयोनिवर्धनाः, एतेनैवान्ययोनिप्रशमनाश्चेति व्याख्यातप्रायम्। अत उपपन्नं भवति—मधुरादीनां वातादिप्रशमनत्वं, कट्वादीनां च वातादिप्रकोपणत्वं तत्तद्गुणविवेकतो भेदाभेदादि-

त्ययमभिसंधिः । ××× । संप्रति सुखप्रतिपत्तये रसानां स्वयोनिवर्धनत्वमन्ययोनिप्रशमनत्वं चोदाहरणेनावगमयति— तत्रेत्यादिना । इदमत्रावधेयं—'शुक्लः कम्बलो, रोहिणी धेनुः, नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वाद् द्रव्यात्मकता गुणस्य' इति येषां दर्शनं, तन्मतमवलम्ब्येदमुच्यते— 'सोऽस्य शैत्यात् शैत्यम्' इत्यादि, नातो रसानां गुणत्वेन गुणवत्त्वाभावेऽपि गुणवत्त्वेनायमुपदेशोऽनुपपन्नः ; अत एवोक्तं चात्रेयेण—"गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् । विद्याद् द्रव्यगुणान्" (च. सू. अ. २६) इति । तस्य पुनरित्यादि । न तावदेकान्तेन सर्वभिषजः स्वयोनिवर्धनप्रकारपरिज्ञानादेवान्ययोनिप्रशमनप्रकारमपि विज्ञास्यन्ति, नापि च यथाकथंचिदुपदेशगम्यस्यार्थस्यास्य यथाक्रममुदाहरणत्रितयेनोपदेशः प्रशस्यत इति संप्रधार्य श्लेष्मणः संनिहितत्वात् क्रमं हित्वेदमुच्यते—तस्य पुनरन्ययोनिरिति । निदर्शनम् उदाहरणम् । परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् (हा.)॥

वात, पित्त, कफ इनमेंसे एक-एक दोषको तीन-तीन रस उत्पन्न करते हैं और तीन-तीन रस उनके प्रकोपको शान्त करते हैं । जैसे—कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायुको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और मधुर, अम्ल तथा लवण ये तीन रस प्रकुपित वायुको शान्त करते हैं । कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस पित्तको उत्पन्न (प्रकुपिन) करते हैं और मधुर, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित पित्तका शमन करते हैं[1] । मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस कफको उत्पन्न (प्रकुपित) करते हैं और कटु, तिक्त तथा कषाय ये तीन रस प्रकुपित कफ को शान्त करते हैं । वायु (वातदोष) वायु महाभूत से उत्पन्न होता है, पित्त अग्नि महाभूतसे और कफ जल महाभूतसे उत्पन्न होता है । अतः जो रस जिन महाभूतोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, वह स्वभावसे ही उस महाभूतसे उत्पन्न होनेवाले दोषको बढ़ाता है और इससें विपरीत महाभूतसे उत्पन्न होनेवाले दोषको शान्त करता है (क्योंकि शरीरके धातुओंकी समानसे वृद्धि और विपरीतसे ह्रास होता है) । जैसे शैत्य, रौक्ष्य, लाघव, वैशद्य और वैष्टम्भ्य ये वायुके गुण हैं । उसका समानयोनि और समान गुणवाला कषाय रस है । कषाय रस अपने शैत्यसे वायुके शैत्यको, रौक्ष्यसे रौक्ष्यको, लाघवसे लाघवको, वैशद्यसे वैशद्यको और विष्टम्भता से विष्टम्भताको बढ़ाता है । इस प्रकार कषाय रस सब प्रकारसे वायुको बढ़ानेवाला है । औष्ण्य, तैक्ष्ण्य, रौक्ष्य, लाघव और वैशद्य ये पित्तके गुण हैं । उसका समान-

१—पित्त पक्वावस्थामें तिक्त और विदग्ध-आम अवस्थामें अम्ल होता है । पक्व पित्तका उसके विपरीत मधुर और कषाय रससे तथा विदग्ध पित्तका उसके विपरीत तिक्तसे प्रशमन होता है ।

योनि और समान गुणवाला कटु रस है। वह अपनी उष्णतासे पित्तकी उष्णताको, तीक्ष्णतासे तैक्ष्ण्यको, रूक्षतासे रौक्ष्यको और विशदतासे वैशद्यको बढ़ाता है। इस प्रकार कटु रस सब प्रकारसे पित्तको बढ़ानेवाला है। मधुरता, स्नेह, गौरव, शैत्य और पैच्छिल्य ये कफके गुण हैं। उसका समानयोनि और समान गुणवाला मधुर रस है ; क्योंकि कफ और मधुर रस दोनों जलमहाभूतकी अधिकतासे उत्पन्न होते हैं। इसलिए मधुर रस अपनी मधुरतासे कफके माधुर्यको, स्निग्धतासे स्नेहको, गुरुतासे गौरवको, शीततासे शैत्यको और पिच्छिलतासे पैच्छिल्यको बढ़ाता है। इस प्रकार मधुर रस सब प्रकारसे कफको बढ़ानेवाला है। कफका असमान (विरुद्ध) योनि कटु रस है ; क्योंकि कटु रस अग्निकी और मधुर रस जलकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, जो दोनों परस्पर विरुद्ध गुणवाले हैं। इसलिए विरुद्ध गुणवाला होनेसे कटु रस अपने रसके प्रभावसे कफकी मधुरताको, रूक्षतासे कफके स्नेहको, लघुतासे कफके गौरवको, उष्णतासे कफके शैत्यको और विशदतासे कफकी पिच्छिलता को नष्ट करता है। इस प्रकार कटु रस सब प्रकारसे कफका नाश करनेवाला है। यह कटु रसका विषय हमने उदाहरणके रूपमें बताया है। इसी प्रकार अन्य रसोंके विषयमें भी जानना चाहिए।

कैर्गुणैः के रसाः कं दोषं वर्धयन्ति प्रशमयन्ति वेति न ज्ञायत इति तत्प्रकाशनार्थमिदमुच्यते—माधुर्य-स्नेह-गौरव-पैच्छिल्य-मार्दव-शैत्यैः श्लेष्माणं वर्धयति मधुरः (र. वै. अ. ३, सू. ६२)। × × ×। अस्य हेत्वर्थमाह—स्वयोनेरागमाद् विवृद्धिर्दोष-धातु-मलानाम् (सू. ६३)। स्वयोनेरागमात् स्वजातीयस्यागमात् प्रतिलम्भाद् विवृद्धिर्दोष-धातु-मलानां भवति यस्मात् तस्मादेवमुक्तमित्यवगन्तव्यम्। यस्माच्छब्दो लुप्त इत्यवगन्तव्यः (भा.)। क्षयः कथमिति ? क्षयः प्रतिपक्षस्यागमात् (सू. ६४)। प्रतिपक्षस्य प्रत्यनीकस्य असमानजातीयस्यागमाद् दोष-धातु-मलानां क्षयो भवति (भा.)। कोपयति क्लेदयति चैनमम्लः, औष्ण्यात् तैक्ष्ण्याद् गौरवात् स्नेहाच्च (सू. ६५)। एनं श्लेष्माणं, कोपयतीति स्वस्थानात् प्रच्युतं करोति, क्लेदयति चाम्लः। औष्ण्यतैक्ष्ण्याभ्यामाग्नेयाभ्यां श्लेष्माणं प्रस्तीतं घनं विलीनं कृत्वा क्लेदयति, गौरव-स्नेहाभ्यां तस्योपचयं च करोति। एवं सौम्याग्नेयोऽम्लः श्लेष्मणः सौम्यस्य सौम्यभावेन चाग्नेय भावेन कोपन-क्लेदने करोतीति प्रदर्शितं भवति। क्लेदयतति चेत्यत्र 'च' शब्दः संचयं च करोतीत्युपसंग्रहार्थः (भा.)। विष्यन्दयति चैनं लवणः (सू. ६६)। विष्यन्दयति प्रकोपयति चेति औष्ण्यादिभिः पूर्ववत् (भा.)। काटुक्यौष्ण्य-रौक्ष्य-लाघवैश्च पित्तं वर्धयति कटुकः (सू. ६७)। एभिः काटुक्यादिभिरात्मीयैर्गुणैः पित्तस्य तुल्यजातीयैः पित्तं वर्धयति कटुकः। शेषं पूर्ववत्। कटुकस्य वायव्यभागेनोपकारो रौक्ष्य-लाघवाभ्यां भवति (भा.)। पित्तं भृशविदाहित्वा-

दुष्णत्वात्तीक्ष्णत्वाच्च विदाहयति कोपयति चाम्लः (सू. ६८)। चशब्दः पूर्ववत् (भा.)। अम्लेन लवणो व्याख्यातः (सू. ६९)। एभिर्गुणैरेतदेव कर्म करोतीति (भा.)। शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-वैष्टम्भ्यैर्वायुं वर्धयति कषायः (सू. ७०)। एभिः शैत्यादिभिर्वायुं वर्धयति कषायः। सर्वत्र वर्धयतीत्युक्ते सर्व एव वृद्धेरवस्थाविशेषाः परिगृहीता भवन्ति, तथाऽपि तत्र तत्र विशेषकार्यप्रदर्शनार्थं प्रकोपादिवचनम्। विष्टम्भनं मलानामप्रवृत्तिर्वायोः संचारनिरोधो वा पार्थिवेन भागेन (भा.)। शैत्य-रौक्ष्य-वैशद्य-लाघव-मार्दवैरेनं कोपयति तिक्तः (सू. ७१)। शैत्य-रौक्ष्यादिभिर्भावैर्वायुना तुल्यजातीयैर्वायोरेवमुपकरोति (भा.)। रौक्ष्य-लाघव-काटुक्यैरेव वायुं कोपयति कटुकः। (सू. ७२)। एवशब्दोऽवधारणार्थः। अनयाऽवधारणया नोष्ण-तीक्ष्णाभ्यामित्युक्तं भवति (भा.)॥

भदन्त नागार्जुन कहते हैं कि—मधुर, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल, मृदु और शीत इन गुणोंसे मधुर रस कफको बढ़ाता है, क्योंकि स्वयोनि-सजातीय के आगम (मिलने) से दोष-धातु तथा मलोंकी वृद्धि होती है और विजातीयके आगम (मिलने) से उनका क्षय होता है। अम्ल रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुणसे कफको विलन्न (गाढ़े कफको पतला) और प्रकुपित करता है। लवण रस अपने उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु और स्निग्ध गुणसे कफको पिघलाता है। कटु रस अपने उष्ण, रूक्ष और लघु गुणसे पित्तको बढ़ाता है। अम्ल और लवण रस अपने अति विदाही, उष्ण और तीक्ष्ण, गुणसे पित्तको विदग्ध और प्रकुपित करता है। कषाय रस अपने शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य और विष्टम्भता इन गुणोंसे वायुको बढ़ाता है। शैत्य, रौक्ष्य, वैशद्य, लाघव और मार्दव इन गुणोंसे तिक्त रस वायुको प्रकुपित करता है। कटु रस अपने रौक्ष्य, लाघव और कटुतासे वायुका प्रकोप करता है।

रसानां दोषजननेऽपवादः—

प्रायः पित्तलमम्लम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्; प्रायः श्लेष्मलं मधुरम्, अन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालि-षष्टिक-यव-गोधूमात्; प्रायस्तिक्तं वातल-मवृष्यं च, अन्यत्र वेत्राग्रामृता-पटोलपत्रात्; प्रायः कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्र पिप्पली विश्वभेषजात्॥ (च. सू. अ. २७)

प्रायः पित्तलमिति विशेषणान्येभ्यो लवण-कटुकेभ्योऽम्लं पित्तलम्। एवमन्य-त्रापि प्रायःशब्दो विशेषार्थो वाच्यः; किंवा प्रायःशब्दोऽम्लेन संबध्यते। अत्र पित्त-मादावम्लजन्यतयोक्तं, दोषप्राधान्यस्यानियतत्वाद्; उक्तं हि—"न ते पृथक् पित्त-कफानिलेभ्यः" (च. सू. अ. १९) इति, तथा "समपित्तानिल-कफाः" (च. सू० अ० ७) इति; किंवा पित्तोष्मा वह्निः, स चेहान्नपानपचने प्रधानं; यदुक्तं—"यदन्नं देहधात्वोजो-बल-वर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्नह्यपक्वाद्रसादयः॥"

(च. चि. अ. १५) इति। तेनेह वह्निकारणपित्तजनकमेवादावुच्यते; यतश्च पित्तजनकमग्रे वक्तव्यम्, अतो रसप्रधानमपि मधुरो नादावुक्तः। मधुन इति विच्छेदपाठेन नवानवस्य मधुनः कफाकर्तृत्वं दर्शयति। इह च षड्रसस्यैव कथनमेतत्त्रयेणैव अनुक्तानां लवण-तिक्त-कषायाणामपि पाकद्वारा ग्रहणात्; यतो लवणः पाकात् प्रायो मधुरः, तिक्त-कषायौ कटुकौ पाकतो भवतः। 'प्रायः सर्वं तिक्तं' इत्यादिस्तु ग्रन्थो हारीतीयः, इह केनापि प्रमादाल्लिखितः (च. द.)। दाडिममामलकं च तयोः समाहारः, तस्मादन्यत्र। दाडिमम् आमलकं च वर्जयित्वा सर्वमम्लमम्लरसं द्रव्यं प्रायः पित्तलं पित्तजननम्। प्रायोग्रहणात् क्वचिद् व्यभिचारोऽपि। × × ×। मधुनस्तथा पुराणाच्छालि-षष्टिक-यव-गोधूमादन्यत्र पुराणाञ्छाल्यादींश्च हित्वा सर्वं मधुरं द्रव्यं प्रायः श्लेष्मलं श्लेष्मकृत्। × × ×। वेत्रस्याग्रम्, अमृता गुडूची, पटोलपत्रं च; तस्मादन्यत्र वेत्राग्रादिकं विहाय तिक्तकं तिक्तरसं द्रव्यं प्रायो वातलं वातकृत्, अवृष्यं च। पिप्पली विश्वभेषजं शुण्ठी च तस्मादन्यत्र पिप्पली-शुण्ठीवर्जं कटुकं द्रव्यं प्रायो वातलमवृष्यं च। × × ×। इहापि—"कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभयायामतोऽन्यथा।" इति। भेलेनाप्युक्तं—"सर्वं तिक्तमवृष्यं च विद्यादन्यत्र कूलकात्। श्लेष्मलं मधुरं सर्वं यवागोधूमवर्जितम्॥ दाडिमामलकादन्यत् सर्वमम्लं तु पित्तलम्।" (सू. अ. २७)। × × ×। इति कूलकात् पटोलात् (यो.)॥

तत्र प्रायो मधुरं श्लेष्मलम्, अन्यत्र पुराण-शालि-यव-गोधूम-मुद्ग मधु-शर्करा-जाङ्गलमांसात्। प्रायोऽम्लं पित्तलम्, अन्यत्र दाडिमामलकात्। प्रायो लवणमचक्षुष्यम्, अन्यत्र सैन्धवात्। प्रायस्तिक्त-कटुकं वातलमवृष्यं च, अन्यत्रामृता-पटोली-नागर-पिप्पली-लशुनात्। प्रायः कषायं शीतं स्तम्भनं च, अन्यत्र हरीतक्याः॥ (अ. सं. सू. अ. १८)॥

तत्र सर्वेषां मधुरादीनां सामान्येन श्लेष्मलादित्वमुक्तं, यत्र चैतद् व्यभिचरति तद्दर्शयति—तत्रेत्यादिना। पुराणशाल्यादि वर्जयित्वा सर्वं मधुरं प्रायः श्लेष्मकरम्। मधुरदाडिमादि मधुरमपि न श्लेष्मकरमिति प्रदर्शनार्थं प्रायोग्रहणम्। एवं सर्वेषु प्रायोग्रहणेषूह्यम्। अन्यत् सुबोधम्। अमृता-पटोले तिक्तानां, नागर-पिप्पली-लशुनं कटुकानाम् (इन्दुः)॥

अम्ल रस प्रायः पित्त करता है, परन्तु दाडिम-अनार और आँवले अम्ल रसवाले होनेपर भी पित्त नहीं करते। मधुर रस प्रायः कफ करता है, परन्तु पुराने शालि-षष्ठिक-जौ-गेहूँ और मूँग, शहद, मिश्री और जाङ्गम प्राणियोंका मांस मधुर होनेपर भी कफ नहीं करते। तिक्त रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य

होता है, परन्तु बेतका अग्रभाग, गिलोय, पटोल (कडुए परवल) की पत्ती ये तिक्त रसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते। कटु रस प्रायः वायु करनेवाला और अवृष्य होता है, परन्तु छोटी पीपल, सोंठ और लहसुन कटुरसवाले होनेपर भी वायु नहीं करते और वृष्य होते हैं। लवण रस नेत्रको हानि करता है, परन्तु सैंधानमक लवण होनेपर भी नेत्रको हानि नहीं करता।

रसानां दोषजनने दोषप्रशमने च युक्तिः—

रस-दोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमानाः। इत्येतद् व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम् (च. वि. अ. १)॥

अथ कया युक्त्या रसा दोषाञ्जनयन्ति, शमयन्ति चेत्याह—रस-दोषेत्यादि। सन्निपाते इति अन्तःशरीरमेलके। तु शब्दो विशेषे, तेन विपरीतगुणा एव विशेषेण विपरीतगुणभूयिष्ठापेक्षया शमयन्तीति दर्शयति। रसानां तु यथा उपचाराद् गुणा भवन्ति तदभिहितं—"गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" (च. सू. अ. २६) इत्यादिना सूत्रे। अभ्यस्यमाना इति न सकृदुपयुज्यमानाः। अथ कस्माद्रस-दोषसंसर्ग-भूयस्त्वं परित्यज्य रसषट्त्वं दोषत्रित्वं चोच्यते ? इत्याह—इत्येतदित्यादि। व्यवस्थेति रस-दोषसंसर्गप्रपञ्चसंक्षेपः। परस्परेणासंसृष्टानामिति पदं दोषाणा-मित्यनेनापि योज्यम् (च. द.)। रसानां त्रिशस्त्रिश एकैकदोषकोपन-शमनत्वमुक्त्वा संनिपाते व्यवस्थामाह—रस-दोषसंनिपाते त्विति। रसा दोषाश्च तेषां संनिपातः, तस्मिन्। संनिपात इह समसमवेततया। ये रसाः तदाश्रयद्रव्यं ; यैर्दोषैः बहुवचनमविवक्षितं, समानगुणाः समानप्रकृतिकाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ; तद्यथा—कटु-तिक्त-कषायद्रव्यं वातस्य समानगुणं, तत् श्लेष्मणो विपरीतगुणं, पित्तस्य विपरीतगुणभूयिष्ठं च भवति ; मधुराम्ल-लवणं श्लेष्मणः समानगुणं, पित्तस्य समानगुणभूयिष्ठं, तत् पुनर्वातस्य विपरीतगुणं भवति, एवमुन्नेयं ; ते रसा अभ्यस्यमानाः सातत्येनोपयुज्यमानाः, तान् दोषानभिवर्धयन्ति। ये रसाः पुनर्यैः दोषैः सह विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति ते रसा अभ्यस्यमानास्तान् दोषान् शमयन्ति। सर्वत्र सामान्य-विपर्यययोः वृद्धि-ह्रासहेतुत्वनियमात्। रसानां षट्त्वं दोषाणां च त्रित्वमाह - एतदिति। एतद् व्यवस्थाहेतोः सामान्यविपर्यया-भ्यां योऽयं वृद्धि-ह्रास-नियमः तदर्थं, रसानां परस्परेणासंसृष्टानां षट्त्वं, दोषाणां परस्परेणासंसृष्टानां च त्रित्वमुपदिश्यते। असंसृष्टा रसाः षट्, असंसृष्टा दोषाश्च त्रयः ; तत्रैव सा व्यवस्था संभवति, न तु तेषां संसर्गे (यो.)॥

जब शरीरके अन्दर मधुरादि रस और वातादि दोष आपसमें मिलते हैं तब जो रस जिन दोषोंके समान गुणवाले या समान गुणकी अधिकतावाले होते हैं, वे बारंबार अभ्यास-सेवन करनेसे उसको बढ़ाते हैं। इसी प्रकार जो रस जिन दोषोंके विपरीत गुणवाले या विपरीत गुणोंकी अधिकतावाले होते हैं, वे बारंबार अभ्यास करनेसे उनको शान्त करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थाके लिए परस्पर असंयुक्त रसोंका षट्त्व और दोषोंका त्रित्व कहा गया है।

संसृष्टरसानां द्रव्याणां प्रभावविज्ञानोपायः—

तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रस-दोषप्रभावमेकैकश्येनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न त्वेवं खलु सर्वत्र। नहि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम्। तथायुक्ते हि समुदये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो द्रव्य-विकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्॥ (च. वि. अ. १)।

अथ कथं तर्हि संसृष्टानां रसानां दोषाणां च प्रभावो ज्ञेय इत्याह—तत्र खल्वित्यादि। तत्र चानेकरसद्रव्यस्यानेकदोषविकारस्य च प्रत्येकरस-दोषप्रभावमेलकेन प्रभावं कथयन् रससंसर्ग-दोषसंसर्गयोरपि तादृशमेव प्रभावं कथयति, यतो रस-दोषसंसर्गप्रभावावत्र द्रव्य-विकाराश्रयित्वाद्रस-दोषयोर्द्रव्य-विकारप्रभावत्वेनोच्येते। अनेन न्यायेन साक्षादनुक्तोऽपि एकरसद्रव्यैकदोषविकारयोरपि प्रभावोऽसंसृष्टरस-दोषप्रभावकथनादुक्त एव ज्ञेयः। एकैकश्येनाभिसमीक्ष्येति प्रत्येकमुक्तरसादिप्रभावेणानेकरसं द्रव्यमनेकदोषं च विकारं समुदितप्रभावमभिसमीक्ष्य। अयं च रस-दोषप्रभावद्वारा द्रव्य-विकारप्रभावनिश्चयो न सर्वत्र द्रव्ये विकारे चेत्याह—न त्वेवं खलु सर्वत्रेति। अत्रैव हेतुमाह—नहीत्यादिनाऽध्यवसातुं शक्यमित्यन्तेन। × × ×। नानात्मकानामिति नानाहेतुजनितानां; किंवा नानात्मकानामिति नानाप्रमाणानाम्। × × ×। परस्परेण चोपहतानामिति अन्योन्यमुपघातितगुणानाम्। परस्परगुणोपघातस्तु यद्यपि दोषाणां प्रायो नास्त्येव, तथाऽप्यदृष्टवशात् क्वचिद्भवतीति ज्ञेयं; रसानां तु प्रबलेनान्योपघातो भवत्येव। अन्यैश्च विकल्पनैरिति अन्यैश्च भेदकैः; तत्र रसस्य भेदकाः स्वरस-कल्कादयः, एकस्यैव हि द्रव्यस्य कल्पनाविशेषेण गुणान्तराणि भवन्ति; दोषस्य तु दूष्यान्तराण्येव गुणान्तरयोगाद् भेदकानि भवन्ति। यदुक्तं—"स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून्॥" (च. सू. अ. १८) इति। × × ×। द्विविधो मेलको भवति रसानां दोषाणां च प्रकृत्यनुगुणः,

प्रकृत्यननुगुणश्च ; तत्र यो मिलितानां प्राकृतगुणानुपमर्देन मेलको भवति, स 'प्रकृतिसमसमवाय' शब्देनोच्यते ; यस्तु प्राकृतगुणोपमर्देन भवति, स विकृतिविषमसमवायोऽभिधीयते ; विकृत्या हेतुभूतया विषमः प्रकृत्यननुगुणः समवायो विकृतिविषमसमवाय इत्यर्थः। अत्रैव विकृतिविषमसमवाये नानात्मकत्वादिहेतुत्रयं यथाविवृतमेव योजनीयम्। ×××। अथ कथं तर्हि विकृतिविषमसमवायप्रभावज्ञानमित्याह—तथायुक्ते हीत्यादि। तथायुक्ते समुदय इति विकृतिविषमसमवाये। समुदयप्रभावतत्त्वमिति मेलकप्रभावतत्त्वम्। समद्वते हि मधु-सर्पिषि सूर्यावर्ताख्ये वा दोषसमुदये न संयुज्यमाना मधु-घृतगुणक्रमागतं मारकत्वं, न च वातादिदोषप्रभावगतं सूर्यवृद्ध्या वर्धिष्णुत्वं सूर्यावर्तस्य, किं तु संयोगमहिमकृतमेवेत्यर्थः। यच्च गतिद्वयं दोष-रस-मेलकस्य, तेन प्रकृतिसमसमवायरूपं सन्निपातं ज्वरनिदाने दोषलिङ्गमेलकेनैवोक्तवान्। यदुक्तं—"पृथगुक्तलक्षणसंसर्गाद् द्वान्द्विकमन्यतमं सान्निपातिकं वा ज्वरं विद्यात्।" (च. नि. अ. १) इति। यस्तु विकृतिविषमसमवेतस्त्रिदोषकृतो ज्वरः, तस्य चिकित्सिते—"क्षणे दाहः क्षणे शीतं" (च. चि. अ. ३) इत्यादिना लक्षणमुक्तम्। नहि श्याव-रक्तकोठोत्पत्त्यादि तत्रोक्तं वातादिज्वरे क्वचिदस्ति। एवं रसेऽपि यत्राम्राते मधुरत्वं प्रकृतिसमसमवेतं, तत्राम्रातं मधुरमेतन्मात्रमेवोक्तं ; तेन, मधुरसामान्यगुणागतं तस्य वात-पित्तहरत्वमपि लभ्यत एव। यत्र वार्ताके कटु-तिक्तत्वेन वातकरत्वं प्राप्तमपि च विकृतिविषमसमवायात्तन्न भवति, तत्राचार्येण "वार्ताकं वातघ्नम्" (च. सू. अ. २७) इत्युक्तमेव। एवमित्यादि तत्तदुदाहरणं शास्त्रप्रसृतमनुसरणीयम्। यत्तु प्रकृतिसमसमवायकृतरस-दोषगुणद्वारा प्राप्तमपि द्रव्यगुणं विकारलक्षणं च ब्रूते, तत् प्रकर्षार्थं स्पष्टार्थं चेति ज्ञेयम् (च. द.)। षण्णां रसानां त्रयाणां दोषाणां च योऽयं यथास्वं प्रभाव उच्यते स तेषां मिलितानां तु समसमवाये एव बोद्धव्यः, न तु विषमसमवाये ; तदेवाह—तत्रेति। तत्र अनेके रसाः समसमवेततया येषु तेषु द्रव्येषु, अनेकदोषात्मकेषु समसमवेतानेकदोषारब्धेषु विकारेषु च, रस-दोषप्रभावं रसानां दोषाणां च प्रभावम्, एकैकश्येन एकैक्येन, अभिसमीक्ष्य एकैकस्य रसस्य दोषस्य च प्रभावं परीक्ष्य, द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत् अवधारयेत्। यत्र एको रस एकश्च दोषस्तत्र रस-दोष-प्रभावेण द्रव्य-विकारयोः प्रभावज्ञानमबाधितम्। यत्र पुनरनेके रसा दोषाश्च समसमवेततया संनिपतिताः, तत्रापि रसानां षट्त्वानतिक्रमात् दोषाणां च त्रित्वानतिक्रमात् एकैकस्य रसस्य एकैकस्य दोषस्य च प्रभावमुपलभ्य तेन द्रव्यविकारयोः प्रभावोऽवधारयितुं शक्यते। नन्वेवं रस-दोषप्रभावेण द्रव्य-विकारयोः प्रभावज्ञाने रस-दोषयोरेव प्रभाव उपदिश्यताम्, न तु पृथग्द्रव्य-विकारयोरित्यत आह—नत्वेवमिति। एवं रस-दोषप्रभावेण द्रव्य-विकारप्रभावज्ञानं न सर्वत्र सर्वस्मिन् द्रव्ये सर्वस्मिन् विकारे वा

भवति। रसानां दोषाणां च पृथक्समसमवेतानां तथा भवति ; न तु विषमसमवेतानां, विषमसमवायेऽपरिसंख्यविकल्पात्। तदेवाह—नहीति। प्रकृतौ विकृतौ वा दोषाणां संसर्गो द्विविधः—समसमवेततया, विषमसमवेततया च। तत्र दोषाणां विकृतिविषमसमवेतानां विकृतिः आहारादिवशेन स्वप्रमाणच्युतिः, तथा विषमं यथा तथा समवेताः संसृष्टाः, तेषाम्। वैषम्यम् ऊनाधिकभावः, स च दोषाणां वृद्धानां क्षीणानां वा तारतम्यकल्पनया युगपद्वृद्धि-क्षयाभ्यां वा भवति। विषमसमवायो वातलाद्यासु प्रकृतिष्वप्यस्ति, अतस्तद्वारणाय—विकृतीति। नानात्मकानां सर्वेषां वृद्धानां क्षीणानां वा द्व्युल्वणैकोल्वणत्वादिना नानाविधानाम्। तथा युगपद्वृद्ध-क्षीणानां परस्परविरोधात् परस्परेणोपहतप्रकृतिकानाम्। अन्यैः युगपद्वृद्धि-क्षयकृतैः "वृद्धि-क्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते।" (च. सू. अ. १७) इति, विकल्पैः "वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः।" (च. सू. अ. १७) इत्यादिना उक्तैर्विकल्पितानाम्। दोषाणां विकृतिविषमसमवाये नाना विकल्पाः ; प्रकृतिसमसमवायस्तु एकः "समैश्चैकः" (च. सू. अ. १७) इति। तत्र विषमसमवेतानां रसानां दोषाणां च अवयवप्रभावानुमानेन एकैकस्य रसस्य दोषस्य च प्रभावं परीक्ष्य, तेन समुदायस्य अवयविनो द्रव्यस्य विकारस्य च, प्रभावतत्त्वम् उपक्रमोपक्रम्यभावम्, अध्यवसातुम् अवधारयितुं, नहि शक्यं नैव शक्यते। रसानां दोषाणां च विषमसमवेतानामपरिसंख्यविकल्पतया एकैकशः प्रभावज्ञानस्यैव असंभवः, येन तत्र द्रव्य-विकारयोः प्रभावोऽध्यवसातुं शक्यते। तर्हि तत्र कथं द्रव्य-विकारयोः प्रभावोऽध्यवसीयेत ? इत्यत आह—तथायुक्ते इति। तथायुक्ते यत्र रसानां दोषाणां वा विषमसमवायः तथाविधे समुदाये अवयविनि द्रव्ये विकारे च, समुदायस्य प्रभावतत्त्वं व्यावर्बलं द्रव्यस्य तदुपशमनसामर्थ्यं चोपलभ्य ज्ञात्वा एव, ततो द्रव्य-विकारयोः प्रभावतत्त्वम् उपक्रमोपक्रम्याख्यं, व्यवस्येत् अवधारयेत् (यो.)। ×××। ननु रस-दोषसंनिपातः खलु रसानां संसर्गो दोषाणां च संसर्गः, तत्र किं कारणसमानरूपेणैव कार्ये कारणसमवायः स्यात् ? न, कारणगुण-कर्मवैषम्येणापि भवतीत्यत आह—नत्वेवं खलु सर्वत्रेति। सर्वत्र रससंसर्गे सर्वत्र दोषसंसर्गे च खलु नैवमुक्तप्रकारेण व्यवस्येत्। कस्मात् ? न हीत्यादि। हि यस्मात् विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां नानारसात्मकानां रसानां, नानादोषात्मकानां ज्वरादिविकाराणां ; परस्परेणोपहतानां नानारसानामारम्भकाणां, कार्यारम्भे तदाश्रयद्रव्यस्थकर्माणि काल-देशदिवशात् प्रकृतिस्थान् रसान् विकृत्य परस्परेणोपहत्य तत्तद्रसप्रभावतो विषमरूपेणापूर्वविशिष्टस्वरूपेण कार्यरसेषु समवायीनि भवन्तीत्येवं परस्परेणोपहतरसजानां ; तथा नानादोषाणामारम्भकाणां ज्वरादिकार्यारम्भे तत्तद्दोषस्थकर्माणि काल-देश-निदानविशेषवशाद् विकृत्य, प्रकृतिस्थस्वरूपं विहाय, परस्परेणोपहत्य,

विषमकर्मरूपेणापूर्वविशिष्टस्वरूपेण परिणम्य, क्रियमाणे ज्वरादौ समवायीनि भवन्तीति परस्परेणोपहतकर्मवातादिदोषजानां ज्वरादीनां च, अन्यैर्विकल्पनैरेकैक-रसप्रभावकर्मविकल्पनैकदोषप्रभावविकल्पनाभ्यां भिन्नैर्विकल्पनैर्गुणकृतगुणविकल्पनै-र्विकल्पितानां कार्यरसानां कार्यज्वरादीनां च, अवयवप्रभावानुमानेन तदारम्भकरसा-श्रयद्रव्यस्थकृतैः गुणैरवयवैस्तदारम्भकदोषस्थगुणकृतैर्गुणैश्चावयवैरनुमानेन, समुदायस्य विकृतिविषमसमवेतस्य नानारसात्मकरसस्य विकृतिविषमसमवेतस्य नानादोषात्मकस्य ज्वरादेश्च प्रभावाणामारम्भकद्रव्याणां कर्मातिरिक्तकर्मणां तत्त्वं भिषग्भिरध्यवसातुं शक्यं न भवतीति। सर्वे हि भावा द्विविधमारभ्यन्ते—समवायिभिः कारणैर्देश-काल-कारणविशेषवात् प्रकृतिसमसमवायेन, विकृतिविषमसमवायेन च। यैर्द्रव्यैर्यो भाव आरभ्यते तद्भावमारभमाणानि द्रव्याणि चेतनप्रयुक्तानि स्वस्वकर्मभिः परस्परं संयुज्यमानानि पुनः पुनर्विभज्यमानानि खलु संयोग-विभागाभ्यामावर्त्यमानानि देश-काल-कारणादिवशात् स्वाश्रयद्रव्य-तद्गुणान् स्वानि चानुरूपेण मेलयित्वैकीकृत्य प्रकृत्यैव जायमाने भावे समवायीनि कुर्वन्तीति प्रकृतिसमसमवेतः स भावो जायते। तत्र द्रव्याणि सजातीयानि द्रव्यान्तराण्यारभन्ते, गुणाश्च सजातीयानि गुणान्तराण्या-रभन्ते, कर्माणि तु सजातीयानि कर्मान्तराण्यारभन्ते विरोधीनि च। यैस्तु द्रव्यैर्योऽपरो भाव आरभ्यते तानि द्रव्याणि चेतनप्रयुक्तानि स्वस्वकर्मभिर्देश-काल-कारणविशेषवशे-नैकीभूतैर्विजातीयरूपमापद्यमानैः संयुज्यमानानि विभज्यमानानि च पुनः पुनरावर्त्यमा-नानि कारणानुरूपद्रव्यान्तररूपेण परिणम्य, कारणानुरूपगुणान्तररूपेण गुणाश्च परिणम्य, स्वस्वाननुरूपविशिष्टापूर्वविजातीयाचिन्त्यरूपेण च स्वयं स्वयं परिणम्य जायमाने कार्ये समवायीनिभवन्ति सन्ति द्रव्याणि गुणांश्च समवायिनः कुर्वन्तीति विकृतिविषमसमवेतः स भावो जायते। तत्र द्रव्याणि सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरं सजातीय-मेवारभन्ते, कारणगुणपूर्वको हि कार्यगुणो भवति, कर्माणि तु सजातीयविजातीयं विरोधि कर्म आरभन्ते। तत्तु कर्म भावानां संहतरूपाणां प्रभाव उच्यते इति। ननु च भो द्रव्याणि यदि विकृतिविषमसमवेतानि ज्वरादीनि गुणाश्च रसादयो विकृतिविषमसमवेताः कर्माणि च विकृतिविषमसमवेतानि प्रभावा उच्यन्ते, तर्हि कथं सजातीयारम्भकत्वं द्रव्य-गुणयोर्न कर्मण इति चेत्, न; यतः कार्यद्रव्यारम्भे तत्कार्यस्य कारणानां द्रव्याणां पृथिवी पृथिव्यन्तरं मूर्तिविशेषमारभते न तु जला-दिकम्, आपश्च शारीररसादि जलान्तरमारभन्ते, तथा तेजः शारीरतेजोन्तरमारभते, इत्येवं सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते द्रव्याणि, न तु विजातीयद्रव्यान्तरं; तथा गुणाश्च रसादयस्तत्तद्द्रव्यस्थाः सजातीयगुणान्तरमारभन्ते, न तु विजातीयगुणान्तरम्। यथा साधारणो रसोऽप्सु पृथिव्यां च भूतान्तरसंयोगेऽभिव्यज्यमानो मधुरादिरसान् सजातीयानारभते। मधुरादिरसवद्द्रव्यारभ्यमाणे पुनरन्यस्मिन् द्रव्ये प्रकृतिसम-समवेते विकृतिविषमसमवेते वा ते मधुरादयो रसाः सजातीयमेव प्रकृतिसमसमवेतं

रसान्तरं विकृतिविषमसमवेतं वा रसान्तरमारभन्ते, न तु रूपान्तरं गन्धान्तरं वा विजातीयगुणान्तरम् । एवं रूपादयो गुणा व्याख्येयाः । कर्माणि तु खल्वुत्क्षेपणा-वक्षेपणादीनि द्रव्यस्थानि सजातीयं कर्मान्तरं प्रकृतिसमसमवेतमारभन्ते, सर्वाणि चैकीभूय विकृतिविषमसमवेतं विजातीयमचिन्त्यं कर्मारभन्ते, यदुच्यते—प्रभाव इति । विजातीयेन कर्मणा सह मिलित्वा कर्म यथा विशिष्टापूर्वविजातीयकर्माण्या-रभते, न तथा द्रव्याणि गुणा वा विजातीयद्रव्यान्तरेण विजातीयगुणान्तरेण वा मिलित्वा विजातीयं द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वाऽऽरभन्ते इति । नन्वेवं चेत् तर्हि कथं नानारसात्मकं विकृतिविषमसमवेतं रसं नानादोषात्मकं ज्वरादिकं चावयवेनानुमाय तत्समुदायरूप-रस-विकारयोः प्रभावतत्त्वमध्यवस्येत् ? अत आह—तथायुक्ते हीत्यादि । तथा कारणविशेषाद् विकृतिविशेषेण परस्परोपघातादारम्भकप्रकृतिभूत-कारणानां विकृत्या स्वकर्माननुरूपकर्मवत्तया समवायेन युक्ते रसे विकारसमुदाये चैकीभूतरूपे समुदायप्रभावतत्त्वं तथाविधमिलिततयैकीभूतरूपस्यैव प्रभावतत्त्वं तत्त-दनुरूपकर्मप्रभावतत्त्वमुपलभ्य ततोऽनन्तरं समुदायप्रभावतत्त्वोपलम्भाद् द्रव्य-विकारप्रभावतत्त्वं तत्समुदायकार्यरूपद्रव्य-विकारयोः प्रभावस्य स्वस्वकर्मकरत्व-स्वभावस्य, तत्त्वं याथार्थ्यं व्यवस्येत् (ग.) ॥

अनेक रसोंवाले द्रव्योंमें तथा अनेक दोषोंवाले रोगोंमें प्रत्येक रस और दोषका जो अलग-अलग प्रभाव कहा गया है उसको देख कर, उस द्रव्य या विकारके प्रभावका निर्णय करना चाहिए । यह न्याय जिस द्रव्यमें अनेक रसोंका और जिस रोगमें अनेक दोषोंका स्वाभाविक रीतिसे कारणानुरूप समवाय (मिलना) हुआ हो ऐसे प्रकृतिसमसमवेत द्रव्य और रोगमें ही लागू होता है । परन्तु यह नियम प्रकृति-समसमवेतको छोड़कर अन्यत्र विकृतिविषमसमवेतमें लागू नहीं हो सकता । क्योंकि जिस द्रव्यमें रसोंका अस्वाभाविक रीतिसे कारणोंके अननुरूप संयोग हुआ है, जिसमें रसोंके गुणोंका परस्पर उपघात हुआ है और जिसकी अनेक प्रकारकी कल्कस्वरसादि कल्पनाएँ की गयी हैं, ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें एक-एक रसका जो प्रभाव कहा गया है उससे समुदायके प्रभावका यथार्थ निश्चय नहीं हो सकता । इसी प्रकार विकृतिविषमसमवेत रोगमें भी एक-एक दोषके प्रभावको देखकर समुदायके प्रभावका निर्णय नहीं हो सकता । ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्य और रोगमें अवयव-प्रभावसे नहीं परन्तु समुदायप्रभाव (मिले हुए रसों और दोषोंके प्रभाव) को देखकर द्रव्य और रोगके प्रभावका निर्णय करना चाहिए । 'प्रकृत्या समः कारणानुरूपः समवायः प्रकृतिसमसमवायः'—द्रव्यमें पञ्च महाभूतों तथा रसोंका और रोगमें दोष-दूष्योंका स्वाभाविकरीत्या सम अर्थात् कारणानुरूप जो समवाय (संबन्ध) होता है उसको प्रकृतिसमसमवाय, तथा इस प्रकारके सम्बन्धसे मिले हुए रसों और दोषोंको प्रकृतिसमसमवेत कहते हैं । 'विकृत्या विषमः कारणाननुरूपः समवायो

विकृतिविषमसमवायः'—एवं द्रव्यमें पञ्चमहाभूतों और रसोंका तथा रोगमें दोष-दूष्योंका विकृतिसे अस्वाभाविक रूपमें कारणोंके अननुरूप जो सम्बन्ध होता है उसको विकृतिविषमसमवाय कहते हैं और इस प्रकारके सम्बन्धसे संयुक्त रसों और दोषोंको विकृतिविषमसमवेत कहते हैं। प्रकृतिसमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप कार्य होता है; जैसे—वंशलोचन और मिसरीके बनाये हुए चूर्णमें रस-रूप-गुणादि समुदायमें भी अवयवानुरूप ही होते हैं। इसलिये ऐसे समवायमें (मिले हुए द्रव्यमें) अवयवभूत रसों या द्रव्योंके प्रभावको देखकर उनपरसे समवायके प्रभावका निर्णय हो सकता है। परन्तु विकृतिविषमसमवेत द्रव्यमें कारणके अनुरूप नहीं ऐसे भिन्न ही रूप-रस-प्रभावादि उत्पन्न होते हैं; जैसे—पारद और गन्धकके संयोगसे बनी हुई कज्जली या रससिन्दूरमें दोनोंकी अपेक्षया भिन्न ही रूपादि उत्पन्न होते हैं, अतः ऐसे विकृतिविषमसमवेत द्रव्योंमें समुदायके प्रभावको देखकर ही द्रव्यप्रभावका निर्णय करना चाहिये।

त्रिषष्टिरसभेदाः, तेषामुपयोगश्च—

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्य-देश-काल-प्रभावाद्भवति, तमुपदेक्ष्यामः—

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु॥
पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्।
मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा॥
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः।
वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च॥
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ।
योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया॥
सहितौ स्वादु-लवणौ तद्वत् कट्वादिभिः पृथक्।
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा॥
कट्वाद्यैरम्ल-लवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक्।
यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्ल-कटू तथा॥
युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ।
षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात्॥

षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु ।
इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया ॥
त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् ।
रसास्तर-तमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ॥
संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा ।
रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः ॥

(च. सू. अ. २६)

संप्रति द्रव्यमभिधाय विकृतानां रसानामेव भेदमाह—भेदश्चैषामित्यादि । प्रभावशब्दो द्रव्य-देश-कालैः प्रत्येकं युज्यते ; तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा—'सोमगुणातिरेकान्मधुरः' इत्यादि ; देशप्रभावाद्यथा—हिमवति द्राक्षा-दाडिमादीनि मधुराणि भवन्ति, अन्यत्राम्लानीत्यादि ; कालप्रभावाद्यथा—बालाम्रं सकषायं, तरुणमम्लं, पक्वं मधुरं ; तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा, वर्षास्वम्ला इत्यादि । अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्भावनीयाः । भेदमाह—स्वादुरित्यादि । तत्र स्वादोरम्लादियोगात् पञ्च, शेषैरिति आदित्वेनोपयुक्तादन्यैः ; तेनाम्लस्य लवणादियोगाच्चत्वारि, एवं लवणस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, कटुकस्य तिक्त कषाय-योगाद् द्वे, तिक्तस्य कषाययोगादेकम्, एवं पञ्चदश[1] द्विरसानि । त्रिरसमाह—पृथगित्यादि । मधुरस्याम्लादिरसचतुष्टयेन पृथगित्येकशो युक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगो भवति ; तत्र मधुरस्याम्लयुक्तस्य शेषलवणादियोगाच्चत्वारि, तथा मधुरस्य लवणयुक्तस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, तथा कटुयुक्तस्य तिक्तादियोगाद् द्वे, तथा तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकम् ; एवं मधुरेणादिस्थितेन दश । एवमम्लस्यादिस्थितस्य लवणयुक्तस्य कट्वादियोगात् त्रीणि, तथा कटुकयुक्तस्य शेषाभ्यां योगाद् द्वे, एवं तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकम् ; एवमम्लस्य षट् । अनेनैव

१—"स्वादोरम्लादियोगात् पञ्च ; तद्यथा—मधुराम्लं १, मधुरलवणं २, मधुरकटुकं ३, मधुरतिक्तं ४, मधुरकषायम् ५,इति । शेषैरिति आदित्वेनोपयुक्तादन्यैः, अम्लादयः पृथग्योगं यान्ति, तेनापरे दश ; तथाहि—अम्लस्य प्रत्येकं लवणादिचतुष्कयोगाच्चत्वारः—अम्ललवणम् १, अम्लकटुकम् २, अम्लतिक्तम् ३ अम्लकषायम् ४, इति ; तथा लवणस्य कटुकादियोगात् त्रयः—लवणकटुकं १, लवणतिक्तं २, लवणकषायम् ३, इति ; कटुकस्य तिक्त कषाययोगाद् द्वौ भेदौ-कटुतिक्तं १, कटुकषायम् २, इति ; तिक्तस्य कषाययोगादेक इति तिक्तकषायम् १ ; एवं हि द्विरसानि द्रव्याणि पञ्चदश भवन्ति ।" इति शिवदाससेनः ।

न्यायेन लवणस्य त्रीणि, कटोश्चैकमेव। एवं मिलितत्रिरसानि विंशतिः[१]। चतूरसे स्वाद्वम्लावादिस्थितौ लवणादिभिरेकैकश्येन युक्तौ शेषैः कटवादिभिर्योगात् षड् भवन्ति। स्वादु-लवणौ सहितौ आदिस्थितौ, कटवादिभिरिति कटु-तिक्ताभ्यां पृथग्युक्तौ, शेषैरिति तिक्त-कषायाभ्यां, तेनेह बहुवचनं जातौ बोद्धव्यम्; एवं त्रीणि। स्वादूषणौ तथेत्यनेन स्वादु-कटुक-तिक्त-कषायरूपमेकम्। कट्वाद्यै-रित्यादावपि बहुवचनं जातौ। अम्ल-लवणौ संयुक्तौ कटुना सहितौ शेषाभ्यां योगाद् द्वे, तथाऽम्ल-लवणौ तिक्तयुक्तौ शेषयोगादेकम्। अम्ल-कटू तथेत्यनेनाम्ल-कटु-तिक्त-कषायरूपमेकम्। युज्येते त्वित्यादिना चैकम्। एवं पञ्चदश चतूरसानि[२]।

१—"इदानीं त्रिरसद्रव्याणां विंशतिभेदानाह—पृथगम्लेत्यादि। मधुरस्य अम्लादिरसचतुष्टयेन पृथगित्येकैकशो युक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगो भवेत्। तत्र मधुरस्याम्लयुक्तस्य शेषैर्लवणादिभिर्योगाच्चत्वारो भेदाः—मधुराम्ललवणं १, मधुराम्लकटुकं २, मधुराम्लतिक्तं ३, मधुराम्लकषायम् ४, इति; तथा मधुरस्य लवणयुक्तस्य शेषैः कटु-तिक्त-कषायैर्योगात् त्रयः—मधुरलवणकटुकं, मधुरलवणतिक्तं २, मधुरलवणकषायम् ३, इति; तथा मधुरस्य कटुयुक्तस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वौ—मधुरकटुतिक्तं १, मधुर-कटुकषायम् २, इति; एवं मधुरस्य तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—मधुरतिक्तकषायम् १, इति। एवमम्लस्य लवणयुक्तस्य प्रत्येकं कटु-तिक्तकषाययोगात् त्रयः—अम्ललवण-कटुकम् १, अम्ललवणतिक्तम् २, अम्ललवणकषायम् ३, इति; तथा तस्यैव कटुक-युक्तस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वौ—अम्लकटुतिक्तम् १, अम्लकटुकषायम् २, इति; तथाऽम्लस्य तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—अम्लतिक्तकषायम् १, इति। एवं लवणस्य कटुयुक्तस्य तिक्त-कषाययोगाद् द्वौ—लवणकटुतिक्तं १, लवणकटुकषायम् २, इति; तथा लवणस्य तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—लवणतिक्तकषायम् १, इति; कटोश्च तिक्तयुक्तस्य कषाययोगादेकः—कटुतिक्तकषायम् १; इति मिलित्वा त्रिरसानि द्रव्याणि विंशतिर्भवन्ति"। इति शिवदाससेनः।

२—"चतुष्कसंयोगेन पञ्चदशभेदानाह—वक्ष्यन्त इत्यादि। सहिताविति मिलितौ स्वाद्वम्लौ लवणाद्यैश्चतुर्भिः पृथमेकैकशो योगं गतौ शेषैः कटु-तिक्त-कषायैः पृथग्योगं चतुष्करससंख्यया यातो गच्छतः; तेन षड् भेदाः—मधुराम्ललवणकटुकं १, मधुराम्ललवणतिक्तं २, मधुराम्ललवणकषायं ३, मधुराम्लकटुतिक्तं ४, मधुराम्ल-कटुकषायं ५, मधुराम्लतिक्तकषायम् ६, इति। अम्लपरित्यागेनापरांश्चतुरो भेदानाह—सहितावित्यादि। मिलितौ स्वादुलवणौ कट्वादिभिः कटु-तिक्त-कषायैः पृथग्युक्तौ, शेषैरिति यथाक्रमं तिक्त-कषाय-कटुभिः पृथग्योगं यातो गच्छतः; तेन त्रयो भेदाः—स्वादुलवणकटुतिक्तं १, स्वादुलवणतिक्तकषायं २, स्वादुलवणकषाय-कटुकम् ३, इति। अत्राद्यापेक्षया शेषाणां बहुत्वाद्बहुवचनमुपपन्नम्। लवणपरि-

अपवर्जनादिति[1] त्यागात्। अत्र च रसानां गुणत्वेनैकस्मिन् द्रव्ये समवायो 'योग' शब्देनोच्यते। रससंसर्गस्य प्रकारान्तरेणासंख्येयतामाह—त्रिषष्टिः स्यादित्यादि। अनुरसः पूर्वोक्तलक्षणः। अत्र च त्रिषष्ट्यात्मकरसे रसानुरसकल्पना नास्ति, केवले मधुरादौ तदभावात्; तेन यथासंभवं सप्तपञ्चाशत्संयोगविषयं रसानुरस-कल्पनं ज्ञेयम्। किंवा, एकरसेऽप्यनुरसोऽस्त्येवाव्यदेश्यः। प्रकारान्तरेणाप्यसंख्येयता-माह—रसास्तर-तमाभ्यामित्यादि। मधुर-मधुरतर-मधुरतमादिभेदादसंख्येयता रसानां भवतीति भावः। किंवा, रसानुरसत्वेनैव याऽसंख्येयता तत्रैवायं हेतुः—रसास्तर-तमाभ्यामित्यादिः। एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टिविधैव कल्पना चिकित्सा-व्यवहारार्थमिहाचार्यैः कल्पितेत्याह—संयोगा इत्यादि। तत्र योग्यत्वादिति तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसंक्षेपविस्तररूपतया हितत्वादित्यर्थः (च. द.)॥

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥

(च. सू. अ. २६)

त्यागात् पुनश्चतुर्थो भेद इत्याह—स्वादूषणौ तथेति; स्वादूषणावपि शेषाभ्यां तिक्त-कषायाभ्यां योगं यातः, स्वादुकटुकतिक्तकषायम् १, इति; एवं चतुष्के मधुरयोगेन दश भेदाः। इदानीं मधुरपरित्यागात् पञ्च भेदानाह—कट्वाद्यैरित्यादि। अम्ल-लवणौ कट्वाद्यैः कटु-तिक्त-कषायैः पृथग्युक्तौ यथाक्रमं शेषैस्तिक्त-कषाय-कटुभिः पृथग्योगं यातो गच्छतः; तेन त्रयो भेदाः—अम्ललवणकटुतिक्तम् १, अम्ललवण-तिक्तकषायम् २, अम्ललवणकषायकटुकम् ३, इति। लवणपरित्यागाच्चतुर्थं भेदमाह—शेषैरम्ल-कटू तथेति; अम्ल-कटू शेषैरिति शेषाभ्यां तिक्त-कषायाभ्यां योगं यातो गच्छतः, अत्र शेषैरिति जातौ बहुवचनम्; अम्लकटुतिक्तकषायम् १। मधुराम्ल-परित्यागात्तु पञ्चमो भेद इत्याह—युज्येते त्वित्यादि। लवणकटुतिक्तकषायम् १; इति। तदेवं चतुष्के पूर्वं दशभिर्मिलित्वा पञ्चदश भेदा उक्ताः।" इति शिवदाससेनः।

१—"पञ्चके षड्भेदानाह—षडित्यादि। अपवर्जनादिति त्यागात्; यथा—मधुरत्यागात् अम्ललवणकटुतिक्तकषायम् १, एवमम्लत्यागात् मधुरलवणकटुतिक्त-कषायं २, लवणपरित्यागात् मधुराम्लकटुतिक्तकषायं ३, कटुकत्यागात् मधुराम्ल-लवणतिक्तकषायं ४, तिक्तत्यागात् मधुराम्ललवणकटुककषायं ५, कषायत्यागात् मधुराम्ललवणकटुतिक्तम् ६।" इति शिवदाससेनः।

तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—क्वचिदित्यादि । अत्रादिग्रहणाद्देश-काल-बलादीनामनुक्तानां ग्रहणम् । एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलकाद्वाऽनेकरसैकद्रव्यप्रयोगादेकरसद्रव्यप्रयोगाद्वा भवतीति दर्शयन्नाह—द्रव्याणीत्यादि । द्विरसादीनि उत्पत्तिसिद्धद्विरस-त्रिरसादीनि ; द्विरसं यथा—कषायमधुरो मुद्गः ; त्रिरसं यथा—"मधुराम्ल-कषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम् । पित्त-श्लेष्महरं भव्यं" (च. सू. अ. २७) इत्यादि ; चतूरसस्तिलः, यदुक्तं—"स्निग्धोष्ण-मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः ।" (च. सू. अ. २७) ; पञ्चरसं त्वामलकं हरीतकी च, "शिवा पञ्चरसा" इत्यादिवचनात् ; व्यक्तषड्रसं तु द्रव्यमिहानुक्तं, विषं त्वव्यक्तषड्रससंयुक्तं ; हारीते त्वेणमांसं व्यक्तषड्रससंयुक्तमुक्तम् । एवं द्विरसादिद्रव्ययोगाद् द्विरसाद्युपयोगः । तथा संयुक्तांश्च रसानिति एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् संयुक्तान् रसानेकैकशः कल्पयन्ति प्रयोजयन्ति । गदान् प्रतीति प्राधान्येन, तेन स्वस्थवृत्तेऽपि बोद्धव्यं ; किंवा, द्विरसादिभेदो गद एव, स्वस्थे तु सर्वरसप्रयोग एव ; यदुक्तं—"समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते ।" (च. सू. अ. ७) इति एवं च व्याख्याने सति 'क्वचिदेको रस' इत्यादिना समस्य न पौनरुक्त्यम् । किंवा 'क्वचिदेको रसः' इत्यादिना स्वमतमुक्तम्, अत्रैवार्थे 'द्रव्याणि द्विरसादीनि' इत्यादिनाऽऽचार्यान्तरसंमतिं दर्शयति ; अत एवाचार्यान्तराभिप्रायेण कल्पयन्तीत्युक्तं, तेन न पौनरुक्त्यम् (च. द.) ॥

अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा ।
रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥

द्विकान् वक्ष्यामः—

यथाक्रमप्रवृत्तानां द्विकेषु मधुरो रसः ।
पश्चानुक्रमते योगानम्लश्चतुर एव तु ॥
त्रींश्चानुगच्छति रसो लवणः, कटुको द्वयम् ।
तिक्तः कषायमन्वेति, ते द्विका दश पञ्च च ॥

तद्यथा—मधुराम्लः १, मधुरलवणः २, मधुरकटुकः ३, मधुरतिक्तः ४, मधुरकषायः ५, एते पञ्चानुक्रान्ता मधुरेण ; अम्ललवणः १, अम्लकटुकः २, अम्लतिक्तः ३, अम्लकषायः ४, एते चत्वारोऽनुक्रान्ता अम्लेन ; लवणकटुकः १, लवणतिक्तः २, लवणकषायः ३, एते त्रयोऽनुक्रान्ता लवणेन ; कटुतिक्तः १, कटुकषायः २, द्वावेतावनुक्रान्तौ कटुकेन ; तिक्तकषायः १ एक एवानुक्रान्तस्तिक्तेन ; एवमेते पञ्चदश द्विकसंयोगा व्याख्याताः ॥

त्रिकान् वक्ष्यामः—

आदौ प्रयुज्यमानस्तु मधुरो दश गच्छति ।
षडम्लो, लवणस्तस्मादर्धमेकं तथा कटुः ॥

तद्यथा—मधुराम्ललवणः १, मधुराम्लकटुकः २, मधुराम्लतिक्तः ३, मधुराम्लकषायः ४, मधुरलवणकटुकः ५, मधुरलवणतिक्तः ६, मधुरलवणकषायः ७, मधुरकटुकतिक्तः ८, मधुरकटुकषायः ९, मधुरतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानां त्रिकसंयोगानामादौ मधुरः प्रयुज्यते ; अम्ललवणकटुकः १, अम्ललवणतिक्तः २, अम्ललवणकषायः ३, अम्लकटुतिक्तः ४, अम्लकटुकषायः ५, अम्लतिक्तकषायः ६, एवमेषां षण्णामादावम्लः प्रयुज्यते ; लवणकटुतिक्तः १, लवणकटुकषायः २, लवणतिक्तकषायः ३, एवमेषां त्रयाणामादौ लवणः प्रयुज्यते ; कटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ कटुकः प्रयुज्यते ; एवमेते त्रिकसंयोगा विंशतिर्व्याख्याताः ॥

चतुष्कान् वक्ष्यामः ।—

चतुष्करससंयोगान्मधुरो दश गच्छति ।
चतुरोऽम्लोऽनुगच्छेच्च, लवणस्त्वेकमेव तु ॥

मधुराम्ललवणकटुकः १, मधुराम्ललवणतिक्तः २, मधुराम्ललवणकषायः ३, मधुराम्लकटुकतिक्तः ४, मधुराम्लकटुकषायः ५, मधुराम्लतिक्तकषायः ६, मधुरलवणकटुकतिक्तः ७, मधुरलवणकटुकषायः ८, मधुरलवणतिक्तकापयः ९, मधुरकटुतिक्तकषायः १०, एवमेषां दशानामादौ मधुरः प्रयुज्यते; अम्ललवणकटुतिक्तः १, अम्ललवणकटुकषायः २, अम्ललवणतिक्तकषायः ३, अम्लकटुतिक्तकषायः ४, एवमेषां चतुर्णामादावम्लः ; लवणकटुतिक्तकषायः १, एवमेकस्यादौ लवणः ; एवमेते चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कीर्तिताः ॥

पञ्चकान् वक्ष्यामः ।—

पञ्चकान् पञ्च मधुर, एकमम्लस्तु गच्छति ॥

मधुराम्ललवणकटुतिक्तः १, मधुराम्ललवणकटुकषायः २, मधुराम्ललवणतिक्तकषायः ३, मधुराम्लकटुतिक्तकषायः ४, मधुरलवणकटुतिक्तकषायः ५, एवमेषां पञ्चानामादौ मधुरः प्रयुज्यते ; अम्ललवणकटुतिक्त-

कषायः १, एवमेकस्यादावम्लः ; एवमेते षट् पञ्चकसंयोगा व्याख्याताः ॥

षट्कमेकं वक्ष्यामः ; एकस्तु षट्कसंयोगः—मधुराम्ललवणकटुतिक्त-कषायः ; एष एक एव षट्संयोगः ॥

एकैकश्च षड्रसा भवन्ति—मधुरः १, अम्लः २, लवणः ३, कटुकः ४, तिक्तः ५, कषायः ६, इति (सु. उ. तं. अ. ६३) ॥

कीदृशा रसास्त्रिषष्टिभेदान् यान्तीत्याह—अविदग्धा इत्यादि। अविदग्धा असंयुक्ता एकाकिनः समवायतो भिद्यन्त इत्यर्थः। विदग्धाः संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद्भिद्यन्ते। विदग्धशब्दः संयुक्ते वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात्। भिद्यन्ते एकैकेनानुगमनाद् भेदं यान्तीत्यर्थः। ते रसाः। तत्र यथासंभवं केचित् संयोगतः केचित् समवायतश्च भिद्यन्ते। इदानीं रसभेदत्रिषष्टि ग्रन्थेनैव विवृण्वन्नाह—यथाक्रममित्यादि। यथाक्रमप्रवृत्तानामिति मधुरादिक्रम-प्रवृत्तानां रसानामित्यर्थः। द्विकेषु द्विकसंयोगेषु। अनुक्रमते अनुगच्छति, अनुगतो भवतीत्यर्थः। दशपञ्चेति पञ्चदशेत्यर्थः। यद्यपि सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीया-ध्याये पञ्चदश द्विका इत्यादिना द्विकसंयोगादीनां संख्या उक्ता, तथाऽपि पुनरत्र संख्याकरणं नियमार्थम्। तेन इयन्त एव रसभेदा गणनीया न तन्त्रान्तरोक्तास्तर-तम योगादिजा इत्यर्थः। तेषामेव द्विकानां पञ्चदशसंख्याकानामुदाहरणान्याह—तद्यथे-त्यादि। मधुराम्लौ विद्येते यत्र संयोगे स मधुराम्लः। एवं शेषेष्वपि ज्ञेयम्। आदावित्यादि। दशेति दशयोगानित्यर्थः। तस्मादर्वमिति त्रीनित्यर्थः। तेषामेव त्रिकानां विंशतिसंख्याकानामुदाहरणान्याह—मधुराम्लेत्यादि। मधुराम्ल-लवणा विद्यन्ते यत्र स मधुराम्ललवणः। एवं शेषेष्वपि व्याख्येयम्। चतुष्कानित्यादि। दशेति 'योगान्' इति शेषः। तेषां चतुष्करससंयोगे पञ्चदशसंख्याकानामुदाहरणा-न्याह—मधुराम्लेत्यादि। मधुराम्ल-लवण-कटुका विद्यन्ते यत्र योगे स मधुराम्ल-लवणकटुकः ; एवं शेषेष्वपि। पञ्चकानित्यादि। पञ्चकानिति पञ्चरससमूहान्। पञ्चेति पञ्चसंख्याकान्, 'योगान्' इति शेषः। तेषामेव षण्णामुदाहरणान्याह—मधुराम्ले-त्यादि। तस्य षट्कस्योदाहरणमाह—मधुराम्लेत्यादि। संयुक्ता यथा—बदर-कपित्थ-फलादिकं मधुराम्लम् (१), उष्ट्रीक्षीरोरभ्रमांसादिकं[1] मधुरलवणं (२), कुक्कुर[2]-श्वगालमांसादिकं मधुरकटुकं (३), श्रीवास-सर्जरसादिकं मधुरतिक्तं (४), तैल-धन्वन-फलादिकं मधुरकषायम् (५), ऊषकादिकम्[3] अम्ललवणं (६), चुक्रादिकम्

१—'क्षीरोरभ्रमत्स्यमांसादिकम्' इति सिद्धभैषज्यमणिमालायाम्।

२—'कुङ्कुमकेशरश्वगालमांसादिकं' इति पाठान्तरम्।

३—'एडकादिकम्, ऊषकादिकम्' इति सि० भै०।

अम्लकटुकं (७), सुरादिकम् अम्लतिक्तं (८), हस्तिनीदधि-शुकमांसादिकम् अम्लकषायं (९), त्रपु-सीसादिकं लवणतिक्तं (१०), गोमूत्र-स्वर्जिकादिकं लवण-कटुकं (११) समुद्रफेनादिकं लवणकषायं (१२) कर्पूर-जातीफलादिकं तिक्त-कटुकं (१३), लवलीफल-हस्तिनीघृतादिकं तिक्तकषायं (१४), भल्लातकमज्जा-हरितालादिकं कटुकषायम् (१५) ; एवं द्विरसभेदाः[1] पञ्चदशधा दर्शिताः। अतः परं रसत्रितयभेदा[2] वक्ष्यन्ते—हस्तिमांसादिकं मधुराम्ललवणं (१), शल्यक-मांसादिकं मधुराम्लकटुकं (२), गोधूमोत्थसुरादिकं मधुराम्लतिक्तकं (३), मस्तुतक्रादिकं[3] मधुराम्लकषायं (४), काणकपोतमांसादिकं[4] मधुरलवणकटुकं (५), शम्बूकादिमांसं[5] मधुरलवणतिक्तं (६), पद्मकन्दादिकं गुडसंयुक्तं[6] मधुर-लवणकषायं (७), तृणशून्याफल-शुष्ककुस्तुम्बर्यादिकं[7] मधुरकटुतिक्तं (८), गोधामांसैरण्डतैलादिकं मधुरकटुकषायं (९), गुडूची-शाखामृगामिष-तुवरक-तैलादिकं[8] मधुरतिक्तकषायं (१०), रौप्यशिलाजत्वादिकम् अम्ललवणकटुकं (११), हस्तिमूत्रादिकम्[9] अम्ललवणतिक्तं (१२), सरोमकं[10] हस्तिनीदध्यादि अम्ललवणकषायं (१३), मरिचसंस्कृतसुरादिकम्[11] अम्लकटुतिक्तकम् (१४), अम्लवेतसादिकम् अम्लकटुकषायं (१५), कीरमांसयुतसुरादिकम् अम्लतिक्तकषायम् (१६), अविमूत्रादिकं लवणकटुतिक्तम् (१७), अरुष्करं सरोमकं[12] लवणकटु-कषायं (१८), समुद्रफेनादिकं[13] लवणतिक्तकषायं (१९), कृष्णागरु-सुरदारु-स्नेहादिकं[14] कटुतिक्तकषायम् (२०); एवं त्रिकभेदा विंशतिर्दर्शिताः। अतः परं चतुः-संयोगाः पञ्चदशप्रकारा वक्ष्यन्ते—गोमूत्रान्वितशिलाजतुप्रभृतिकं मधुराम्ललवणकटुकं (१), गोमूत्रैकशफक्षीरादिकं मधुराम्ललवणतिक्तकं (२), सैन्धवान्विततक्रादिकं[15] मधुराम्ललवणकषायं (३), लशुनान्वितं सुरादिकं मधुराम्लकटुतिक्तं (४), काञ्जिकान्वितैरण्डतैलादि खदिरान्वितशिलाह्वादिकं च मधुराम्लकटुककषायम् (५) उदुम्बरान्वितं[16] यवासशर्करादिकं मधुराम्लतिक्तकषायं (६), वार्ताकफलादिकं[17]

१—'द्विरसयोनयः' इति पा०। २—'रसत्रिकसंयोगाः' इति पा०।
३—'सिञ्चितिकाफलादिकं' इति पा०। ४—'अपूपैणादिमांसादि' इति सि० भे०।
५—'कटुकासंस्कृतगुडादिकं' इति पा०। ६—'ताप्य-कासीसादि' सि० भे०।
७—'कटुकाम्लभक्तादि' इति सि० भे०। ८—'रक्तकवकतैलादिकं' इति सि० भे०।
९—'हस्तिमृगमूत्रादि' इति सि० भे०। १०—'हस्तिनीदध्यादि' इति सि० भे०।
११—'मथितसंस्कृतसुरादिकं' इति पा०। १२—'अरुष्कासवरोमकं' इति सि० भे०।
१३—'समुद्रफेनं समुद्रस्थितं' इति सि० भे०। १४—'आर्घ्यादिकं' इति पा०।
१५—'शिलाजतुप्रभृतिकं' इति पा०। १६—'कम्ब्वादिकं' इति सि० भे०।
१७—'उदुम्बरान्वितयवादि' इति सि० भे०।

मधुरलवणतिक्तकटुकं (७), गोमूत्रान्विततैलादिकं मधुरलवणकटुकषायं (८), तिल-गुग्गुल्वादिकं मधुरकटुतिक्तकषायं (९), समुद्र[1] फेन-शर्करा-चित्रकान्वितबदरादि मधुरलवणतिक्तकषायं (१०), सुवर्चलान्वितहस्तिनीदध्यादिकम्[2] अम्ललवणकटुकषायम् (१२), औद्भिदलवणान्वितं शुकमांसादिकम् अम्ललवणतिक्तकषायं (१३), बालमूलक-हस्तिनीदध्यादिकम्[3] अम्लकटुतिक्तकषायं (१४), सरोमकं बालबिल्वादिकं[4] लवणकटुतिक्तकषायम् (१५) ; एवं चतुष्करससंयोगाः पञ्चदश कथिताः । अतः परं पञ्चरससंयोगाः षड् वक्ष्यन्ते—आमकरमर्दान्वितं भृष्टवार्ताकफलादिकं[5] मधुराम्ललवणतिक्तकटुकं (१), कटुत्रययवक्षारान्विततक्रादिकं[6] मधुराम्ललवणकटुकषायम् (२), औद्भिदान्विततक्रादिकं मधुराम्ललवणतिक्तकषायं (३), हरीतकी धात्रीफलादिकं[7] मधुराम्लकटुतिक्तकषायं (४), रसोनादिकं मधुरलवणकटुतिक्तकषायं (५), भल्लातक-रौप्यशिलाजतुमिश्रितनिम्बादिकम् अम्ललवणकटुतिक्तकषायम् (६) ; एवं पञ्चरससंयोगाः षड् दर्शिता । अतः परं षड्रसं वक्ष्यते—एणमांसादिकं मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायम् । अतः[8] परमेकैकरसानाह—सन्तानिका-गोदुग्धादिकं मधुरम्, (१), आमकरमर्दादिकम्[9] अम्लं (२), रोमकादिकं लवणं (३), चव्यादिकं कटुकं (४), निम्बपर्पटादिकं तिक्तं (५), पद्म-न्यग्रोधाद्यङ्कुरादिकं[10] कषायम् (६) ; एवं षट् कथिताः । अनेन प्रकारेण त्रिषष्टिः कथिता । कार्तिककुण्डस्त्वमुं पाठमन्यथा आपातनिकां कृत्वा व्याख्यानयति ; तद्यथा— दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरो भेदः, तस्य बहुभिस्त्रिषष्टिरसभेदैः सह प्रयोगो दुर्घटः, अतो दोषभेदानामपि बहुत्वमाह—अविदग्धा इत्यादि । अविदग्धा अप्रकुपिताः ; विदग्धाः कुपिता दोषाः ; यद्यस्मिन् पाठे दोषाणां त्रिषष्टिभेदा उक्ताः, तर्हि पूर्वपाठे पञ्चदशधा प्रसरः किमित्युक्तः ? सत्यं, कुपितदोषस्यात्यन्तचिकित्सनीयत्वापादनार्थम् ; अन्यद् ग्रन्थगौरवभयात् परित्यक्तम् (ड.) ॥

१—'समुद्रफेनशर्करासंयुक्तं चन्दनं मधुरलवणतिक्तकषायम्' इति पा० ; 'समुद्रफेन-शर्करासंयुक्तचन्दनं' इति सि० भे० ।

२—'सुवर्चलासंयुक्तलवणाद्यान्वितमदिरादिकं' इति पा० ।

३—'बालमूलकाक्तहस्तिनीदध्यादिकं' इति सि० भे० ।

४—'रोमकबालबिल्वादिकं' इति सि० भे० ।

५—'आम्रकरमर्दान्वितभ्रष्टवार्ताकुफलादि' इति सि० भे० ।

६—'त्रिकटुयवान्विततक्रादिकं' इति सि० भे० ।

७—'हरीतकीफलादिकं' इति सि० भे० ।

८—'यथा—पारदः, एणमांसादि च' इति सि० भे० ।

९—'आम्रकरमर्दादिकं' इति सि० भे० । १०—'पद्मकन्द' इति सि० भे० ।

एकैकहीनास्तान् पञ्चदश यान्ति रसा द्विके ।
त्रिके स्वादुर्दशाम्लः षट् त्रीन् पटुस्तिक्त एककम् ॥
चतुष्केषु दश स्वादुश्चतुरोऽम्लः, पटुः सकृत् ।
पञ्चकेष्वेकमेवाम्लो मधुरः पञ्च सेवते ॥
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः ।
षट् पञ्चकाः षट् च पृथग्रसाः स्युश्चतुर्द्विकौ पञ्चदशप्रकारौ ।
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः ॥
ते रसानुरसतो रसभेदास्तारतम्यपरिकल्पनया च ।
संभवन्ति गणनां समतीता, दोष-भेषजवशादुपयोज्याः ॥

(अ. हृ. सू. अ. १०)।

××× क्षीरं सुरा विडं निम्बश्चव्यं पञ्च रसाश्रयम् । द्रव्यं स्वादुरसादीनां षण्णां विधि यथाक्रमम् ॥ द्रव्यं द्रव्यान्तरेणैव योजयेद् द्विरसादिषु । धात्रीफलं शर्करया लवणेनार्द्रकं तथा ॥ एवमादीनि द्रव्याणि योजयेद्भिषगुत्तमः । कानिचिद् द्विरसादीनि द्रव्याणि स्युः स्वभावतः ॥ यथैणः षड्रसः कृष्णो, यथा पञ्चरसाऽभया । मद्यं पञ्चरसं तद्वत्तिलो यद्वच्चतूरसः ॥ एरण्डतैलं त्रिरसं, माक्षिकं द्विरसं यथा । घृतमेकं स्वादुरसं मधुरादिविभागतः ॥ दिङ्मात्रादुदितादेवं शेषमूह्यं मनीषिणा । ×××। ते रसभेदाः त्रिषष्टिरूपाः, रसतो रसवशेन, तथाऽनुरसतः अनुरसवशेन, तथा तारतम्यपरिकल्पनया अयं मधुरोऽयं मधुरतरोऽयं मधुरतम इत्येवंरूपया, गणनां समतीताः संख्यामतिक्रान्ताः संभवन्ति । दोषेत्यादि दोषा वातादयः, भेषजानि हरीतक्यादीनि, दोषाश्च भेषजानि च दोष-भेषजानि, तेषां वशः अनुरोधः सामर्थ्यं वा, तस्माद्धेतुभेदाद्रसभेदा उपयोज्याः ; न दोषमनपेक्ष्य भेषजं वाऽनपेक्ष्य एवमेवोपयोज्या इत्यर्थः । ×××। दोष-भेषजवशादित्युपलक्षणार्थं, देशादिवशाद्धि दोषादीन् वीक्ष्य रसभेदा उपयोज्याः । ×××। (अ. द.)। ×××। उक्तरसभेदानामवान्तरभेदैरानन्त्यं दर्शयति—ते रसानुरसत इति । ते रसभेदाः रसानुरसकल्पनया तारतम्यकल्पनया च गणनां समतीताः संभवन्ति । यथा—मधुराम्लस्य द्रव्यस्य मधुरस्य रसत्वे, अम्लस्यानुरसत्वे ; क्वचिदम्लस्य रसत्वे, मधुरस्यानुरसत्वे बहुभेदत्वमित्यादि । तथा मधुरस्य मधुरतरत्वं, मधुरतमत्वं चेत्यादि तारतम्यम् । सर्वेषां रसभेदानां यौगिकत्वं दर्शयति—दोषभेषजवशादिति । दोषवशाद् भेषजवशाद्वा सर्वेऽपि रसा उपयोज्याः औपयोगिका भवन्ति । दोषवशाद्यथा—केवलवायावम्लः, पित्तयुक्ते अम्ल-तिक्तौ,

श्लेष्मयुक्ते अम्ल-कटुकावित्यादि। भेषजवशाद्यथा—विरेचनौषधमेकरसमहृद्यं द्वित्रि-रसादि कार्यम्। × × ×। (हे.)॥

द्रव्य, देश और कालके प्रभावसे मधुरादि छः रसोंके परस्पर दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच और छः के संसर्गसे (मिलनेसे) ५७, तथा असंयुक्त स्वरूपमें छः, इस प्रकार ६३ भेद होते हैं। द्विकसंयोग अर्थात् दो-दो रसोंके संयोग पन्द्रह होते हैं, त्रिक अर्थात् तीन रसोंके संयोग बीस होते हैं, चतुष्कसंयोग अर्थात् चार रसोंके संयोग पन्द्रह होते हैं, पञ्चकसंयोग अर्थात् पाँच रसोंके संयोग छः होते हैं, छः रसोंका संयोग एक होता है, असंयुक्त एक-एक रस छः हैं। पन्द्रह द्विकसंयोग इस प्रकार हैं।—(१) मधुराम्ल, जैसे–बेर, कैथके फल आदि ; (२) मधुरलवण, जैसे—ऊँटनीका दूध, भेड़का मांस आदि ; (३) मधुरकटुक जैसे—कुत्ता, शृगाल आदिका मांस ; (४) मधुरतिक्त, जैसे—गन्धाबिरोजा, राल आदि ; (५) मधुरकषाय, जैसे—तिलका तेल, धामनका फल आदि ; (६) अम्ललवण, जैसे—ऊषक (क्षारमृत्तिका) आदि ; (७) अम्लकटुक, जैसे—चुक्र (शुक्त) आदि ; (८) अम्लतिक्त, जैसे—सुरा आदि ; (९) अम्लकषाय, जैसे—हथिनीका दही, तोतेका मांस आदि ; (१०) लवणतिक्त, जैसे—राँगा, सीसा आदि ; (११) लवणकटुक, जैसे—गोमूत्र, सज्जीखार आदि ; (१२) लवणकषाय, जैसे—समुद्रफेन आदि ; (१३) तिक्तकटुक, जैसे—कपूर, जायफल आदि ; (१४) तिक्तकषाय, जैसे—हथिनीका दही आदि ; (१५) कटुकषाय, जैसे—भिलावेंके फलका मग्ज, हरताल आदि। अब तीन रसोंके संयोग कहे जाते हैं।—(१) मधुराम्ललवण, जैसे—हाथीका मांस आदि ; (२) मधुराम्लकटुक, जैसे—सेहका मांस आदि ; (३) मधुराम्लतिक्तक, जैसे गेहूँसे बनाई हुई सुरा आदि ; (४) मधुराम्लकषाय, जैसे—दहीके ऊपरका पानी, छाछ आदि ; (५) मधुरलवणकटु, जैसे—जंगली कपोतका मांस आदि ; (६) मधुरलवणतिक्त, जैसे—शम्बूक (घोंघा) का मांस आदि ; (७) मधुरलवणकषाय, जैसे—गुड़के साथ मिलाया हुआ कमलका कन्द आदि ; (८) मधुरकटुतिक्त, जैसे—केतकीके फल, सूखा धनिया आदि ; (९) मधुरकटुकषाय, जैसे—गोहका मांस, एरण्डतैल आदि ; (१०) मधुरतिक्तकषाय, जैसे—गिलोय, वानरका मांस, तुवरकतैल आदि ; (११) अम्ललवणकटुक, जैसे—रौप्यशिलाजतु आदि ; (१२) अम्ललवणतिक्त, जैसे—हाथीका मूत्र आदि ; (१३) अम्ललवणकषाय, जैसे—सांभरका नमक डाला हुआ हथिनीका दही आदि ; (१४) अम्लकटुतिक्त, जैसे—काली मिर्च डाली हुई सुरा आदि; (१५) अम्लकटुकषाय, जैसे—अमलवेत आदि; (१६) अम्लतिक्त-कषाय, जैसे-तोतेके मांससे युक्त सुरा आदि; (१७) लवणकटुतिक्त, जैसे-भेड़का मूत्र आदि; (१८) लवणकटुकषाय, जैसे-सांभरका नमकयुक्त भिलवाँ आदि; (१९) लवण-

तिक्तकषाय; जैसे-समुद्रमें रहा हुआ समुद्रफेन आदि; (२०) कटुतिक्तकषाय, जैसे-काला अगर और देवदारका तैल आदि। अब पन्द्रह चतुष्कसंयोग कहे जाते हैं।—(१) मधुराम्ललवणकटु, जैसे-गोमूत्रयुक्त शिलाजतु आदि; (२) मधुराम्ललवणतिक्त, जैसे-गोमूत्र और एक शफवाली घोड़ी आदि जानवरोंका दूध; (३) मधुराम्ललवणकषाय, जैसे—सैन्धवयुक्त छाछ आदि; (४) मधुराम्लकटुतिक्त, जैसे—लहसुनयुक्त सुरा आदि; (५) मधुराम्लकटुकषाय, जैसे— काञ्जीयुक्त एरण्डतैल आदि; (६) मधुराम्ल-तिक्तकषाय, जैसे—यासशर्करा (तुरंजबीन) मिला हुआ गूलरका फल आदि; (७) मधुरलवणतिक्तकटुक, जैसे—बैंगन आदि; (८) मधुरलवणकटुकषाय, जैसे—गोमूत्रयुक्त तिलतैल आदि; (९) मधुरकटुतिक्तकषाय, जैसे—तिल, गूगल आदि; (१०) मधुरलवणतिक्तकषाय, जैसे—समुद्रफेन, शक्कर और चित्रक मिला हुआ बेर आदि; (११) अम्ललवणकटुतिक्त, जैसे—सौंचर मिलाये हुए हथिनीके दहीसे बनाई हुई सुरा आदि; (१२) अम्ललवणकटुकषाय, जैसे—सौंचर मिलाया हुआ हथिनीका दही आदि; (१३) अम्ललवणतिक्तकषाय, जैसे—रेहका नमक मिलाया हुआ तोतेका मांस आदि; (१४) अम्लकटुतिक्तकषाय, जैसे—कोमल मूलीयुक्त हथिनीका दही आदि; (१५) लवणकटुतिक्तकषाय, जैसे— सांभरका नमक मिलाया हुआ कच्चा बेलफल आदि। अब पांच रसोंके छः संयोग कहे जाते हैं।—(१) मधुराम्ललवणतिक्तकटुक, जैसे—कच्चे करौंदेके फलके साथ मिलाया हुआ भुना हुआ बैंगन आदि; (२) मधुराम्ललवणकटुकषाय, जैसे—त्रिकटु और जौखार मिलाई हुई छाछ आदि; (३) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय, जैसे—औद्भिदलवण मिलाया हुआ तक्र आदि; (४) मधुराम्लकटुतिक्तकषाय, जैसे—हरड़, आंवला आदि; (५) मधुरलवणकटुतिक्तकषाय, जैसे— लहसुन आदि; (६) अम्ललवणकटुतिक्त-कषाय, जैसे—भिलावाँ और रौप्यशिलाजतु मिलाया हुआ नीम आदि। षड्रससंयोग, जैसे—काले हरिणका मांस आदि। अब असंयुक्त एक-एक रस कहा जाता है।—(१) मधुर, जैसे— गायका दूध, मलाई आदि; (२) अम्ल, जैसे—कच्चे करौंदे आदि; (३) लवण, जैसे—सांभर नमक आदि; (४) कटु, जैसे—चवक आदि; (५) तिक्त, जैसे—नीम, पित्तपापड़ा आदि; (६) कषाय, जैसे— कमल, बड़के अंकुर आदि।

इस प्रकार रसोंके ६३ भेद उनके उदाहरणोंके साथ लिखे गये हैं। इन ६३ भेदोंमें भी रस और अनुरसकी कल्पना करनेसे (जैसे—मधुराम्लसंयोगमें मधुर रस और अम्ल अनुरस अथवा अम्ल रस और मधुर अनुरस, ऐसी कल्पना करनेसे) तथा तर और तमभावकी कल्पना करनेसे (जैसे-मधुरतर, मधुरतम, अम्लतर, अम्लतम इत्यादि कल्पना करनेसे) ६३ से भी अधिक भेद हो सकते हैं। तथापि रसचिन्तकोंने (रसके विषयमें विचार करनेवाले तन्त्रकारोंने) स्वस्थ और आतुरकी

चिकित्सामें अनतिसंक्षेपविस्तरतया इन ६३ भेदोंको योग्य समझकर ५७ संयुक्त रस और ६ अलग-अलग इन ६३ भेदोंकी कल्पना की है। बुद्धिमान् वैद्य दोष, औषध, देश, काल, बल आदिको देखकर कहीं एक रसवाले एक द्रव्यकी, कहीं एक रसवाले अनेक द्रव्योंकी या कहीं संयुक्त रसवाले एक वा अनेक द्रव्योंकी कल्पना करते हैं।

कफजादिव्याधौ रसोपयोगक्रमः—

कटु-तिक्त-कषायांस्तु रसान् प्राज्ञो यथाक्रमम्।
योगतः कफजे व्याधौ भैषज्यमवचारयेत्॥
प्रयुक्तः कटुकः पूर्वं पैच्छिल्यं गौरवं च यत्।
श्लेष्मणस्तं निहन्त्याशु तिक्तस्तस्मादनन्तरम्॥
ह्रासयत्यास्यमाधुर्यं कफं संशोषयत्यपि।
संगृह्णाति कषायश्च स्नेहं चाप्यवकर्षति॥
तिक्त-स्वादु-कषायाः स्युः क्रमशः पैत्तिके हिताः।
आमान्वयत्वात् पित्तस्य पूर्वं तिक्तोऽवचारितः॥
पाचयत्याशु तं पक्वं ततस्तु मधुरो रसः।
शैत्याद् गुरुत्वात् स्नेहाच्च माधुर्याच्च नियच्छति॥
तद्द्रवत्वविघातार्थं कषायश्चावचारितः।
रौक्ष्याद्विशोषिभावाच्च विशोषयति तैजसम्॥
(वातिके क्रमशो योज्याः पट्वम्ललवणा रसाः)
वातिके लवणः पूर्वं संयोगादवचारितः।
प्रक्लेदिभावाज्जयति विबन्धं मातरिश्वनः॥
निहन्ति शैत्यमुष्णत्वाद् गुरुत्वाच्चापि लाघवम्।
तथैवाम्लो रसः पश्चात्तस्मिन्नेवावचारितः॥
जडीकृतानि स्रोतांसि तैक्ष्ण्यादुद्घाट्य मारुतम्।
अनुलोमयति क्षिप्रं स्निग्धोष्णत्वाद्विमार्गगम्॥
अम्लादनन्तरं पश्चात् प्रयुक्तो मधुरो रसः।
वायोर्लघुत्वं वैशद्यं रूक्षत्वं च व्यपोहति॥
गुरुत्वात् पिच्छिलत्वाच्च स्निग्धत्वाच्च यथाबलम्।
इत्युक्ताः सर्वदोषेषु रसानां प्रविचारणाः॥
(काश्यपसंहिता, खिलस्थान. अ. ६)।

बुद्धिमान् वैद्य कफज रोगमें कटु, तिक्त और कषाय रसों (रसवाले द्रव्यों) का क्रमसे उपयोग करे। प्रारम्भमें कटु रसका उपयोग करनेसे कफकी पिच्छिलता और गौरवका नाश होता है। उसके बाद तिक्त रसका प्रयोग करनेसे मुखकी मधुरता नष्ट होती है और कफ सूखता है। अन्तमें कषाय रसका प्रयोग करनेसे वह कफको गाढ़ा करता है और कफके स्नेहांशको दूर करता है। पैत्तिक रोगमें तिक्त, मधुर और कषाय रसका क्रमसे प्रयोग करना चाहिये। पैत्तिक रोगमें पहले तिक्त रसका प्रयोग करनेसे वह आम पित्तको पकाता है। पीछे मधुर रसका उपयोग करनेसे वह शीत, गुरु और स्निग्ध गुणोंसे पित्तके प्रकोपको शान्त करता है। शेषमें कषाय रसका प्रयोग करनेसे वह अपनी रूक्षता और शोषण करनेके गुणसे पित्तकी द्रवताका नाश करता है। वातिक रोगोंमें क्रमसे लवण, अम्ल और मधुर रसका उपयोग करना चाहिये। वातिक रोगोंके प्रारम्भमें लवण रसका उपयोग करनेसे वह अपने प्रक्लेदी गुणसे वायुके विबन्धको, उष्णतासे वायुके शैत्यको और गुरुतासे वायुके लाघवको दूर करता है। पीछे अम्ल रसका उपयोग करनेसे वह अपने तीक्ष्ण, स्निग्ध और उष्ण गुणसे वायुके अवरुद्ध स्रोतोंको खोल कर विमार्गगामी वायुको अनुलोम करता है। अम्ल रसके पीछे मधुर रसका उपयोग करनेसे वह अपने गुरु, पिच्छिल और स्निग्ध गुणसे वायुके लघुत्व, वैशद्य और रूक्षत्वका नाश करके वायुका शमन करता है।

रसभेदेन षड्वर्गाः—

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—काकोल्यादिः क्षीर-घृत-वसा-मज्ज-शालि-षष्टिक यव-गोधूम-माष-शृङ्गाटक-कसेरुक-त्रपुसैर्वारुक-कर्कारुकालाबू-कालिन्द-कतक-गिलोड्य-प्रियाल-पुष्करबीज-काश्मर्य-मधूक-द्राक्षा-खर्जूर-राजादन-ताल-नालिकेरेक्षुविकार-बलाति-बलात्मगुप्ता-विदारी पयस्या-गोक्षुरक-क्षीरमोरट-मधूलिका-कूष्माण्ड-प्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः; दाडिमामलक-मातुलुङ्गाम्रातक-कपित्थ-करमर्द-बदर-कोल-प्राचीनामलक-तिन्तिडीक-कोशाम्रक-भव्य-पारावत-वेत्रफल-लकुचाम्लवेतस-दन्तशठ-दधि-तक्र-सुरा-शुक्त-सौवीरक-तुषोदक-धान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः; सैन्धव-सौवर्चल-विड-पाक्य-रोमक-सामुद्र-पक्त्रिम-यवक्षारोषरप्रसूत-सुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः; पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रु-मधुशिग्रु-मूलक-लशुन-सुमुख-शीतशिव-कुष्ठ-देवदारु-हरेणुकावल्गुजफल-चण्डा-गुग्गुलु-मुस्त-लाङ्गलकी-शुकनासा-पीलुप्रभृतीनि

सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः ; आरग्वधादिर्गुडूच्यादिर्मण्डूकपर्णी-वेत्रकरीर-हरिद्राद्वयेन्द्रयव-वरुण - स्वादुकण्टक-सप्तपर्ण - बृहतीद्वय-शङ्खिनी-द्रवन्ती - त्रिवृत्कृतवेधन - कर्कोटक - कारवेल्ल-वार्ताक-करीर - करवीर- सुमनः शङ्खपुष्प्यपामार्ग-त्रायमाणाशोकरोहिणी - वैजयन्ती-सुवर्चला-पुनर्नवा-वृश्चिकाली-ज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः ; न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादी रोध्रादिस्त्रिफला-शल्लकी-जम्ब्वाम्र-बकुल-तिन्दुकफलानि कतक-शाक-फल-पाषाणभेदक-वनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुवक-कोविदारक-जीवन्ती - चिल्ली-पालङ्क्या - सुनिषण्णकप्रभृतीनि वरकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः (सु. सू. अ. ४२) ॥

वक्तव्य—हमने विस्तारभयसे यहां केवल सुश्रुतोक्त छः वर्ग दिये हैं। चरक वि. अ. ८ में, अ. सं. सू. अ. १८ में, तथा अ. हृ. सू. अ. १० में भी इस प्रकार रसभेदसे ६ वर्ग-गण-स्कन्ध लिखे हैं।

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वशतां रसाः ।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः ॥ (सु. सू. अ. ४२) ।

इदानीं रसानामुपयोगे बलवानेव रसः स्वकार्यं करोतीति सदृष्टान्तमाह— जग्धा इत्यादि। जग्धा इत्युपयोगोपलक्षणं, तेन नस्याभ्यञ्जनादिप्रयोगोऽपि विज्ञेयः। यो रसो वीर्येणोपचयेन वा बलवान्, तस्येतरे निर्वीर्या हीना वा रसा वशतां यान्ति, तानभिभूय बलवानेव रसः कार्यं करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तेऽपि बलवाननुबन्ध्यरूपप्राप्तो दोषोऽनुबन्धरूपमप्रधानं तिरस्कृत्य कार्यं करोति। अत एवोक्तं—"सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः।" (च. चि. अ. ३) इति। अन्ये तु बलिनः पुरुषस्य रसा अत्यन्ताभ्यासेऽपि बलवदग्नितया वशतां यान्ति न दोषं कुर्वन्ति, यथा दोषाश्च बलवतः पुरुषस्य अग्निबल-देहबलाभिभूतत्वान्न विकारं कुर्वन्तीति श्लोकार्थं वर्णयन्ति (च. द.)। ननु कथं खल्वत ऊर्ध्वं "यत्रः कषायो मधुरो हिमश्च" (सु. सू. अ. ४६) इत्येवमनेकरसत्वेन व्याचिख्यासितानि द्रव्याणीह मधुरादिवर्गसंग्रहेणोपदिश्यन्त इत्येवं ये प्रत्यवतिष्ठन्ते तान् प्रत्याह—जग्धा इत्यादि। जग्धा भक्षिता उपयुक्ता इति यावत्। रसाः षडेव बलिनो व्यक्तस्य रसस्य वशतामधिगच्छन्ति। अत्र दृष्टान्तो—यथेति। तस्माद्बलिनो रसानधिकृत्य तेन तेन वर्गसंग्रहेण द्रव्याण्युपदिश्यन्त इति नानुपपत्तिः (हा.) ॥

जिनका अग्नि और देह उत्तम-बलवाला है ऐसे मनुष्यके शरीरमें जैसे बढ़े हुए

वातादि दोष अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते अथवा संसर्ग या सन्निपातमें जैसे दुर्बल (अनुबन्धरूप) दोष बलवान् (अनुबन्ध्यरूप) दोषके वशमें हो जाते हैं— अपना प्रभाव नहीं दिखलाते, वैसे ही भोजनादिके रूपमें उपयुक्त छहों रसोंमें जो रस दुर्बल (अव्यक्त या हीनवीर्य) होते हैं वे बलवान् (व्यक्त) रसके वशमें आ जाते हैं। अतः ऊपर लिखे मधुरादि वर्गोंमें उनके व्यक्त रसके अनुसार ही द्रव्योंका निर्देश किया गया[1] है।

एकीयमतेन रसप्राधान्यनिरूपणम्—

नेत्याहुरन्ये[2] रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्; आगमो हि शास्त्र-

---

१—इस श्लोकके वक्तव्यमें डॉ. भा. गो. घाणेकरजी लिखते हैं कि—सर्व कार्यद्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक होनेके कारण एकरसयुक्त नहीं हो सकते—"तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात्"(वाग्भट)। प्रत्येक द्रव्यमें एक या दो बलवान याने व्यक्त रस होते हैं और कई अल्पबल याने अव्यक्त रस होते हैं। ये अव्यक्त रस अपना अस्तित्व व्यक्त रसके सामने प्रकट नहीं कर सकते—"तत्र व्यक्तो रसः। अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः" (अष्टाङ्गसंग्रह)। इसलिये प्रत्येक द्रव्यका निर्देश उसके बलवान् रसके अनुसार ही किया जाता है। ऊपर मधुरादि वर्गोंमें द्रव्योंका जो निर्देश किया गया है वह "भूयसाऽल्पं हि जीयते" के तत्त्वानुसार ही किया गया है, यह इस श्लोकका तात्पर्य है" (सू. स्था. पृ. २३३)। चरकमें मधुरादिवर्गसंग्रहके प्रारम्भमें कहा गया है कि—"यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्याचक्षते भिषजस्तद्दुर्लभतमं, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि, मधुरप्रायाणि, मधुरविपाकानि, मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदिश्यन्ते; तथेतराणि द्रव्याणि" (च. वि. अ. ८)। अर्थात् एक-एक रसवाला छः प्रकारका आस्थापन दुर्लभ है, क्योंकि द्रव्य प्रायः संसृष्ट रसवाले होते हैं। इसलिये मधुरस्कन्धमें मधुर, मधुरप्राय, मधुरविपाक और मधुरप्रभाववाले द्रव्योंको मधुर मानकर उनका उपदेश किया गया है, इसी प्रकार अम्लादि वर्गोंके लिये भी जानना चाहिये।

२—रसाः प्रधाना इति केचित् (र. वै. अ. १, सू. ११०)—यथा (भा.)। रसानधिकारात् (सू. १११)। केचिद् रसान् प्रधानान् ब्रुवतेऽधिकारात्। ते ह्यधिकृताश्चिकित्सायामिति। कथं—"षट्स्वेव युक्तं वमनं, षट्सु युक्तं विरेचनम्। षट्सु चास्थापनं युक्तं, षट्सु संशमनं हितम्॥" इत्यादि। यो यस्मिन्नधिकृतः स तस्मिन्नन्येभ्यः प्रधानो दृष्टः। यथा—सेनायां सेनापतिः (भा.)। तेनोपसंहारात् (सू. ११२)। तेन रसेन उपसंहृत्य तन्मुखेन शेषस्य वचनम्। यथा—विदारिगन्धादीन् द्रव्यगणानुक्त्वा "यानि यान्येवंप्रकाराणि मधुरस्कन्धपरिसंख्येयानि भवन्ति ; एवमम्लस्कन्धादयः" इति। अस्यार्थमन्यथा वर्णयन्ति केचित्—

मुच्यते, शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा—"रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः" (सु. सू. अ. १) इति ; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि

तेन रसेन रसधातोरुपसंहारादाहरणादादानात् ; संपन्नरसं द्रव्यमाहरन्ति. अन्यद् वर्जयन्तीति (भा.)। तद्व्यापत्तौ शेषव्यापत्तेः (सू. ११३)। ×× अनेनास्यैकार्थतेति न युक्तं ; तद्व्यापत्तौ रसव्यापत्तौ, रसव्यापत्तिनिमित्तं शेषाणां द्रव्यादीनां व्यापत्तेः ; यथा—क्षीरस्य रसे दुष्टे क्षीरं न गृह्यते, तद्विपाकादयश्च विपन्ना इति (भा.)। उपदेशात् (सू. ११४)। ×× उपदेशः शास्त्रम्। सामान्येनोपदिशति—"मधुराम्ललवणा वातं जयन्ति, श्लेष्माणं जनयन्ति" इति शास्त्रोपदेशः। तत्तु द्रव्यस्य रसस्य तुल्यं, कथं रसानां प्राधान्यं साधयतीति ; नात्र साधकत्वमेवाभिप्रेतम्। किं तर्हि स्वपक्षसाधकस्य व्यपदेशः, नोभयत्र सिद्धिरसिद्धिर्वेति प्रसञ्जनार्थम्। कथमिति ? यदि शास्त्रसामर्थ्याद् द्रव्यं प्रधानं, रसाश्च प्रधानाः शास्त्रसामर्थ्यादेव ; यदि रसाः शास्त्रोपदिष्टा अपि न प्रधानाः, द्रव्यमपि न प्रधानं शास्त्रोपदिष्टत्वादिति (भा.)। अपदेशात् (सू. ११५)। ×× अपदेशादिति अपदेशो नाम अन्येनान्योऽपदिश्यत उपमारूपेण। पुरुषसिंहः, पुरुषव्याघ्रः, इति प्रधानेन ; एवमिहापि अपदेशो दृष्टः—मधुरं गान्धर्वं, मधुरा वाणी, कटुकः फणीति। केचिदन्यथा वर्णयन्ति—अपदिश्यन्ते रसाः पश्चादिति। कथं ? कस्यचिच्छ्लेष्मप्रकोपं दृष्ट्वा 'भवता मधुराम्ललवणा रसा उपयुक्ता' इति (भा.)। अनुमानात् (सू. ११६)। ×× अस्यायमर्थः—अनुमानादिति चेदं वाक्यमन्यथा वर्णयन्ति—ते रसाः असौम्यदोषवर्धनं दृष्ट्वाऽसौम्यभूतजनिता इत्यनुमीयन्ते, आग्नेयस्य वर्धनं दृष्ट्वा आग्नेयभूतजनिता इति। अयमपि न घटते, प्रकृतप्राधान्यासाधनात्। तस्मादनुमानादित्येवं स्यात्—रसमुखेन द्रव्याण्यपरिच्छिन्नस्वभावान्यपि आस्वाद्य रसतः परिच्छेद्यानि भवन्ति, तस्माद् द्रव्याद् रसाः प्रधानाः, आस्वाद्यभूतगुणैरित्युक्तत्वात् (?) (भा.)। नानाविषयत्वात् (सू. ११७)। ×× अनेकाधारत्वादिति मधुरस्य तावदिक्षु-क्षीर-शर्करा-खण्डादयः, एवमन्येषां च। यद् बहुविषयं तत् प्रधानं दृष्टं, यथा - मनः, अथवा चक्रवर्ती (भा.)। तस्मिन् प्रदुष्टे सर्वधातुप्रदोषात् (सू. ११८)। ×× तस्मिन् रसे दुष्टे रक्तादयो धातवश्च दुष्टा भवन्ति। अत्र कथं जिह्वेन्द्रियग्राह्ये रसेऽधिकृतेऽभ्यन्तरो रसः प्रसाध्यत इति। रससामान्यं गृहीत्वोक्तमिति चेद्, नहि प्रसरणसामान्याद् गोधा सर्पो भवतीति। तस्मादयमन्यथाऽस्य विन्यासः—तस्मिन् प्रदुष्टे इति, रसस्य प्रदुष्टिनिमित्तं जनपदव्याधिरिति। उक्तं च तदानीं—"स्थावरजङ्गमानामुद्ध्वंसते रसः" इति, रसस्य व्यापत्तिनिमित्ता व्याधय इति। सर्वधातुदोषादिति सर्वेषां दोषाणां प्रदोषादित्यर्थः ; अथवा दुष्टे रसे द्रव्ये उपयुक्ते सर्वदोषप्रकोपादिति (भा.)। तस्मिन् विशुद्धे सर्वधातुविशुद्धेः (सू. ११९)। ×× पूर्ववाक्येनैव गतार्थमेतद्

रसाः, यथा—"मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति" (सु. सू. अ. ४२); अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति ; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदः, यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति ; तस्माद्रसाः प्रधानं ; रसेषु तु गुणसंज्ञा। रसलक्षणमन्यत्रोपदेक्ष्यामः (सु. सू. अ. ४०)॥

रसप्राधान्ये एकीयं दर्शनं निर्दिशन्नाह—नेत्यादि। नेत्याहुरन्ये द्रव्यप्राधान्यमन्ये न ब्रुवत इत्यर्थः। तस्मिंस्तु प्राणा इति आहारे सति प्राणा इत्यर्थः। × × ×। इज्यार्थं यागार्थं, मधुरमाहरेदिति मधुररसमाहरेत् आनयेत् न तु द्रव्यमानयेदिति। गुणस्यापि किमिति न प्राधान्यं साधितमित्याशंक्याह—रसेष्वित्यादि। अत्रादिशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः; एतेनैतदुक्तं भवति—रसादिप्राधान्येनैव साधितेन गुणप्राधान्यं साधितं भवति। यथा द्रव्यलक्षणमुक्तं तथा रसस्यापि किमिति नोक्तमित्याह—रसलक्षणमित्यादि। अन्यत्र रसविज्ञानीये (ड.)। द्रव्यादपि रसप्राधान्यं दर्शयितुं द्रव्यप्राधान्यं निषेधयति--नेत्याहुरन्ये इत्यादि। एते द्रव्यप्राधान्यख्यापका हेतवो वक्तव्यरसप्राधान्यख्यापकहेत्वपेक्षया अप्रयोजका इत्यभिमानो रसवादिनो ज्ञेयः; एवं वीर्यवादिनः, तथा विपाकवादिनश्च ; 'नेत्याहुरन्ये' इति वचनमनया दिशा व्याख्येयम्। रसप्राधान्ये आगमादिति हेतुः, आगम एव कण्ठरवेण रसस्य प्राधान्यं कथयतीत्याहुः। उपदेशादिति तु रसेन द्रव्यादिसमुदायकार्योपदेशादित्यर्थभेदो नेयः। ऋषिवचनमिह वेदः, ऋषय आप्ताः, तद्वचनता च वेदस्य ऋषिभिः प्रथमसमुदाहरणान्न तु ऋषिकार्यतया ; किंवा न्यायमतेन महेश्वररूपर्षिवचनता वेदस्य ज्ञेया। अथ द्रव्यादिप्राधान्यविचारे कस्माद् गुणा नोद्भाविता इत्याह—रसेषु तु गुणसंज्ञेति। रसेष्वित्युपलक्षणं, तेन वीर्य-विपाकयोरपि गुणसंज्ञेति बोद्धव्यं ; तेन रसादिप्राधान्यव्युत्पादनेनैव गुणविशेषप्राधान्यं लभ्यत इत्यर्थः। अन्यत्रोपदेक्ष्याम इति रसविशेषविज्ञानीये (च. द.)। मतान्तरमवतारयति—नेत्यादिना। नेति द्रव्यप्राधान्यप्रतिषेधार्थम्। न खलु द्रव्यं प्रधानमित्यर्थः। किं तर्हि ? इत्याह—रसा इति। नकारेण रसेतरेषां प्राधान्यं निरुणद्धि, रसा एव प्रधानमित्यर्थः। अधिकृताः प्राधान्येनोपदिष्टा इत्यर्थः। उक्तमर्थमुदाहरणेनावगमयति—यथेत्यादिना। रसायत्त आहार इत्युक्तानुवादः, 'इति' शब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः। व्याजेन रसानामेकान्ततः प्राधान्यं प्रदर्शयन्नाहारं स्तौति—तस्मिंश्चेति। यस्तु खल्वाहारः प्राणाधिष्ठानमुच्यते सोऽपि यस्माद्रसा-

---

वाक्यम् (भा.)। आगमाच्च (सू. १२०)।—आगमाच्चेति आगमः श्रुतिः। तत्र प्राज्यद्रव्यप्रतिनिधिवचने रसेनैव निर्देशः कृत इति। यथा—आज्यार्थं यत्किंचिन्मधुरमाहरेदिति। चेति 'च' शब्दः सर्वसमुच्चयार्थः (भा.)॥

यत्तत्तस्माद्रसानां प्राधान्यं प्रति मनागपि नाशङ्कितव्यमित्याशयः। नन्विदमयुक्तं, 'रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः" (सु. सू. अ. १) इति द्रव्याणामप्यधिकृतत्वात्तेषामपि प्राधान्यप्रशक्तेरिति चेन्नेत्याह—उपदेशाच्चेति। किन्तु खल्वेवमुच्यते—"ऊषकादिः कफं हन्ति" (सु. सू. अ. ३७) इत्यादिना रसादिवद् द्रव्याणामप्यनेकश उपदेशात्, ये त्वेवं विप्रतिपद्यन्ते तानपाल्यन्नाह—अनुमानाच्चेति। अनुमानात् अनुमिति-साधनत्वाच्चेत्यर्थः। ननु किमेतदुच्यते रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यमिति, न हि द्रव्य-मनासाद्य निपुणैरपि कैश्चित् केनचिदप्यंशेन रसः परिगृह्यते तदधीनत्वात्, येनानु-मित्सते द्रव्यम्; अथ चेत् प्रागेवासाद्यते द्रव्यं तर्हि ज्ञातमेव तदित्यनुमानमप्रयोजकं स्यादिति चेन्न, प्रमाणकूटानां निःसंशयकरत्वेनाभ्युपगमात्; क्वचित् प्रत्यक्षपरि-गृहीतेऽप्यर्थे उत्पन्नाया अनुमित्सायाः प्रयोजकत्वेनोपलब्धेः। नन्विदमनुपपन्नं द्रव्येणापि रसस्यानुमानात्, तथाहि उपलब्धाम्लफलरसास्वादस्य पुरुषस्य कालान्तरे तज्जातीयं फलं दृष्ट्वा तत्राप्यम्लरसमनुमिमानस्य तद्रधिप्रवर्तितो दन्तोदकप्लवो दृश्यते। अपि चानुमितिसाधनत्वादेव चेद्रसः प्रधानं स्यात्तर्हि इच्छादिभिरात्मनोऽनु-मानात् गुणभूतानामिच्छादीनामप्यात्मतः प्राधान्यं प्रसज्येतेति वचनावसरं सुदूरं परिक्षिपति—ऋषिवचनाच्चेति। ऋषिवचनं वेद इति ऋषीणां वेदार्थोपनिबन्धृत्वा-द्वेदवत् प्रमितिसाधनं स्मृतिरिति यावत्। अथवा अतीन्द्रियार्थदर्शिन एव ऋषि-पदार्थत्वात् परमेश्वरोऽपि ऋषिः, तद्वचनं वेद इति यथाश्रुत एवार्थः। येषामपि वेदराशयो नित्या इति दर्शनं, तेषामपि मन्त्रद्रष्टृभिरेव वेदाः प्रकाशिता इति वेदस्य ऋषिवचनत्वं नानुपपन्नम्। तद्दर्शयति—यथेति। मधुररसस्यामूर्तत्वेनाहरणा-संभवाद् द्रव्यमाक्षिप्य तेनाहरणसंबन्धो वाच्यः। तेन मधुरं मधुररसप्रधानं द्रव्य-मित्यर्थः। अत्र रसप्राधान्येन द्रव्यव्यपदेशाद्रसाः प्रधानमित्ययमभिसंधिः। उक्तमर्थं निगमयति—तस्मादिति। रसप्राधान्यप्रत्ययकरो हेतुर्गुणप्राधान्येऽपि बुभुत्सितव्यो गुणत्वसाम्यादित्येवोपदिदिक्षू रसस्य गुणसंज्ञां स्मारयति—रसेषु गुणसंज्ञा इति। यस्माद्रसानां गुणसंज्ञा, तस्माद्रसप्राधान्यनिरूपणादेव तदितरेषां गुणानामपि प्राधान्यं निरूपितमित्ययमाशयः। न चैतदश्रद्धेयम्, "अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम्।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना शीतादीना-मधिकरिष्यमाणत्वात्, "द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यादिना द्रवादिनामुपदेशात्, "गन्धलक्षणा क्षितिः" इत्यादौ गन्धादिना क्षित्यादेरनुमानात्, "वायव्यं श्वेतमालभेत" इत्यादिवेदप्रामाण्याच्च रसप्राधान्यवदिहापि हेतूपपत्तेः। गुणप्राधान्यहेतवस्त्वेते रसप्राधान्यहेतव इव व्याख्येयाः (हा.)॥

कई आचार्य कहते हैं कि—द्रव्यको प्रधान मानना ठीक नहीं है। (वे कहते हैं कि—) रस ही प्रधान हैं। आप पूछेंगे कि किस हेतुसे? तो उसका उत्तर यह

है—(१) आगमके आधारसे रस ही प्रधान होते हैं। आगम शास्त्रको कहते हैं। आयुर्वेदशास्त्रमें रस ही अधिकृत किये हैं (रसोंका ही प्राधान्यसे उपदेश किया है)। जैसे सूत्रस्थानके प्रथम अध्यायमें कहा गया है—आहार रसोंके अधीन है और आहारमें प्राण रहते हैं (प्राणोंका पोषण आहारसे होता है)। (२) आयुर्वेदमें रसोंका प्रधानतया उपदेश किया है ; इससे भी रस प्रधान हैं। रसोंका ही उपदेश किया जाता है। जैसे—'मधुर, अम्ल और लवण रस वातका शमन कहते हैं।' (३) अनुमानसे भी रस ही प्रधान हैं। रसके द्वारा द्रव्यका अनुमान किया जाता है, जैसे—यह द्रव्य मधुर है। (४) ऋषियोंके वचनोंसे भी रस ही प्रधान है। वेद ऋषियोंका वचन है। वेदमें कहा गया है कि—'यज्ञके लिये कुछ मधुर (मधुर रसवाला द्रव्य) लाओ' इत्यादि। इन हेतुओंसे सिद्ध होता है कि—रस ही प्रधान है। रस गुणोंका ही एक भेद है। इसलिये रस प्राधान्य हेतुओंसे गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है। रसका लक्षण अन्यत्र (इसी ग्रन्थमें पृ० १३०, १३१ पर) कहा गया है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे रसविज्ञानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

विपाकविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः

चरकमते विपाकस्य रसविशेषरूपत्वाद् रसैस्तुल्यफलत्वाच्च रसविज्ञानीयानन्तरं विपाकविज्ञानीयाध्याय आरभ्यते—

अथातो विपाकविज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

चरकके मतमें विपाक भी रसविशेषरूप होनेसे और विपाकका फल (कार्य) रसोंके तुल्य होनेसे रसविज्ञानीय अध्यायके अनन्तर विपाकविज्ञानीयाध्यायका प्रारम्भ किया जाता है।

विपाकके विषयमें आयुर्वेदके जो तन्त्र इस समय उपलब्ध हैं, उनमें दो मत पाये जाते हैं। एकको आत्रेयसंप्रदायका मत या चरकमत और दूसरेको धन्वन्तरि-संप्रदायका मत या सुश्रुतमत कह सकते हैं। वृद्ध वाग्भट और वाग्भट आत्रेय संप्रदायके तथा भदन्त नागार्जुन धन्वन्तरि-संप्रदायके मतके अनुयायी हैं, विपाकके विषयमें प्रथम आत्रेय संप्रदायका और पीछे धन्वन्तरि संप्रदायका मत लिखा जायगा।

विपाकलक्षणम्—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम् ।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥
(अ. हृ. सू. अ. ९)

विपाकं लक्षयति । जाठरेण औदर्येण अग्निना, योगात् संश्लेषात्, रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले, यद् रसान्तरं रसविशेषः, उदेति उत्पद्यते, स 'विपाक' इति स्मृतः मुनिभिः कथितः (अ. द.)। रसानां रसवतां द्रव्याणां जाठराग्निना संयोगाद् यद्रसान्तरमुत्पद्यते स विपाकः । "आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत् ।" (अ. हृ. शा. अ. ३) इत्याद्युक्तानां मधुराम्ल-कटुपाकानां व्यावृत्त्यर्थमाह—परिणामान्ते इति ; आहारपरिणामान्ते । ते तु परिणामात् प्रागेव उत्पद्यन्ते, इति तेषां रसत्वमेव (हे.) ॥

खाये हुए मधुरादि छहों रसोंका (रसोंके आधारभूत द्रव्योंका) महास्रोतमें (मुखसे लेकर गुद तकके अन्नवह स्रोतस्–अन्नमार्गमें) जठराग्निद्वारा परिपाक होकर अन्तमें जो रसविशेषकी उत्पत्ति होती है, उसको विपाक कहते हैं ।

वक्तव्य—विपाकका यह लक्षण आत्रेयसंप्रदायके मतानुसार वाग्भटने लिखा है । आयुर्वेदमें भुक्त द्रव्योंके दो प्रकारके पाक माने गये हैं – (१) अवस्थापाक और (२) निष्ठापाक या विपाक । पाकका अर्थ है पकना – पककर द्रव्योंका स्वरूपान्तरमें और रसान्तरमें या उसी रसमें परिवर्तन होना । खाये हुए आहारका महास्रोतसके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें जो आवस्थिक पाक होता है उसको अवस्थापाक कहते हैं । अवस्थापाकमें अन्नमार्गके विभिन्न स्थानोंमें आहारमें भिन्न-भिन्न परिवर्तन होते हैं । इन भिन्न-भिन्न आवस्थिक परिवर्तनोंमें आहारसे किट्ट-(मल) के रूपमें कफ, पित्त, वात, मूत्र और विष्ठाका पृथक्करण होता है । इन परिवर्तनोंके अन्तमें सार-प्रसाद-रूप रसधातुकी उत्पत्ति होती है । इस रसधातुसे शरीरके सब अवयवोंका (वात-पित्त-कफ-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदिका) पोषण होता है । आहारपाकके अन्तिम परिणाम रूप रसधातुमें खाये हुए आहारके छहों रसोंका मधुर, अम्ल और कटुरूपमें जो अन्तिम परिवर्तन होता है उसको आयुर्वेदकी परिभाषामें निष्ठापाक या विपाक कहते हैं । निष्ठापाक याने आहारका (आहारगत रसोंका) अन्तिम परिवर्तन । अवस्थापाकका विस्तृत वर्णन चरक चिकित्सास्थानके पन्द्रहवें अध्यायमें तथा अष्टाङ्गहृदय शारीरस्थानके तीसरे अध्यायमें किया गया है । विपाक और अवस्थापाकका भेद जाननेके लिये प्रथम अवस्थापाकका निरूपण किया जाता है ।—

अवस्थापाकनिरूपणम्—

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु ।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः ।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बु-तण्डुलम् ॥
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुराद्यात्[1] कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः[2] ॥

(च चि. अ. १५) ।

संप्रति संप्राप्तस्यान्नस्याग्निना यथा पाको भवति, यथा च पच्यमानमन्नं देह-धात्वादिरूपतामापद्यते, तदाह — अन्नमित्यादि । मुखप्रवेशादारभ्यान्नस्य व्यापार इहोच्यते । आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति । द्रवैरिति पानीयादिभिः । भिन्नसंघातमिति अवयवशैथिल्यमापन्नम् । काले इति बुभुक्षाकाले। भुक्तं सममिति मात्रा-प्रकृत्यादिसमम् । समानेनावधूत इति अग्निपार्श्वस्थितेन समा-नेन संधुक्षितः; अयं च समानः प्राकृतत्वाद् बाह्यो वायुरिव अग्नेः संधुक्षणो भवति न वैषम्यकरः; विकृतस्तु वैषम्यं करोति, तेन वातेन विषमोऽग्निर्भवतीति चोपपन्नं भवति । एते च द्रवादयः पाचकस्याग्नेः सहाया भवन्तीत्यनेन ग्रन्थेनोच्यते । "आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः

१—'मधुराख्यात्' इति, 'मधुरात् प्राक्' इति च पा० ।

२—"अन्नं कालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलेरितम् । द्रवैर्विभिन्नसङ्घातं नीतं स्नेहेन मार्दवम् ॥ संधुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम् । औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यः स्थालीस्थं तोय-तण्डुलम् ॥ आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत् । फेनीभूतं कफं, यातं विदाहादम्लतां ततः ॥ पित्तमामाशयात् कुर्याच्च्यवमानं, च्युतं पुनः । अग्निना शोषितं पक्वं पिण्डितं कटु मारुतम् ॥" (अ. हृ. शा. अ. ३) ।

कालः, समयोगश्च ।" (च. शा. अ. ६) इति । उदर्यः पाचक इत्यर्थः । 'पवनोद्वहः' इत्यग्निविशेषणं केचित् पठन्ति । 'समम्' इति भुक्तविशेषणं केचित् पठन्ति । तदा सममित्यनेन मात्रासाम्यमुच्यते; सम्यग्ग्रहणेन तु प्र कृत्यादिसंपदुच्यते । आयुर्विवृद्धये इति शरीरेन्द्रिय-सत्त्वात्मसंयोगानुवर्तनाय तद्विवृद्धये च । रस-मलाय इति तादर्थ्ये चतुर्थी । आशयस्थमिति आमाशयस्थम् । अधःस्थित इत्यनेन अग्नेरूर्ध्वज्वलनस्वभावतया ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति । अत्रार्थे यथेत्यादिना दृष्टान्तमाह । एवं स्थूलपाकक्रममभिधाय, अवान्तरमणुपाकक्रममाह—अन्नस्येत्यादि । भुक्तमात्रस्येति भुक्तानन्तरमेव । षड्रसस्येति प्राशस्त्येनाभिधानं; किंवा षड्रसस्यापि प्रथमं मधुरता निरुक्ता भवतीति दर्शयति । प्रपाकत इति प्रथमपाकतः; प्रशब्द आदिकर्मणि । मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः; किंवा 'मधुरात् प्राक् कफो भावात्' इति पाठः । फेनभूत इति फेनसदृशोऽघन इत्यर्थः । परमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम् । विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य । अम्लभावत इति जाताम्लस्वरूपतः । आशयात् आमाशयात् । च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य, अनेन च पित्तस्थानसंबन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति । अच्छमिति अघनम् । उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते; अम्लं च पित्तमम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव । पक्वाशयं तु प्राप्तस्येति मलरूपतया पक्वाशयं गतस्य । शोष्यमाणस्य वह्निनेति यद्यप्यूर्ध्वदाहक्षमो वह्निः, तथाऽप्यस्याधोगतस्य वह्निना शोष्यमाणत्वं पक्वाशयगतस्याप्युपपन्नम् । यतश्चाधोगमने सम्यग्वह्निव्यापारो नास्ति, अतः पच्यमानस्येति पदं परित्यज्य शोष्यमाणस्येति कृतम् । परिपिण्डितपक्वस्येति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्वस्य । वायुः स्यात् कटुभावत इति परिपिण्डितावस्थोद्भूतकटुता वायोरुत्पद्यते । एवमीदृशः षड्रसाहारस्यावस्थापाको भवति । ननु यद्यत्रावस्थापाकवशात् षण्णामेव रसानां[1] कफादिकर्तृत्वमुच्यते, तदा[2] "कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।" (सू. अ. २६) इत्यादिना यो विपाक उच्यते[3] स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव बाधितत्वात्; नैवं, नह्यवस्थापाकोऽयं रसस्वभावं निष्ठापाकं बाधते, किंत्ववस्थायां स्वकार्यं करोति; तेन रसादयोऽपि[4] स्वकार्यं कुर्वन्ति, अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्यं करोति; यथा—मधुर-तिक्तादिषड्रसेऽन्ने[5] उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयश्च स्वकार्यं कुर्वन्ति; अयं तु विशेषः—यदि मधुराख्यस्यावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति, यदा त्ववस्थापाको विपरीतकटुका-

---

१—'रसानामविशेषेण' इति शिवदाससेनः ।

२—"ततश्चात्र रसविशेषाणामेव दोषविशेषजनकत्वमुक्तं तथा" इति शि० ।

३—'उक्तस्तत् सर्वं' इति शि० । ४–रसादय इति आदिशब्देन विपाकस्य ग्रहणम् ।

५—'मधुर-तिक्ताद्यनेकरसे' इति शि० ।

दिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति; एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्। "कटु-तिक्त-कषायाणां" (च. सू. अ. २६) इत्यादिनोक्तस्त्रिधा[1] विपाकस्तु रसमलविवेकसमकालो भिन्नकाल एवावस्थापाकैः सममिति न विरोधः। स च भिन्नकालोऽप्यवस्थापाककार्यदोषानुगुणतयाऽननुगुणतया[2] वा अवस्थापाकाहित-दोषाणां वर्धनं क्षपणं वा करोतीति तस्याभिधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव। यद्यपि सर्वमन्नमवस्थायां विदह्यते, तथाऽपि येऽत्यर्थं विदहिनस्त एव 'विदाहिन' इत्युच्यन्ते, विशेषविदाहकर्तृत्वात्। अन्ये त्वाहुः—न तावत् षड्रसादप्यन्नात् सामान्येनावस्था-पाके कफाद्युत्पत्तिः, किंतु षड्रसादन्नात् प्रथमे पाके मधुरोऽयमुद्भूतो रसः स कफं जनयति, तथा पित्तं विदाहावस्थायामुद्भूतादम्लरसादुत्पद्यते, एवं वायुरपि आहार-कटुतावस्थायां भवतीति। अन्ये त्वाहुः—यत्—नान्नस्याग्निसंयोगान्मधुराद्या-वस्थिकं[3] भवति, किंतु कफादिस्थानेषु मनुष्याणां स्वभावादेव मधुरादयो रसा-स्तिष्ठन्ति, ते चान्नं स्वस्वभावं नीत्वा कफादीञ्जनयन्ति। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः। ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः॥ नाभी-हृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः। स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते॥ अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः। प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः॥ तस्माद्विपाकस्त्रिविधो[4] रसानां नात्र संशयः॥" इति। इह[5] तु तत्रेत्यादिग्रन्थार्था-लोचनया यथोक्त एव ग्रन्थार्थो न्याय्यः। तन्त्रान्तरे तु श्लेष्म-पित्तगतमधुराम्लरसौ वर्ण-यन्ति, ते कफाद्यधिगता रसा अस्माकमपि पाकसहकारितया अनुमता एव। यत्तु श्लेष्म-जनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं, तदनुमतमेव; एवं यः श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण जनयतीति ब्रूमः। यत्तु, अनेनावस्थापाकेन कफ-पित्तयोरीरणमात्रं क्रियते नतु वृद्धिः, वृद्धिः निष्ठापाके एव भवतीति वदन्ति, तदुपपत्तिशून्यं भाति; किंच, अवस्थापाकात् कफ-पित्तयोर्वृद्धिः, तथा निष्ठापाकाच्च मलरूपतया उत्पाद इति युक्तं पश्यामः। (च. द.)। कथमभ्यवहृतमग्निना पच्यत इत्यत आह—अन्नमित्यादि। प्राणो नाम हृदयस्थः शारीरो वायुरादानकर्मा पानाहारादिकमादत्ते। स तु अभ्यवह्रिय-माणमन्नं कोष्ठमुदरं प्रकर्षति। × × ×। तत् काले भुक्तं कोष्ठगतमन्नं, द्रवैः क्लेदकश्लेष्मद्रवैः, भिन्नसंघातं द्रवीभूतं, स्नेहेन क्लेदकश्लेष्मस्नेहांशेन मृदुतां गतं,

---

१—'इत्यादिनोक्तश्च निष्ठापाको' इति शि०। २—'जन्य०' ? इति शि०।

३—'मधुराद्यवस्थितं' इति शि०। ४–अत्र विपाकशब्देनावस्थापाकोऽभिप्रेतः।

५—'एतत्त्च तन्त्रान्तरं पित्तश्लेष्मगतमधुराम्लरस-वायुप्राभाविककटुरसाभिप्रायेण वर्णनीयम्। ते च कफादिगता रसा अस्माकमप्यग्न्याशयगतपाकसहकारितयाऽनुमता एवेति। तस्माद्यथोक्त एवार्थो न्याय्य इति" शिवदाससेनः।

समानेन पवनेन नाभेर्वामपार्श्वस्थो जाठरोऽग्निः समीपस्थेनावधृतोऽवकम्पितः समुदीर्णो भूत्वा, समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये, न तु विषमं पचति। पाकप्रकारमाह—एवमित्यादि। एवमनेन प्रकारेणानाशयस्थमन्नं तदधःस्थितो जाठरोऽग्निर्यथा स्थाल्यामम्बुतण्डुलमधःस्थितोऽग्निरोदनाय पचति तथा रसमलाय पचति। कथं रसाय मलाय वा पचतीत्याह—अन्नस्येत्यादि। षड्रसस्यान्नस्य भुक्तमात्रस्य प्रपाकतः पाकारम्भात् मधुराख्यात् भावात् यः फेनभाव उदीर्यते स कफो नाम मलः। परं तदुत्तरकालं पच्यमानस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य विदग्धस्यार्धपरिपक्वस्याम्लभावो भवति। आशयात् आमाशयाच्च्यवमानस्य तस्याम्लीभूतस्याहारस्य यत् स्वच्छं निर्मलरूप मुदीर्यते तत् पित्तं नाम मलम्। पक्वाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य परिपिण्डितपक्वस्य तस्य षड्रसस्यान्नस्य कटुभावो भवति। तस्मात् कटुभावाद् वायुर्नाम मलः स्यात् (ग.)॥

खाए हुए अन्नको आदान (ग्रहण-आकर्षण करना) जिसका कार्य है ऐसा प्राण वायु कोष्ठमें ले जाता है। वहाँ कोष्ठमें क्लेदक कफके द्रवसे उसका संघात (काठिन्य) नष्ट होकर वह द्रवरूप होता है और क्लेदक कफके स्नेहांशसे वह मृदु-नरम होता है। पीछे समान वायुसे संधुक्षित-प्रेरित और अवकम्पित जठराग्नि (पाचक पित और शरीरोष्मा) अन्नकालमें सममात्रामें खाए हुए अन्नको आयुष्यकी वृद्धिके लिये अच्छी तरह पकाता है। खाए हुए छहों रसोंवाले अन्नसे प्रथम पाकमें (पाकके आरम्भमें) उद्भूत (उद्रिक्त) मधुर रससे फेन सदृश मलरूप कफ उत्पन्न होता है। पीछे आमाशयमें पाक होते समय और आमाशयसे नीचे अंत्रोंमें जाते समय विदग्धावस्था (पच्यमानावस्था-अर्धपक्वावस्था) में उद्भूत-उद्रिक्त अम्ल रससे मलभूत स्वच्छ पित्तकी उत्पत्ति होती है। बाद पक्वाशयमें गये हुए जठराग्निसे शोष्यमाण और पककर पिण्डीभावको प्राप्त हुए आहारसे उद्भूत-उद्रिक कटु रससे मलरूप वात उत्पन्न होता है। कविराज गङ्गाधरजी ने यहां और आगे विपाकनिरूपणमें स्पष्ट कर दिया है कि अवस्थापाकमें भुक्तमात्र अन्नकी प्रथम अवस्थामें उत्पन्न मधुरभावसे मलरूप (स्थूल) कफ, पच्यमानावस्थामें उत्पन्न अम्लभावसे मलरूप (स्थूल) पित और पक्वावस्थामें उत्पन्न कटुभावसे मलरूप वातकी उत्पत्ति होती है। निष्ठापाकमें रस और मलके विवेक (पृथक्करण) के समयमें आद्य रसधातुमें उद्रिक्त मधुर रससे धातुरूप कफकी, अम्लरससे धातुरूप पित्तकी और कटुरससे धातुरूप वातकी उत्पत्ति होती है[1] (पोषण होता है)।

१—धातुपाकके समयमें भी रसधातुसे किट्ट-मल-रूप कफकी और रक्तधातुसे किट्टरूप पित्तकी उत्पत्ति होती है—"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं" (च. चि. अ. १५),

अवस्थापाकमें मुख-कण्ठ, आमाशय और ग्रहणी–अन्त्र इन स्थानोंमें तत्तत्स्थान-स्थित बोधक कफ, क्लेदक कफ, समानवायु और जठराग्निरूप पाचक पित्तके द्वारा अन्नका परिपाक होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था (विदग्धावस्था) और पक्वावस्थामें छहों रसवाले आहारसे पूर्वोक्त तत्तत्स्थानके सम्बन्धसे क्रमशः मधुर, अम्ल और कटुरस उद्भूत (उद्रिक्त) होते हैं। इस प्रकार आमावस्थामें उद्भूत मधुर, पच्यमानावस्थामें उद्भूत अम्ल और परिपक्वावस्थामें उद्भूत कटुरसकी अधिकतासे क्रमसे मलरूप कफ, पित्त और वायुकी उत्पत्ति होती है। ये तीनों अवस्थापाक अन्नके चर्वण समयमें उत्पन्न मधुरता, अम्ल-तिक्तादि उद्गार तथा वमनमें निकले हुए मधुर-अम्ल-कट्वादिरसयुक्त द्रव्यादिसे प्रत्यक्षगम्य हैं। अवस्थापाकमें भुक्त द्रव्यों का रस चाहे कोई भी हो, परन्तु स्थान प्रभाव और अवस्थावश ऊपर कहे हुए तत् तत् स्थानमें एक ही प्रकारका मधुर, अम्ल और कटु रस उत्पन्न (उद्रिक्त) होता है। तीनों अवस्थापाकोंके अनन्तर अन्तमें (रस-मल-विवेककालमें) आद्य रसधातु-में जो रसविशेषकी उत्पत्ति होती है, उसको विपाक या निष्ठापाक कहते हैं। यह निष्ठापाक वातादि दोषोंकी उत्पत्ति, बद्धविण्मूत्रता, सृष्टविण्मूत्रता आदि विपाक-लक्षणोंसे अनुमेय है (अनुमान किया जाता है।) अवस्थापाकके समान इसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

चरकमतेन विपाकनिरूपणम्—

> परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥
> कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
> अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥ (च. सू. अ. २६)।

संप्रति विपाकस्यापि रसरूपत्वाल्लक्षणमाह–परमित्यादि। प्रायोग्रहणात् पिप्पली-कुलत्थादीनां रसाननुगुणपाकितां दर्शयति। कटुकादिशब्देन च तदाधारं द्रव्यमुच्यते; यतो न रसाः पच्यन्ते, किंतु द्रव्यमेव। लवणस्तथेति लवणोऽपि मधुरविपाकः प्राय इत्यर्थः। विपाकलक्षणं तु—जठराग्नियोगादाहारस्य निष्ठाकाले यो गुण उत्पद्यते स विपाकः। × × × (च. द.)। यद्रसस्य यो यो विपाकस्तमाह—कट्वित्यादि। कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। प्रायश इति परत्रापि योज्यम्। अम्लोऽम्लं, क्रियाविशेषणमेतत्, पच्यते अम्लो रसोऽम्लं यथा स्यात् तथा पच्यते; स्वादुर्मधुरस्तथा लवणो मधुरं यथा तथा क्रियाविशेषणमेतत्, पच्यते। तथा च जतूकर्णः–"विपाकस्तु प्रायशो मधुरो मधुर-लवणयोः, अम्लोऽम्लस्य, कटुः कटु-तिक्त-कषायाणाम्।" इति। कट्वादीनां कटुको विपाकः, अम्लोऽम्लस्य, शेषयो-र्मधुर इति। प्रायशोग्रहणात् क्वचिन्नैवंविधोऽपि। यथा—शुण्ठी-पिप्पल्यादीनां कटूनां मधुरो विपाकः, कषायस्य कुलत्थस्याऽम्लः, कषाया हरीतकी अम्लमामलकं

च मधुरं पच्यते, मधुरो व्रीहिश्चाम्लं, तथाविधं तैलं पुनः कटुकम्। पराशरस्तु पठति—"पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते, कटुः कटुकम्। चत्वारोऽन्ये मधुरं, संसृष्टरसास्तु संसृष्टम् ॥" इति। अन्ये चत्वारो मधुर-लवण-तिक्त-कषायाः; तन्मते तिक्तकषाययोर्मधुरो विपाकः, तयोः कटुविपाकत्वे पित्तहन्तृत्वानुपपत्तेः। तदयुक्तं, तिक्त-कषाययोः कटुविपाकत्वेऽपि पित्तहन्तृत्वं शीतवीर्यत्वेनोपपद्यते। यथा—लवणस्य मधुरविपाकस्यापि पित्तजननत्वमुष्णवीर्यत्वेन। प्रतिरसं पाक इति केचित्। अयमाशयः—यथा स्थालीस्थं तावत् क्षीरं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्, यथा वा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावं न परित्यजन्ति अर्थाच्छालि-यव-मुद्गादिबीजेभ्य उप्तेभ्यः शालि-यव-मुद्गाद्यङ्कुरा उत्पद्यन्ते, तद्वन्मधुरादयो जठराग्निपक्काः स्वं स्वं रूपं मधुरादिकं न त्यजन्ति। मधुरो मधुरमेव पच्यते, अम्लोऽम्लम्, एवमन्ये च; तेन षण्णां रसानां षड्विपाका भवन्ति। तदसांप्रतं; यतो मधुरो व्रीहिरम्लं पच्यते, अम्लमामलकं च मधुरं, मधुरमपि तैलं कटुतां याति, न पुनः पिप्पली कटुकाऽपि; द्रव्याणां यथारसपाकत्वे नैवं विपर्ययः स्यात्। सुश्रुतस्तु प्राह—"आगमे हि द्विविध एव पाको—मधुरः, कटुकश्च" × × × (सु. सू. अ. ४०) इति। × × ×। सुश्रुतमतेऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्। तन्मते द्विविध एव पाकः, गुरु-लाघवेन भूतानां द्वैविध्यात्। तत्र पृथिव्यम्बुगुणातिरेकान्मधुरः, अग्नि-वाय्वाकाशगुणबाहुल्याच्च कटुकः। नन्वेवं चेद्व्यामिश्रात्मकानामम्ल-लवण-कषायाणां कतरः पक्ष आश्रयणीयः स्यादिति? तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठतया स्निग्धानां मधुराम्ल-लवणानां त्रयाणां मधुरो विपाकः, वायुगुणातिरेकाद्रूक्षाणां कटु-तिक्त-कषायाणां त्रयाणां कटुकः। एतच्च हिताहितीये विरुद्धरसद्वन्द्वेषु स्फुटम्। सुश्रुते द्विविधः पाकः, चरके तु त्रिविध उच्यते; अम्लो विपाक एकेनाङ्गीक्रियते, अन्येन पुनः प्रतिषिध्यते, इति तन्त्रद्वयविरोधे कथमुपपत्तिः स्यात्? नैष दोषः, वस्तुतोऽविरोधात्। अम्लस्य मधुरविपाकित्वेऽपि उष्णवीर्यतया पित्तजननोपपत्तेः, लवणवत्। अम्लपाकस्याभ्युपगमानभ्युपगमयोर्बीजं तु चरकनये पित्तं प्रकृत्याऽम्लं कटु च; सुश्रुते तु कटुरसं, यत् पुनरम्लत्वं तदस्य विदग्धस्यैवेति सुश्रुतेन पित्तस्य प्राकृतस्याम्लत्वानङ्गीकारात् सुतराम्लपाकोऽपि नाङ्गीक्रियते, निष्प्रयोजनत्वात्। इह पुनरम्लः पाकः सप्रयोजन एव। वस्तुतस्तु दोषाणां त्रैविध्याद्विपाकस्यापि तदनुगुणतया त्रैविध्यमेवोचितम्। वक्ष्यति च—"शुक्रहा बद्धविण्मूत्रः" × × × (च. सू. अ. २६) इत्यादि। ग्रहणीचिकित्सिते च—"अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" × × × (च. चि. अ. १५) इत्यादि। अनेन रसपट्केऽपि द्रव्याणां यद्विपाकत्रैविध्यं मधुराम्ल-कटुलक्षणमुच्यते तद्दोषत्रैविध्यादेवेति सुष्ठूपपादितं भवति। ननु ग्रहणीचिकित्सिते षण्णामेव रसानां त्रयः पाका वक्ष्यन्ते; इह पुनरुच्यते—"कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। अम्लोऽम्लं पच्यते

स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥" इति ; कथमेतदिति चेत्? न, अन्नस्य पच्यमानस्य तत्तद्दोषस्थानसंबन्धात् क्रमान्मधुराद्यवस्था भवन्ति, नासौ विपाकः ; विपाकः कर्मनिष्ठयेति दिक् (यो.) । नन्वेते मधुरादयो यद् गुणकर्माण उक्ताः कथं तत्फलम-भिनिष्पद्यत इत्यतो विपाकमाह—परं चात इत्यादि । अतः परं च विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते, यैः पाकैः फलमभिनिष्पद्यते । तद्यथा—कटिवत्यादि । विपाक इति पाकः पचनं द्रव्याणां स्वरूप-रसयोः परावृत्तिः । सा च स्वरूपान्तरत्वेन रसान्तरत्वेन च परिणतिः, तस्या विशेषो विपाकः । जाठराग्नियोगेन भुक्तानां द्रव्याणां जायमाने किट्ट-साररूपेण पृथक्त्वे यः सारभागो द्रवरूप आद्यो रसाख्यो धातुः, किट्टभागश्च मूत्र-पुरीषरूपो मलधातुः, तद्रस-मल-धातुभूतरसान्तरवद्-द्रव्यान्तरत्वेन भुक्तानां परिणतिविशेषोऽत्र विपाकः । उक्तं च—"जाठरेणाग्निना योगात्" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्यादि । कस्य रसस्य किं रसान्तरत्वेनोदयः परिणामः स्यादिति ? अत आह—कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुरिति । भुक्तानां द्रव्याणां यः कटुस्तिक्तः कषायो वा रसः, स स रसः खलु जठरेणाग्निना पच्यमानानां भुक्तानां द्रव्याणां रसाख्यधातुरूपेण परिणामे तत्पाकेन पच्यमानः सन् प्रायशः कटुर्विपाकः स्यात् । कटुश्च कटुविशेषेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसाख्ये धातौ वर्तते । तिक्तश्च रसः कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । कषायश्च कटुविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेन कणा-शुण्ठ्या-दीनां कटूनां कटुरसस्य मधुरः पाकः, पटोलपत्र-वेत्राग्रादीनां च तिक्तानां तिक्तरसस्य मधुरः पाकः, तथा हरीतक्यादीनां कषायद्रव्याणां कषायरसस्य मधुरः पाको न विरुध्यते । एवमम्लो रसोऽम्लं पच्यते प्रायशोऽम्लो रसोऽम्लविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेनामलकस्याम्लस्याम्लो रसो मधुरः पच्यते इति न विरुध्यते । तथा स्वादुर्मधुरं स्वादुर्मधुरो रसः प्रायशो मधुरं यथा स्यात् तथा विपच्यते, मधुरविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसाख्यधातौ वर्तते ; तथा लवणश्च रसो मधुरं यथा स्यात् तथा प्रायशः पच्यते, मधुररसविशेषरूपेणाभिनिष्पन्नः संस्तत्र रसधातौ वर्तते । प्रायश इत्यनेनातसीतैलं मधुराम्लं विपाके कटुकमिति, पांशुजं लवणं कटिवति रसोपदेशेन कटुपाकश्चोक्त इत्यविरोध इति । अथ सुश्रुते दृश्यते—"तत्राहुरन्ये प्रतिरसं पाक' (सु. सू. अ. ४०) × × इत्यादि । तत्र षड्रसेषु द्रव्येषु भुक्तेषु पच्यमानेषु येषु अम्बु-पृथिव्योर्गुर्व्योर्गुणा गुरु-खरादयो-द्रवादयश्चाधिका व्यक्तत्वेनाभिनिर्वर्तन्ते सजातीयरूपान्तरत्वेन निष्पद्यन्ते, तत्र द्रव्येषु स पाको मधुरो नामोच्यते स गुरुः पाक उच्यते, गुरुगुणसाधर्म्यादम्बु-पृथिव्योः । तस्मादत्र 'मधुर' शब्दो गुरुपाके पारिभाषिको, न तु मधुररसाख्ये पाके । त्रयो हि रसा मधुर-कषाय-लवणा गुरव उक्ताः, उत्तम-मध्यमावरास्ते ; तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव गुरूणि, तथैव चिर-मध्यावरकाले पच्यन्त इति गुरुपाक

उक्तः, न तु मधुर-लवणयो रसमात्रयोः पाको मधुर उक्तः। इह तु मधुररसद्रव्य-लवणरसद्रव्ययोः पच्यमानयोर्मधुरो रसो लवणश्च रसो मधुरविशेषरूपेण पच्यते। तत्र मधुररससहचरिताः स्निग्ध-गुरु-शीताश्च तद्विशेषेण नितरां पच्यन्ते, लवणरस-सहचरितास्तु गुरुः स्निग्ध उष्णश्चेति त्रयोऽपि मधुरत्वेन पाकान्मधुररससहचराः स्निग्ध-गुरु-शीता विशेषेण पच्यन्ते, न तूष्णत्वमौष्ण्यविशेषेण पच्यते इति लवणस्य गुरोर्गुरुपाके पृथिवीगुणानां सजातीयतयाऽऽधिक्येनाभिनिर्वृत्तौ नोष्णगुणसजातीय उष्णो भवति मधुररसपाकात्, लवणारम्भकाग्निगुणविनाशे भूमि-तोयगुणोद्रेकात्; निःसारत्वाद्वह्नेः, भूमि-तोययोः ससारत्वाद्यदुद्रेके शेषाणां भूमि-तोयगुणानामाधिक्ये-नाभिनिर्वृत्तिर्भवतीति द्वयोरविरोधः। एवं कषायरसद्रव्ये पच्यमाने कषायो रसः कटुरसविशेषरूपेण पच्यते। तत्र कषायरससहचरा रूक्ष-शीत-गुरुत्वस्तु गुणाः पाकादमूर्तस्य वायोरपगमे तद्गुणस्य शीतस्यापगमे पार्थिवगुणा अधिकत्वेनाभि-निर्वर्तन्ते; तस्मादयं गुरुः पाको रसपाके कटुरपि मधुर उच्यते। एवं लघुपाकस्य संज्ञा कटुरुक्ता—"तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु। निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते॥" (सु. सू. अ. ४०) इति; तथा अम्ल-कटुक-तिक्ता अधम-मध्यमोत्तमा लघव उक्ताः, तत्तद्रसद्रव्याणि तथैव लघूनि, तथैवावर-मध्यमोत्तमकाले पच्यन्ते, इति लघुपाक उक्तो भूतगुणपाक एव, न तु अम्ल-कटु-तिक्तरसानां पाक उक्तः। इह तु कटु-तिक्त-कषायाणां कटुरसपाकोऽम्लस्याम्लरसपाक उक्तः। तस्मादम्ल-कटु-तिक्तद्रव्येषु पच्यमानेषु खल्वम्लरसद्रव्यपाके अत्राग्निगुणा-नामम्लरसव्यतिरिक्तानामाधिक्येनाभिनिर्वृत्तिर्भवति, अतोऽयं लघुपाक उक्तः। तत्राम्लो रसस्त्वम्ल एव पच्यते विशेषरूपेण, तत्राम्लो रसो न तोयगुणो न वाऽग्निगुणाः, उभयगुणयोगे हि तोयस्याव्यक्तरसः परिणम्याम्लः पूर्वजातः पश्चादम्ल-विशेषरूपेण पच्यत इत्यतोऽयं लघुपाकरूपः कटुपाको भूतगुणानाम्, अम्लरसस्य पुनरम्ल एव पाक इत्यविरोधः। कटु-तिक्तद्रव्याणां पाके तिक्तस्य कटुरूपेणाभि-निर्वृत्तिः पाकतो हि तिक्तस्याकाशस्याप्रतिघातामूर्तित्वेन तद्गुणपरिणामाभावेन प्रतिघातामूर्तिमतो वायोर्गुणपरिणामे तेजोगुणयोगात् कटुभावनिष्पत्तिरिति। इत्थं च रसपाकाभिप्रायेण त्रिधा पाक उक्तः, सुश्रुते भूतगुणाभिप्रायेण द्विधा पाक उक्तो गुरुर्लघुश्चेति क्रमेण मधुरसंज्ञः, कटुसंज्ञश्चेति। एवं भूतगुणपाके रसपाके चाबल-वन्तो बलवतां वशमापद्यमाना नाभिव्यज्यन्ते, बलवन्तश्चाबलवतोऽवजित्य धिक-त्वेनाभिव्यज्यन्ते। वक्ष्यते हि—"विरुद्धगुणसमवाये हि भूयसाऽल्पमवजीयते।" (च. वि. अ. १) इति। सर्वमतानि साधूनि। इमे मधुराम्ल-कटुरूपेण रसानां त्रयो विपाकाश्चरमपरिणामा रसाख्ये आद्यधातौ गुणा भवन्ति, न तु पाकारम्भचरम-पर्यन्तं पच्यमाने षड्रसद्रव्ये प्रथम-मध्यम-चरमावस्थासु मधुराम्ल-कटुरूपाः। ते च ग्रहण्यध्याये "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" (च. चि. अ.

१५) इत्यादिनोक्ताः। एवं पक्वाहारस्य प्रसादपाको रसो नाम धातुः, किट्टपाको मूत्र-पुरीष-कफ-पित्त-वाता इति (ग.)। इदानीं विपाकगुणा वाच्याः, अतो विपाकस्वरूपं प्रथमं निरूप्यते—अवस्थापाकापेक्षया विशिष्टः पाको विपाकः। विपाकशब्देनेह लक्षणया विपाकाधेय आहारस्य रसविशेषो गौरवेण लाघवेन वा युक्तोऽभिधीयते। उक्तं च वाग्भटेन—"जाठरेणाग्निना योगात्" (वा. सू. स्था. अ. ९) इत्यादि। अत्र रसानां परिणामा मधुराम्ल-कटुरूपास्त्रयोऽवस्थापाकाः षड्रसस्यैवान्नस्यामाशयादिस्थानसंबन्धमहिम्ना जायन्ते, ते च चरके ग्रहणीचिकित्सिते "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।" (च. चि. स्था. अ. १५) इत्यादिनोक्ता अनुसन्धेयाः; तेषामन्तेऽवसाने पुनर्जाठराग्निसंयोगे सति यद्रसान्तरं रसविशेष उदेति स विपाक इत्यर्थः। इह केचिदाचक्षते—प्रतिरसं पाकः—अम्लोऽम्लस्य, मधुरो मधुरस्य, लवणो लवणस्य, कटुकः कटुकस्य, तिक्तस्तिक्तस्य, कषायः कषायस्येति षडेव विपाकाः; किमत्र प्रमाणमिति चेत्, उच्यते—यथा—क्षीरमतिपच्यमानमपि मधुरमेव स्यात्, यथा वा शालि-यवादय उप्ताः प्ररूढाः फलिताश्च शाल्यादिस्वरूपा एव भवन्ति; तथा मधुरादयोऽपि निष्ठापाकेऽपि मधुरादिस्वरूपा एव भवितुमर्हन्तीति। उक्तं च—"उप्ता षष्टिक-माषाद्या बाह्यपकाश्च षड्रसाः। यान्ति नान्यत्वमित्येवं पाकः प्रतिरसं भवेत्॥" इति। अन्ये तु ब्रुवते—रसा द्विविधा बलवन्तोऽबलवन्तश्च; बलवत्त्वं च व्यक्तत्वेन मात्राबाहुल्येन वा, अबलवत्त्वं पुनरेतद्विपर्ययेण; तत्राल्पतयाऽबलवन्तो रसा बलवतां वशमायान्तीति; तेन निष्ठापाके बलवता रसेन दुर्बलरसाभिभवान्न रसप्रतिनियमेन मधुरस्य मधुर एव पाकोऽम्लस्य चाम्ल एवेत्यादि; प्रतिनियमा-भावाच्चानवस्थितः पाक इति। अनियतत्वपक्षेऽपि षट्कत्वमेव, कदाचित् कस्यचित् संभवादिति। उक्तं च—"बहवोऽभिभवन्त्यल्पान् बहिर्मिश्रीकृता रसाः। तेना-निश्चितमेवैके पाकमाहुर्मनीषिणः॥" इति। अन्ये तु वातादिभ्यो दोषेभ्य एव त्रीन् पाकानिच्छन्ति—कफात् वात-कफाच्च मधुरः, कफ-पित्तादम्लः, वातात् पित्तात् वात-पित्ताच्च कटुक इति। तदुक्तं—"कफात् वात-कफात् स्वादुरम्लः पित्त-कफो-द्भवः। दोषैस्त्रयोऽनिलात् पित्तात् वात-पित्तात् कटुर्मतः॥" इति। तदेतन्मतत्रयं प्रमाणशून्यत्वादुपेक्षणीयमेव। किं च प्रतिरसं रससदृशः पाकस्तथा बलवत्पराधीनता च पाकस्य रसद्वारा प्रतिपाद्यमानकार्येणैव लभ्यते, तेनैतत् पक्षद्वयमपि न निष्ठा-पाके चिन्तनीयं, रसस्वरूपनिरूपणेनैवोक्तार्थत्वात्। दोषावस्थाजन्यश्च पाक उप-पादकहेत्वभावादागमशून्यत्वाच्च प्रेक्षावद्भिरुपेक्षणीय इति। चरकेण तु त्रय एव विपाका अङ्गीकृताः कट्वम्ल-मधुरभेदेन। अतस्तद्वचनमुपन्यस्यते—कटु-तिक्त-कषायाणामित्यादि। प्रायश इति वचनात् पिप्पली-कुलत्थादीनां रसाननुगुणपाकतां दर्शयति। पाकस्तु तेजःसंयोगरूपो रसेषु न संभवतीति कट्वादिशब्दैस्तदाधार-

द्रव्याण्युच्यन्ते। एतेन यत् कैश्चिदुच्यते—अवस्थापाकावसाने षड्रसस्यैवान्नस्य कटुरसत्वेन तदानीं तिक्तादिरसानामभावात्तेषां विपाको नोपपद्यत इति ; तदप्यपास्तं, तिक्तादिरसानामभावेऽपि तदाश्रयद्रव्यस्य विद्यमानत्वादिति। वस्तुतस्तु, अवस्थापाकत्रयेण तत्तदामाशयादिस्थानमहिम्ना मधुराम्ल-कटुरसा उद्भूताः परं क्रियन्ते, न तु सर्वथा प्राकृतरसाभिभवः ; अन्यथाऽवस्थापाकेन प्राकृतानां मधुरादिरसानां सर्वथा अप्राकृतत्वे तेषां कफादिजनकत्वाभिधानं निरवकाशं स्यादिति। ××××। अन्ये तु ब्रुवते—न तावत् षड्रसादप्यन्नात् सामान्येनावस्थापाके कफाद्युत्पत्तिः, किंतु षड्रस एवान्ने मधुरो य आहारांशः स उद्भूततः सन् कफं जनयति ; तथा पित्तदोषकोपको य आहारभागस्तस्माद्विदाहावस्थायामुद्भूतादम्लरसात् पित्तमुत्पद्यते ; एवं वायुरपि वायुजनकाहारांशात् कटुतावस्थायां भवतीति। एतच्च न संगतं, "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य" (च. चि. स्था. अ. १५) इत्यादिग्रन्थविरोधात् ; यतोऽत्र षड्रसस्यैवान्नस्य सामान्येनावस्थापाकात् कफादिजनकत्वं दर्शितं, न तु कस्य चिदाहारांशस्येति। यदि पुनः षड्रसाहारगतो यः श्लेष्मजनको भागः स एव स्थानमहिम्नोद्भूतः सन् सर्वमेवाहारमवस्थापाकसमये मधुरीकृत्य कफं जनयतीत्युच्यते, तदाऽनुमतमेव। अयं च विपाकाधेयो रसो न रसनेन्द्रियग्राह्यः, किंतु तत्तत्कार्येणैवोन्नीयते ; यथा—कटुरसाया उष्णवीर्याया अपि शुण्ठ्या वृष्यत्वेन मधुरः पाकोऽनुमीयते, तथा लवणस्य सृष्टविण्मूत्रत्वेन मधुरः पाक उन्नीयते, तथा तिक्त-कषाययोर्बद्धविण्मूत्रतया कटुपाक उन्नीयत इति। ननु, लवणस्य मधुरपाकित्वे पित्त-रक्तादिकर्तृत्वमनुपपन्नं, तथा तिक्त-कषाययोः कटुपाकित्वे च पित्तहन्तृत्वमनुपपन्नम्। नैवं, सत्यपि लवणस्य मधुरपाकित्वे तत्र लवणे उष्णवीर्यं यदस्ति तेन तस्य पित्त-रक्तादिकारकत्वं, विपाकस्तु तत्र पित्त-रक्तकरणलक्षणे कार्ये बाधितोऽपि सृष्टविण्मूत्रादिलक्षणेन लक्ष्यत एव ; तथा तिक्त-कषाययोरपि कटुविपाको बलवता शीतवीर्येण बाधितत्वान्न पित्तजनकः, बद्धविण्मूत्रतया तु लक्ष्यत एव। एतेन यदुच्यते—लवणादिषु विपाको यदि रस वीर्याभ्यां बाधितः स्वकार्यकरो न स्यात् तत् किं तेनोपदिष्टेनेति, तन्निरस्तं भवति; यतोऽस्त्येव सृष्टविण्मूत्रतादि तत्कार्यमिति। अन्ये त्वेतद्दोषभयात् 'लवणस्तथा' इत्यत्र तथाशब्देन विप्रकृष्टमम्लमाकृष्य लवणोऽम्लं पच्यत इति व्याख्यानयन्ति। तन्न, "कट्वादीनां कटुविपाकः, अम्लोऽम्लस्य, शेषयोर्मधुरः" इति जतुकर्णविरोधात्। नच यत्र एव विपाकाः कथं भवन्ति, तिक्तादयोऽपि कुतो न स्युरिति वाच्यं ; भूतस्वभावस्याऽपर्यनुयोज्यत्वात्। ननु, यत्र रसविपरीतः पाको यथा—लवणस्य मधुरः, तिक्तकषाययोश्च कटुः, स उच्यतां ; यस्तु समानगुणो मधुरस्य मधुरः, अम्लस्याम्लः, कटुकस्य कटुकः, तत्कथनेन किं प्रयोजनं ? यतो रसगुणैरेव तत्र विपाकगुणोऽपि ज्ञास्यते। नैवं, लवणादिवद्विसदृशरसान्तरोत्पादकशङ्कानिरासार्थं तत्रानुगुणोऽपि

विपाको वक्तव्य एव। तथा यत्र समानगुणो विपाकस्तत्र बलवत्कार्यं भवति, विपर्यये तु दुर्बलमिति ज्ञेयम्। सुश्रुतेन द्विविध एव विपाकोऽङ्गीकृतः मधुरः कटुकश्चेति, द्वैविध्ये च भूतानां गुरु-लाघवेन द्वैविध्यमेव हेतुः; यदुक्तं तेनैव—"तत्र, पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता, लघुता च; तत्र पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव विपाको भवति।" (सु. सू. स्था. अ. ४०) इति। अत्रापि सुश्रुतमते यद्यप्यम्ल-लवणौ मधुर-विपाकौ तथाऽपि तयोर्वातहरत्वे सृष्टविण्मूत्रतायां च मधुरकार्यकरत्वं, न पुनः पित्तहरत्वे; तथा तिक्त-कषाययोः कटुविपाकयोरपि वातकर्तृत्वे बद्धविण्मूत्रतायां च कटुकार्यकरत्वं, न पुनः पित्तकर्तृत्वे; अचिन्त्यत्वात् प्रभावस्य। एतदेवोक्तं माधवेनापि—"स्वाद्वादीनां स्वादुपाकः सुश्रुताचार्यसंमतः। तत् कथं पित्तजननौ स्यातामम्ल-पटू रसौ॥ कटुपाकौ कथं पित्तनाशनौ तिक्त-तूवरौ।" इति। सिद्धान्तेऽपि—"अम्ल-पट्वोः फलं विद्यात् स्वादुपाकः, कटुः पुनः। कषाय-तिक्तयोरित्थं सुश्रुताचार्यसंमतः॥" इति। ननु, पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्च-भौतिकः। विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इत्यनेन पञ्चधाऽपि विपाकस्तेनैवोक्तः, तत् कथं न विरोध इति चेत्; नैवम्, उपाधिभेदेन विरोधाभावात्; तत्र हि भूतभेदमवलम्ब्य पञ्चधात्वम्, अत्र तु लाघव-गौरवरूपं भूतगुणद्वैविध्यमाश्रित्य द्वैविध्यमुक्तमिति न विरोधः; यथा—पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यमिति। यत् पुनः सुश्रुते-नाम्लपाको न मन्यते तच्चरकमतानुयायिनो न सहन्ते, यतोऽम्लपाकतयैव व्रीहि-कुलत्थादीनां पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते; अथ मन्यसे—व्रीह्यादेरुष्णवीर्यत्वेन तत्र पित्त-कर्तृत्वं? तदसत्, मधुरस्य व्रीहेस्तन्मते मधुरविपाकस्योष्णवीर्यतायामपि सत्यां न पित्तकर्तृत्वमुपपद्यते, रस-विपाकाभ्यामेकस्य वीर्यस्य बाधनीयत्वात्; किंचाम्ल-पाकत्वाद् व्रीह्यादेः पित्तमम्लगुणमुत्पद्यते, यदि तूष्णवीर्यतोक्तं स्यात्तदा कटुगुण-भूयिष्ठं पित्तं स्यात्, दृश्यते च—व्रीहिभक्षणादम्लोद्गारादिनाऽम्लगुणभूयिष्ठतैवेति; किंच 'पृथिवी-सोमगुणातिरेकान्मधुरः पाको भवति, वाय्वग्न्याकाशातिरेकाच्च कटु-र्भवति' इति पक्षे यदा व्यामिश्रगुणातिरेको भवति, तदा सोमाग्न्यात्मकस्याम्ल-स्योत्पादः कथं प्रतिक्षेपणीयः; अथवा तन्त्रकारयोः किमनयोरनेन वचनमात्र-विरोधेन कर्तव्यं, यतो यदम्लपाकं चरको ब्रूते तत् सुश्रुतेन वीर्योष्णमिति कृत्वा समाधीयते, अनेन न कश्चिद् द्रव्यगुणे विरोधः। यत्तु सुश्रुतेऽम्लपाकनिरसार्थं दूषणमुच्यते—"पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैति" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना, तदनभ्युपगमादेव निरस्तमिति (शि.)॥

विपाकस्तूच्यते—विपाकस्तु प्रायः स्वादुः स्वादु-लवणयोः, अम्लो-ऽम्लस्य, कटुरितरेषाम् (अ. सं. सू. अ. १७)॥

स्वाद्वम्ल-कटुकास्त्रयो विपाकाः। तत्र मधुरद्रव्यस्य सर्वस्य मधुरविपाकित्वं, तद्वल्लवणस्य; अम्लो विपाकोऽम्लस्यैव; शेषाणां कटुः। विपाकस्तु जठराग्निसंयोगे परिणामवशाद् द्रव्यस्य रसस्य स्वरूपान्तरप्रादुर्भावः (इन्दुः)॥

पराशरस्तु पठति—

पाकास्त्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते, कटुः कटुकम्।
चत्वारोऽन्ये मधुरं, संकीर्णरसास्तु संकीर्णम्॥
कटु-तिक्त-कषायाणां कटुको येषां विपाक इति पक्षः।
तेषां पित्तविघाते तिक्त-कषायौ कथं भवतः॥

(अ. सं. सू. अ. १७)।

पराशरनामा मुनिर्विपाकमन्यथा पठितवान्। पाकास्त्रयोर सानामित्यार्याद्वयं पराशरपठितमनुपठति। सर्वेषां रसानां त्रयो विपाकाः—मधुरः, अम्लः, कटुश्च। तत्राम्लरसोऽम्लविपाकः, कटुरसः कटुविपाकः, चत्वारोऽन्ये शेषा मधुर-लवण-तिक्त-कषाया मधुरविपाकाः। संकीर्णरसानां मिश्ररसानां संकीर्णविपाकित्वम्। स तु पराशरस्तिक्त-कषाययोर्मधुरविपाकित्वमिच्छति, अन्ये त्वाचार्यास्तावेव कटुविपाकाविच्छन्ति, तन्मतं दूषयितुकामः पराशर आह—ये आचार्याः कटु-तिक्त-कषायाणां कटुविपाकित्वमिच्छन्ति तेषां तिक्त-कषाययोः पित्तहरत्वं न संभवति, मन्मते तु तयोर्मधुरविपाकित्वात् पित्तहरत्वं संभवतीति पराशरः। तच्च न चतुरस्रमिति मन्यामहे। यतः पित्तहर्तृत्वं रसस्यैव स्वरूपम्। कटुस्तु विपाको यत्र स्वल्पोऽपि भवति न तत्र कटुः स्वकार्यं करोति "यद्यद् द्रव्ये रसादीनां" (अ. सं. सू. अ. १७) इति न्यायात्। तथा च—तिक्तरसस्य कटुविपाकस्यापि निम्बस्य पित्तहरत्वमेव। यत्र च विपाकस्य कटोराधिक्यं तत्र तस्य पित्तकर्तृत्वमेव। यथा—तिक्तरसेऽपि द्रव्ये कटोर्विपाकस्याधिक्याद् बृहतीद्वयस्य पित्तकरत्वम्, एवं कषायेऽपि कल्पनीयम्। एवं रसस्यैव स्वभावः पित्तहरत्वम्। यतश्च तिक्तरसे कषायरसे च द्रव्ये नैसर्गिकेण बलेन रस-वीर्याभ्यां विपाकः प्रायेणाभिभूयते, अत उच्यते—तिक्त-कषायौ पित्तहरावित्यस्माभिः; अतः पराशरमतमचतुरस्रमिव (इन्दुः)॥

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्ल-कटुकात्मकः॥

(अ. सं. सू. अ. १, अ. हृ. सू. अ. १)।

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः।
तिक्तोषण-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥

(अ. हृ. सू. अ. ९)।

विपाकस्त्रिविधः सर्वद्रव्याणां परिणामकालभावी कार्यानुमेयो जाठराग्निसम्बन्धाद्रसस्य स्वरूपान्तरप्रादुर्भावः स त्रिधैव, रसषट्त्वेऽपि न षोढा। तेन किञ्चित् स्वादुविपाकं, किञ्चिदम्लविपाकं, किञ्चित् कटुविपाकं द्रव्यम्। तत्र मधुर-लवणयोर्मधुरो विपाकः, अम्लस्याम्लः, तिक्त-कटु-कषायाणां कटुकः। स च कार्यानुमेयः। तथा च वक्ष्यति—"जाठरेणाग्निना योगात्" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्यादि। × × ×। अत एव सोपसर्गः पाकशब्द उपात्तः विशिष्टः पाको विपाकः, न पाकमात्रस्वरूपः। तथा च भट्टारकचरकमुनिः "रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यादवधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते॥" (च. सू. अ. २६) इति। एवं कर्मनिष्ठानुमित एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगाद्यो रसानां रसान्तरोद्भवः, स एव विपाकः; न तु यो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः प्राङ्मधुरोऽनन्तरं स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुः विपाकः। स्वादुः मधुरो गुडादिः, पटुः लवणः सैन्धवादिः, मधुरं यथा भवति तथा कृत्वा पच्यते रस इति संबन्धः। मधुरमिति क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। स्वादुः स्वादुविपाकः, लवणोऽपि स्वादुविपाक इत्यर्थः। अम्लो रसो दधि-काञ्जिकादिः, अम्लं पच्यते अम्लविपाको भवति। तिक्तोषण-कषायाणां प्रायशः कटुविपाको भवति। प्रायशोग्रहणं पूर्वत्रापि योजनीयम्। तेन व्रीहिस्थो मधुरो रसोऽम्लं पच्यत इत्युपपन्नम्। तथा चोक्तं—"स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। तथा, हरीतक्या भूयस्त्वेन यः कषायो रसः स मधुरमेव पच्यते। तथा कटुको रसः शुण्ठ्यार्द्रकपिप्पल्यादिस्थो मधुरं पच्यते। तथा चोक्तं—"कषाया मधुरा पाके" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। तथा—"नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत्। रुच्यं लघु स्वादुपाकं" (अ. हृ. सू. ६) इति, "तद्वदार्द्रकम्" इति। तथा—"श्लेष्मला स्वादुशीताऽऽर्द्रा" इत्यारभ्य यावत् "स्वादुपाका" (अ. हृ. सू. अ. ६) इति। अत्र केचिदाहुः—तिक्त-कषाययोरेव कटुविपाकतया पित्तकर्तृत्वमापद्यत इति। तदेतदसत्, शीतवीर्यत्वेनैतयोः पित्तहर्तृत्वात्। वीर्यं हि रसविपाकौ विजयते। वक्ष्यति हि—"रसं विपाकस्तौ वीर्यं" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति (अ. द.)। विपाकत्रैविध्यमाह—स्वादुरिति। स्वादुः पटुश्च मधुरो लवणश्च मधुरं पच्यत पक्वो मधुरत्वं यातीत्यर्थः। मधुरमिति क्रियाविशेषणम्। पच्यत इति कर्मकर्तर्यात्मनेपदम्। एवमम्लो रसोऽम्लं पच्यते। तिक्तादीनां त्रयाणां कटुको विपाकः। मधुररसस्यापि व्रीहेर्विपाकेऽम्लत्वात्, लवणस्यापि सौवर्चलस्यक कटुविपाकत्वात्, अम्ल-तिक्तोषणानामपि दाडिम-पटोल-पिप्पलीनां मधुरविपाकत्वात्, कषायस्यापि कुलत्थस्याम्लविपाकत्वात् 'प्रायश' इत्युक्तं; मतान्तरसंग्रहार्थं च। तत्र द्वौ विपाकाविति सुश्रुतः (सु. सू. अ. ४०।११)—"द्रव्येषु पच्यमानेषु" इत्यादि। × × ×। षोढा पाकस्तु संग्रहे निरस्तः यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसांप्रतम्। यत् स्वादुर्व्रीहिरम्लत्वं

न चाम्लमपि दाडिमम् ॥ याति तैलं च कटुतां कटुकाऽपि न पिप्पली ।
यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः ॥" (अ. सं. सू. अ. १७) इति(हे.) ॥

अब चरकमतसे विपाकका निरूपण किया जाता है—कटु, तिक्त और कषाय इन तीन रसों (रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः कटु (कटुरसवाला) होता है। अम्लरस (अम्ल रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः अम्ल होता है तथा मधुर और लवण रस (रसवाले द्रव्यों) का विपाक प्रायः मधुर होता है।

वक्तव्य—'प्रायः' शब्दसे यह बताया गया है कि किसी-किसी द्रव्यका विपाक इससे विपरीत भी होता है। जैसे सोंठ, छोटी पीपल आदि द्रव्य कटु रसवाले होनेसे उनका विपाक कटु होना चाहिये, परन्तु उनका विपाक कटु न होकर मधुर होता है। एवं कुलथी कषाय रसवाली होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है; हर्ड कषाय रसवाली और आँवले अम्ल रसवाले होनेपर भी उनका विपाक मधुर होता है; मधुर रसवाले व्रीहिका विपाक अम्ल होता है; तैल मधुर रसवाला होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; सोंचर (काला नमक) लवण होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; पटोल (कडुआ परवल) तिक्त रसवाला होनेपर भी उसका विपाक मधुर होता है। इससे मालूम होगा कि ऊपर जो रसोंके विपाक लिखे गये हैं उनमें अपवाद भी देखे जाते हैं, इसलिये 'प्रायः' शब्दका प्रयोग किया है। द्रव्यगुणके प्रकरणमें जहाँ रसके अनुगुण (समान) विपाक होता है वहाँ प्रायः रस-निर्देशसे विपाकका भी निर्देश किया गया है। परन्तु जहाँ रससे विपरीत विपाक होता है वहाँ विपाकका स्पष्ट शब्दोंमें निर्देश किया है।

ऊपर विपाक (निष्ठापाक-अन्तिमपाक) और अवस्थापाकका लक्षण लिखा है। इससे मालूम होगा कि कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसोंसे (रसवाले भुक्त द्रव्योंसे) अवस्थापाकमें तत्तत्स्थानविशेषके सम्बन्धसे आम, पच्यमान और पक्व इन तीन अवस्थाओंमें क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु ये तीन रस बढ़कर मलरूप कफ, पित्त और वातकी वृद्धि होती है, परन्तु जठराग्निकी क्रिया समाप्त होकर जब रस और मलका पृथक्करण (रसमलविवेक) होता है तब कटु, तिक्त और कषाय रस आद्य रसधातु जो कि सारे शरीरका पोषण करता है, उसमें कटु रसके रूपमें उत्पन्न होकर रहते हैं और वह कटुविपाक शुक्रक्षय, बद्धविण्मूत्रता (मल-मूत्रका अवरोध) और धातुरूप[1] वातकी उत्पत्ति इन कार्योंसे अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अम्लरस भी जठराग्नि (अवस्थापाक) की क्रिया समाप्त होनेपर रस और मलके पृथक्करणके समयमें आद्य रसधातुमें अम्ल रसके रूपमें उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप पित्तकी उत्पत्ति, सृष्टविण्मूत्रता (मल-मूत्र साफ होना) और शुक्रका क्षय

१—"शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।" (च. सू. अ. २६)

इन लक्षणोंसे अनुमान किया जाता[1] है। मधुर और लवण रस भी जठराग्निकी क्रियासे तीनों अवस्थापाकोंकी समाप्ति होनेपर रस और मलके पृथक्करणके समयमें आद्य रसधातुमें मधुररूपमें उत्पन्न होकर रहता है और धातुरूप कफ तथा शुक्रकी उत्पत्ति और मलमूत्रके साफ होनेसे अनुमान किया जाता[2] है। इस प्रकार तीन दोषोंकी उत्पत्ति (पोषण) के लिये छहों रसोंवाले द्रव्योंके कटु, अम्ल और मधुर तीन विपाक आत्रेय सम्प्रदायके अनुयायियोंने माने हैं।

पराशरमुनि कहते हैं कि – मधुरादि छहों रसोंका तीन प्रकारका विपाक होता है। अम्लरसका विपाक अम्ल होता है, कटु रसका विपाक कटु होता है और शेष चार (मधुर, लवण, तिक्त और कषाय) रसोंका विपाक मधुर होता है; संकीर्ण (मिश्र) रसोंका विपाक संकीर्ण होता है। अपने पक्षके समर्थनमें पराशर कहते हैं कि—जो आचार्य (चरकादि) कटु, तिक्त और कषाय इन तीनों रसोंका कटुविपाक मानते हैं उनके मतमें तिक्त और कषाय ये दो रस पित्तनाशक नहीं हो सकते, और अनुभव ऐसा है कि ये दो रस पित्तनाशक हैं। मेरे (पराशरके) मतमें तिक्त और कषाय दोनोंका विपाक मधुर होनेसे दोनों पित्तनाशक हो सकते हैं। चरकमतानुयायी पराशरके इस मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—तिक्त और कषाय ये दोनों रस कटुविपाकवाले होनेपर भी शीतवीर्य होनेसे पित्तका नाश करते हैं, क्योंकि वीर्य रस और विपाक दोनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है। अतः तिक्त और कषाय रसका कटुविपाक माननेमें कोई दोष नहीं है।

सुश्रुतमतेन विपाकप्राधान्यनिरूपणं, विपाकनिरूपणं च—

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति[3]। कस्मात् ? सम्यङ्मिथ्याविपाक-

---

१—"पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।" (च. सू. अ. २६)।

२—"मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः।" (च. सू. अ. २६)।

३—विपाकस्य प्राधान्यं प्रत्येके ब्रुवते (र. वै. सू. अ. १. सू. १४१)।—विपाकसाद्‌गुण्ये तीक्ष्णाग्नीनां न दोषकराधिकपाकाः (भा.)। तन्निमित्तत्वात् प्रशमनवर्धनयोः (सू. १४२)।—दोषाणां प्रशमन-वर्धने तन्निमित्ते; सम्यक्पक्वेनाहारेणौषधेन वा दोषाः प्रशमं यान्ति, असम्यक्पक्वेन वृद्धिं गच्छन्तीति। तस्मात् तयोरायुर्वेदसारभूतयोः साधनाद् विपाकः प्रधानम्। यद् वृद्धि-प्रशमनहेतुः तत् प्रधानं दृष्टं, यथा—उत्पत्ति-प्रलयकारणं त्रिगुणं प्रधानमिति (भा.)। किंच, धातूपदेहात् (सू. १४३)।—धातूनामुपचय उपदेहः। पूर्वोक्तेनैव किमेतन्न सिद्धम् ? तत्र व्याध्युत्पत्तिप्रशमनमभिप्रेतम्, अत्र प्रतिदिवसं स्वस्थस्य धातुवृद्धिरिति (भा.)। किंच, विपाकापेक्षत्वादितरेषां, प्रायशो विपाकसाद्गुण्ये च गुण-

त्वात्[1] ; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। तत्राहुरन्ये[2]—प्रतिरसं पाक इति, मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वषामिति ; दृष्टान्तं चोपदिशन्ति—यथा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचित् पुनरबलवन्तो बलवतां वशमायान्ति, तस्मादनवस्थितः पाक इति। केचित् त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरम्, अम्लं, कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादागमाच्चाम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्या-

---

वतामप्यदोषात् (सू. १४४)। – विपाकात् तीक्ष्णाग्नीनां न दोषकरमिति (भा.)। विपाकवैगुण्ये गुणवतामपि दोषात् (सू. १४५)।—पथ्याहरस्याप्यसत्पाके सति व्याधिकरत्वादिति (भा.)। शास्त्रप्रामाण्यात् (सू. १४६)।—किंच, शास्त्रेऽपि "जीर्णेऽश्नतः कुमारस्य त्रितयं त्रिषु वर्त्मसु। यथावद् वर्तते नित्यं हिताहितनिषेवणात् ॥" इति। विपाकसाद्गुण्ये इत्यादीनां त्रयाणां वाक्यानाम-प्ययमागमोऽर्थसाधनः (भा.)। किञ्च तदभावे चिकित्साभावात् (सू. १४७)।—तस्य विपाकस्याभावे मूलत एव चिकित्सा न स्यात्, अग्निना ह्यपक्वानामौषधानां कार्यकरणं नास्तीति (भा.)। किंचान्यत्? आरोग्यप्रयोजनत्वा-दायुर्वेदस्य, सम्यग्विपाके तदुपलब्धेः (सू. १४८)।—समस्तस्य तन्त्रस्य प्रयोजन-भूतस्यारोग्यस्य साधनात् पाकः प्रधानम्। कथं! सम्यग्विपाके सति तच्चारोग्यं भवतीति (भा.)। किंच, सर्वशरीरप्रदोषात् तस्मिन् दुष्टे (सू. १४९)।—विसूच्यलसकादिषु सर्वशरीरप्रदोषो दृष्टः। तत्र शरीरग्रहणेन शरीरावयावा दोषाः परिगृहीताः। सर्वदोषप्रकोपादित्यर्थः (भा.)। किंच, सर्वशरीरानुग्रहात् (सू. १५०)।—इत्येतदप्यनेनैव गतार्थम् (भा.)।

१—'विपक्वत्वात्' इति पाठान्तरम्।

२—अयं चक्रपाणिदत्तसंमतः पाठः ; डल्हणस्तु 'तत्राहुरन्ये—प्रतिरसं पाक इति। केचित् त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरमम्लं, कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादागमाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति ; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात् ; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः ; दृष्टान्तं चोपदिशन्ति—यथा तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्; यथा वा शालि-यव-मुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिद्वदन्ति—अबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थितिः, तस्मादसिद्धान्त एषः। आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः, कटुकश्च" इत्यादिपाठं पठति, तथैव च व्याख्यानयति।

ग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। आगमस्त्वाह—द्विविध एव पाको मधुरः, कटुकश्च; तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति तद्गुणसाधर्म्याद् गुरुता, लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव विपाक इति॥

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बु-पृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते॥
(सु. सू. अ. ४०)।

विपाकप्राधान्यवादिमतं वीर्यवादिमतं निषेधयित्वा प्राह—नेत्याहुरन्ये इत्यादि। विपाकः प्रधानमिति प्रतिज्ञा। विपाकशब्देनेह लक्षणया अभ्यवहृतद्रव्यपाकाधेय आहारस्य रसविशेषो गौरवेण लाघवेन वा युक्तोऽभिधीयते; विशिष्टो नैष्ठिकः पाको विपाक इत्यर्थः। अत्र हेतुः—सम्यङमिथ्याविपाकत्वदिति। अस्यार्थं व्याकरोति—सर्वद्रव्याणीत्यादि। सम्यग्विपक्वानि गुणं, मिथ्याविपक्वानि दोषं, जनयन्ति। सम्यक्पाकः समेनाग्निना, मिथ्यापाकस्तु हीनातिपाकरूपो यथाक्रमं मन्देन तीक्ष्णेन वाऽग्निना क्रियते। तत्र हीनपाके आमविकाराः, तीक्ष्णपाके च भस्मकविकारा दोषाः; समपाके तु धातुसाम्यं गुणश्च। अयं च पाको यद्यपि जठराग्न्यधीनः सर्वाहारसाधारणो न तु द्रव्याधीनो द्रव्यगुणरूपो य इहाधिकृतः "पिप्पल्यो मधुरविपाकाः", (सु. सू. अ. ४६), "आर्ध्यं मधु कटुविपाकम्" (सु. सू. अ. ४५) इत्यादिना प्रतिपादनीयः। अयमेव हि पाक एतत्प्रकरणसिद्धान्ते च "तद् द्रव्यमात्मना किंचित्" (सु. सू. अ. ४०), इत्यादौ दर्शितः। तथा ह्यनुभयोरपि पाकयोरग्न्याधेयान्त्यपाकरूपतया एकत्र प्राधान्ये साधितेऽपरत्रापि सिद्धं भवतीति ग्रन्थार्थो नेयः। किंवा सम्यक्पाको द्रव्यानुगुणः पाकः; यथा—"चित्रकः कटुकः पाके" (सु. सू. अ. ४६), तथा "क्षीरं मधुरं रस-पाकयोः" (सु. सू. अ. ४५), इत्यादि। अत्र हि द्रव्यगुणसदृश एव पाकः। मिथ्यापाको तद्द्रव्यगुणविसदृशः पाकः; यथा—"पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः" (च. वि. अ. १) इत्यादौ। गुणं दोषं वा जनयन्तीति सम्यक्पाके तथा मिथ्यापाके च प्रत्येकं योजनीयम्। तेन द्रव्यगुणानुगुणो हि मधुरः पाकः सृष्टविण्मूत्रादिगुणं, कफजननं दोषं च, करोति; तथा द्रव्यगुणविसदृशश्च पिप्पल्याः कटुकाया मधुरः

पाको यथोक्तं गुणं दोषं वा, करोति। अस्मिन् व्याख्याने अभिमतव्याख्याधीनपाकप्राधान्ये हेतुरुक्तो भवतीति नासङ्गतार्थत्वमस्य ; यस्माद्रसं वीर्यं च तिरस्कृत्यान्त्यो विपाको गुणं दोषं वा जनयति, तेन विपाकः प्रधानमिति। संप्रति स्वाभिमतविपाकस्वरूपं दर्शयितुं पराभिमतविपाकानुपन्यस्यति—तत्राहुरन्ये इत्यादि। प्रतिरसपाकमेव विवृणोति—मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्येत्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि। प्रकीर्णा इति उप्ताः, तेन यथा शालि-यवादय उप्तप्ररूढाः फलिताश्च शालि-यवादिस्वरूपा एव भवन्ति, एवं मधुरादयोऽपि निष्ठापाकेऽपि मधुरादिस्वरूपा एव भवन्ति। अत्रैव पक्षे मतान्तरमाह—केचित् पुनरित्यादि। अबलवन्तो रसा अल्पतया, बलवतामिति उल्वणानां रसानां, वशतां पराधीनताम् अल्पतामिति यावत् ; तेन निष्ठापाकेन बलवता दुर्बलरसाभिभवाच्च प्रतिनियमेन मधुरस्य मधुर एव पाकोऽम्लस्य वाऽम्लः पाक इत्यादि प्रतिनियमाभावादनवस्थितः पाक इत्यर्थः। मतान्तरं चरकस्याह—केचित् त्रिविधमित्यादि। एतच्च मधुरादिपाकत्रयं नैष्ठिकं ; चरकमतं क्वचिद्रसद्वाराऽभिहितं यथा—"कटु-तिक्त-कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः। अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा।" (च. सू. अ. २६) ; क्वचिद् द्रव्यद्वाराऽभिहितं, "पिप्पल्यः कटुका मधुरविपाका" (च. वि. अ. १) इत्यादि। यत्त्ववस्थापाके मधुरत्वादि स्थानमहिम्ना "अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुरः प्राक् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते।" (च. चि. अ. १५) इत्यादिना चरकोक्तं तन्नैष्ठिकपाकाभावादेवेहानधिकृतम्। उक्तानि परमतानि दूषयति—तत्तु न सम्यगिति। अत्र हेतुः—भूतगुणादिति। अत्र च 'पाकात्' इति शेषः। तत्र 'तत्र पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति' इत्यादिना वक्तव्यगुरु-लघुलक्षणद्वैविध्येन द्विविधस्यैव पाकस्योपपन्नत्वादित्यर्थः। आगमादिति आगमस्त्वाह इत्यादिना दर्शनीयागमात्। पित्तस्य तु विदाहावस्थायामम्लपाकता भवति, तया समं पाकत्रैविध्यं येऽभिमन्यन्ते तन्मतं चतुर्थलवणपाकप्रसंगेन दूषयन्नाह —पित्तं हि विदग्धमित्यादि। आगमादिति यदुक्तं तद् व्याकरोति—आगमस्त्विहेत्यादि। आगम इह धन्वन्तरिवचनं ; तमनुवदति—'द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च' इति। मधुर-कटुकपाकयोर्यथाक्रमं गुरुतां लघुतां च चिकित्सोपयुक्तां दर्शयति—तयोर्मधुराख्य इत्यादि। मधुरे गौरवस्य कटौ च पाके लाघवस्योपपत्तिं दर्शयन् भूतगुणादिति हेतुं च व्याकरोति—तत्र पृथिवीत्यादि। पञ्चानां भूतानां कथं द्वैविध्यमित्याह—तद्गुणसाधर्म्यादिति। अम्लपाकतया पित्तकरत्वं यथा—"मधुरश्चाम्लपाकश्च व्रीहिः पित्तकरो गुरुः।" (च. सू. अ. २७), "उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः। कुलत्थाः" (च. सू. अ. २७) इत्यादौ ; तथा विपाकगुणे "पित्तकृत सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।" (च. सू. अ. २६) इति चरकोक्तं, तत्सर्वं सुश्रुते उष्णवीर्यकार्यं क्वचिद् द्रव्यस्वभाव इति च

स्वीक्रियते। तेन प्रमेये द्रव्यगुणे चरक-सुश्रुतयोर्विप्रतिपत्तिर्नास्त्येव। यत्त्वत्र वक्तव्यं "पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः। विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणान् परिवर्धयेत्॥" (सु. सू. अ. ४६) इत्येनेन पञ्चधा पाकोऽभिहितः, स द्रव्यस्वरूप-चिन्तनीयो, नैतत्पाकद्वयविरोधी; यथा पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि द्रव्याणां सौम्याग्नेयत्वाद् द्वैविध्यं भवति। या तु चरके अवस्थापाकाभिधाने अन्तिमपाके कटुताऽभिहिता— "पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटु-भावतः॥" (च. चि. अ. १५) इत्यनेन, सा वातप्रकोपमात्रे हेतुः, न नैष्ठिकमधुर-पाकाधेयस्सृष्टमूत्रपुरीषता-सम्यक्शुक्रजननादिविरोधिनीति न विरोधः (च. द.)। अपरं विपाकवादिमतं निर्दिशन्नाह—नेत्याहुरित्यादि। नेत्याहुरन्ये वीर्यं प्रधानमिति केचिच्च ब्रुवते। तर्हि किं प्रधानं? विपाकः प्रधानमिति; विशिष्टः पाको विपाकः। सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानीति इह सर्वशब्दो वामनीयद्रव्याणि वर्जयित्वा ज्ञेयः। गुणं दोषं वा जनयन्तीति गुणं सम्यग्विपक्वानि, दोषं मिथ्याविपक्वानि। प्रतिरसं पाक इति रसं रसं प्रति पाक उत्पद्यत इत्यर्थः। तत्तु न सम्यक्, त्रैविध्यं न सम्यगित्यर्थः। कथं पुनस्त्रैविध्यं न सम्यगित्याह—भूतगुणादित्यादि। एतेन त्रैविध्यं निरस्तम्। प्रतिरसं पाक इति पूर्वोक्तं स्थापयन्नाह—मधुरो मधुरस्येत्यादि। अम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामितिकेचिदाहुरिति पदच्छेदः। दृष्टान्तं चोपदिशन्तीति प्रतिरसपाके इत्यर्थः। उखागतं स्थालीगतम्। प्रकीर्णा इति भूमौ निक्षिप्ताः फलितपर्यन्ता इत्यर्थः। तद्वदिति एवं रसा अपि जठराग्निपक्वाः स्वं स्वं मधुरादिकं न त्यजन्ति। तस्मादित्यादि— तस्मात् केचित् प्रतिरसं पाकः, केचिद् त्रिविधः, अन्येऽबलवन्तो बलवतां वशमा-यान्तीति मतानामनियतत्वं; तस्मादसिद्धान्त एव अनागम एव इत्यर्थः। स्वमत-मिदानीं दर्शयन्नाह—आगमे इत्यादि। आगमे शास्त्रे। अन्ये 'आगमस्त्विह' इति पठन्ति; तत्र तु शब्दोऽप्यर्थः; अथवा विशेषार्थस्तुशब्दः, तेन प्रत्यक्षादिप्रमाणा-विरुद्धोऽपि शिष्टागम इत्यर्थ; अथवा, आगमशब्दोऽयं सिद्धान्तवचनः, तेन सिद्धान्तः पुनरिहेत्यर्थः। पृथिव्यप्तेज इत्यादि। पृथिव्यादीनां गुणसाधर्म्याद् गुणसमानतया द्वैविध्यं भवतीत्यर्थः। गुणमेवाह— गुरुता लघुता चेति। भवन्ति चात्रेत्यादि। निर्वर्तन्तेऽधिका इति जायन्ते उत्कटा इत्यर्थः (ङ)। वीर्यप्राधान्यवादिमत-मवमत्य 'विपाकः प्रधानम्' एवंवादिनो मतमनुसंधत्ते—नेत्यादिना। ××× सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वादिति सम्यक् मिथ्या वा विपाको येषां तेषां भावस्तस्मात्। सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वादेव द्रव्याणां कार्यकरत्वात् विपाकः प्रधानमित्येव स्फुटी-कृत्यावगमयति—इहेत्यादिना। सर्वशब्देनेह वमनादितरद्रव्याण्येवाभिप्रेयन्ते, तस्य विपाकमन्तरेणैव कार्यकरत्वात्। अत्र द्रव्यगुणानुरूपो निष्ठापाकः सम्यग्विपाक उच्यते, तद्विपरीतस्तु मिथ्याविपाकः। तयोराद्यः कटुकश्चित्रकः पाकेऽपि कटुक इत्यादौ, द्वितीयस्तु कटुका पिप्पली पाके मधुरा इत्येवमादौ बुभुत्सितव्यः। गुणं

दोषं वेति वाशब्दश्चार्थे, सम्यग्विपक्कानि मिथ्याविपक्कानि वा गुणं दोषं च जनयन्तीत्यर्थः। तद्यथा—सम्यग्विपक्वश्चित्रकोऽग्निसंदीपनादिरूपं गुणं, रूक्षमूत्रत्वादिरूपं दोषं च, जनयति ; मिथ्याविपक्का पिप्पली च शुक्रवर्धनादिरूपं गुणं, प्रक्लेदजननादिरूपं दोषं च, जनयति। यदाह चरकः—"पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यः" (च. वि. अ. १) इति। यद्वा अग्निसाम्यान्न हीनं नापि चाधिकं निष्ठापाकः सम्यग्विपाकः, तदन्यस्त्वग्निवैषम्यान्मिथ्याविपाकः। तत्र सम्यग्विपाके यथोक्ता गुणाः, मिथ्याविपाके चामादिदोषाः संभवन्तीत्यायुर्वेदविदो भाषन्ते ; तस्माद्वीर्यमपि विपाकाधीनं भवतीति निश्चीयते विपाकविशेषेण तद्विशेषादित्यतः "रसं विपाकस्तौ वीर्यं" (च. सू. अ. २६) इत्यस्यानादरादुपपन्नं भवति— सम्यङ्मिथ्याविपक्कानि गुणं दोषं वा जनयन्तीति। नातो विपाकप्राधान्यं प्रति न काचिद्विप्रतिपत्तिरित्ययमभिसंधिः। संप्रति स्वाभिमतं विपाकप्रकारद्वयमुपदिदिक्षुः प्रथमं तावत् षडविधविपाकवादिनां त्रिविधविपाकवादिनां च मतमुपन्यस्य दूषयति—तत्राहुरन्य इत्यादिना लवणतामुपैति इत्यन्तेन संदर्भेण। भूतगुणादिति भूतशब्देनेह प्रत्यासत्त्या भूम्यग्नी अभिधीयेते, वक्ष्यति हि "भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः" (सु. सू. अ. ४२) इति ; तथा चाम्लगता ह्यग्निगुणा विपाचकाग्निगुणैः सामान्यादभिवृद्ध्या, अल्पानां स्थूल-सार-सान्द्रादीनां विरुद्धानां तत्रस्थानां भूमिगुणानामवजयाय भवन्तीत्यम्लो रसोऽग्निगुणबाहुल्यात् कटु विपच्यते नैवाम्लं, तदिदमुपन्नं भवति —भूतगुणादिति। न चैवंगते "तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यनागतावेक्षणादनयैव युक्त्या कटुविपाकमर्हो लवणो रसः कथं मधुरं विपच्यत इति वाच्यं, तोयस्याग्न्यवजयस्वभावदर्शनात्। दृढप्रतिपत्तये हेत्वन्तरमुपन्यस्यति—आगमाच्चेति। आगमस्तावत् "द्रव्येषु पच्यमानेषु" इत्यादिर्वक्ष्यमाणः। नन्वेतच्चेत्तत्त्वं कथं तर्ह्याहारोत्तरकालादौ छर्दयतामम्ल आगच्छेदित्याशंक्याह—पित्तमित्यादि। हिशब्दोऽवधारणार्थः। एतेन प्रतिरसविपाकवादिनस्त्रिविधविपाकवादिनश्च निरस्यन्ते, तथाविधस्याम्लस्य विपाकत्वानुपपत्तेः। न चैतावताऽपि त्रिविमधविपाकवादिनो निरस्यन्त एकान्तेन यथाकथंचित् पाकत्रैविध्यवादिनो हि ते तथाविधाम्लतामादायैव त्रिविधं विपाकमिच्छन्तीत्येवं ये प्रत्यवतिष्ठन्ते तान्निरस्यन्नाह—यदीत्यादि। यदीत्यभ्युपगमार्थः। एवमुक्तप्रकारश्चेदम्लः पाक इष्टस्तर्हि लवणोऽपि अन्यश्चतुर्थः पाको भविष्यतीति त्रैविध्यपरिहानिर्दुरपनेयेत्ययमभिसंधिः। पुनरपि मतान्तरद्वितयमुपन्यस्य दूषयति—मधुर इत्यादिना। अम्लविपाकपरिखण्डनेनैव खण्डिते अप्येते अन्यथा दूषणाय इहोपात्ते इत्यनुसंधेयम्। सर्वेषामिति संयुक्तासंयुक्तानाम्। उखागतं स्थालीस्थम्। प्रकीर्णा इति उप्ताः। उत्तरकाले प्ररोहकाले। अवलवन्तोऽणुत्वेन दुर्बलाः, बलवतां व्यक्तानां, वशमायत्ततामायान्तीति 'बलीयसा दुर्बलं बाध्यते' इति न्यायादिति भावः। अनवस्थितिरिति रसानुरसकल्पनेन रसानामपरिसंख्ये-

यत्रादित्यत्रयेयम् । यदाह चरकः—"त्रिषष्टिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात् । रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ॥" (च. सू. अ. २६) इति । एष द्विविधो विपाकवादमार्गः । स्यादेतत् परमार्थतस्तु कतिविधः पाक इत्याह—आगम इत्यादि । हिशब्दः सिद्धान्तानुसरणार्थः । कुतस्तु खलु गुरुर्लघुश्चेति द्विविधो विपाको भवितुमर्हति, विपाको हि नाम रसपरिणामविशेष इति निश्चीयते "जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम् ।" (अ. हृ. सू. अ. ९) इत्याद्यनुशासनात्; रसस्त्वाप्यः, आप्यश्च गुरुरिति विश्वजनीनस्फुटतरा प्रतीतिर्न शक्या वचनशतैरप्यन्यथयितुम्, न ह्यागमाः सहस्रमपि उष्णमग्निं शीतं कर्तुमीशत इत्याह—तत्रेत्यादि । तत्र विपाकाभिनिर्वृत्तौ पृथिव्यादीनां गुणसाधर्म्याद् गुरुत्व-लघुत्वधर्म्यसाम्याद् गुरुता लघुता चेति द्वैविध्यं भवति । साधर्म्यं भागशो दर्शयति—पृथिव्यापश्चेत्यादिना । एतेन पृथिव्यपां गुरुत्वं साधर्म्यं, शेषाणां तु लघुत्वम्, इत्याविष्कृतं भवति, तस्मात् पृथिव्यादीनां द्वैविध्याद्विपाकोऽपि 'द्विविध एव भवति, कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वेति भावः । उक्तमर्थं स्फुटीकृत्यावगमयति—द्रव्येष्वित्यादिना श्लोकद्वितयेन । अतिरोहितार्थमेतत् (हा.)॥

विपाकविषये सुश्रुतमतानुयायिनो भदन्तनगार्जुनस्य मतम्—

परिणामलक्षणो विपाकः (र. वै. अ. १ सू. १७०) परिणामोऽर्थान्तरभावः, जीर्तिरित्यर्थः । एवं विदाहानामपि पाकावयवत्वं युज्यते (भा.) । अतः परं विपाकचिन्ता—यथारसं विपाकमेके ब्रुवते (र. वै. अ. ४ सू. ३१) । यथारसं मधुरो मधुरं पच्यते, कटुकः कटुकं पच्यते, इत्येवमादि ; एवमेके आचार्या मन्यन्ते (भा.) । न, भिन्नलक्षणत्वात् (सू. ३२) । नायं पक्षः साधुः । कुतः ? भिन्नलक्षणत्वात् ; 'आस्वादग्राह्यो रसः', 'परिणामलक्षणो विपाकः इति । विपाकस्य मधुरता कथमास्वाद्यते ? यद्यास्वाद्येत, रसलक्षणत्वाद् रस एवेति विपाकाभावः ; यदि नास्वाद्येत, कथं भवता 'मधुरं पच्यते' इत्युपलब्धमित्युक्तं भवति (भा.) । एवमुक्ते अपरस्त्वाह—विपाकद्वयपक्षेऽप्ययं प्रसङ्गस्तुल्यः (सू. ३३) । कथमिति ? 'मधुरः', 'कटुक' इति द्वौ शब्दौ रसस्यास्वादग्राह्यस्य वाचकौ । कथमास्वादेन रसो गृह्यते ? भिन्नलक्षणत्वादिति (भा.) । एवमुक्ते यथारसविपाकप्रतिषेधिना मधुर-कटुकशब्दाभ्यामस्माभिर्न रसौ परिगृहीतौ, चिरादचिरादिति द्वौ कालौ परिगृहीतौ, इत्युक्ते परः प्राह—किमस्माक पि रसशब्दानां कालवाचकत्वे प्रतिषेधो विद्यते ? (सू. ३४) तस्मादत्रापि कालवाचका रसशब्दा इति (भा.) । अत्राह—शब्दान्तरेण कालस्य ग्रहणमिति चेत्, कतमे षट् कालाः ? (सू. ३५) । शब्दान्तरेण कालवाचकादन्येन रसवाचकेन शब्देन यदि कालः परिगृह्येत इति, कतमे षट् कालाः ? न सन्तीत्युक्तं भवति । अस्माकं

युनर्विद्यते द्वौ कालौ चिरात्, अचिरात्, इति (भा.)। तथा गुणाः (३६)। शब्दान्तरेण गुणा गृह्यन्ते। यथा—मधुराख्यो गुरुः पाकः, कटुकाख्यो लघुरिति। तच्च नापपद्यते, गुणमुखेनापि कालषट्कस्यासंभवादिति (भा.)। रसस्यैवेति चेत्; केनचित् कथंचित् कस्यचिच्च विपाकादसम्यक् (सू. ३७)। अयं तावन्मधुरशब्दस्त्वस्मदीये पक्षे न गुणवाचकः कालवाचको वा, तस्मान्मुख्य एव रसवाचकः स्यादिति चेत्, अस्माभिर्मुख्याभिधाने शब्दस्यासंभवान् दृष्ट्वा गुणपक्ष आश्रित इत्युक्तं भवति। अनेन वाचकेन कथमसंभव इति? केनचिद् विपाको रसेन भवति, अन्येनाग्निना भवति; एतदुक्तं भवति—अग्निसान्निध्यादग्निपाकः प्रवर्तमानः कथं जिह्वेन्द्रियसन्निकर्षग्राह्यरसार्थवाचकेन शब्देन मधुरः, कटुक इत्युच्यते तस्माच्च मुख्यशब्दार्थकल्पना युक्ता। कथंचिद्विपाकाच्च न रसस्यैव वाचको मधुरशब्दः। विपाकः प्रकारेण 'गुरुः, लघुः' इति कथ्यते। प्रकारः कालापेक्षया चिरादचिरादिति। एवमन्याकारापेक्षस्यार्थस्य विपाकसंज्ञकस्य कथं रसशब्देन कथनं मुख्यवचनं भवति। कस्यचिच्च विपाकाच्च रसशब्दवाच्यत्वं यस्य कस्यचिद्भवति द्रव्यस्य वा पाकः, रसस्य वा, गुणस्य वा, वीर्यस्य वा, "द्रव्य-रस-गुण-वीर्याणां विपाकः[१]" (र. वै. अ. २, सू. २७) इति वचनात्। तस्मादेव-मन्यपदार्थवर्तिनः क्रियायां रसशब्दस्य मुख्यस्य प्रवृत्तिरुपपद्यत इति मधुर-कटुक-शब्दाभ्यां रसवचनमसम्यगिति (भा.)। एकरसोपयोगे वाऽनेकोपलब्धेः (सू. ३८) एवं प्रसंगागतमपोह्य इदानीमपि यथारसत्वे विपाकस्यासंभवं प्रदर्शयन्नाह—एकेत्यादि। एकरसस्य मधुरस्य कटुकस्य वा उपयोगे अनेकस्य भिन्नस्य विपाकस्योपलब्धेर्न यथारसं विपाकः। यथा—मधुरं क्षीरं मधुरविपाकं, मधुरं घृतं कटुकविपाकं[२], कटुका पिप्पली मधुरविपाका। यदि यथारसं विपाकः स्यात् मधुरेण घृतेन मधुरविपाकेन भवितव्यं, तथा पिप्पल्याऽपि कटुकविपाकया भवितव्यमिति (भा.)। परोक्षत्वाच्चात्यन्तम् (सू. ३९) अयं चापरो हेतुर्यथारसविपाकपक्षबाधकः—परोक्षेत्यादि। अक्षाणां परतो वर्तत इति परोक्षं, परिणामकाले रसानां कथमुपलब्धिर्भवत्यन्यत्र वर्तमानत्वादिति। तस्यां रसानाम-नुपलब्ध्यां कथं यथारसत्वं ज्ञायत इति। भिन्नलक्षणत्वादित्यनेनैवास्यार्थस्य सिद्धेरिदं वाक्यान्तरं नारब्धव्यमिति। अस्त्यत्र स विशेषः। कथमिति? न

१—ते चत्वारः पदार्थाः पच्यन्तेऽग्निना, तस्मादेतेषां पाकक्रिया पाकस्य विषयप्रदर्शनार्थमुक्ता। कर्मणः प्रयोगलक्षणस्याग्निना साान्निध्याभावाद् विपाकविषयता नास्ति (भा.)।

२—भाष्यकारोक्तं घृतस्य कटुविपाकत्वं चिन्त्यं, चरकादौ घृतस्य मधुर (गुरु)-विपाकत्वेनोक्तत्वात्।

भिन्नलक्षणत्वादित्यनेन विपाक-रसयोरेकत्वमेवेति। यथारसत्वे विपाकस्य परिकल्प्यमाने उभयोरास्वादग्राह्यत्वादिति। तस्माल्लक्षणभेददर्शनान्नास्त्येकत्वमिति। परोक्षत्वादित्यनेन रसनेन्द्रियग्राह्यस्य विषयभावमेव नोपगच्छति विपाकः। कथं तस्य रसस्य च भेदः परिच्छिद्यत इति (भा.)। यथास्वं दोषवर्धनात् त्रय इत्येके (सू. ४०)। विपाकं प्रत्यन्यत् पक्षान्तरमाह—यथास्वमित्यादि। यथास्वयं दोषवर्धनाद्, यथा—मधुरो मधुरं श्लेष्माणम्, अम्लोऽम्लं पित्तं, कटुकः कटुकं वायुमिति (भा.)। न, क्षीरादानां बलानां सर्वदोषप्रकोपात् (सू. ४१)। त्रित्वप्रतिषेधार्थमिदमुच्यते—नेत्यादि। त्रयो विपाका इति नोपपद्यते। कुतः? इति हेतोरसंभवात्। यथास्वं दोषवर्धनादित्ययमसिद्धः, क्षीरादानां बालानां मधुरविपाकं क्षीरमेवोपयुञ्जानानां त्रयोऽपि दोषाः प्रकुप्यन्ति, तस्मादेकेन विपाकेन त्रयोऽपि दोषाः प्रकोपमुपयान्तीति विपाकनिमित्तः प्रकोपो न स्यात्। सर्वदोषप्रकोपादित्यत्र विपाकत्रयवादी प्राह—सर्वप्रकोपस्तत्रैकदोषप्रकोपात् (सू. ४२) क्षीरपस्य सर्वदोषप्रकोपो न विपाकनिमित्तः। अत्र सर्वशब्दः दोषसाकल्यवाची। एकस्यैव श्लेष्मणः प्रकोपाद् भवति। "एकश्च दोषः कुपितः सर्वानेव प्रकोपयेत्।" इति (भा.)। न, प्रकोपदर्शनात् पर्यायेण (सू. ४३)। अत्रोत्तरम्—नेत्यादि। यदि कुपितदोषघट्टननिमित्तः स्याच्छेषदोषप्रकोपः, सर्वकालं श्लेष्मप्रकोपपूर्वक एव स्यात्। एवं न भवति, पर्यायेण भवति। पर्याय आत्मनः पर्यायक्रमः, कदाचित् पित्तस्यैव, कदाचिद्वायोरेवेति। तस्मादेकदोषप्रकोपादिति न युक्तम् (भा.)। तत्रोपहतत्वाद् विपर्ययः पाकस्य (सू. ४४)। एवं पूर्वक एवासिद्धदोष इति व्यवस्थिते पर आह—तत्रेत्यादि। तत्र पर्यायेण प्रकोपे उपहतत्वाद् दुष्टत्वाद् विपाकस्य, मधुरविपाकं क्षीरं धात्र्यास्त्वपचारैर्दूषितमम्लविपाकं कटुकविपाकं वा भवति, तदा यथास्वं दोषवर्धनमेव भवति; तस्मात् त्रय एव विपाका इति (भा.)। संसृष्टस्यानुपपत्तिः (सू. ४५)। अस्मिन् पक्षेऽन्यथा दोषमुद्भावयति—संसृष्टस्येत्यादि (भा.)। प्रचितस्य प्रकोपात्, एकेन चानेकस्याप्रचयात्; प्रतिज्ञाहानिर्वा सति प्रचये (सू. ४६)। कथं संसृष्टस्यानुपपत्तिरित्याह—प्रचितस्येत्यादि। प्रचितो हि दोषः प्रकोपं गच्छति। एकैकविपाकेऽनेकस्याप्रचयात् प्रचयासंभवादित्यर्थः। दुष्टेन हि क्षीरेणाम्लेन कटुकेन विपन्नमाधुर्येण वा भवितव्यं, नहि युगपत् कटुकाद्यापत्तिः। तस्मादेकस्यैव प्रचयहेतुसंभवः। यथास्वं दोषवर्धनादिति प्रतिज्ञानादेवमुक्तमप्रचयादिति। एवमसंभवं दृष्ट्वा एकेनैव विपाकेनान्यस्यापि दोषस्य प्रचयो भवतीति मतं स्यात्। तत्र प्रतिज्ञा हीयते पूर्वा (भा.)। यथास्वं दोषवर्धनात् प्रशमनाभावः (सू. ४७)। यदि त्रयो विपाकास्त्रयाणां दोषाणां वर्धनप्रयोजनाः, विपाकनिमित्तं दोषप्रशमनं न स्यात्। किं जातम्, अन्यैर्गुण-रसादिभिः प्रशमनं भवतीति चेत्?

शास्त्रेषूक्तस्य प्रशमनस्याभाव इति शास्त्रेण विरोधः प्रदर्शितो भवति। यथा—मधुरं शीतं स्निग्धं सर्पिः श्लेष्माणं शमयति, लघुविपाकत्वादिति[1] (भा.)। कस्मात् प्रशमनं नास्ति? अस्त्येव प्रशमनम् (सू. ४८)॥ पूर्वपाक्षिकस्त्वाह—कस्मादित्यादि। यथा—मधुरविपाकेन पित्तस्य प्रशमनम्, अम्लेन वायोः, कटुकेन श्लेष्मण इति (भा.)। सति वा प्रशमने यथास्वं दोषवर्धनं न भवति (सू. ४९)। अत्राह—सति वेत्यादि। एवं प्रशमने परिकल्प्यमाने वर्धनं न स्यादिति। अत्र पूर्वपाक्षिकस्य वचनावकाशो विद्यते, कस्मात्? उभयकर्तृकत्वमेकस्यैव विपाकस्य न भवति, रसस्यै(स्ये) व। यथा—मधुरो रसः श्लेष्माणं वर्धयति, पित्तं शमयति; तद्वन्मधुरविपाकोऽपि श्लेष्माणं वर्धयति, पित्तं शमयति, 'वर्धनास्त्रयः' इत्युच्यन्ते 'शमनाश्च त्रयः' इति। कस्मान्न भवति? विशेषहेत्वभावादिति। अस्योत्तराभासस्य प्रदर्शनार्थमुक्तमिति। केचिदत्राप्यस्त्येव वचनावकाशः। कस्मात्? मधुरस्य श्लेष्मवर्धनात् पित्तशमनाभेदो न स्यादिति। तस्मादेतत् सति वा प्रशमने यथास्वं दोषवर्धनं नास्तीति वाक्यार्थस्य न भवतीत्यपोहते कश्चिदिति (भा.)। कालतो गुणतो रसतश्चानुपपत्तिः त्रित्वस्य (सू. ५०)। एवं परस्य हेतुदूषणं कृत्वा विपाकद्वित्वसाधकानां हेतूनां त्रित्वसाधकत्वेऽभावं दर्शयन्नाह—कालत इत्यादि। कालतस्त्रित्वं नोपपद्यते, चिराचिरकालव्यतिरिक्तस्याभावात्; पूर्वं 'कतमे षट् काला' इत्यत्र कृतभाष्यम्। गुणतश्च त्रित्वं नोपपद्यते; गुरुभूतजनिता, लघुभूतजनिता, इति गुणद्वैविध्यादिति। रसतश्च त्रित्वस्यानुपपत्तिः; कटुक-तिक्त-कषायास्तु लघवो, गुरवः परे, इति द्विविधभेदावरोधादिति। रसत इत्यस्यायमर्थो न भवति, गुणत इत्यत्रैवावरोधात्। तस्मादन्यथा वर्ण्यते—यथाऽस्माकं मधुर-कटुक-शब्दौ रसवाचकौ मुख्यौ गुणवृत्त्या विपाकेऽध्यारोपितौ, तथाऽम्लशब्दस्य विपाकेऽर्थान्तरेऽध्यारोपयितुं न शक्यते गौरवाभावादिति; हेत्वभावो "मधुरो गौरवाल्लघुत्वात् कटुक" इत्यस्य वाक्यस्य भाष्ये प्रदर्श्यते (भा.)। द्वौ, द्वैविध्यदर्शनात् परिणामस्य (सू. ५०)। इदानीं विपाकस्य स्थितिपक्षं प्रदर्शयन्नाह—द्वावित्यादि। द्वैविध्येन दर्शनात् परिणामद्वैविध्येन दर्शनात्, परिणामस्येति द्वौ विपाकौ द्वैविध्येन दर्शनादिति द्विधादर्शनात् तस्य परिणामस्य। पाकस्येति वक्तव्ये परिणामग्रहणं दृष्टान्तवाक्यत्वादस्य विपाकलक्षणस्य परिणामार्थान्तरभावगमनस्य द्वैविध्येन लोके दर्शनात्। यथा खदिरसारादीनि चिरादग्निसंयोगे परिणामं गच्छन्ति, पलालादीन्यचिरादिति (भा.) गुणकारणत्वाद् गुणद्वैविध्याच्च (सू. ५१)। इदानीं हेतुः—

१—भाष्यकारोक्तं 'लघुविपाकत्वात्' इति चिन्त्यं, सुश्रुतेन "घृतं गुरु, विपाके मधुरं" (सु. सू. अ. ४५) इति प्रोक्तत्वात्।

गुणेत्यादि। इह पाकस्य कारणभूता गुरवश्चिरात् पाकस्य कारणं, लघवोऽचिरात् पाकस्य, इति गुणद्वैविध्यं, भूतानां द्वैविध्यात्; पूर्वे गुरुणी, पराणि लघूनीति; न तृतीयः पाकः, तत्परिच्छेदककालाभावात्। यत्र यस्य परिच्छेदकं नास्ति, तस्याभावो दृष्टः। तद्यथा—द्वितीयमनीश्वरशिर इति। अथवा द्वौ विपाकौ, तत्कारणद्वैविध्यात्। यत्र कारणद्वैविध्यं तत्र कार्यद्वैविध्यं दृष्टम्। यथा—गोश्रृङ्गयोः वैधर्म्यं खड्गश्रृङ्गं योज्यम् (भा.)। मधुरो गुरुत्वात्, लघुत्वाच्च कटुकः (सू. ५२)। गुणकारणत्वाद् द्वैविध्यमित्युक्तं, तत्र कस्य विपाकस्य को गुणः कारणमिति न ज्ञायत इत्यत्राह—मधुर इत्यादि। मधुरशब्दवाच्यो गुरुगुणनिमित्तः, कटुकशब्दवाच्यो लघुगुणनिमित्तः। अत्र द्रव्यादयः षट् पदार्था उद्दिष्टाः साधनभूताः, तेषु विपाकस्य लक्षणमुपदिशता 'परिणामलक्षणो विपाक' (र. वै. अ. १, सू. १७०) इति विपाकस्य लक्षणमुक्तं; तस्य भेदमुपदिशता मधुरः, कटुक, इति रसभेद उक्तः; मधुर-कटुकशब्दयोरर्थतत्त्वाभिधाने गुणभेद उक्तः, तयोर्मधुराख्यो गुरुरिति; एवं (कथं) सर्वत्र मुख्यशब्दार्थलङ्घनं कृत्वा रसशब्देन गुणाभिधानं, गुणशब्देन परिणामाभिधानमिति? उच्यते—त्रिविधा हि शब्दाः—नित्यमेव गौणाः, नित्यं मुख्याः, गौणमुख्याश्चेति। प्रवीण-कुशलादयः शब्दास्तु गौणा एव, पचति पठतीत्यादयो मुख्या एव, सिंहादयस्तु गौणाश्च मुख्याश्च। मृगे सिंहशब्दो मुख्यः, सिंहोऽयं माणवक इत्यत्र गौणः। इहापि मधुरशब्दो रसे मुख्यः, गुणे गौणः, यत्नोपपाद्यत्वात् साक्षादास्वादग्राह्ये इहाप्रवृत्तेः। कुत्सा-प्रशंसादिगुणसारूप्यात् सिंहशब्दादिषु भवति, अत्र कथम्? अत्राप्यस्ति सारूप्यमेक-हेतुजन्यत्वं—मधुरोऽपि पार्थिवाप्यः, गुरुरपि गुणः पार्थिवाप्य इति, तथा गुणशब्दोऽपि परिणामे गुरुर्लघुरिति; गौणगुरुगुणजनितः परिणामे गुरुरित्युक्तः, लघुगुणजनितो लघुरिति। आह च—"गुणमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते। तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते, गौणं यत्नोपपादितम्॥" इति (भा.)। वर्धन-क्षपण-प्रशमन-प्रकोपेषु तयोरनियमः (सू. ५३)। "यथास्वं दोषवर्धनाख्यः" इत्यत्र तेषां वर्धनं नैयम्येनोक्तं, किमत्र द्वयोरपि पाकयोर्वर्धनादिनियमो विद्यत इत्याह—वर्धने-त्यादि। एतेषु दोषाणां वर्धनादिषु द्वयोर्विपाकयोर्नियमो नास्ति। अत्र वर्धनं संचयः। लघुविपाकः क्वचिद् वर्धयति। यथा—लघुविपाकमुदकं श्लेष्माणं वर्धयति, लघुविपाकं मधु श्लेष्माणं हरतीति। तस्मादयमेव गुरुविपाको वर्धन एव, लघुविपाकः शमन एव, इति नियमो नास्ति; अथवा लघुविपाकः श्लेष्माणं शमयति, तथा गुरुविपाकोऽपीति (भा.)। मधुरो गुरुभ्यां, कटुर्लघुभिः (सू. ५४)। गुणकारणत्वं कथं भवतीत्याह—मधुर इत्यादि। मधुरो विपाको गुरुभ्यां पृथिव्युदकाभ्यां भवति, कटुर्लघुभिरिति त्रिभिरग्न्यादिभिर्भवति। एवं भूतै-राधिक्यान्निर्वर्त्यमाने पाके तद्गुणसमावेशाच्चिरादचिराच्चेति विशेषो भवतीति।

आह च—"द्रव्यस्य पच्यमानस्य यस्यापां धातुरुत्तमः। निर्वर्तते पार्थिवश्च तस्य पाको ध्रुवं गुरुः ॥ आपो निर्वर्त्यमाना हि मृदुं कुर्वन्ति पावकम्। पृथिवी-धातुरप्येवं तस्मात् पाकस्तयोर्गुरुः ॥ एतत्तु गुरुपाकानां द्रव्याणां पाकलक्षणम् । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि लघुपाकं यथा भवेत् ॥ हीनश्च पृथिवीधातुर्विविक्तास्त्वब्गुणाः स्मृताः। यस्मिन् द्रव्ये भवन्त्येवं तस्य पाको ध्रुवं लघुः ॥" इति (भा.) ॥

यथारसं जगुः पाकान् षट् केचित्तदसांप्रतम्।
यत् स्वादुर्व्रीहिरम्लत्वं न चाम्लमपि दाडिमम् ॥
याति तैलं च कटुतां कटुकाऽपि न पिप्पली।
यथारसत्वे पाकानां न स्यादेवं विपर्ययः ॥ (अ. सं. अ. १७)

विपाक उपसंह्रियते—यथारसमित्यादि। केचिदाचार्या रसानतिक्रमेण पाकषट्कं जगुः अवदन्। यथारसमिति यथाविधो रसः स्वरूपेण तथाविध एव तस्य विपाकः; तेन मधुरस्य मधुरो विपाकः, कटुः कटोः, कषायः कषायस्येत्यादि। तच्चाचार्यमत-मसांप्रतम् अयुक्तमिति। कुतः? व्यभिचारात्। एतदेवोदाहरणेन दर्शयति—यदि-त्यादि। यदि हि रससदृशः सर्वस्य विपाकः स्यात् तदेवं विपर्ययो न स्यात्। (इन्दुः) ॥

अब दूसरे धन्वन्तरिसंप्रदायके या सुश्रुतके मतसे विपाकका निरूपण किया जाता है। सुश्रुतने प्रारम्भमें एकीयमतसे विपाकका प्राधान्य दिखलाकर उस समय विपाकके विषयमें प्रचलित अन्य वादियोंके मत देकर उनका खण्डन किया है, और पीछे गुरु और लघु ये दो ही विपाक हैं, ऐसा अपना मत स्थापित किया है।

एकीयमतसे विपाकप्राधान्यनिरूपण— कई आचार्य कहते हैं कि—द्रव्य, रस और वीर्य प्रधान नहीं हैं, किन्तु विपाक प्रधान है। क्योंकि—सब प्रकारके खाये हुए द्रव्योंका जठराग्निद्वारा सम्यक् पाक हो तो वे धातुसाम्य (आरोग्य) रूप गुण करते हैं, और यदि जठराग्निकी मन्दतासे हीनपाक हो तो आमविकाररूप दोष तथा जठराग्निकी तीक्ष्णतासे अतिपाक हो तो भस्मकविकाररूप दोष करते हैं (असम्यक्-पाकसे धातुवैषम्य होता है और धातुवैषम्यसे सब प्रकारके शारीर विकार होते हैं)। अतः सम्यग्विपाक आरोग्यरूप गुण और मिथ्याविपाक शारीर विकाररूप दोषका हेतु होनेसे विपाक ही द्रव्यादिसे प्रधान है। टीकाकारोंने 'सम्यङ्मिथ्याविपाकत्वात्' इसका और भी अर्थ किया है। जैसे—सम्यग्विपाक अर्थात् द्रव्यगुणानुरूप विपाक, जैसे—कटुरसवाले चित्रकका कटुविपाक; मिथ्याविपाक अर्थात् द्रव्यगुणसे विपरीत विपाक, जैसे कटुरसवाली पीपलका मधुरविपाक। उन्होंने 'गुणं दोषं वा' यहाँ 'वा' शब्दको 'च' कारके अर्थमें मानकर सम्यग्विपाक और मिथ्याविपाक दोनों गुण और दोष दोनोंको करते हैं, ऐसा अर्थ किया है। उदाहरण देते हुए कहते हैं कि— सम्यग्विपक्व चित्रक

अग्निसंदीतनरूप गुण और रुद्धसूत्रत्वादि दोष करता है, तथा मिथ्याविपक्व पिप्पली शुक्रवर्धनादि गुण और क्लेदजननरूप दोष करती है[1]।

विपाक निरूपण—कई आचार्य कहते हैं कि—मधुरका मधुर, अम्लका अम्ल लवण का लवण इत्यादि प्रकारसे प्रत्येक रसका अपने समान रसवाला विपाक होता है। वे इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे—दूधको पकाने पर भी वह मधुर ही रहता है, अथवा जैसे—चावल, जौ, मूँग आदि बोये जाते हैं तो वे अपना स्वभाव न छोड़कर उत्तर कालमें चावल, जौ, मूँग आदिके रूपमें ही उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार मधुरादि रस भी जठराग्निद्वारा परिपक्व होकर अपना स्वभाव नहीं छोड़ते—अर्थात् उनका विपाक मधुरादि रसके रूपमें ही होता है[2]। अन्य कई आचार्य कहते हैं कि जब अनेक रसवाला द्रव्य खाया जाता है तब जो रस दुर्बल होते हैं, वे बलवान् रसके वश हो जाते हैं। इसलिये आहारमें जो रस प्रबल होगा, तदनुसार ही विपाक

१—इस विषय में सुश्रुतकी व्याख्या में डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकरजी लिखते हैं कि—इसमें सन्देह नहीं कि औषधियोंका शरीर पर कार्य सम्यक् विपाक होनेके पश्चात् ही प्रायः होता है और इस हेतुसे विपाक प्रधान हो सकता है। जैसे कुनीन विषमज्वरके लिये बड़ी प्रभावी ओषधि है, परन्तु जब उसकी शर्करावगुण्ठित (Sugar coated) गोली सेवन की जाती है तब उसका विषमज्वर पर कभी-कभी प्रभाव योग्य विपाक न होनेके कारण नहीं पड़ता। तथा रस, वीर्य, विपाक और प्रभावमेंसे किसी एक की सर्वश्रेष्टता सर्वावस्थामें और सर्व ओषधियोंमें नहीं हो सकती है, न देखनेमें आती है। इसलिये आचार्योंमें इस विषय पर ऐकमत्य नहीं होता है। चरकसंहितामें तथा इस अध्याय के १४-१५ श्लोकोंमें इस मतभिन्नता का समन्वय बहुत सयुक्तिक किया गया है—"किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥" जैसे तिक्त, उष्णवीर्य और प्रभावी कुनीन अरोचकपीड़ित रोगोंमें केवल रससे रुचि उत्पन्न करता है, प्रतिश्याय-एन्फ्लुएञ्जा आदि कफोत्वण रोगसे पीड़ित रोगियोंमें उष्णवीर्यसे रोगनाशन करता है, ज्वर-निर्मुक्त अवस्थाकी दुर्बलतामें विपाकसे शक्ति देता है और विषमज्वरसे पीड़ित रोगोंमें प्रभावसे ज्वरनाशन करता है (सु. सू. पृ. २२२)।

२—इस मतके खण्डनमें वृद्धवाग्भट लिखते हैं कि कई आचार्य कहते हैं कि जैसा रस हो उसका वैसा ही विपाक होता है, परंतु यह कहना ठीक नहीं हैं। क्योंकि व्रीहि (चावल) मधुर होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है, दाड़िम अम्ल होने पर भी उसका विपाक मधुर होता है, तैल मधुर है परंतु उसका विपाक कटु होता है, पीपल कटु है परन्तु उसका विपाक मधुर होता है : यदि यथारस (जैसा रस वैसा ही) विपाक होता तो इसप्रकार विपर्यय देखनेमें नहीं आता।

होगा[1]। इसलिए अमुक एक रसका अमुक एक ही विपाक होता है ऐसी व्यवस्था नहीं होती, इसलिये विपाक अनवस्थित (अनियत) है। कई आचार्य तीन प्रकारका विपाक मानते हैं—मधुर, अम्ल और कटु। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं है। पंच-महाभूतोंके गुणोंको देखते हुए और आगमप्रमाणसे तीसरा अम्ल विपाक सिद्ध नहीं होता। पित्त आग्नेयगुणवाला होनेसे जब विदग्ध होता है तो अम्लरसको प्राप्त होता है। उसको यदि भिन्न विपाक माना जाय तो लवणको भी भिन्न विपाक मानना होगा; क्योंकि कफ जब विदग्ध होता है, तब लवणरसको प्राप्त होता है। इसप्रकार ऊपर कहे हुये मतोंमें एकवाक्यता देखनेमें नहीं आती, इसलिये ये सब सिद्धान्त नहीं हो सकते। धन्वन्तरिके मतमें दो प्रकारके ही विपाक हैं—मधुर और कटु। गुरु विपाकको मधुर नाम दिया जाता है और लघु विपाकको कटु नाम दिया जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतोंके तद्गत गुणोंके साधर्म्यसे दो विभाग होते हैं—गुरु और लघु। क्योंकि पृथिवी और जल ये दो गुरु हैं; और शेष तीन तेज, वायु और आकाश लघु हैं; इसलिए दो प्रकारका विपाक होता है—एक गुरु दूसरा लघु। द्रव्य जब जठराग्निके द्वारा पकते हैं, तब जिन द्रव्योंमें पृथिवी और जलके गुण अधिक होते हैं उनका मधुर अर्थात् गुरु विपाक होता है; और जिन द्रव्योंमें अग्नि, वायु तथा आकाशके गुण अधिक होते हैं उनका कटु अर्थात् लघु विपाक होता है। अर्थात् जिन द्रव्योंमें पृथिवी और जलके गुण अधिक होते हैं, वे विपाकमें गुरु (पचनेमें भारी-चिरकालसे पचनेवाले) होते हैं; तथा जिन द्रव्योंमें अग्नि, वायु और आकाशके गुण अधिक होते हैं, वे विपाकमें लघु (पचनेमें लघु-शीघ्र पचनेवाले) होते हैं[2]।

१—जो रस व्यक्त और मात्रामें अधिक हों वे बलवान् और जो इससे विपरीत हों वे दुर्बल कहलाते हैं। प्रत्येक रसका उसके सदृश विपाक होता है, और दुर्बल रस बलवान् रसके आगे दब जाते हैं इसलिये जो रस बलवान् होते हैं उनके सदृश पाक होता है, ये दोनों पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों मतोंमें रसके कार्यसे ही विपाकका कार्य जाना जा सकता है, अतः विपाकको रससे स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहती (शिवदाससेन)। अनवस्थितविपाकवाद भी षड्रसविपाकवादका ही एक भेद है। अनवस्थितविपाकवादी भी मधुर, अम्ल आदि छः प्रकारके विपाक मानते हैं।

२—विपाकके विषयमें सुश्रुतकी व्याख्यामें डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकरजी लिखते हैं कि—विपाक—महास्रोतमें जठराग्निके संयोगसे रसकारणभूत द्रव्योंका पचन होनेके पश्चात् शरीरमें जो रसान्तर उत्पन्न होता है वह विपाक है। विपाकको निष्ठापाक भी कहते हैं। छः रसोंके मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन

भदन्त नागार्जुन—कहते हैं कि परिणाम अर्थात् रूपान्तर होना—जरण (पाचन) होना यह विपाकका लक्षण है। कई आचार्य कहते हैं कि—मधुरादि छहों रसोंका अपने सदृश विपाक होता है। अतः रसभेदसे विपाक छः प्रकारका है। परंतु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि रस आस्वादग्राह्य है (जीभसे रसका ज्ञान होता है) और विपाक परिणाम लक्षण है (परिणाम देखकर विपाकका अनुमान किया जाता है)। इस प्रकार दोनोंके लक्षण भिन्न होनेसे और रस प्रत्यक्ष तथा विपाक नित्य परोक्ष होनेसे मधुरका मधुर विपाक होता है यह नहीं जाना जा सकता, अतः प्रत्येक रसका रसके सदृश विपाक होता है यह मानना ठीक नहीं है। कई आचार्य कहते हैं कि—मधुर, अम्ल और कटु ये तीन विपाक हैं। क्योंकि, कफ मधुर है उसकी उत्पत्ति (पोषण) मधुर रससे, पित्त अम्ल है उसकी उत्पत्ति अम्ल रससे और वायु कटु है उसकी उत्पत्ति कटु रससे होती है,[1] अतः तीन दोषोंकी उत्पत्तिके लिये तीन विपाक मानना ठीक है। इस मतका खण्डन करते हुए नागार्जुन कहते हैं—कालकी दृष्टिसे, गुणकी दृष्टिसे या रसकी दृष्टिसे विचार करनेसे तीन विपाक सिद्ध नहीं हो सकते। कालभेदसे तीन

विपाक चरकके अनुसार और मधुर तथा कटु दो ही विपाक सुश्रुत के अनुसार होते हैं। इन विपाकोंका कार्य रसके सदृश होता है। फर्क इतना ही है कि विपाकका कार्य सार्वदेहिक, अप्रत्यक्ष या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondary) तथा रससे बलवत्तर है। विपाकका बलाबल द्रव्यगत रसके बलाबलपर निर्भर होता है। यदि द्रव्य अत्यन्त मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट होता है, यदि मध्यम मधुर हो तो मध्यम होता है और यदि अल्पमधुर हो तो अल्पलक्षण होता है। रसका ज्ञान जिह्वाके साथ सम्बन्ध होते ही होता है, विपाकका ज्ञान शरीरमें ओषधियोंका पचन होनेके पीछे दोषोंकी वृद्धि, प्रकोप या प्रशमन देखकर होता है और वीर्यका ज्ञान कभी शरीरके साथ सम्बन्ध होते ही होता है, कभी शरीरपर जो कार्य होता है उससे और कभी दोनों प्रकारसे होता है। संक्षेपमें रसका ज्ञान प्रत्यक्ष, विपाकका अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेय तथा वीर्यका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारसे होता है। (सु. सू. पृ. २२०)।

१—कटु, अम्ल और लवणसे पित्तकी वृद्धि और मधुर, तिक्त तथा कषायसे पित्तकी शान्ति ; मधुर, अम्ल और लवणसे कफकी वृद्धि तथा कटु, तिक्त और कषायसे कफका ह्रास ; तथा कषाय, तिक्त और कटु रससे वातकी वृद्धि तथा मधुर अम्ल और लवणसे वायुका क्षय देखकर यह अनुमान होता है कि—पित्त कटु, अम्ल और लवण ; कफ मधुर, अम्ल तथा लवण और वायु कषाय, तिक्त तथा कटु रसवाला है। देखें इसी ग्रन्थमें पृ. १९६ पर उद्धृत कपिलका वचन।

विपाक नहीं बन सकते, क्योंकि चिरकाल और अचिरकालसे भिन्न तीसरा काल नहीं है; गुणसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि गुरु महाभूतोंसे उत्पन्न हुए रस गुरु और लघु महाभूतोंसे उत्पन्न हुए रस लघु—ऐसे गुणभेदसे दो ही रसभेद होते हैं, तीसरा भेद नहीं हो सकता। रसभेदसे भी तीन विपाक नहीं हो सकते, क्योंकि—जैसे हमने मधुर और कटु इन दो रसावाचक शब्दोंको गौणवृत्तिसे गुरु और लघु विपाक अर्थवाले माना है, वैसे अम्ल शब्दका अर्थान्तरमें (गुरु-लघुसे भिन्न अर्थमें) अध्यारोप नहीं कर सकते; क्योंकि महाभूतोंके गुणोंकी दृष्टिसे गुरु-और लघुसे भिन्न तीसरा भेद नहीं हैं, अतः विपाक दो ही हैं। लोकमें भी विपाकका लक्षण जो परिणाम वह दो प्रकारका ही देखनेमें आता है, जैसे-खैर आदिकी लकड़ी देरसे जलती है और घास शीघ्र जलती है। गुरु और लघु इन दो गुणोंके भेदसे महाभूतों के दो भेद होते हैं। पृथिवी तथा जल ये दो गुरु हैं और अग्नि, वायु तथा आकाश ये तीन लघु हैं। गुरु द्रव्य चिरकालसे पचते हैं और लघु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। गुरु गुणसे 'मधुर' नामका और लघु गुणसे 'कटु' नामका विपाक होता है। कोई प्रश्न करे कि—आपने 'परिणामलक्षण विपाक है' यह विपाकका लक्षण कहा और उसके भेद बताते हुए मधुर और कटु ऐसे दो रसभेदवाचक शब्दोंका प्रयोग किया यह असंगत है; तो उसका उत्तर यह है कि—शब्द तीन प्रकारके होते हैं—नित्य गौण, जैसे—प्रवीण, कुशल आदि; नित्य मुख्य, जैसे—पचति, पठति इत्यादि; कई मुख्य और गौण दोनों होते हैं, जैसे—'सिंह', सिंहशब्द सिंहमें मुख्य और 'यह बालक सिंह है' यहाँ गौण है। यहाँ भी मधुर और कटु शब्द रसके अर्थमें मुख्य और विपाकके अर्थमें गौण हैं। निन्दा, प्रशंसा आदि गुणोंके सादृश्यसे सिंह आदि शब्दोंका गौण अर्थमें प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ भी मधुर रस पार्थिव और आप्य है तथा गुरु गुण भी पार्थिव और आप्य है, इस प्रकार मधुर रस और गुरु गुणमें गुणसादृश्य होनेसे 'मधुर' शब्दका गुरु विपाकमें गौणरूपसे प्रयोग होता है; कटु रस आग्नेय और वायव्य है इसी प्रकार लघु गुण भी आग्नेय, वायव्य और नाभस है; अतः गौण वृत्तिसे लघु विपाकमें 'कटु' शब्दका प्रयोग किया गया है। गुरु गुणवाले पृथिवी और जलसे गुरु विपाक तथा लघुगुणवाले वायु, तेज और आकाशसे लघु विपाक होता है। जैसे तीन-तीन रस दोषोंके बढ़ाने या प्रकोप करने वाले हैं और तीन-तीन रस दोषोंका क्षय या प्रशम करनेवाले हैं, ऐसा विपाकमें नियम नहीं है। जैसे—लघु-विपाक जल कफको बढ़ाता है और लघुविपाक शहद कफको दूर करता है।

विपाककर्माणि –

मधुरो लवणाम्लौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः।
वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः।

कटु-तिक्त-कषायास्तु रूक्षभावात् त्रयो रसाः ।
दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वात-विण्मूत्र-रेतसाम् ॥
शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः ।
मधुरः सृष्टविण्मूत्रो विपाकः कफ-शुक्रलः ।
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः ।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ॥
(च. सू. अ. २६)।

संप्रति वक्ष्यमाणविपाकलक्षणे मधुराम्लपाकयोर्वात-मूत्र-पुरीषानवरोधकत्वे तथा कटोर्विपाकस्य वात-मूत्र-पुरीषविबन्धकत्वे हेतुमाह—मधुर इत्यादि। अत्र मधुराम्ललवणा निष्ठापाकं गता अपि सन्तः स्नेहगुणयोगाद्वात-मूत्र-पुरीषाणां विसर्गं सुखेन कुर्वन्तीति वाक्यार्थः। तेन मधुराम्लपाकयोरेतत् समानं लक्षणम्। एवं कटु-तिक्त-कषायेष्वपि विपर्ययेऽपि वाक्यार्थः। संप्रति विपाकलक्षणं हेतुव्युत्पादितं शुक्रहत्वादिविशेषयुक्तं वक्तुमाह—शुक्रहेत्यादि। अतोऽन्यथेति लघुः (च.द.)। विपाकलक्षणं विवक्षुर्विपाकस्य रसैस्तुल्यफलत्वादादौ मधुरादीनां कार्यमाह—मधुर इत्यादि। मधुरो, लवणाम्लौ, अम्ल-लवणौ, चैते त्रयो रसाः स्निग्धभावात् स्निग्धत्वात्, वात-मूत्र-पुरीषाणां मोक्षे विसर्गे, प्रायः सुखाः सुखकरा मताः; मधुराम्ललवणाः स्नेहगुणयोगात् प्रायेण सुखेन वातादीनां विसर्गं कुर्वन्ति। प्रायःपदेन कपित्थादीनां ग्राहित्वम्। कट्वादयस्त्रयो रसाः रूक्षभावात् रूक्षत्वात्; वातः, विट् पुरीषं, मूत्रं, रेतः शुक्रं च, तेषां मोक्षे; दुःखाय दुःखकरत्वेन दृश्यन्ते। कटु-तिक्त-कषायास्त्रयो रसा रौक्ष्यगुणयोगाद्वातादीनि विबध्नन्ति। विपाकानां लक्षणमाह—शुक्रहेत्यादि। कटुर्विपाको रूक्षभावात् शुक्रहा शुक्रनाशनः, बद्धविण्मूत्रो, वातलश्च। मधुरो विपाकः स्निग्धभावात् सृष्टविण्मूत्रः, कफ-शुक्रलः कफ-शुक्रकृच्च। अम्लपाकः पित्तकृत् शुक्रनाशनश्च उष्णवीर्यत्वात्, सृष्टविण्मूत्रः स्निग्धभावात्। मधुरादिविपाकानां गुरु-लाघवमाह—तेषामित्यादि। तेषां त्रयाणां विपाकानां मध्ये मधुरो विपाको गुरुः, कटुकाम्लावतोऽन्यथा लघू (यो.)। अथ विपाकानां प्रभावमुपदेष्टुं तत्कारणरसानां प्रभावमाह—मधुर इत्यादि स्निग्धभावात् उत्तम-मध्यमाधमस्निग्धत्वाद् वातादीनां प्रमोक्षे प्रायः क्रमेणोत्तम-मध्यमाधमरूपेण सुखाः सुखकरा मताः। प्रायःपदेन कपित्थादीनामम्लादिरसा ग्राहिणः। कटु-तिक्त-कषायाश्चेति कषाय-कटु-तिक्तास्त्रयो रसा रूक्षभावात् उत्तममध्यमाधमरूक्षत्वाद्वातादीनां मोक्षे क्रमेणोत्तम-मध्यमाधमरूपेण दुःखाय दृश्यन्ते। अतिग्राहिणः कषायाः, मध्यग्राहिणः कटुकाः, अल्पग्राहिणस्तिक्ताः। अत एव विपाकस्य प्रभावमाह—शुक्रहेत्यादि। कटुर्विपाकः शुक्रहा, बद्धविण्मूत्रो, वातलश्च; एवं कटुरस्य ये

पूर्वोक्ताः कर्मविशेषा "वक्त्रं शोधयति" इत्यारभ्य "लघुरुष्णो रूक्षश्च" इत्यन्ताः, तेऽपि ज्ञेयाः। मधुरो विपाकः श्रेष्ठस्नेहभावात् श्रेष्ठः सृष्टविण्मूत्र-कफशुक्रलः पूर्वोक्त-मधुररसगुणश्च। अथाम्लपाकः स्नेहभावस्य मध्यत्वान्मध्यमरूपेण सृ.विण्मूत्रः, शुक्रनाशनश्च मध्यमः, पित्तकृच्च ; एवं पूर्वोक्ताम्लरसगुणश्च बोध्य इति। ननु विपाकादेव यदि द्रव्यगुणोदयः स्यात्तदा षण्णां रसानां गुणः कथं स्यादिति चेत् ? न। प्राग्विपाकाद्धि रसकार्यं भवति, पाकादुत्तरं विपाककार्यं भवति। अथैषां त्रयाणां विपाकानां संज्ञान्तरमाह—तेषामित्यादि। तेषां मधुराम्ल-कटुविपाकानां मध्ये मधुरः पाको गुरुः स्यात्, अतो गुरुतोऽन्यथा लघुपाकौ कटुकाम्लौ ; तथाहि सुश्रुतादविरोधः (ग.)॥

गुरु-लघुविपाकावुक्तगुणौ। ×××। गुरुपाको वात-पित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। ×××। गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविणमूत्रतया मारुतकोपेन च (सु. सू. अ. ४१)॥

गुरु-लघुविपाकौ उक्तगुणाविति "तयोर्मधुराख्यो गुरुः" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना, तथा "द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बु-पृथिवीगुणाः" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना चोक्तगुणावित्यर्थः। विपाकस्य नित्यपरोक्षत्वाल्लक्षणेन ज्ञानमाह—गुरुपाक इत्यादि। चकारादागमेन च गुरु-लघुविपाकप्रतिपादकेनेति ज्ञेयम् (च-द.)। गुरु-लघुविपाकौ मधुर-कटुकविपाकावित्यर्थः, "तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुः" इत्युक्तेः। उक्तगुणौ "पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति" इत्यादिना ग्रन्थेनोक्तगुणावित्यर्थः (हा.)॥

रसैरसौ तुल्यफलः॥ (अ. सं. सू. अ. १७ ; अ. हृ. सू. अ. ९)।

असौ विपाकः रसैर्मधुराम्ल-कटुकैः, तुल्यफलः सदृशफलः। तेन मधुरस्य विपाकस्य ते गुणा ये मधुरस्य रसस्य, एवमम्ल-कटुकयोरपि (इन्दुः)। रसै-र्जिह्वाविषयकैर्मधुराम्ल-कटुकैः विपाककालोपलभ्यो मधुराम्ल-कटुकलक्षणो यो रसो भवति असौ तुल्यफलः ; तुल्यं सदृशं फलं यस्य स तुल्यफलः। एतदुक्तं भवति—अभ्यवहृतस्य मधुररसस्य जाठराग्निसंयोगाद् यद्रसान्तरं फलतया निपन्नं तद्रसैः सदृशफलम्। फलग्रहणेनैतत् प्रतिपादयति—फलोपममेव वृष्यादिलक्षणं कार्यं सदृशं, न तु कुसुमोपमं देहाह्लादनादिलक्षणं कार्यमिति। एवमम्लादीनामपि व्याख्येयम् (अ. द.)। त्रयाणां पाकानां लक्षणमाह—रसैरित्यादि। असौ त्रिविधो विपाकः, यथास्वं रसैः मधुराम्ल-कटुकैः, तुल्यफलः तुल्यकार्यो ज्ञेयः। मधुरस्य रसस्य कार्यं दृष्ट्वा मधुरः पाको लक्षणीयः, एवमम्लस्याम्लः, कटुकस्य कटुकः (हे.)॥

कटुर्विपाकः शुक्रघ्नो बद्धविड् वातलो लघुः।
स्वादुर्गुरुः सृष्टमलो विपाकः कफ-शुक्रलः॥
पाकोऽम्लः सृष्टविण्मूत्रः पित्तकृच्छुक्रनुल्लघुः। (द्रव्यगुणसंग्रह)

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस (वाले द्रव्य) स्निग्ध होनेसे प्रायः वात मूत्र और मल (पुरीष-विष्ठा) को साफ लानेवाले हैं। कटु तिक्त और कषाय ये तीन रस (वाले द्रव्य) रूक्ष होने से प्रायः वात, मूत्र और मलका कब्ज करनेवाले हैं। कटु विपाक शुक्र (वीर्य) का क्षय करनेवाला, मल और मूत्रका कब्ज करनेवाला तथा वायुको उत्पन्न करनेवाला है। मधुर विपाक मल और मूत्रको साफ लानेवाला तथा कफ और शुक्रको बढ़ानेवाला है। अम्ल विपाक मल और मूत्रको साफ लानेवाला, शुक्रका क्षय करनेवाला और पित्तको बढ़ानेवाला है। मधुर विपाक (वाले द्रव्य) गुरु (देरीसे पचनेवाले) और कटु तथा अम्ल विपाक (वाले द्रव्य) लघु (शीघ्र पचनेवाले) हैं (च.)। मधुर, अम्ल और कटु ये तीनों विपाक क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु रसके तुल्य फल (कर्म) वाले[1] हैं (अ. हृ.)। गुरु विपाक वात और पित्तका तथा लघु विपाक कफका नाश करनेवाला है। कफकी वृद्धि और मल तथा मूत्रके साफ आनेसे गुरु विपाकका अनुमान करना चाहिये। वायुकी वृद्धि (प्रकोप) होनेसे और मल तथा मूत्रके अवरोध (कब्जियत) से लघु विपाकका अनुमान करना चाहिये (सु.)।

द्रव्यगुणवैशेष्याद्विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठत्वम्—

विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रति।
द्रव्याणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत्॥ (च. सू. अ. २६)

संप्रति यथोक्तविपाकलक्षणानां द्रव्यभेदे क्वचिदल्पत्वं क्वचिन्मध्यत्वं क्वचिच्चोत्कृष्टत्वं यथा भवति तदाह—विपाकेत्यादि। विपाकलक्षणस्याल्प-मध्य-भूयिष्ठतामुपलक्षयेत्, प्रति-प्रति द्रव्याणां गुणवैशेष्याद्धेतोरित्यर्थः। एतेन, द्रव्येषु यद् गुणवैशेष्यं मधुरत्व-मधुरतरत्व-मधुरतमत्वादि, ततो हेतोर्विपाकानामल्पत्वादयो विशेषा भवन्तीत्युक्तं भवति (च. द.)। × × × विपाकलक्षणस्य शुक्रहेत्यादिकर्मणः स्वल्प-मध्य-भूयिष्ठतां प्रतिद्रव्याणां गुणवैशेष्यादल्प-मध्य-श्रेष्ठत्वात् तत्र-तत्र विपाक-

१—जैसे—वनस्पतिजीवनका अन्तिम परिणाम फलोत्पत्ति होता है, इस प्रकार भुक्त आहार और औषध द्रव्योंका अन्तिम परिणाम विपाक होता है। हेमाद्रि लिखते हैं कि—यहाँ तुल्यगुण न लिखकर तुल्यफल लिखा है, इससे यह दिखलाया है कि—रसोंके विपाकका परिणाम पुष्प जैसा देहाह्लादनादिलक्षण नहीं, किन्तु फल जैसा वृष्यत्वादिरूप होता है।

कर्मछ स्वल्प-मध्यम-श्रेष्ठत्वमुपलक्षयेत् । तेन मधुररसविपाको मधुरः श्रेष्ठो विण्मूत्रमोक्षे कफ-शुक्रवृद्धौ च, लवणरसविपाको मधुरस्त्वल्पसृष्टविण्मूत्रः कफ-शुक्रलश्चाल्पः अम्लश्च मध्यमसृष्टविण्मूत्रः शुक्रनाशनश्च मध्यमः ; तिक्त-कटु-कषायाणां तिक्तरसविपाकः कटुरल्परूपेण शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो वातलश्च; कटुरस-विपाकः कटुर्मध्यमरूपेण, कषायरसविपाकः कटुरुत्तमरूपेणेति । एवं द्रव्याणां स्नेह-रौक्ष्यादि-गुणवैशेष्यादल्प-मध्य-श्रेष्ठतामुपलक्ष्य ब्रूयात् (ग.) ॥

द्रव्यगुणविशेषेण चास्याल्प मध्य-भयस्त्वमुपलक्षयेत् ॥

(अ. सं. सू. अ. १७)।

अस्य च विपाकस्य स्वल्पत्वं मध्यत्वं भूयस्त्वं च द्रव्यगुणविशेषेणोपलक्षयेत् । किमुक्तं भवति ? उच्यते—यत्र रसेन सदृशो विपाको मधुराम्ल-कटुकानां द्रव्याणां तत्र प्रधानरससमानगुणानामुत्कृष्टत्वाद्विपाकस्योत्कृष्टत्वं कल्पनीयम्, एवं मध्यत्वा-न्मध्यत्वं, स्वल्पत्वाच्च स्वल्पत्वम् । यत्र तु रसाद्विपरीतो विपाको लवण-तिक्त-कषायाणां तत्र रसविपरीतानां गुणानामुत्कृष्टत्वादुत्कृष्टत्वं कल्पयेद्विपाकसदृशानामि-त्यर्थः ; एवं मध्यत्वमल्पत्वं च विपाकस्य ; एवमूचुश्चरकविदः (इन्दुः) ॥

द्रव्योंके गुणोंके (रसोंके) मधुरत्व, मधुरतरत्व, मधुरतमत्व, अम्लत्व, अम्लतरत्व, अम्लतमत्व इत्यादि तारतम्य (न्यून-मध्य-अधिक) भेदसे विपाकके लक्षणों (कार्यों) का भी न्यून (अल्प), मध्य और अधिकभाव जानना चाहिये । कविराज गङ्गाधरजी कहते हैं कि—रसोंके श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्व-से विपाक का भी श्रेष्ठत्व, मध्यत्व और अल्पत्व जानना चाहिये । जैसे—मधुर रसवाले मधुर द्रव्योंका मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रकी वृद्धिमें श्रेष्ठ होता है ; लवण रसका मधुर विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति और कफ तथा शुक्रकी वृद्धिमें अल्प होता है ; अम्ल रसका अम्ल विपाक मल-मूत्रकी प्रवृत्ति तथा कफ और शुक्रके नाश करनेमें मध्यम होता है ; तिक्त रसका कटु विपाक मल-मूत्रके कब्ज करनेमें, शुक्रके नाश करनेमें और वायुको उत्पन्न करनेमें अल्प (हीन) होता है ; कटु रसका कटु विपाक मल-मूत्रके कब्ज करनेमें शुक्रके नाश करनेमें तथा वायुको उत्पन्न करनेमें मध्यम होता है ; तथा कषाय रसका कटु विपाक मल-मूत्रको कब्ज करनेमें, वायुको उत्पन्न करनेमें और शुक्रका क्षय करनेमें श्रेष्ठ होता है । इस प्रकार द्रव्योंके स्नेह, रौक्ष्य आदि गुणोंकी विशेषता (तारतम्य) से विपाकके लक्षणोंका अल्पत्व, मध्यत्व और श्रेष्ठत्व जानना चाहिये । विपाकके पहिले (अवस्था पाकके समयमें) रसोंका कार्य होता है और अवस्था पाकके अनन्तर विपाकका कार्य होता है ।

विपाकयोर्विपर्यासप्राप्तिहेतवः—

द्रव्यप्रमाण-संस्कार-सात्म्याग्निबलाबल-देश-काल-संयोग-पाक-विशेषै-र्विपाकविपर्यासः (र. वै. सू. अ. ४, ५५) ॥

द्रव्यप्रमाणाद् विपर्यासः—गुरुविपाकं क्षीरमल्पं लघु पच्यते, लघ्वतिप्रमाणाद् गुरु पच्यते, यथा—शालिरतिभुक्तः। संस्काराद्—गुरुविपाकं द्रव्यं दीपनीय-संस्काराल्लघुविपाकं भवति। सात्म्यतः—क्षीरोचितानां क्षीरं लघुविपाकं भवति। अग्निबलात्—तीक्ष्णाग्नीनां गुरुविपाकं लघुविपाकं भवति। देशविशेषात्—जाङ्गलेषु गुरुविपाकाश्च लघवो भवन्ति प्रायशः, अनूपेषु लघुविपाकाश्च गुरुविपाका भवन्ति। कालविशेषात्—ग्रीष्मे लघवो भवन्ति गुरवः, वर्षा-हेमन्तयोर्लघवोऽपि गुरवः। संयोगविशेषात्—क्षीरं शुण्ठीसंयोगाल्लघुविपाकं भवति। संस्कार-संयोगयोः कः पुनर्विशेष इति ? संस्कारो भावना-परिशोषण-मन्थनादि। पाक-विशेषात्—दग्धं विदग्धं वा द्रव्यमुपयुक्तं गुरु विपच्यते लघ्वपि, क्षीरं गुर्वपि शृतं लघु भवतीति (भा.) ॥

द्रव्यका प्रमाण, संस्कार, सात्म्य, अग्निबल, देश, काल, संयोग और पाक (पकाना) इनके विशेषोंसे (भेदोंसे) विपाकमें विपर्यास (विपरीतपन) होता है। इनके उदाहरण—प्रमाणविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—गुरुविपाक दूध थोड़ा हो तो शीघ्र पचता है और लघुविपाक शालिका भात अति प्रमाणमें खाया जावे तो देरीसे पचता है। संस्कारविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—गुरुविपाकवाला दूध दीपनीय द्रव्योंके संस्कारसे शीघ्र पचता है। सात्म्यसे विपर्यास होता है, जैसे—दूध जिनको सात्म्य है ऐसे लोगोंको दूध शीघ्र पचता है। अग्निबलसे विपर्यास होता है, जैसे—तीक्ष्ण अग्निवालेको गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं। देशविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—जाङ्गलदेशमें गुरुविपाकवाले द्रव्य शीघ्र पचते हैं और अनूप देशमें लघुविपाकवाले द्रव्य देरीसे पचते हैं। कालविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—वर्षा कालमें लघु द्रव्य देरीसे पचते हैं और हेमन्त ॠतुमें गुरु द्रव्य शीघ्र पचते हैं। संयोगविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—सोंठ मिलाया हुआ दूध गुरु-गुरुविपाक होनेपर भी शीघ्र पचता है। पाकविशेषसे विपर्यास होता है, जैसे—जला हुआ या अधपका हुआ द्रव्य देरीसे पचता है और ठीक पकाया हुआ दूध शीघ्र पचता है।

भुज्यमानानां द्रव्याणां विपाकः कदा उपलभ्यते—

× × × × × × × विपाकः कर्मनिष्ठया। (च. सू. अ. २६)।

कर्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा कर्मसमाप्तिः। रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः कफ-शुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते। एतेन विपाको नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते। (च. द.)। तर्हि विपाकोऽपि वीर्यं निपाते द्रव्याणां नोपलभ्यते, कथमुपलभ्यत इत्याह—विपाकः कर्मनिष्ठयेति। द्रव्याणां भुक्तानां यावन्ति कर्माणि तावतां कर्मणां निष्ठया परिसमाप्त्या विपाक उपलभ्यते (ग.)। विपाकः कर्मणः आहारपरिणामकृतस्य, निष्ठा निष्पत्तिः दोष-शुक्रवृद्धि-क्षयलक्षणा, तया उपलभ्यते (यो.)॥

(विद्याद्) विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया।

(अ. सं. सू. अ. १७)।

विपाकविशेषं तु कर्मणः तत्कृतस्य परिनिष्ठया निष्पत्तेः दोषवृद्धि-क्षयविशेषेण विद्यात् (इं.)॥

खाए हुए द्रव्योंका जठराग्निके द्वारा परिपाक होनेके बाद रसोंका जो अन्तिम परिणाम (कफ-शुक्रवृद्धि आदि कार्य) होता है उसको देखकर अनुमान द्वारा विपाकका ज्ञान-निर्णय होता है। विपाक सर्वदा अप्रत्यक्ष होता है, कार्य देखकर अमुक प्रकारका विपाक हुआ है यह अनुमान किया जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता और रसवैशेषिकसूत्र देखनेसे मालूम होता है कि—प्राचीन समयमें आयुर्वेदमें (१) यथारसविपाक (रससदृशविपाक); (२) अनवस्थित-अनियत-विपाक; (३) त्रिविध विपाक और (४) द्विविध विपाक ये चार मत प्रचलित थे। उनमेंसे यथारसविपाक अर्थात् मधुरादि छहों रसोंका अपने सदृश विपाक होता है अतः रसभेदसे छः प्रकारका विपाक होता है यह षड्विपाकवाद और विपाककालमें दुर्बल रस बलवान् रसके अधीन होते हैं अतः अमुक रसका अमुक रसवाला विपाक होता है इस प्रकारका नियम न होनेसे विपाक अनियत है यह अनवस्थितविपाकवाद, इन दोनों मतोंका तन्त्रकारों और टीकाकारोंने युक्तिपूर्वक खंडन किया है। शेष दो मतोंमेंसे एक मतमें मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन प्रकारका विपाक होता है; यह आत्रेय-संप्रदायके अग्निवेश, पराशर आदि आचार्योंका मत है। वृद्धवाग्भट्ट और वाग्भट्ट इस मतके अनुयायी हैं। इस मतको 'त्रिविधविपाकवाद' वा 'रस-विपाकवाद' कह सकते हैं। क्योंकि ये छः रसोंका मधुर, अम्ल और कटु—इन तीन रसोंमें विपाक मानते हैं। दूसरा छहों रसोंके (रसवाले द्रव्योंके) गुरु और लघु दो प्रकारके विपाक होते हैं ऐसा धन्वन्तरि संप्रदायवाले सुश्रुत और नागार्जुनका मत है। इस मतको 'द्विविधविपाकवाद' या 'गुणविपाकवाद' नाम दे सकते हैं। इस संप्रदायवालोंने गुरुविपाकको मधुरविपाक और

लघुविपाकको कटुविपाक ये पारिभाषिक नाम दिये हैं, तथापि उनको रसविपाकवादी नहीं कह सकते। क्योंकि उन्होंने गुरु और लघु इन दो गुणोंमें मधुर और कटु शब्दका गौणरूपसे प्रयोग किया है। यह बात रसवैशेषिक सूत्र और उसके भाष्यमें स्पष्टतया बताई गई है। यद्यपि आपाततः इन दोनों मतोंमें विरोध मालूम होता है, परन्तु दोनों मतोंमें फलमें विरोध न होनेसे अर्थात् दोनों मतोंमें विपाकोंका फल सदृश होनेसे फलमें अन्तर नहीं पड़ता। चरकने लिखा है कि—मधुर विपाक गुरु है और कटु तथा अम्ल विपाक लघु है। गुरुविपाकके जो गुण सुश्रुतने लिखे हैं वे सब मधुर विपाकमें तथा लघु विपाकके जो गुण सुश्रुतने लिखे हैं वे सब अम्ल और कटुविपाकमें पाये जाते हैं। अतः दोनों मतवादियोंकी विचारश्रेणी और शब्दप्रयोगमें ही अन्तर है, फलमें कोई भी अन्तर नहीं है।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे विपाकविज्ञानीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

द्रव्य-गुण-रस-विपाकनिरूपणानन्तरं पारिशेष्याद्वीर्य-प्रभावविज्ञानीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

अथातो वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयं नामाध्यायं व्याख्यास्यामो यथोचुरात्रेय-धन्वन्तरिप्रभृतयः ॥

द्रव्य, गुण, रस और विपाकके निरूपणके अनन्तर शेष रहे हुए वीर्य और प्रभावके निरूपणके लिये वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीय अध्यायका प्रारम्भ किया जाता है।

वीर्यलक्षणं संख्या च—

× × × येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम् × × × ॥

(च. सू. अ. २६ ; सु. सू. अ. ४१)।

येनेति प्रभावेण, रसेन, वीर्येण, विपाकेन वा; अयं च वीर्यशब्दः पारिभाषिकवीर्यवचनो न भवति, किंतु शक्तिमात्रवचनः ; यदुक्तं चरकेऽपि—"नावीर्यं कुरुते किञ्चित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया।" (च. सू. अ. २६) इति; तेन प्रभाव-रसादयः सर्व एव स्वकार्यं कुर्वन्तः शक्तिपर्यायरूपवीर्यवाच्या इति ज्ञेयाः (च. द.) ॥

मृदु-तीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम् ।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥
शीतोष्णमिति; वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया ।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥
(च. सू. अ. २६) ।

एकीयमतेन वीर्यलक्षणमाह—मृद्वित्यादि । एतच्चैकीयमतद्वयं पारिभाषिकीं वीर्यसंज्ञां पुरस्कृत्य प्रवृत्तम् । वैद्यके हि रस-विपाक-प्रभावव्यतिरिक्ते प्रभूतकार्यकारिणी गुणे 'वीर्यम्' इति संज्ञा, तेनाष्टविधवीर्यवादिमते पिच्छिल-विशदादयो गुणा न रसादिविपरीतं कार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युपदेशेनैव ग्रहणं; मृद्वादीनां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति, यथा—पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपनमभिभूय तद्गते मृदु-शीतवीर्ये पित्तमेव शमयत इति, तथा कषाये तिक्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूयोष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते, तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वातवृद्धिरित्यादि । यदुक्तं सुश्रुते—"एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति ।" (सु. सू. अ. ४०) इत्यादि । शीतोष्णवीर्यवादिमतं त्वग्नीषोमीयत्वाज्जगतः शीतोष्णयोरेव प्राधान्याज्ज्ञेयम् । उक्तं च—"नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ । व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति । एतच्च मतद्वयस्याचार्यस्य परिभाषासिद्धमनुमतमेव, येनोत्तरत्र "रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।" (च. सू. अ. २६) इत्यादौ पारिभाषिकमेव वीर्यं निर्देक्ष्यति । पारिभाषिकवीर्यसंज्ञापरित्यागेन तु शक्तिपर्यायस्य वीर्यस्य लक्षणमाह—वीर्यं त्वित्यादि । वीर्यमिति शक्तिः । येनेति रसेन वा, विपाकेन वा, प्रभावेण वा, गुर्वादि-परादिभिर्गुणैर्वा, या क्रिया तर्पण-प्रह्लादन-शमनादिरूपा क्रियते, तस्यां क्रियायां तद्रसादि वीर्यम् । अत एवोक्तं सुश्रुते—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. अ. ४०) इति । अत्रैव लोकप्रसिद्धामुपपत्तिमाह—नावीर्यमित्यादि । अवीर्यम्, अशक्तमित्यर्थः । वीर्यकृतेति वीर्यवता कृता वीर्यकृता (च. द.) । सांप्रतं वीर्यमभिधीयते । तत्रादौ परेषां मतमाह—मृद्वित्यादि । केचित् मृदु तीक्ष्णं, गुरु, लघु, स्निग्धं, रूक्षम्, उष्णं, शीतं च, इत्यष्टविधं वीर्यमाहुः । गुर्वादयोऽष्टौ वीर्यमुच्यन्ते तैः । गुर्वादीनामष्टानां वीर्यसंज्ञा, शक्तिमत्त्वात्; अन्ये गुणास्तु गुणा एव, सामर्थ्यहीनत्वात् । केचित् शीतोष्णमिति द्विविधं वीर्यमास्थिताः; अग्नी-षोमात्मकत्वाज्जगतः केचित् शीतम्, उष्णम्, इति द्विविधं वीर्यं प्राहुः । × × × । स्वमतमाह—वीर्यं त्विति । 'तु' पूर्वपक्षाद् व्यवच्छेदे । येन या क्रिया क्रियते तद्वीर्यं, यद्योगात् क्रिया क्रियते द्रव्ये स्थितं तत् सर्वं गुणजातं वीर्यमेव, येन कुर्वन्ति

तद् वीर्यमिति। अवीर्यं यत्र वीर्यं तत्र किंचित् कुरुते न कांचिदर्थक्रियां निष्पादयति; यतः सर्वाः क्रिया वीर्येण कृता जनिताः, ततः यत्र वीर्यं तत्र किंचित् कुरुते (यो.)। ननु स्नेहादयो गुणाः किं कुर्वन्ति, कदा वेत्यत आह–मृद्वित्यादि। मृद्वादिकमष्टविधं वीर्यमास्थिताः केचित्, अपरे केचिच्छीतोष्णमित्येव द्विविधं वीर्यमास्थिता इति। × × ×। अत्र पिच्छिल-विशदौ न वीर्यसंज्ञयोक्तौ, गुरु-लघू च वीर्यसंज्ञयोक्तौ; सुश्रुते (तु तौ) विपाकावुक्ताविति (पिच्छिलविशदौ वीर्यसंज्ञयोक्तौ तत्र)। स्वमतमाह—वीर्यं त्वित्यादि। क्रियते येन या क्रिया तस्यां क्रियायां तस्य क्रियासाधनं वीर्यं भवति। तर्हि किं द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च चिन्त्याचिन्त्यानि प्रभावाख्यानीति सर्वं वीर्यं भवति ? इत्यत आह—नावीर्यमित्यादि। किंचिदप्यवीर्यं वस्तु न किंचित् कर्म कुरुते। कस्मात् ? सर्वा क्रिया हि यस्माद्वीर्यकृता द्रव्येष्वारोप्यते। सुश्रुतेऽप्येवं—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. अ. ४०) इति। तथा द्विधा वीर्यमष्टधा वीर्यं चानयोर्द्वयोर्मतेऽन्तर्भूतं भवति। ननु सुश्रुते चोक्तं—"तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्। किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥" (सु. सू. अ. ४०) इति, स्वयं चात्राध्याये पूर्वमुक्तं—"न तु द्रव्याणि गुणप्रभावादेव कार्मुकाणि भवन्ति। द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाच्च × × × येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं" इत्यादि। तत् कथं 'नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा।' इति संगच्छते ? उच्यते—तद्द्रव्यमात्मना किंचिदिति यदुक्तं तदात्मना स्ववीर्येण प्रभावेणेति च द्रव्यस्य वीर्येणेति, ततो नानुपपत्तिः (ग.)। वीर्यं शक्तिः, सा च पृथिव्यादीनां भूतानां यः सारभागस्तदतिशयरूपा बोध्या; सा च द्विविधा चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुत्वेन; तत्र चिन्त्यक्रियाहेतुर्या द्रव्य-रसादीनां स्वस्वकर्मणि स्वभावसिद्धा शक्तिः, अचिन्त्यक्रियाहेतुश्च प्रभावापरपर्याया द्रव्याणां रसाद्यननुरूपकार्यकरणशक्तिः। उक्तं च—"भूतप्रसादातिशयो द्रव्ये पाके रसे स्थितः। चिन्त्याचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यं धन्वन्तरेर्मतम् ॥" इति। एतेन द्रव्य-रस-विपाकानां स्व-स्वकार्यकरणसामर्थ्यं वीर्यमित्यर्थः। यत् पुनश्चरके-"वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया।" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यनेन रसादीनामपि वीर्यत्वमुक्तं, तद्धर्म-धर्मिणोरभेदादेव समर्थनीयम्। न चैवं द्रव्यस्यापि वीर्यत्वप्रसङ्गः, येनेति करणे तृतीया, करणस्यैव शक्तित्वात्, द्रव्यस्य च कर्तृत्वात्; एतेन द्रव्यकर्तृके रसादिकरणके कार्ये रसादीनामपि वीर्यत्वमित्यर्थः। सुश्रुतेऽप्युक्तं—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्" (सु. सू. स्था. अ. ४१) इति। अत्र केचित्—ननु यदि शक्तिरेव वीर्यं न तर्हि शीतोष्णादिलक्षणम्, अथ शीतोष्णादिलक्षणं न तदा शक्तिलक्षणमिति। सत्यं, परमार्थतः शक्तिरेव वीर्यं, सा पुनर्बलवत्क्रियानिर्वर्तनक्षमा रसादिनाऽयोगान्निरुपाधिरिति तस्याः शीतोष्णादयो गुणा उपाधित्वेनाङ्गीकृता; ते तु द्रव्यसमवायिनो रसादिषु पुनरुपचरितवृत्तय इति। उक्तं च—"गुणाः कर्म-

व्यवस्थायै द्रव्याणां रस-पाकयोः। शक्तेः कर्मसु शक्ता ये निरुपाधेरुपाधयः॥" इत्याहुः। यत् पुनः "मृदु-तीक्ष्ण-गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम्। वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद् द्विविधमास्थिताः॥ शीतोष्णमिति" (च. सू. अ. २६) इति मत-भेदेनाष्टविधं द्विविधं वा वीर्यमित्युक्तं चरकेण, तत् पारिभाषिकवीर्यपुरस्कारेण। प्रथमवादिमते शक्तिमात्रं वीर्यं, तद्योगाद्रसादीनामपि वीर्यसंज्ञा; पारिभाषिक-वीर्यवादिमते तु शक्तिविशेषो वीर्यं, तद्योगान्मृदु-तीक्ष्णादीनामेव वीर्यसंज्ञा, नापरेषां गुणानामिति। शास्त्रे व्यवहारस्तु पारिभाषिकवीर्यनयेनैवेति। भवन्ति चात्र—"शक्तिमात्रं तु वीर्यं स्यादिति केचिद् बुधा विदुः। तन्मते द्रव्य-रसयोः पाकस्य च गुणस्य च॥ मृद्वादेः स्वक्रियोत्पादे शक्तिर्वीर्यमिति स्थितिः। यदुक्तं चरके—"वीर्यं क्रियते येन या क्रिया॥ नावीर्यं कुरुते किंचित्, सर्वा वीर्यकृता क्रिया"। इत्यनेन रसादीनां वीर्यत्वं तदभेदतः॥ मृद्वादयो गुणा ह्यष्टौ वीर्याणी-त्यूचिरे परे। यस्मात् सर्वगुणोत्कृष्टाः शक्त्युत्कर्षयुता अमी[1]॥ व्यवहारोपयुक्ताश्च नेदृशास्त्वपरे गुणाः। तस्मान्न ते वीर्यसंज्ञा इति शास्त्रविदां मतम्॥ अन्ये शीतोष्ण-भेदेन वीर्यं द्विविधमूचिरे। अग्नी-षोममयं विश्वं यत् एतच्चराचरम्॥" इति। ××× । (शि.)॥

वीर्यं तु केचिद् गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-तीक्ष्ण-मन्द-(मृदु) शीतोष्ण-भेदेनाष्टविधमाहुः। अपरे पुनः पठन्ति—

> वीर्यं द्रव्यस्य तज्ज्ञेयं यद्योगात् क्रियते क्रिया।
> नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा॥

तैरपि चैवमतिप्रकृष्टशक्तियुक्तानामशेषौधगुणसारभूतानामष्टानामेव गुर्वादीनां वीर्यसंज्ञा विशिष्टाम्नायविहिताऽपि लौकिकीति समुद्भाव्यते, तथा हि तया रस-विपाक-गुणान्तरविजयिनो भूयांसश्च वरिष्ठाश्च गुणाः संगृहीताः। विशेषवृत्त्या च तत्र तत्र द्रव्यस्वरूपकथने व्यवहारः प्रवर्तितो भवति। अत एव सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः 'प्रभाव' इत्याम्नातः। सत्यपि च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये तद्विपरीता रसादयो वीर्याख्यया प्रभावसंज्ञया वा न परामृश्यन्ते। अन्ये तु गुर्वादीनामग्नी-षोमात्मकत्वा-दादान-विसर्गविभागेन कालस्य चोष्ण-शीतात्मकत्वाद् द्विविधमेवा-मनन्ति। एवं चाहुः—

१—'अपि' इति पाठान्तरम्।

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नी-षोमौ महाबलौ ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥
गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः ।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः ॥

(अ० सं० सू० अ० १७)

केचिदाचार्या अष्टविधं गुर्वादिभेदेन वीर्यमाहुः, अन्ये बहुविधम्, अन्ये द्विविधमिति । ये तु बहुवीर्यवादिनस्ते पठन्ति—वीर्यं द्रव्यस्येत्यादि । द्रव्यस्य तद्वीर्यं ज्ञेयं यस्य योगाद् द्रव्यं कार्यं कर्तुं क्षमम् । न च द्रव्यमवीर्यं वीर्येण विना किंचित कर्म कुरुते, अतः सर्वाः क्रियाः वीर्यकृताः । एवं वीर्यं शक्तिः कारणमिति बहुवीर्यवादिनः । तैश्चानन्तरोक्तैर्नाविधशक्तित्वाद् द्रव्यस्य बहुवीर्यवादिभिर्गुर्वादीनामष्टानां वीर्यसंज्ञा विशिष्टागमविहिताऽपि लौकिकीति कथ्यते । यतः शक्तिर्वीर्यं, सा च नानाविधा, तद् गुर्वादीन् को नियमयितुं शक्नोति, केवलं प्रकृष्टशक्तित्वादशेषाणामौषधगुणानां मध्ये सारभूतत्वाल्लोके एव कथ्यन्तेऽष्टौ वीर्याणीति । अतो बहुवीर्यवादिभिर्गुर्वादिगुणनियम आगमविहितोऽपि लौकिक इति कथ्यते, एतदेवाह—तथेत्यादि । तथा वीर्यसंज्ञया रस-विपाक-गुणान्तर-विजयिन एतेऽष्टावेव गुणाः संगृहीता भूयांसश्च वरिष्ठाश्च । तेनैतदुक्तं भवति—एषामष्टानामेव वीर्यसंज्ञा, भूयिष्ठत्वाद्वरिष्ठत्वाद्रसादिविजयित्वाच्चेति बहुवीर्यवादिभिरपि बलादङ्गीकृतमेव । द्रव्ये हि न तथाऽन्ये गुणाः प्रभूतत्वेन भवन्ति यथा गुर्वादय इति प्रभूतत्वम् ; अन्ये च गुणा न तथा देहोपयोगित्वे वरा यथा गुर्वादय इति वरिष्ठत्वं ; रसकार्यं विपाककार्यं गुणान्तरं च द्रव्यस्थितं वीर्यत्वेनाभिभवन्तीति रसादिविजयित्वम् । तत्र रसविजयित्वं यथा—किंचिद् द्रव्यं मधुररसं तीक्ष्णगुणं च, तत्र तीक्ष्णगुणेनोपलेपादि मधुरकार्यमभिभूयते, एवं विपाककार्यं गुणान्तरं च । एवं तेषां प्रधान्येन तत्र तत्र हरीतक्यादिद्रव्यस्वरूपकथने गुर्वादीनां विशेषवर्तित्वेन 'गुरु, लघु' इत्यादिव्यवहारः प्रवर्तितो भवति । एवमुत्कृष्टा शक्तिर्वीर्यम् । अनयैव युक्त्या यो द्रव्यस्य सर्वगुणातिशायी स्वभावः, सप्रभावशब्देनोक्तः । तेनैतदुक्तं भवति—यथैव गुर्वादीनां कार्यकर्तृत्वे प्राधान्यापेक्षया वीर्यत्वं, तथैव गुर्वादीनामप्राधान्यापेक्षया कस्याश्चिच्छक्तेः सर्वातिशायित्वात् संज्ञा 'प्रभाव' इति । नहि तद्व्यतिरिक्तेषु रसादिषु कल्प्यमानेषु दृश्यते । अतः स्वभावविशेष एव सः । रसादयो रस-वीर्य-विपाक-गुणान्तराणि यद्यपि स्वां स्वां क्रियां कुर्वन्ति, तथापि गुर्वाद्युक्तप्रकारवैपरीत्याद् वीर्यसंज्ञया न परामृश्यन्ते । एवं बहुवीर्यवादिनामप्यष्टविधवीर्यवादित्वं युक्त्या साधितं—तैरपीत्यादिना । अन्ये वीर्यद्वयवादिनः अग्नी-षोमात्मकत्वाद् गुणानां कालस्य चौष्ण-शीतद्वैविध्याद् द्विविधमेव वीर्यमुष्णं शीतं चेति वदन्ति । तथा हि गुर्वादीनां केचन सौम्याः,

केचनाग्नेयाः, महाभूतपरायत्तत्वाद् गुणानाम्। ते गुर्वादयो द्विविधे काले संभवन्त्यादाने, विसर्गे च। तत्रादानकालभवानामाग्नेयत्वं गुर्वादीनां, विसर्गभवानां तु सौम्यत्वमिति स्थितमेव। एतस्यैवाग्नी-षोमात्मकत्वस्य तद्दृष्टान्तोपपत्तिरुच्यते—नानात्मकमित्यादिना। नानात्मकं परस्परेण व्यावृत्तमपि द्रव्यजातं, महाबलौ उत्कृष्टशक्ती, नातिक्रामति नातिवर्तते। अवश्यं किंचिदाग्नेयं भवति, किंचित् सौम्यम्। दृष्टान्तो यथा—नानात्मकमपि जगद् व्यक्तमव्यक्तं च नातिक्रामति। व्यक्तं तरु-पर्वत-जलादि, अव्यक्तं काल-भूतग्रामादि। अस्मिन् पक्षे पूर्वयोरपि पक्षयोरन्तर्भावः, विशेषस्य सामान्येऽन्तर्भावात्। पूर्वोक्ता गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः, यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिशिष्टा द्वादश गुणाः ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः ; ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्ते (इन्दुः) ॥

वीर्यं पुनर्वदन्त्येके गुरु स्निग्धं हिमं मृदु।
लघु-रूक्षोष्ण-तीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा ॥
चरकस्त्वाह—वीर्यं तत् क्रियते येन या क्रिया।
नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यकृता हि सा ॥
गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनान्वर्थेति वर्ण्यते।
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ॥
व्यवहाराय मुख्यत्वाद् बह्वग्रग्रहणादपि।
अतश्च विपरीतत्वात् संभवत्यपि नैव सा ॥
विवक्ष्यते रसाद्येषु, वीर्यं गुर्वादयो ह्यतः।
उष्णं शीतं द्विधैवान्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च ॥
नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ।
व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित् ॥

(अ. हृ. सू. अ. ९)।

उष्ण-शीतगुणोत्कर्षात्तत्र वीर्यं द्विधा स्मृतम्।

(अ. सं. सू. अ. १ ; अ. हृ. सू. अ. १)।

अथ वीर्यस्य विपाकादिभ्यः प्राधान्यात्तच्चर्चां प्रस्तौति—वीर्यमित्यादि। 'वीर्यं पुनर्गुर्वादीनष्टौ गुणान् द्रव्याश्रितानिति समाचक्षते, तत् तस्मात्, एवमनेन प्रकारेण,

वीर्यमष्टधा अष्टप्रकारम्, इति गुर्वादिवीर्यवादिनां मतम्। चरकाचार्यः पुनरेवं वक्ति—येन स्वभावेन या क्रिया क्रियते यत् कर्म निष्पाद्यते तद्वीर्यम्। तदेवं यावत्किञ्चिद्-गुणभूतं द्रव्ये स्थितं तत् सर्वं वीर्यमेव। सर्वं वीर्यं करोतीत्यत एवाह—नावीर्य-मित्यादि। यत्र वीर्यं तत्र किंचित् करोति न कांचिदप्यर्थक्रियां निष्पादयति, प्रतिनियतशक्तिपरिष्वक्तत्वात् सर्वभावानाम्। अत एवाह—सर्वेत्यादि। 'हि' शब्दो यस्मादर्थे; यस्मात् सर्वा क्रिया वीर्यकृता वीर्येण जनिता, ततो यत्र वीर्यं तत्र किंचित् कुरुते। यतो वीर्यस्यैव करणसामर्थ्यं, तेन कारणेन गुर्वादिष्वेवाष्टासु वीर्याख्या अन्वर्थेति अनुगतार्थेति भण्यते: एवकारोऽवधारणार्थः। गुर्वादिष्वेव वीर्यसंज्ञा, न तु रस-विपाक-प्रभावेषु मन्द-सान्द्रादिषु वा। किंभूतेषु गुर्वादिषु? समग्रेत्यादि। समग्राश्च ते गुणाश्च तेषु साराः चिरकालावस्थितयो गुर्वादय एव, तथा च जठराग्निसंयोगेनापि न मधुरादिरसवत् स्वभावमेते जहति। सर्तेः 'सृ स्थिरे' (पा. अ. ३।३।१७) इति घञि सारशब्दः। तथा अन्येभ्यो मन्द-सान्द्रादिभ्यो गुणेभ्यो रसादिभ्यो वा गुर्वादयः शक्त्युत्कर्षविवर्तिनः शक्तेः सामर्थ्यस्य, उत्कर्षः आधिक्यं, विशेषेण वर्तो विवर्तः विशेषेण भवनं, शक्त्युत्कर्षस्य विवर्तः, स विद्यते येषां त एवम्। किंच गुर्वादीनां गुणानां व्यवहाराय व्यवहारार्थम्, मुख्यत्वात्; अन्येभ्यो गुणेभ्यो गुर्वादयः प्रधानभूता इत्यर्थः। तथा च "गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।" (अ. हृ. सू. अ. ६) इत्युक्तं, न मधुरादयो गुणा इति। तस्माद् गुर्वादीनां गुणानां व्यवहार-मुख्यत्वं रसादिभ्यः। तथा, बह्वग्रग्रहणात् बहुग्रहणादग्रग्रहणाच्च। बहवो द्रव्य-रसादयो गुर्वादिभिर्गृहीता भवन्ति। तथा चायुर्वेदशास्त्रेषु रसादिभ्यो गुर्वादीना-मग्रे ग्रहणं दृष्टम्। यथा वातादिदोषगुणनिरूपणायां गुर्वादीनां पूर्वं ग्रहणं, न रसादीनाम्। तथा च "तत्र रूक्षो लघुः" (अ. हृ. सू. अ. १) इत्याचार्यो-ऽपठद्वाय्वादिलक्षणे। एवं गुर्वादीनामेवाग्रग्रहणाद् गुर्वादिष्वेव वीर्याख्याऽन्वर्था अनुगतार्थेति भण्यते। अतः अस्माच्च कारणकदम्बकात्, विपरीतत्वात् वैपरीत्येन स्थितत्वात्, न रसादयो वीर्यम्। तथा हि रसस्य सारत्वं नास्ति, जाठरानल-संयोगवशेन रसान्तरोत्पत्तेः; गुर्वादीनां तु जाठराग्निसंयोगवशेनापि नान्यथाभावः। तथा च न रसस्य शक्त्युत्कर्षविवर्तित्वं, यतो रसस्य गुर्वाद्याहितशक्त्यैव स्वकर्मणि सामर्थ्यम्। व्यवहाराय यथा गुर्वादेर्मुख्यत्वं, यथा च बह्वग्रग्रहणं, तथा प्राग्दर्शितम्। प्रभावः सर्वातिशायी द्रव्यस्वभावः, तस्य च क्रियानिर्वर्तनसामान्ये सत्यपि वीर्यसंज्ञा पूर्वोक्ताद्धेतोर्न प्रवर्तते। एवं विपाक-कर्मणोरपि चिन्त्यम्। तस्मात् रसाद्येषु संभवत्यपि विद्यमानाऽपि, असद्रूपेव सा वीर्यसंज्ञा न विवक्ष्यते नोररीक्रियते। आदौ भवः आद्यः, दिगादित्वाद्यत्; रस आद्यो येषां प्रभावादीनां, त एवं, तेषु। वीर्यमित्यादि। हिशब्दो यस्मादर्थे। यत एवं सा वीर्यसंज्ञा संभवत्यपि रसादिषु

वैपरीत्यान्न विवक्ष्यते, अतो गुर्वादय एव वीर्यं, न रसादयः। अन्ये आचार्या उष्णं शीतमिति द्विप्रकारं वीर्यमाचक्षते। एवकारोऽवधारणार्थः। द्विधैव वीर्यं, नाष्टधेति। अपिचेति निपातसमुदायो युक्तिसमुच्चये। तेऽपि सयुक्तिकमेवाहु-रित्यर्थः। तामेव युक्तिं दर्शयन्नाह—नानात्मकमपीत्यादि। नानास्वभावमपि द्रव्यं स्थावर-जङ्गमाख्यं चेतनाचेतनम्, अग्नी-षोमौ महाबलौ उत्कृष्टशक्ती, न जातु कदाचिदतिक्रामति नोल्लङ्घ्य वर्तते; अवश्यं हि द्रव्यं किञ्चिदाग्नेयं, किञ्चित्सौम्यम्; अतः किञ्चिद् द्रव्यमुष्णवीर्यं, किञ्चिच्छीतवीर्यम्। तथा च मुनिः (च. सू. अ. २६)—"न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहियात्; उभयं ह्येतन्मधुरं मधुरविपाकं शीतोष्णत्वाद् विरुद्धवीर्यं, विरुद्धवीर्यत्वाच्छोणितप्रदूषणाय।" इति। अत्र दृष्टान्तमाह—व्यक्ताव्यक्तमित्यादि। व्यक्तं चाव्यक्तं न व्यक्ताव्यक्तं; नानात्मकमपि जगत् त्रैलोक्यं कर्तृ, यथा व्यक्तं चाव्यक्तं च नातिक्रामति, तथा द्रव्यमग्नी-षोमावित्यर्थः। व्यक्तं स्थूलं दृश्यमित्यर्थः; साङ्ख्यानां तु महदादि व्यक्तम्, अव्यक्तं प्रधानं पुरुषश्च (सु. अ. ९)। तत्र तस्मिन् द्रव्ये, वीर्यं द्विविधम्। विंशतेर्गुणानां मध्याद् द्वावुष्ण-शीतौ तदुत्कर्षाद्वीर्यमिति सर्वायुर्वेदप्रसिद्धौ। द्वावेव गुणौ शीतोष्णौ वीर्यकरणहेतू। वीर्यं शक्तिः। उष्णगुणोत्कर्ष उष्णगुणातिशय एव कश्चिदुष्ण-वीर्याख्यां लभते, तथा शीतगुणोत्कर्षः शीतगुणातिशय एव शीतवीर्याख्याम्। यद्यपि नानात्मकमपि द्रव्यं, तथाऽप्यग्नीषोमात्मकत्वाज्जगतो द्विधैव वीर्यम् (सू. अ. १) (अ. द.)। अथ वीर्यं, तत्र परमतं दर्शयति—वीर्यं पुनरिति। एके खारणादिप्रभृतयः, गुर्वादीन् गुणान् वीर्यं वदन्ति; एवं च तदष्टधा संमतम्। सुश्रुतस्तु गुरु-लघू विहाय विशद-पिच्छिलौ पठति—"केचिदष्टविधमाहुः—उष्णं, शीतं, स्निग्धं, रूक्षं, विशदं, पिच्छिलं, मृदु, तीक्ष्णं चेति।" (सु. सू. अ. ४०) इति। चरकमतं दर्शयति—चरकस्त्वाहेति। येन क्रियते तद् वीर्यं, द्रव्यकर्तृके कर्मणि करणभूतमित्यर्थः। कतिविधं तत्? इत्यपेक्षायामाह—या क्रियेति। या क्रिया येन क्रियते तस्यां तद्वीर्यं, यावत्यः क्रियास्तावन्त्येव वीर्याणीत्यर्थः। कुत इत्याह—नावीर्यमिति। अवीर्यं द्रव्यं न किञ्चित् कुरुते वीर्यं विना कर्तृत्वं नास्तीत्यर्थः। कुतः? इत्याह—सर्वा वीर्यकृता हि सा। हि यस्मात् सा क्रिया सर्वाऽपि वीर्यकृता। ननु, एवं रसादीनामपि वीर्यत्वप्रसंग इत्याह—गुर्वादिष्विति। तेन चरकेण गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या वर्ण्यते। कुतः? अन्वर्थेति कृत्वा। इतिशब्दो हेतौ। यतस्तेषु क्रियमाणा वीर्यसंज्ञा अन्वर्था स्यात्। अन्वर्थत्वमेव दर्शयति—समग्रेत्यादि। करणं हि वीर्यं, करणं च साधकतमं, साधकतमत्वं च गुर्वादीनामेव। कुतः? समग्रगुणसारत्वात् समग्रेषु गुणेषु मध्ये सारत्वात् चिरस्थायित्वात्; शक्त्युत्कर्षविवर्तनात् उत्कृष्टशक्तित्वात्; व्यवहाराय मुख्यत्वात् लोके शास्त्रे च मुख्यत्वेन व्यवह्रियमाणत्वात्; बह्वग्रग्रहणात् बहुगुणगणनायां प्रथमग्रहणात्।

विपाकेऽपि स्थिरत्वस्य प्रभावेऽपि शक्त्युत्कर्षस्य, मृदु-कठिनादावपि व्यवहारमुख्यत्वस्य, रसेष्वपि बह्वग्रग्रहणस्य दर्शनात् चतुर्णामुपादानम्। एतच्च रसादिषु नास्तीति दर्शयति—अतश्चेति। सा वीर्याख्या, रसादिषु संभवत्यपि विद्यमानाऽपि, न विवक्ष्यते, 'अनुदरा कन्या' इतिवत। क्रियानिर्वर्तनसामान्यात सत्यपि वीर्यत्वे रसादयो वीर्यत्वेन न व्यवह्रियन्त इत्यर्थः। कुतः? अतः हेतुचतुष्टयाद् विपरीतत्वात। सिद्धमर्थमनुवदति—वीर्यमिति। हि स्फुटम्, अतः कारणात्, गुर्वादय एव वीर्यम्। गुर्वादीनामष्टानां योगरूढा वीर्यसंज्ञेति भावः। पूर्वमतापरितोषान्मतान्तरं दर्शयति—उष्णं शीतमिति। अन्ये सुश्रुतादयः, उष्णं शीतं चेति द्विविधमेव वीर्यमाचक्षते वदन्ति। उक्तमतस्योपपत्तिमाह—अपि च नानात्मकमिति। न केवलं मतमात्रमिदं, युक्तं चेदं पूर्वस्मान्मतात, इति 'अपिच' इत्यस्यार्थः। नानात्मकमपि पृथिव्याद्यनेककारणमपि, द्रव्यमग्नी-षोमौ जातुचित कदाचिदपि, नातिक्रामति तयोर्वशे वर्तते; किञ्चिदाग्नेयत्वादुष्णं, किञ्चित सौम्यत्वाच्छीतमिति द्विधैव गतिरित्यर्थः। कुतः? यतस्तौ महाबलौ, अत एव सर्वान् गुणान् गुर्वादयोऽभिभवन्ति, गुर्वादीनप्युष्ण-शीतौ। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा विश्वं कर्तृ व्यक्ताव्यक्ताख्यभेदद्वयं नातिक्रामति। वीर्यद्वैविध्यमाह—उष्णेत्यादि। तच्च उष्णं शीतं च। ननु गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द (मृदु) तीक्ष्णानामपि वीर्यत्वात कथं द्वे एवेत्यत आह—उष्ण-शीतगुणोत्कर्षात्। यद्यपि कायाग्निपाकादष्टौ गुणा जायन्ते, तथाऽप्युष्ण-शीतयोगणयोरुत्कर्षाद् द्वैविध्यम्। गुणान्तरतिरस्कारे शक्तिरुत्कर्षः। शक्त्युत्कर्षे वीर्यशब्दो लोकेऽपि प्रसिद्धः। तत्र द्रव्ये; वीर्यमपि द्रव्याश्रयमित्यर्थः (हे.)॥

द्रव्यगुणशास्त्रमें 'वीर्य' शब्दका दो अर्थोंमें प्रयोग किया गया है। एक द्रव्यकी शक्तिरूप वीर्यके अर्थमें और दूसरा पारिभाषिक वीर्यके अर्थमें। टीकाकारोंने द्रव्यगत शक्तिको वीर्य माननेवालोंको शक्तिरूपवीर्यवादी[1] या बहुविध वीर्यवादी और पारिभाषिक वीर्य माननेवालोंको पारिभाषिकवीर्यवादी ये नाम दिये हैं। शक्तिरूपवीर्यवादियोंका कथन है कि—संसारमें सब कार्य शक्तिसे ही होते हैं, कोई भी कार्य शक्तिके विना सम्पन्न नहीं हो सकता, अतः द्रव्यगत भूतप्रसादातिशयरूप (जन्य) जिस कार्यकारिणी शक्तिके द्वारा जीवित मानव शरीरके ऊपर संशोधन-संशमन आदि कुछ भी कार्य होता है उस शक्तिको, वह चाहे द्रव्यस्वभाव (द्रव्यकी पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचना) रूप हो, रसरूप हो, विपाकरूप हो, उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न शीतोष्णादिगुणरूप हो या द्रव्यगत सारभाग-सत्त्वांशरूप हो, उसको वीर्य कहते

१—शक्तिरूपवीर्यवादीको 'बहुवीर्यवादी' ऐसा नाम अष्टाङ्गसंग्रहके व्याख्याकार इन्दुने दिया है।

हैं। जीवित शरीरपर क्रिया करनेकी शक्तिसे संपन्न पाञ्चभौतिक रचनाविशेष (विशिष्ट संगठन) रस, गुण, विपाक या द्रव्यगत सत्त्वांश—इन सब पर यह लक्षण लागू पड़ता है। दूसरे पारिभाषिकवीर्यवादियोंका कहना है कि—द्रव्यस्वभाव, रस, गुण और विपाक इनका आयुर्वेदमें स्वतन्त्र वर्णन और विचार किया ही गया है, अत; इनके अतिरिक्त उत्कृष्टशक्तिसंपन्न और प्रभूत-विशेष कार्य करनेवाले गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण-इन आठ गुणोंको ही वीर्य-संज्ञा देना उचित है। इन पारिभाषिकवीर्यवादियोंमें भी दो पक्ष हैं—एक अष्टविधवीर्यवादी और दूसरा द्विविधवीर्यवादी। अष्टविधवीर्यवादी कहते हैं कि—गुरु, स्निग्ध, शीत, मृदु, लघु, रूक्ष, उष्ण और तीक्ष्ण—ये आठ गुण समग्र गुणोंमें साररूप अर्थात चिरस्थायी[1] हैं, अन्य गुणोंसे उत्कृष्टशक्तिवाले हैं, लोक और शास्त्रमें मुख्यतया इनसे व्यवहार होता[2] है, अनेक (विंशति) गुणोंकी गणनामें इनकी पहले गणना[3] की गई है, रस-विपाक और अन्य गुणोंका पराभव करके ये अपना कार्य करते हैं, अन्य गुणोंकी अपेक्षया द्रव्योंमें अधिकतासे रहते हैं और देहोपयोगित्वमें श्रेष्ठ हैं, इसलिये गुर्वादि आठ गुणोंमें ही 'वीर्य' संज्ञा सार्थक है। गुर्वादि आठ गुण जब उत्कृष्ट शक्तिसंपन्न होकर द्रव्यमें रहते हैं तब उनको 'वीर्य' कहा जाता है, परन्तु जब वे उत्कृष्ट शक्तिसम्पन्न नहीं होते तब सामान्यतया गुण ही कहे जाते हैं। अवशिष्ट बारह गुण उत्कृष्ट शक्तिरहित होनेसे वे सामान्यतया 'गुण' ही कहलाते हैं। पूर्वोक्त हेतुओंसे रसादिमें भी क्रिया करनेका सामर्थ्य होनेसे वीर्य संज्ञाका सम्भव है, तथाऽपि उनमें ऊपर कहे सब लक्षण नहीं पाये जाते, अतः उनको 'वीर्य'-संज्ञा नहीं दी जाती। गुर्वादि आठ गुणोंको वीर्य माननेवालोंको पारिभाषिक वीर्यवादी, गुण-वीर्यवादी या अष्टविध-वीर्यवादी कहते हैं। द्विविधवीर्यवादी कहते हैं कि—यद्यपि जगत्में सब द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं, तथाऽपि पञ्चमहाभूतोंमें अग्नि और सोम (जल) महाबलवान् होनेसे सब द्रव्योंपर उनका प्रभाव विशेष-अधिक

१—जठराग्निके योगसे मधुरादि रस-गुण अपने स्वभावको छोड़कर अन्यथा-भावको प्राप्त होते हैं, परन्तु गुर्वादि गुण अपने स्वभावको नहीं छोड़ते, इसलिये सब गुणोंमें साररूप—चिरस्थायी हैं।

२—जैसे—"गुर्वादयो गुणा द्रव्ये" (च. सू. अ. २६) इत्यादि स्थलोंमें गुर्वादिका ही ग्रहण किया गया है।

३—जैसे—वातगुणोंमें कहा गया है—"तत्र रूक्षो लघुः शीतः" (च. सू. अ.१) इत्यादि। विपाकमें चिरस्थायित्व, प्रभावमें शक्त्युत्कर्षत्व, कठिनादिमें व्यवहारमुख्यत्व और रसोंमें बह्वग्रग्रहण ये बातें हैं, अतः उनकी व्यावृत्तिके लिये यहाँ चारों हेतु एक साथ दिये गये हैं।

पड़ता है और काल भी आदान (आग्नेय) और विसर्ग (सौम्य) भेदसे दो प्रकारका है, अतः अग्निगुणप्रधान उष्ण और सोम (जल) गुणप्रधान शीत ऐसे दो प्रकारका वीर्य मानना उचित है। इस मतको माननेवाले भी पारिभाषिक वीर्यवादी या गुणवीर्यवादी हैं, तथापि ये दो प्रकारके वीर्य मानते हैं, अतः उनको द्विविधवीर्यवादी भी कहते हैं।

सुश्रुतमतेन वीर्यनिरूपणम्—

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति[1]। कस्मात् ? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधन-संशमन-सांग्राहिकाग्निदीपन-पीडन-लेखन-बृंहण-रसायन-वाजीकरण-श्वयथुकरविलयन-दहन-दारण-मादन-प्राणघ्न-विषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति। तच्च वीर्यं द्विविधम्—उष्णं, शीतं च, अग्नी-षोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः—शीतम्, उष्णं, स्निग्धं, रूक्षं, विशदं[2], पिच्छिलं, मृदु, तीक्ष्णं चेति। एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्; अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्; मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्; मधुरं क्षौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्॥

भवन्ति चात्र—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्य-लाघव-शैत्यानि न ते हन्युः समीरणम्॥
ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यौष्ण्य-लघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः॥

१—'प्राधान्यात्' इति च. द.।

२—'गुरु, लघु' इति हाराणचन्द्र संमतः पाठः। अत्र विशेषस्तदीयटीकायामग्रे समुद्धृतायां द्रष्टव्यः।

ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै ।
स्नेह-गौरव-शैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ।।
तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति[1] (सु. सू. अ. ४०) ।।

अपरेषां वीर्यवादिनां मतं निर्दिशन्नाह—नेत्याहुरन्ये इत्यादि । ईदृशमन्ये न ब्रुवन्ति । तद्वशेनेति वीर्यवशेन । कानि पुनस्तान्यौषधकर्माणीत्याह—इहौषधे-

१—वीर्यं प्रधानमित्येके, वीर्यप्राधान्याद् द्रव्याणाम (र. वै. अ. १, सू. १३०) । द्रव्याण्यपि वीर्यविशिष्टानि प्रधानानि भवन्ति यस्माद् तस्मात् वीर्यं प्रधानमित्येके, निर्वीर्याणि परित्यजन्तीति (भा.) । किञ्चान्यत् ? तेन कर्मकरणात् (सु. १३१) ।—तेन वीर्येण, कर्म ईप्सितं फलं, तस्य करणात् साधनात्, "सर्वा वीर्यकृता क्रिया" (च. सू. अ. २६) इति वचनात् (भा.) । किंच, अचिंत्यत्वात् (सू. १३२) ।—अपरीक्ष्यत्वाचानेन प्रकारेण भविष्यतीति, भूतसमुदयं गुणसमुदयं वाऽऽश्रित्य चिन्तयितुं न शक्ते इति । यथा—अन्तर्धानादिष्वचिन्त्यत्वात् प्रधानो विष्णुः (भा.) । ×× दैवप्रतीघातात् (सू. १३३) ।—दैवं राक्षसपिशाचादि वीर्येण प्रतिहन्यते, न रसादिभिरिति रक्षोघ्नान्यौषधानि दृश्यन्त इति । उक्तं हि—"वर्जयन्ति यथाऽरण्यं ससिंहं मृगपक्षिणः । वर्जयन्ति ग्रहास्तद्वत् सौषधं सूतिकागृहम् ।" इति (भा.) । ×× विषप्रतीघातान (सू. १३४) । विषं हि स्थावर-जङ्गमात्मकं सर्वं वीर्येण प्रतिहन्यते । "तेन कर्मकरणात्" इत्यनेनैव सिद्धे ननु आम (?), तथाऽपि सिद्धिदर्शनार्थमन्यपदार्थेभ्य इति न दोषः (भा.) । दर्शनाच्छ्रवणात् (सू. १३५) ।—एवं च विषप्रतीघातादित्यर्थः । तत् सर्वं दुन्दुभिष्वनीये कल्पे द्रष्टव्यं—"तेन दुन्दुभिमालिम्पेत् पताकास्तोणानि च ।" (सु. क. अ. ३) इत्यादीति (भा.) । किञ्च तुल्यरस-गुणेषु विशेषात् (सू. १३६) ।—तुल्यरसेषु तुल्यगुणेषु विशेषो दृश्यते —तिक्तः शीतो मृदुर्लघुः पिचुमन्दः कुष्ठं जयति, तादृशः कट्वङ्गः सन्दधाति पक्वातीसारम् । एवं विशेषदर्शनाद् द्रव्य-रसगुणविशिष्टमस्ति प्रधानभूतं वीर्यं, तस्याधिष्ठानमात्रं खल्विमे द्रव्यादय इति जानीमः (भा.) । किञ्च, संयोगात् तन्निवृत्तेः (सू. १३८) । —द्रव्यादीनां संयोगे सति तत्तद्द्रव्यादिशक्तिविपरीतं शक्त्यन्तरमुत्पद्यते । तस्मादेभ्यो विशिष्टमर्थनिर्वर्तकं वीर्यमस्तीति विज्ञायते । यथा – मधु-घृतयोस्तुल्यधृतयोः संयोगाज्जीवनबृंहण-लेखनसंधानादिकार्यविपरीतफलं वीर्यं दृष्टमिति (भा.) । किञ्च, दर्शनाचाद्भुतादीनां कमणाम् (सू. १३९) । अद्भुतानि कर्माणि दृश्यन्ते वीर्यकृतानि । यथा—मायाकारा येन केनौषधेन लिप्तं हस्तिनं पद्मं वा विसृजन्ति, भूमिमस्पृशन्तस्तिष्ठन्तीत्येवमादयः (भा.) । आगमाच्च (सू. १४०) ।—शास्त्रादायुर्वेदादिति । यथा—"वीर्यतः कार्यसामर्थ्यं द्रव्याणां भिषजो विदुः ।" इति (भा.) ।।

त्यादि । संशोधनं व्रणादीनां ; संशमनमिति वमन-विरेचनादिकं विना तत्स्थमेव शमयतीति संशमनं, संशमनभेदा एव सांग्राहिकादयः ; पीडनमिति शाल्मलीत्वगादीनां व्रणे कर्मविशेषः ; लेखनं पत्तलीकरणं ; बृंहणं शरीरवृद्धिकरं ; रसायनं वयः-स्थापनादिकरणं ; वाजीकरणं वाजिवद्येनाप्रतिहतः स्त्रियं याति, अन्ये तु वाजिशब्देन शुक्रमुच्यते ततोऽवाजिनो वाजिनः क्रियन्ते येनेति वाजीकरणं, शुक्रोत्पादकमित्याहुः ; श्वयथुकरविलयनेति कर-विलयनशब्दौ श्वयथुशब्देन सह प्रत्येकं संबध्येते, 'श्वयथु-हर-विलयन' इत्येके पठन्ति ; दहनं क्षारादिना ; दारणं गृध्रपुरीषादिना ; मादनं मत्तताकरणम्, एतच्च मदिरादीनां कर्म ; प्राणघ्नत्वं विषादेः ; विषप्रशमनत्वमगदादीनां ; विषप्रशमनादीनीत्यत्रादिशब्देन व्रणरोपण-रोमसंजननादयो गृह्यन्ते । स्व-बलगुणोत्कर्षादिति स्वबलोत्कर्षात्, स्वगुणोत्कर्षाच्चेत्यर्थः । आत्मकर्म कुर्वन्ति वातादिदोषशमनं, कोपनं वा कुर्वन्ति । अभिभूय निराकरणं कृत्वेत्यर्थः । स्नेह-भावाच्चेत्यत्रापि वातं शमयतीति योज्यम् । मधुरश्चेक्षुरस इत्यादि न केवलं वातं न शमयति, वीर्यं रसमभिभूय प्रकोपयत्यपि वातमित्यर्थः । कटुका पिप्पलीत्यादि अत्रार्द्रा पिप्पली यदि गृह्यते तदा तस्याः स्वादु-शीतत्वात् कटुकेति विशेषणं युक्तं न स्यात् ; अथ शुष्का, तदा तस्याः कटूष्णत्वात् पित्तं हन्तीति विशेषणमयुक्तं भवेत् ; सत्यं, "तेषु गुर्वी स्वादु-शीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यत्र पाठे शीता चेति चकारो द्रष्टव्यः, तेन न केवलं शीता कटुका चेत्यर्थः, ततो नार्द्रपक्षे दोषः ; शुष्कपक्षे तु "शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यत्र पित्तेन सहेषद्विरोधिनीति व्याख्यानान्न दोषः ; केषां-चिन्मते 'पित्तप्रसादनी' इति पाठः ; तेषां मते पित्तशमनीयत्वं पिप्पल्या वीर्यवादिनां मतं, न पुनः सत्यमेषा पित्तं शमयति ; यदि वा आर्द्रा पित्तप्रशमनी, शुष्का प्रकोप-णीति । अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं चेत्यत्रापि मृदु-शीतवीर्यत्वात् पित्तं समयतीति योज्यम् । तिक्ता काकमाचीत्यादि पित्तं वर्धयति केवलं न तु प्रकोपयति, तस्यास्त्रिदोषघ्नीत्वात् । अन्ये चात्रैवं वदन्ति—वीर्यवादी एवमुष्णां काकमाचीं मन्यते, आचार्यस्तु नात्युणशीताम्, अत एव त्रिदोषघ्नीत्वं काकमाच्या इति । मधुरा मत्स्याश्चेत्यत्रापि पित्तं वर्धयन्तीति योज्यम् । मूलकं बृहन्मूलकं ; न पुनर्बालकं, त्रिदोषघ्नत्वात् । द्रव्याश्रितं वीर्यकर्माभिधाय रसाश्रितं वीर्यकर्माह—भवन्ति चात्रेत्यादि । ये रसा वातशमना मधुराम्ल-लवणाः, ये रसाः पित्तशमना मधुर-तिक्त-कषायाः, ये रसाः श्लेष्मशमनाः कटु-तिक्त-कषायाः (ड.) । वीर्य-प्रधान्यवादिमतमाह—नेत्याहुरन्य इत्यादि । प्राधान्यादिति प्रधानधर्मयोगात्, प्रधानधर्मश्च वीर्यवशेनौषधानां कार्यनिष्पादकत्वम् । एतदेवाह—इहौषधेत्यादि । औषधकर्माणीति औषधकार्याणि । तान्यौषधकार्याण्याह—तद्यथोर्ध्वेत्यादि । ऊर्ध्व-भागादिभिः संशोधनशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते ; किंवा संशोधनं बहिःसंशोधनं

व्रणसंशोधनादि गृह्यते। ××× । आदिशब्देन पाचन-विरूक्षण-स्नेहनादिग्रहणम्। अत्र च वीर्यशब्देन द्रव्यस्य द्विविधाऽपि चिन्त्या अचिन्त्या च शक्तिरुच्यते। तत्रा-चिन्त्या शक्तिर्या तत्रान्तरे 'प्रभाव' इत्युच्यते सा ग्राह्या, तस्यैव च वीर्यस्य प्रभावा-ख्यस्य स्वतन्त्रे "तद् द्रव्यमात्मना किंचित्' (सु. सू. अ. ४०) इत्यादिना निष्कृष्ट-द्रव्यप्रकारतयोक्तस्य एतदधोभागहरत्व-विषहरत्व-वृष्यत्वादि प्रायः कार्यं, नहीदमुष्ण-शीताभ्यां वीर्याभ्यामष्टाभिर्वोष्णादिभिर्वीर्यैरुपपद्यते कार्यं ; तन्त्रान्तरेऽपि—"ऊर्ध्वा-नुलोमिकं यच्च प्रभावस्तत्र कारणम्।" (च. सू. अ. २६), तथा—"विषं विषघ्नमुक्तं यत् तत् प्रभावप्रभावितम्।" तथा "रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते। विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तत्र कारणम्॥ कटुकः कटुकः पाके वीर्यो-ष्णश्चित्रको मतः। तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्॥" (च. सू. अ. २६) तथा—"मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम्। तत् प्रभावकृतं विद्यात् प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते।" (च. सू. अ. २६) इति। चिन्त्या तु शक्तिर्द्रव्यस्य रसाः, तथा वीर्याख्या उष्णादयो गुणाः। तत्र रसस्य विपाकस्य च पृथङ्निर्देशान्न वीर्यव्यवहारः शास्त्रे ; परिमाण-संख्यादयश्च गुणा न शास्त्रे तथा कार्यकरा इति नेह पृथक्त्वेन द्रव्य-रसादिगणनायां गण्यन्ते ; चरके तु सामान्यवीर्यशब्देन तेऽपि गृहीताः ; यथा—"येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्।" (च. सू. अ. २६) इत्यनेन चिन्त्याचिन्त्यवीर्यम्। चिन्त्यायां वैद्यसंप्रदायेन शीतोष्णलक्षणं द्विविधम्, अष्टविधं वा उष्ण-शीत-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-विशद-पिच्छिलरूपमुच्यते। यदा द्विविधं वीर्यं, तदा स्निग्ध-रूक्षादीनां षण्णामपि परिणाम-संख्यादिवदप्राधान्यविवक्षया रसादिधर्मतयैव कार्यग्रहणम्। वक्ष्यति हि—"मधुरो रसः स्निग्धः।" (सू. अ. ४२) इत्यादि। अष्टविधवीर्यपक्षे तु उष्णादीनां सर्वेषामेव बलवत्कार्यकर्तृत्व-विवक्षया वीर्यत्वमिति स्थितिः। संप्रति शास्त्रे व्यवहारसिद्धमेव वीर्यं विवेचय-न्नाह—तद्वीर्यमित्यादि। अग्नी-षोमीयत्वादिति अग्नी-षोमप्रधानत्वात्। कथमेता-न्युष्णत्वादीनि वीर्याख्यानीत्याह—एतानि खल्वित्यादि। स्वबलगुणोत्कर्षादिति बलं शक्तिः, स एव गुणः, प्रशस्तत्वात् ; स्वशक्तिरूपगुणोत्कर्षादुष्णादीनि रसमभि-भूय स्वकार्यं कुर्वन्ति। एतानि वीर्याणि रसमभिभूय स्वकार्यं दर्शयन्तीत्याह—यथा महदित्यादि। अत्र कषायतिक्तत्वाभ्यां वातकोपनं ग्राह्यं, तत्र स्वकार्यमभि-भूय उष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातप्रशमनमेवं क्रियते ; अनया दिशा उदाहरणान्त-राण्यपि व्याख्येयानि। पिप्पल्याः शीतवीर्यत्वमिहाप्याचार्येण स्वीकृतमेव। येन "तेषु गुर्वी स्वादु-शीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा। शुष्का कफानिलहरी वृष्या पित्ताविरोधिनी।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यनेन पित्ते ईषद्विरोधिनीतीषदर्थेन नञा उक्तं ; तेन पित्तं स्तोकं क्रमेण शमयतीत्यर्थः। चरके तु "पिप्पल्यः कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः।" (च. वि. अ. १) इत्यादिना मधुरविपाकतया भङ्ग्यन्तरेण

शीतवीर्यं पित्ते मनाक्शमनत्वं[1] स्वीकृतमेव, वैद्याश्च पित्ते पिप्पलीप्रयोगं कारयन्त्येव। काकमाच्यास्तु पित्तकर्तृत्वं वीर्यवादिमतमेव परं, नाचार्यमतमिति ब्रुवते; येन "ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं काकमाच्याश्च तद्विधम्।" (सु. सू. अ. ४६) इत्यनेन त्रिदोषघ्नत्वान्नात्युष्ण-शीतत्वाच्च काकमाच्याः पित्तजनकत्वानुपपत्तेः। तथा चरकेऽपि—"त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी। नात्युष्ण-शीता स्वर्या च भेदनी कुष्ठनाशनी॥" (च. सू. अ. २७) इति पठ्यते। अन्ये तु वदन्ति यत्—समुदितान् त्रीन् दोषानाचार्यवचनात् काकमाची हन्ति, पृथक् तु काकमाची पित्तं जनयत्येवेत्यविरोधं मन्यन्ते। अन्ये तु काकमाचीशाकं त्रिदोषघ्नत्वादिगुणं भवतु, मूलं तु तस्या उष्णवीर्यत्वात् पित्तकरमिति व्यवस्थां वदन्ति। कटुकं मूलकमित्यादिना वृद्धं मूलकमुच्यते, बालमूलकस्य त्रिदोषहरत्वात्। यदुक्तं—"कटु-तिक्तरसा हृद्या रोचनी वह्निदीपनी। सर्वदोषहरी लघ्वी कण्ठ्या मूलकपोतिका॥" (सु. सू. अ. ४६) इति। संप्रति सामान्येन रसाभिभावकत्वं वीर्यस्य श्लोकैराह—ये रसा इत्यादि। ये रसा वातशमना इति मधुराम्ल-लवणाः, पित्तशमना मधुर-तिक्त-कषायाः, एवं श्लेष्मशमनाः कटु-तिक्त-कषाया ज्ञेयाः। एतच्छ्लोकत्रयार्थ-प्रतिपादितार्थस्य च यत्र तु क्वचिदन्यथात्वं भवति, तत्र द्रव्यादिमहिम्ना अपवादरूपं भवतीति नास्यार्थस्य व्यभिचारः; क्वचिदनार्षत्वमस्य श्लोकत्रयस्य वर्णनीयमुप-पादितम्। वीर्यप्राधान्यमुपसंहरति—तस्मादित्यादि। (च. द.)। × × × वीर्यं नाम तद् येन रसं विपाकं चाभिभूय कर्म क्रियते इति निश्चीयते, "रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति।" (च. सू. अ. २६) इत्यात्रेयानुशासनात्; तदिदमुक्तं—तद्वशेनेति। कानि पुनस्तानि कर्माणीत्याह—इहेत्यादि। संग्राहकमत्र संग्राहित्वं; यथा "अविवेक्यादेः सिद्धिः" (का. १४) इति सांख्यकारिकायाम्। "अविवेकित्वम् अविवेकि" इति वाचस्पतिमिश्राः। एवमेव प्राणघ्न-श्वयथुकर-शब्दावपि व्याख्येयौ। तत्र प्राणघ्नत्वं विषादीनां; श्वयथुकरत्वं च भल्लातकादीनां; विलयनं श्वयथुनाशनं, तच्च मिश्रकोक्तानां मातुलुङ्गादीनां कर्मेति वेदितव्यम्। परिशिष्टानि सुखावगम्यानि। केचिदित्यादि। नेह गुरु-लघुशब्दापवर्तनेन विशद-पिच्छिलयोः पाठो न्याय्यः, शास्त्रेऽस्मिन् क्वचिदपि तयोर्वीर्यत्वेनानुपदेशादुपदेशाच्च गुरु-लघुनोः, वक्ष्यति हि—"ये रसाः" इत्युपक्रम्य "रौक्ष्य-लाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम्।" इत्यादि। उक्तमर्थमुदाहरणेन स्फोरयति- यथेत्यादि। कटुका पिप्पलीति पिप्पलीशब्दस्येह पिप्पलीलतायां तात्पर्यमित्याहुः, आत्रेयादि-भिरुष्णवीर्यत्वेनाभिहितायाः पिप्पल्या मृदु-शीतत्वानुपपत्तेः। काकमाची पित्तं वर्धयतीति काकमाच्याः पित्तवर्धकत्वं स्वतन्त्रपित्ताभिप्रायेणेति लक्षणीयं; वक्ष्यमाणं

१—'पित्तस्य नाशकत्वं' इति पाठान्तरम्।

त्रिदोषहरत्वं त्वनुबन्धभूतपित्तहरत्वेनेति नानुपपत्तिः। × × ×। नह्येतावन्त्येव वीर्यप्राधान्यप्रत्ययकराणि भवन्ति, तिक्तानामर्कागुरु-गुडूचीनामौष्ण्येन वातप्रशमकत्वदर्शनात्, तदिदमुच्यते—तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तमिति। परिशिष्टं निगदव्याख्यातम् (हा.)॥

अन्य आचार्य कहते हैं कि—द्रव्य, रस या विपाक प्रधान नहीं है, किन्तु वीर्य प्रधान है। क्योंकि औषधके कर्म वीर्यसे होते हैं। ऊर्ध्वभागसंशोधन (वमन), अधोभागसंशोधन (विरेचन), उभयतोभागसंशोधन, संशमन, सांग्राहिक, अग्निदीपन, पीडन, लेखन, बृंहण, रसायन, बाजीकरण, श्वयथुकरण, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन (मत्तताकरण), प्राणनाशन, विषनाशन इत्यादि औषधोंके कर्म वीर्यकी प्रधानतासे होते हैं। समस्त जगत् अग्नि-सोमात्मक होनेसे वीर्य दो प्रकारका होता है—(१) उष्ण और (२) शीत। कई आचार्य आठ प्रकारके वीर्य मानते हैं—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण। ये वीर्य अपने बल (शक्ति) रूप गुणकी उत्कृष्टतासे रसका (विपाकका भी) पराभव करके अपना कार्य करते हैं। जैसे—बृहत्पंचमूल रसमें कषाय और अनुरसमें तिक्त होनेसे उससे वायुका प्रकोप होना चाहिये, परन्तु वह उष्णवीर्य होनेसे वायुका शमन करता है। कषायरसयुक्त कुलथी और कटुरसयुक्त प्याज उष्ण और स्निग्ध वीर्य होनेसे वायुका शमन करते हैं। गन्नेका रस मधुर रसवाला होनेपर भी शीतवीर्य होनेसे वायुको बढ़ाता है। कटुरसयुक्त पिप्पली मृदु और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करती है। आँवला अम्लरसयुक्त तथा सैंधानमक लवण होनेपर भी मृदु और शीतवीर्य होनेसे पित्तको शान्त करते हैं। मकोय तिक्तरसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है। मछली मधुर रसवाली होनेपर भी उष्णवीर्य होनेसे पित्तको बढ़ाती है। पकी मूली कटु रसवाली होनेपर भी स्निग्धवीर्य होनेसे कफको बढ़ाती है। कैथ अम्ल रसवाला होनेपर भी रूक्षवीर्य होनेसे कफको शान्त करता है। शहद मधुर होनेपर भी रूक्षवीर्य होनेसे कफको शान्त करता है। यहाँ दिग्दर्शनार्थ हमने थोड़ेसे उदाहरण दिये हैं। इस प्रकार अनेक कार्य वीर्यकी प्रधानतासे होते हैं।

मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस (रसवाले द्रव्य) वायुको शान्त करते हैं, परन्तु उनमें यदि रूक्ष, लघु और शीत वीर्य रहे हों तो वे वायुका नाश नहीं कर सकते। मधुर, तिक्त और कषाय ये तीन रस पित्तका शमन करनेवाले हैं, परन्तु उनमें यदि तीक्ष्ण, उष्ण और लघु ये वीर्य रहे हों तो वे पित्तका शमन नहीं करते। कटु, तिक्त और कषाय ये रस कफको शान्त करनेवाले हैं; परन्तु यदि उनमें स्निग्ध, गुरु और शीत वीर्य रहे हों तो वे कफको शान्त नहीं कर सकते। इस प्रकार वीर्य रसका पराभव करके अपना कार्य करता है, इसलिये वीर्य प्रधान है।

वक्तव्य—यहाँ डल्हण तथा चक्रपाणिने मूलके पाठमें विशद और पिच्छिल

ये वीर्य लिखे हैं[1]। कविराज हाराणचन्द्रजीने विशद और पिच्छिल इन दोनोंके स्थानमें गुरु और लघु ये दो वीर्य लिखे हैं। वे लिखते हैं कि—चरक, वाग्भट आदि आयुर्वेदके किसी ग्रन्थमें विशद और पिच्छिलको कहीं भी वीर्य नहीं लिखा है और सुश्रुतने भी इस प्रकरणके अन्तिम तीन श्लोकोंमें गुरु और लघुको ही वीर्य लिखा है। विशद और पिच्छिलको वीर्य माननेवाले कहते हैं कि—सुश्रुतने गुरु और लघु विपाक माने हैं, अतः सुश्रुतके मतमें ये वीर्य नहीं हो सकते, अतः सुश्रुतने गुरु और लघुके स्थानमें विशद और पिच्छिल दो वीर्य माने हैं। चक्रपाणिने यह भी लिखा है—कि कई टीकाकार इस प्रकरणके अन्तिम तीन श्लोकोंको अनार्ष मानते हैं।

वीर्ये भूतगुणोत्कर्षनिरूपणं, वीर्यगुण-कर्माणि च—

तत्र[2] य इमेऽष्टौ गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-तीक्ष्ण-पिच्छिल-विशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ, शीत-पिच्छिलावम्बुगुण-भूयिष्ठौ[3], पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षिति-समीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम्। ××। (तत्र कर्माण्यप्युष्णस्य[4] दहन-पाचन-मूर्च्छन-स्वेदन-वमन-विरेचनानि, शीतस्य प्रह्लादन-विष्यन्दन-स्थिरीकरण-प्रसादन-क्लेदन-जीवनानि, स्निग्धस्य स्नेहन-बृंहण-संतर्पण-वाजीकरण-वयःस्थापनानि, रूक्षस्य अनिलवृद्धि-संग्रहण-पीडन-विरूक्षणोपरोपणानि, विशदस्य क्लेदाचूषण-विरूक्षणोप-

---

१—हेमाद्रि भी सुश्रुतमें विशद और पिच्छिलका पाठ मानते हैं ? (देखें इसी ग्रन्थमें पृ. २७२ पर)।

२—"तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-गुरु-लघु-मृदु-तीक्ष्णास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ. गुरु-शीतौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ, अम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाश-गुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यम्, अग्न्याकाश-समीरणगुणभूयिष्ठं लघुत्वम्। ××। तत्र गुरूष्ण-स्निग्धा वातघ्नाः, मृदु-शीतौ पित्तघ्नौ, लघु-तीक्ष्ण-रूक्षाः श्लेष्मघ्नाः। ×××। तेषां शीतोष्ण-स्निग्धाः ह्लादन-पाचन-स्तम्भनादिना, रूक्ष-गुरु-लघवो विरूक्षणोपलेप-लेखनादिना, तीक्ष्णो दहन-पचनादिना, मृदुस्तद्विपर्यासेनानुमीयते इति।" हाराणचन्द्र-सम्मतः पाठः।

३—'शीत-पिच्छिलावम्लगुणभूयिष्ठौ' इति चक्रदत्तसम्मतः पाठः।

४—कोष्ठस्थः पाठो डल्हणादिभिर्न पठितो व्याख्यातश्च ; केवलं चक्रपाणिनैव पठ्यते व्याख्यायते च।

रोहणानि, पिच्छिलस्योपलेपन-पूरण-बृंहण-संश्लेषण-वाजीकरणानि, मृदो रक्तमांसप्रसादन-सुस्पर्शनानि, तीक्ष्णस्य संग्रहाचूषणावदारण-स्रावणानि)। तत्र उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीत-मृदु-पिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्ण-रूक्ष-विशदाः श्लेष्मघ्नाः । × × ×। तेषां मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिल-विशदौ चक्षुः-स्पर्शाभ्यां, स्निग्ध-रूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनेन[1] । (सु, सू. अ. ४१)

संप्रति द्रव्यं भूतकार्यत्वेन तत्तद् गुणयोगेन कर्मणा चाभिधाय वीर्याण्यपि तथा निर्देष्टुमाह—तत्रेत्यादि । अम्लगुणभूयिष्ठाविति अम्लरससहचरितगुरुत्वादिगुण-सहचरितौ ; एवमन्यत्रापि तत्तद्भूतसहचरितगुणभूयिष्ठता ज्ञेया । तत्रेत्यादिना वीर्याणां कर्माण्युच्यन्ते । अत्रोष्णवीर्यस्य वमन-विरेचने कारणतोक्ता, विरेचनं च प्राक् पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठद्रव्यकार्यमुक्तं, तेन तत्रापि विरेचनद्रव्ये उष्णवीर्यता दोषक्षोभकारिणी ज्ञातव्या । उपरोपणं व्रणरोपणम् । पूरणम् आमाशयादीनां पूरितत्वं येन भवति । संश्लेषणं संधिसंधानम् ; × × × । वीर्याणां दोष-प्रशमनकर्माह—तत्रोष्णेत्यादि ; अयं च वीर्याणामौत्सर्गिको गुणनिर्देशः, तेन स्निग्धमपि किंचिदाग्नेयं लवणवद्भवति, यथा—सैन्धवं ; स्निग्धमपि किंचिदुष्ण-गुणभूयिष्ठं, यथा—आनूपमांसम् ; इत्यादि अपवादरूपं भवति । वीर्याणां ज्ञानो-पायमाह—तेषामित्यादि । मृदुशीतोष्णानां स्पर्शेनापि ग्रहणं भवतीति स्पर्शग्राह्या इत्युक्ताः । येन सैन्धवगतं शीतत्वमानूपमांसगतमौष्ण्यमित्यादि न स्पर्शग्राह्यं ; किंतु कार्यानुमेयम्, आगमप्रतिपादनीयं वा ; एवमस्पर्शादिग्राह्येष्वप्युदाहरणमुन्नय-नीयम् । सुखदुःखोत्पादनेनेति सुखोचितजिह्वादिसुकुमारप्रदेशदुःखोत्पादनेन वा तीक्ष्णत्वं प्रतीयत इत्यर्थः । 'महद्दुःखोत्पादनेन' इति पाठो व्यक्तः । × × × । (च. द.) । इमे वक्ष्यमाणाः । × × । तत्रोष्णेत्यादि उष्ण-स्निग्धौ वीर्यसंज्ञौ गुणौ । तेषामष्टानां वीर्याणां मध्ये । मुखे दुःखोत्पादनादिति अत्र चार्थो द्रष्टव्यः, तेन घ्राणदुःखोत्पादनाच्चेति द्रष्टव्यम् (ड.) । संप्रति द्रव्यकर्माण्युपदिश्य प्रसंगा-त्तद्गतवीर्यकर्माण्युपदिदिक्षुः प्रथमं तावत् तत्तद् भूतगुणान्युपदिशति— तत्रेत्यादिना । × × × । केनचिदनवधानपरेणेह "मृदु-शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिल-विशदौ चक्षुः-स्पर्शाभ्यां, स्निग्ध-रूक्षौ चाक्षुषौ, तीक्ष्णो मुखदुःखोत्पादनेन" इति पठ्यते, व्याख्यायते च तथाविधैष्टीकाकृद्भिरक्षरार्थमात्रसचिवैः ; तत्तु न सम्यक्, कर्मानु-मेयानां वीर्याणामिन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः; आयुर्वेदतन्त्रेषु क्वचिदपि पिच्छिल-विशदयो-र्वीर्यत्वेनानुपदेशाच्च (हा.) ॥

१—'तीक्ष्णः सुखदुःखोत्पादनेन' इति चक्रदत्तसम्मतः पाठः ।

तत्रोष्णं दहन-पचन-स्वेदन-विलयनानिल-कफशमनानि करोति, शीतं ह्लादनै-स्तम्भन-जीवन-रक्तपित्तप्रसादनादीनि (अ. सं. सू. अ. १७) ॥

तत्रोष्णवीर्यस्य दहनादीनि कर्माणि। शीतस्य ह्लादनादीनि (इन्दुः) ॥

तत्रोष्णं भ्रम-तृड्-ग्लानि-स्वेद-दाहाशुपाकिता :
शमं च वात-कफयोः करोति, शिशिरं पुनः ॥
ह्लादनं जीवनं स्तम्भं प्रसादं रक्त-पित्तयोः ॥ (अ. हृ. सू. अ. ९)

तत्र तयोरुष्ण-शीतयोर्मध्ये, उष्णम् उष्णवीर्यं भ्रमादीन् करोति। आशु-पाकितां शीघ्रपाकित्वम्। शिशिरं पुनः शीतवीर्यं तु ह्लादनादीन् करोति (अ. द.)। उष्णं लक्षयति—तत्रेत्यादि। यद् भ्रमादिकं करोति तदुष्ण-वीर्यम्। आशुपाकिता शीघ्रपाकः। शीतं लक्षयति—शिशिरमित्यादि। यत् ह्लादनादीन् करोति तच्छीतवीर्यम्। ह्लादनं निर्वृत्तिः जीवनं मूर्च्छापनयनादिभिः प्राणधारणम्। स्तम्भः स्वेदापनयनम्। रक्त-पित्तयोः प्रसादं निर्मलत्वम् (हे.) ॥

शीतं कफ-मारुतकृद्वीर्यं गुरु पित्तनाशनं बल्यम् :
उष्णं कफ-वातहरं पित्तकरं लघ्ववृष्यं च ॥ (द्रव्यगुणसंग्रहः श्लो. ८)

यद्यप्यष्टविधमेव वीर्यं भवति, तथाऽपि तेष्वेव शीतोष्णयोः प्राधान्यात्तद्गुण-मेवाह—शीतमित्यादि (शि.) ॥

वीर्यसंज्ञावाले जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल, और विशद ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण ये दो वीर्य अग्नि महाभूतके गुणोंकी अधिकतावाले हैं, शीत और पिच्छिल ये दो वीर्य जलके गुणोंकी अधिकता-वाले हैं, स्निग्ध पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला है, मृदु जल और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाला है, रूक्ष वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है तथा विशद पृथिवी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है। उष्ण वीर्य (युक्त द्रव्य) के शरीरपर दाह (जलन), पचन (अन्न-धातु-रस-व्रणशोथ आदिको पकाना), मूर्च्छा लाना, स्वेदन (पसीना लाना), वमन कराना, विरेचन कराना (सु.); विलयन करना (पिघलाना), वायु तथा कफका शमन करना (अ. सं.); भ्रम (चक्कर लाना), तृषा और ग्लानि उत्पन्न करना (अ. हृ.); तथा पित्त उत्पन्न करना ये कर्म होते हैं। उष्ण वीर्य लघु और शुक्रकी हानि करनेवाला है (द्र. गु. स.)। शीत वीर्य (युक्त द्रव्य) के शरीरपर प्रह्लादन (उष्ण पीडित को सुख उत्पन्न करना), स्रावको रोकना, स्थिर करना, प्रसन्नता करना (स्वच्छ करना), क्लेदको सुखाना, मूर्च्छित आदिको संज्ञा प्रदान करना (सु.); स्तम्भन

करना, रक्त और पित्तको शान्त करना (अ. सं.); तथा कफ और वायुको उत्पन्न करना (बढ़ाना) (द्र. गु. सं.) ये कर्म होते हैं। (अ. हृ.)। शीत वीर्य गुरु और वृष्य है (द्र. गु. सं.)। स्निग्ध वीर्य (युक्त द्रव्य) स्नेह, बृंहण, सतर्पण (तृप्ति-पोषण करनेवाला), वाजीकरण, वयःस्थापन और वातका नाश करनेवाला है। रूक्ष वीर्य (युक्त द्रव्य) वायुको बढ़ानेवाला, ग्राही, पीडन (व्रणपीडन), रूक्षता लानेवाला, व्रणको भरनेवाला और कफका नाश करनेवाला है। विशद वीर्य (युक्त द्रव्य) क्लेद (गीलापन) को चूसने-सुखाने-वाला, रूक्षता उत्पन्न करनेवाला, व्रणका रोपण करनेवाला और कफका नाश करनेवाला है। पिच्छिल वीर्य (युक्त द्रव्य) चिकनाहट लानेवाला, पूरण, बृंहण, संश्लेषण (चिपकानेवाला), वाजीकर और पित्तका नाश करनेवाला है; मृदु वीर्य (युक्त द्रव्य) रक्त और मांसका प्रसादन करनेवाला, स्पर्शमें सुख उत्पन्न करनेवाला और पित्तका नाशकर नेवाला है। तीक्ष्ण वीर्य (युक्त द्रव्य) ग्राही, चूसने-शोषण करनेवाला, व्रण-शोथका विदारण (फाड़ने-फोड़नेवाला), मुखनासादिका स्राव करानेवाला तथा कफका नाश करनेवाला है। मृदु[1], शीत और उष्ण वीर्यका स्पर्शसे ग्रहण-ज्ञान होता है। पिच्छिल और बिशद वीर्यका दर्शन और स्पर्शसे ग्रहण-ज्ञान होता है। स्निग्ध और रूक्ष वीर्यका दर्शनसे ज्ञान होता है। तीक्ष्ण वीर्यका मुख और नाकमें दुःख उत्पन्न होनेसे ज्ञान होता है।

वक्तव्य—ऊपर हमने जो अनुवाद किया है वह डल्हण और चक्रपाणिकी व्याख्यानुसार है। कविराज हाराणचन्द्रजीने यह पाठ कुछ परिवर्तन करके लिखा है, जो टिप्पणमें दिया है। उन्होंने विशद और पिच्छिलके स्थानमें गुरु और लघु दो वीर्य माने हैं। उनके पाठानुसार समग्र प्रकरणका अर्थ इस प्रकार होता है—वीर्यसंज्ञक जो शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु और तीक्ष्ण—ये आठ गुण हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं, गुरु और शीत पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाले हैं, स्नेह जलके गुणोंकी अधिकतावाला है, मृदु जल और आकाशके गुणोंकी अधिकतावाला है, रूक्ष वायुके गुणोंकी अधिकतावाला है तथा लघु अग्नि, आकाश और बायुके गुणोंकी अधिकतावाला है। उनमें गुरु,

---

१—कविराज हाराणचन्द्रजी कहते हैं कि—यह पाठ ठीक नहीं है, क्योंकि वीर्योंका उनके कर्मोंसे अनुमान किया जाता है, उनका इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं होता। वे लिखते हैं कि—शीत, उष्ण और स्निग्ध वीर्यका आह्लादन, पाचन, स्तम्भन आदि कर्मोंसे; रूक्ष, गुरु और लघु वीर्यका रूक्षण, उपलेपन, लेखन आदि कर्मोंसे; तीक्ष्ण वीर्यका दहन, पचन आदि कर्मोंसे तथा मृदु वीर्यका उसके (तीक्ष्णके) विपरीत कर्मोंसे अनुमान किया जाता है।

उष्ण और तीक्ष्ण ये तीन वीर्य वातघ्न हैं, मृदु और शीत ये दो वीर्य पित्तघ्न हैं तथा लघु, तीक्ष्ण और रूक्ष ये तीन वीर्य कफघ्न हैं।

भदन्तनागार्जुनमतेन वीर्यनिरूपणम्—

कर्मलक्षणं वीर्यम् (र. वै. सू. अ. १, सू. १६६)।—मेधाजननादि (वीर्यं) मेधां दृष्ट्वा ज्ञायते, ऊर्ध्वभागिकमपि तथेति (भा.)। रसगुणमात्रं वीर्यमित्येके (र. वै. सू. अ. २, सू. ३०)।—गुणानतरं वीर्यमिदानीं चिन्त्यते—रसेत्यादि। एके पुनराचार्या रसगुणमात्रं वीर्यमिच्छन्ति। गुणमात्रं वीर्यमिति वक्तव्यं, रसगुणत्वप्रतिषेधाच्छीतादीनाम्। पूर्वं तेषां मतमिति चेद् येऽपि गुणमात्र-वीर्यवादिनस्तैरपि न तेषां गुणानां रसगुणत्वमिष्यत इति। तस्मादयमत्रार्थः—उत्तरत्र वीर्यचिन्ताध्याये वीर्याणामाश्रयं ब्रुवता रसाश्च गुणाश्चोक्ताः—"सर्वान् रसान् गुणांश्चाश्रितं छर्दनीयम्।" (र. वै. अ. ४ सू. २) इत्यादि; तस्मात्तत्र तेभ्योऽन्येन रस-गुणाधिष्ठानेन वीर्येण भवितव्यमिति। अस्य पक्षस्य प्रतिषेधार्थं केचिद् ब्रुवते—रसगुणमात्रं, न रसगुणाधिष्ठानमन्यद् वीर्यमिति; एवं मात्रशब्दश्च सार्थकः स्यात्। रसगुण एव वीर्यमिति भावः। गुणमात्रवीर्यवादिनस्त्वष्टविधं वीर्यमिच्छन्ति; यथा—"मृदु-तीक्ष्णं गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षोष्ण-शीतलम्। वीर्य-मष्टविधं केचित् केचिद्द्विविधमास्थिताः॥ शीतोष्णमिति, वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया। नावीर्यं कुरुते किंचित् सर्वा वीर्यवती[1] क्रिया।" (च. सू. अ. २६) इति। तत्रायं प्रयोगः—'गुर्वादयोऽपि वीर्यं, स्पर्शवत्त्वात्; शीतोष्णवद्' इति। दृष्टान्तः साधनान्वितः। कथं? शीतं वीर्यमुष्णं वीर्यमित्यत्र शीतोष्णशब्दौ न स्पर्श-विशेष-वाचकौ, किन्तु सौम्याग्नेयभूतसमुदायवाचकौ; पृथिव्युदकाभ्यां जनितं शीतवीर्यम्, अग्न्याकाशानिलैरारब्धमुष्णं चेति। सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः, चन्द्रादित्ययो-श्चाधोगत्यूर्ध्वगत्यात्मकत्वाद्, भूतगुणद्वैविध्याच्च द्विविधमेव वीर्यमित्यनवद्योऽयं पक्षः (भा.)। न, तुल्यरस-गुणेषु विशेषभावात् (सू. ३१)।—गुणपदार्थ-वीर्यवादिनां पक्षे वीर्यपदार्थस्य पृथगभावात् तत्पृथग्वीर्यास्तित्वं साध्यते—नेत्यादि। नेति पूर्वपक्षप्रतिषेधार्थं 'त्वयोक्तं न' इति। तुल्यरसेषु तुल्यगुणेषु च विशेषो दृश्यते—मधुररसं स्निग्धं शीतं च यष्टिमधुकं संदधाति, क्षीरं च तादृगेव स्रंसयतीति विशेषः। अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्माद् रस-गुणाख्यात् कारणमन्यद्विद्यते। अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीम इति। अत्र प्रयोगः—रस-गुणकारण-व्यतिरिक्तान्यवस्तुनिर्वर्तितमूर्ध्वभागादिकं, तत्कारणसाम्ये फलविशेषदर्शनात्; यत्र फलविशेषो दृश्यते तत्र तत्कारणव्यतिरिक्तान्यवस्तुनिर्वर्तितत्वं दृष्टम्। यथैकस्य पुत्रयोराढ्य-दुर्गतत्वम् (भा.)। मात्राविशेषात् (सू. ३२)।—तुल्यरस-गुणेष्विति

१—'वीर्यं कृता' इति पाठान्तरम्।

पक्षः। तुल्यरस-गुणयोः क्षीर-सर्पिषोः स्रंसने मात्राविशेषोऽन्यत् कारणमपेक्षते। तत् कारणमेतद्व्यतिरिक्तं वीर्यमस्तीति, तद्व्यतिरिक्तस्य तदाश्रयत्वात्। यस्य यदाश्रयः स्यात्, तस्मात् स खलु पृथगेवोपलभ्यते। यथा—चित्रात् कुड्यम्। तस्माद् रस-गुणेभ्योऽन्यद् वीर्यमिति। गुणमात्रवीर्यवादिनं प्रत्येवं साधयितुं न शक्यते। नासौ प्रतिज्ञानान्याश्रयत्वे न वीर्यरसगुणा (?) रस-गुणा एव वीर्यमिति प्रतिपन्नत्वात्। तस्मादयमत्रार्थः—यदि रसगुणा एव वीर्यं, यत्र रस-गुणा न स्युः (न) तत्र वीर्यकर्माणि स्युः, दृश्यन्ते चेति प्रदर्शनार्थमुक्तम् (भा.)। तद्व्यतिरिक्तस्य तदाश्रयत्वात् (सू. ३३)।—तद्व्यतिरिक्तं तेभ्यो गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं, तस्य। तदाश्रयत्वादिति तस्याश्रयस्तदाश्रयः, वीर्यस्येत्यर्थः। रसगुणेभ्योऽन्यस्यापि वीर्यस्याश्रयस्य दर्शनादित्युक्तं भवति। एवं प्रतिज्ञायास्तूत्तरमात्रमेतदुक्तं भवति; न हेतुप्रयोगः (भा.)। वीर्यवीषये चानधिकारात्तेषाम् (सू. ३४)।—कथमाश्रयत्वमिति तत्प्रदर्शनार्थमाह—वीर्येत्यादि। तेषां गुणानां वीर्यविषयेऽनधिकारो दृष्टः क्वचिद्दर्शन-श्रवणादिषु। अनेन पताका-ध्वज-भेरी-दुन्दुभिप्रभृत्यधिष्ठितौषधविशेषाधिष्ठानत्वं वीर्यस्य प्रदर्शितं भवति, न रसगुणा इति (भा.)। रस-गुणव्यतिरेकेण चोपलब्धेः कर्मणस्तस्य (सू. ३५)।—वीर्यस्य लक्षणमुपदिशता 'कर्मलक्षणं वीर्यम्' इति फललक्षणत्वं वीर्यस्योक्तम्। तस्मात् फलं यत्र दृश्यते तत्रावश्यं तेनापि फलहेतुना भवितव्यमिति प्रदर्शनार्थमाह—रसगुणेत्यादि। तस्य वीर्यस्य, कर्मणः फलस्येत्यर्थः, रस-गुणाभावेऽप्युपलब्धेः मन्त्रादिषु; मन्त्रेण वामयन्ति, मन्त्रेण विरेचयन्तीति। यद् येन विना भवति तत् तस्य कारणं न भवति। यथा—काकवाशितमङ्कुरोत्पत्तय इति। एवं तेषामभावेऽपि वीर्यस्य भावः प्रदर्श्यते (भा.)। सत्सु तेषु तस्मिंस्तस्यैवाकरणात् कर्मणः सति सम्यक्प्रयोगे (सू. ३६)।—तेषां रसगुणानां भावेऽपि वीर्याभावे फलानामभावं प्रदर्शयितुकाम आह—सत्स्वित्यादि। तेषु रसगुणेषु सत्सु। तस्मिन्निति प्रयोगे दृष्टफले पूर्वमित्यर्थः। तस्यैव कर्मणः कृतपूर्वस्य शमनस्य वर्धनस्य वा। अकरणात् सम्यक्प्रयोगाभावादिति चेत् सम्यक्प्रयोगे च प्रकृत्यादिपरीक्षालक्षणे सम्यक्प्रयोगे सत्यपि फलप्रवृत्तिर्नास्तीति तद्व्यतिरिक्तमस्ति वीर्यं नामेति। यथा—चक्षुषि रूपालोकनसांनिध्ये सत्युपहतेन्द्रियेऽशक्ते रूपज्ञानाभावं दृष्ट्वाऽनुमीयते—चक्षुरादिव्यतिरिक्तमन्यज्ज्ञानकारणमिन्द्रियं नयनाधिष्ठानं परमसूक्ष्मं भूतप्रसादजमस्तीति, तद्वदिहापि गुणेभ्योऽन्य एव वीर्यपदार्थ इति। गुणोत्कर्षवीर्यवादी तावदेवं प्रष्टव्यः—कोऽयमुत्कर्षो नाम?। स एव गुणो वा स्यात्, अन्यो वा, गुणस्यावस्था वा?। यद्यन्यस्तद्वीर्यमिति, स एव गुणश्चेच्छब्दाधिकम्। अथावस्था, शैत्यास्यान्या शैत्यावस्था। उत्कर्षो नाम किमस्ति? उत्कृष्टं वा हीनं वा शैत्यमेवेति। किं तारतम्यं नेष्यते गुणानामिति? इष्यते स्वजात्यनतिक्रमेण; यथा—नीलतरो

नीलतम इति। किं तर-तमयोगान्नीलादन्यत् पाण्डुरं भवति ?। यत्र शैत्य-मुत्कृष्टं तत्र पित्तं शमयति तद् वीर्यमिति ; इदानीं शैत्यं मन्दं न किंचित् करोति, गुणकर्माभाव एव स्यादिति। अनेनापि पृथगेव वीर्यमस्तीति भवता प्रसाधितमिति "यदस्माभिरनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम्।" इति। एतत् सर्वं वृत्तमिति गतमानुषङ्गिकम् (भा.)। वीर्याणि पुनश्छर्दनीयानुलोमनीयोभयतोभाग-प्रशमनीय[1]-संग्रहण[2]-दीपनीय- प्राणघ्न-मदन - विदारण[3]-श्वयथुकरणविलयनानि (अ. ४. सू. १)।—इदानीमात्मावसरप्राप्तं वीर्यं भेदत उत्पत्तिश्च विचिन्त्यते—वीर्याणीत्यादि। वीर्याणीति वीर्यभेदाः। 'पुनः' शब्दः पक्षान्तरनिवृत्त्यर्थः। छर्दनं जनयतीति छर्दनीयः। अनुलोमनी वैरेचनीयम्। उभयतोभागं वमन-विरेचनकरम्। प्रशमनी प्रवृद्धानां प्रकुपितानां दोष-धातु-मलानां साम्यकरमित्यर्थः। संग्रहणं पुरीषसंधानकरम्। दीपनीयमग्नेः संधुक्षणं वर्धनमिति। प्राणघ्नं मारणम्। मदनं मदकरम्। प्रदरणं विदारणं शोफानाम्। श्वयथुजननं शोफकरम्। विलयनं शोफानामुत्सेधप्रशमनम् (भा.)। तत्र सर्वान् रसानाश्रित्य छर्दनीयम् (सू. २)।—एतेषां वीर्याणां कस्य क आश्रय इत्याह—तत्रेत्यादि। तेषु वीर्येषु सर्वान् मधुरादीन् रसानाश्रित्य वर्तते छर्दनीयं वीर्यम् (भा.)। तदाग्नेयंवायव्यं च (सू. ३)।—तस्य निर्वर्तकं किमित्याह—तदित्यादि। छर्दनीयं वीर्यमग्नि-वायुभ्यामुत्पाद्यत इति। अग्नेरूर्ध्वगतित्वाद् वायोर्गतिहेतुत्वान्मधुरादिष्वन्यतमस्मिन् गुणे वा अग्नि-वायुभ्यामुत्पादितं तद् वीर्यं तेभ्योऽन्यदित्युक्तं भवति। एवं सर्वत्र (भा.)। तथाऽनुलोमनीयम् (सू. ४)।—तथेति पूर्वमुक्तमाश्रयमाकर्षतीति सर्वान् रसान् आश्रित्य वर्तत इति (भा.)। तत् पार्थिवमाप्यं च (सू. ५)।—पृथिवी गुरुत्वादेवाधो गच्छति, आपो द्रवत्वात् सरणतामुपजनयन्तीति (भा.)। वातलांश्च रसान् पित्तलांश्च गुणानुभयतोभागम् (सू. ६)।—वातलान् वातजननान् कटुक-तिक्त-कषायान् रसान्, पित्तलान् पित्तजननान् तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणानाश्रितमुभयतोभागम् (भा.)। तत् पार्थिवाप्य-तैजस-वायव्यम् (सू. ७)।—तदुभयतोभागं वीर्यं पृथिव्युदकाभ्यां गुरुभ्यामग्नि-वायुभ्यां लघुभ्यां च निर्वर्तते (भा.)। यथाप्रत्यनीकं प्रशमनम् (सू. ८)।—यथाप्रत्यनीकमिति प्रत्यनीकं प्रत्याश्रितं प्रशमनं मधुराम्ल-लवणान् रसान् गुरूष्ण-स्निग्ध-पिच्छिलांश्च गुणानाश्रितं वातप्रशमनं. तथाऽन्यानि च ; अस्य निर्वर्तकस्यावचनं रसगुणैरनुमेयं प्रशमनमिति ; वक्ष्यति हि यथाप्रत्यनीकग्रहणादेव सिद्धमिति च पृथिव्युदकाग्निभिस्तद्वीर्यमारभ्यते। एवमन्यत्रापि यथासंभवं

१—"संशमनीय" इति पा०। २—"सांग्राहिक" इति पा०।
३—"प्रदरण" इति पा०।

प्रत्यनीकत्वं योज्यमिति (भा.)। लवण-तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत् सांग्राहिकम्। तत् पार्थिव-वायव्यम् (सू. ९)।—लवणादेतद्गुणद्वयाच्चान्यद्रसगुणं तस्याश्रयः। तत् पार्थिव-वायव्यम्, आभ्यां भूताभ्यां निर्वर्त्यते सांग्राहिकम् (भा.)। पित्तलान् रसान् गुणांश्च दीपनीयम्। तदाग्नेयम् (सू. १०)।—कटुकाम्ल-लवणान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-लघून् गुणानाश्रितमिति। तदग्निनैव निर्वर्त्यम् (भा.)। सर्वान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्ष-लघु-विशदांश्च गुणान् मदनीयम् (सू. ११)।—सर्वान् रसान् मधुरादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते मदनीयं वीर्यम् (भा.)। तदाग्नेयं वायव्यं च (सू. १२)।—अग्नि-वायुभ्यां निर्वर्तितं तत् (भा.)। शैघ्र्य-सौषिर्य-व्यवायित्व-विकाशित्वानि च प्राणघ्नम् (सू. १३)।—शैघ्र्यादीन् विशेषगुणान् पूर्वोक्तांश्च सर्वान् रसानाश्रित्य वर्तते प्राणघ्नम्। चशब्दात् ते च संगृहीताः, षड्रसं विषमिति वचनात्। एतदर्थमुद्देशक्रमभेदश्च कृतो वेदितव्यो लाघवार्थमेतेषाम्। विकाशित्वं कथमिति। आह हि—"उष्णं सूक्ष्मं च तीक्ष्णं च विकाशि विशदं लघु। व्यवायि रूक्षं शीघ्रं च विषं नवगुणं स्मृतम्॥ पर्पक्ति धातूनुष्णत्वात्तैक्ष्ण्यान्मर्मच्छिदं विषम्। सौक्ष्म्याद्धातून् प्रविशति विकाशित्वाद् विसर्पति॥ विश्लेषयति वैशद्यात् संधीन् धावति लाघवात्। व्याप्नोति च व्यवायित्वाद् रूक्षत्वात् स्नेहनाशनम्॥ शीघ्रत्वान्मारयत्याशु विषं गौतम! षड्रसम्।" इति (भा.)। तदाग्नेयम् (सू. १४)।—अग्नेर्दहन-पचनशक्तित्वाद् अप्कार्यस्य जीवनस्य च प्रतिपक्षत्वात् तत् प्राणघ्नमाग्नेयं भवति। आह—"षड्रसं विषमाग्नेयं ब्रह्मणः क्रोधसंभवम्।" इति (भा.)। पित्तलान् रसान् गुणांश्च प्रदरणम् (सू. १५)।—पित्तलान् कटुकाम्ल-लवणान् तीक्ष्णोष्णांश्च गुणानाश्रितम् (भा.)। तत् पार्थिवमाग्नेयं च (सू. १६)।—पृथिव्यग्निभ्यां निर्मितम्। पृथिवी खलु रौक्ष्यात् तत्रस्थं स्नेहमपास्य पृथिवीपरमाणूनामप्संग्रहमपाकरोति, ततस्तैक्ष्ण्यादग्निर्विदारयति (भा.)। अमधुर-कषायान् रसान् तीक्ष्णोष्ण-रूक्षांश्च गुणान् श्वयथुजननम् (सू. १७)।—मधुर-कषायवर्जितान् रसान् तीक्ष्णादीन् गुणांश्चाश्रित्य वर्तते तद् वीर्यम् (भा.)। तदाग्नेयं वायव्यं च (सू. १८)।—अग्नि-वायू विश्लेषणं कृत्वोर्ध्वमुद्धूय शोफजननसमर्थौ भवत इति (भा.)। सर्वान् रसाञ्शीतमृदु-पिच्छिलांश्च गुणान् विलयनम् (सू. १९)। सर्वान् मधुरादीन् रसान् शीत-मृदु-पिच्छिलानाश्रितं विलयनम् (भा.)। तत् सौम्यं पार्थिवं च (सू. २०)।—अग्नि-वायुजनितवायुवीर्यनिर्वर्तितत्वाच्छोफस्य तस्य विलयनं तत्प्रतिपक्षभूतनिर्वर्तितं भवति (भा.)। शोधनं पुनरन्यस्य हेतोः प्रयुक्तमप्येकं वाऽनेकं वा शोधयेत्, अग्नेर्दहनशक्तिवत्त्वङ्मांसास्थिदाहे (सू. २१)।—शोधनमिति वमन-विरेचनास्थापनानि। पुनश्शब्दोऽधिकृतोद्देशपरिसमाप्तिसूचकः।

अन्यस्य हेतोः प्रयुक्तमिति श्लेष्महरणार्थं वमनं प्रयुक्तं पित्तं च हरति, पित्तहरणार्थं विरेचनं प्रयुक्तं वातं श्लेष्माणं च हरतीति। अत्रास्य वचने प्रयोजनं वीर्यं सामान्येनाधो वा ऊर्ध्वं वाऽपनयति सर्वान् दोषान् धातूंश्च, तत्र यथेष्टकार्यसंपत्तिकरणं प्रयोक्त्रायत्तमिति (भा.)। रसगुणैरनुमेयं प्रशमनम् (सू. २२)।—पूर्वोक्तस्य प्रशमनस्य वीर्यस्य निर्वर्तकं रसैर्गुणैरनुमेयं पूर्वमुक्तक्रमेण। अथवा अत्र प्रशमनं रक्षणं स्वस्थानां दोषाणां क्षय-वृद्ध्यवस्थाप्राप्तिप्रशमनं रसगुणैरनुमेयम्। दोषाणां रसैर्गुणैश्चानुमेयम्। अयमस्य दोषगुणस्य बाह्यो गुणः प्रतिपक्षः, अयमस्य दोषरसस्य बाह्यो रसः प्रतिपक्ष इति (भा.)। द्वयोर्निग्रहणं सांग्राहिकम् (सू. २३)।—निग्रहणं प्रशमनम्। द्वयोरित्युक्तं न विशेषितं, तथा पित्त-श्लेष्मणोरिति गम्यते, पार्थिव-वायव्यात् तस्य वीर्यस्याश्रयस्य च। अलवणं तीक्ष्णोष्णेभ्योऽन्यत्वात् पित्तनिग्रहे समर्थं, पार्थिव-वायव्याद् रौक्ष्यवैशद्याभ्यां श्लेष्मनिग्रहणे समर्थम्। अतीसारस्य वातकर्तृकतामिच्छन्ति केचित् तन्न युक्तं, पित्तकर्तृकता युज्यते, शीतोपक्रमत्वात्; "ज्वरे चैवातिसारे च पूर्वं पित्तमुपक्रमेत्।" (सू. उ. अ. ४०) इत्यागमाच्च (भा.)। दीपनीयं वात-श्लेष्मनिग्रहणमाग्नेयं च (२४)। दीपनीयं द्वयोर्वात-श्लेष्मणोर्निग्रहणं वेदितव्यम्, आग्नेयत्वादिति (भा.)। सर्वप्रकोपनं प्राणहननं, मर्दनं, प्रदरणं च (सू. २५)।—एतानि वीर्याणि सर्वदोषप्रकोपनानि। पूर्वमुक्तक्रमेण विषे अन्यत्र च यथासंभवं योज्यम् (भा.)। वात-पित्तप्रकोपनं श्वयथुजननं, विलयनं प्रशमनं सर्वेषाम् (सू. २६)।—वात-पित्तयोः प्रकोपजननं वीर्यं स्वशक्तित एवेत्यत्र दोषौ स्वसंज्ञयैवोक्तौ; विलयनं प्रलयनं; केषां विलयनं वीर्यं? सर्वेषां दोषाणां प्रलयनं प्रशमनं शोफस्य च शमनात् (भा.)। मेध्यायुष्यवृष्य-वयस्य-वर्चस्य-रक्षोघ्न-पुंसवनसौभाग्य-विशल्यविमोक्षोन्मादक्लैब्यवशीकरण-विद्वेषण-प्रवासनाकर्षणान्तर्धानिक-पौष्टिक-राजद्वारिकप्रभृतीनि च (सू. २७)।—अन्यान्यपि वीर्याणि सन्तीति ज्ञापनार्थमाह—मेध्येत्यादि। मेध्यादीनि च वीर्याणि सन्ति। प्रभृतिशब्दादन्यानि च वीर्याणि विद्याधराणामाकाशगमन-यथेप्सितार्थनिर्वर्तनजनकानि अचिन्त्यान्यपरिमेयानि च सन्तीति। एतेषामचिन्त्यत्वं स्वयमेवोत्तरत्र वक्ष्यति। चार्थे समासः। मेधायै हितं मेध्यं, वचा-सुवर्ण-घृतादीनां वीर्यम्। आयुषे हितम् आयुष्यं, दीर्घायुष्करमिति। यथा—"मध्वामलकचूर्णानि सुवर्णमिति च त्रयम्। प्राश्यारिष्टगृहीतोऽपि मुच्यते प्राणसंशयात्।" (सु. चि. अ. २८) इति। अथापि दिव्यानि रसायनानि च। वृषाय हितं वृष्यम्। वयसे हितं वयस्यं, जरामभिहत्य यौवनमभिरक्षति। तच्च रसायनादेवावगन्तव्यम्। वर्चसे प्रभायै हितं वर्णाय हितं वर्चस्यम्। यथा—"आमलकभक्षो ह्यायुष्मान् भवति, देवताश्चैनमनुकम्पन्ते, गान्धर्वं च वपुर्गमिष्यति।" इति। रक्षोघ्नं रक्षांस्यपहन्ति वीर्येण, कृष्णायसप्रभृतीनि

विषघ्नानि च। तथा पुंसवनं पुत्रलाभकरम्। यथा—"लक्ष्मणामूलफलयोः कल्कं कृत्वा रसस्य च। नासाया दक्षिणे छिद्रे बिन्दूनष्टौ प्रदापयेत्।" इति। सुभगस्य भावः सौभाग्यं, यं दृष्ट्वा सर्वेषामस्योपरि प्रीतिर्जायते, तस्य हेतुभूतं वीर्यम्। यथा—"गोवन्दना मोहनिका मधुकं माक्षिकं मधु। सुवर्णमिति संयोज्य पेयं सौभाग्यमिच्छता।" इति। विशल्यकरणं शल्यस्यार्पितस्य निष्क्रामणम्। यथा—अयस्कान्तोऽयश्शल्यस्य। विमोक्षकरणं निगलभञ्जनम्; आलेपमात्रेण निगलानि भज्यन्ते। उन्मादकरणं यथा—"कृकलासस्य मांसानि मधुना सह योजयेत्। तदन्नपाने भक्षे वा दत्तमुन्मादयेन्नरम्॥" इति। क्लैब्यकरणं पुंस्त्वविनाशनम्। वशीकरणं स्त्रीणां पुरुषाणां वा आत्मसात्करणं लोकप्रसिद्धम्। विद्वेषणं परस्परप्रीतिविभेदनम्, औषधविशेषेण मन्त्रविशेषेण च। प्रवासनं देशान्निर्वासनम्। यथा—"केशा नकुलरोमाणि सर्पनिर्मोचनी वचा। किण्वं च वृश्चिकाली च पदे यस्य निखन्यते॥ न तिष्ठते सप्तरात्रं शपामि ब्रह्महत्यया।" इति। आकर्षणं दूरस्थानां नारीणामाह्वानम्, औषधवीर्येण; अयस्कान्तश्चाकर्षति, वृक्षस्थानि च फलान्याकृष्यन्ते। अन्तर्धानिकम् अदृश्यरूपजनकमौषधं हस्ते गृहीत्वा बद्ध्वा वा नष्टच्छायारूपश्चरति। पौष्टिकं लाभकरं श्रीसूक्तं नाम विद्या, तया सहस्रं लभते। राजद्वारिकं राजवश्यं, "शतावरीघृतं नित्यमुपयुज्य पुनः पुनः। सक्षौद्रं ससुवर्णं च वशे स्थापयते नृपम्॥" (सु. चि. अ. २८) इति (भा.)। रस-गुण-भूतसमुदायाश्रय एषामनवधारणीयः, तथारस-गुण-भूतसमुदायानामन्येषामन्यथावीर्यत्वात् (सू. २८)।—एतानि वीर्याण्यचिन्त्यानीति प्रदर्शयति—रसगुणेत्यादिना। एषां वीर्याणां मेध्यादीनां; रस-गुण-भूतसमुदायाश्रय इति रसाश्च गुणाश्च भूतसमुदायाश्च रस-गुण-भूतसमुदायाः, त एवाश्रय इति। न ज्ञायते इदं मेध्यादिवीर्यमिममेव रसं गुणं वा भूतसमुदायं वाऽऽश्रितमिति। कुत इति? तथारसगुणेत्यादि।—तथारस-गुण-भूतसमुदायानामिति तत्तुल्यरसादीनामन्येषां द्रव्याणामन्यथावीर्यत्वात्। यथा—सुवर्णं लघु शीतं कषायं मेध्यम्, अन्यत् तादृग्विधमप्यमेध्यं च दृष्टमिति। चिन्त्यानामपि वीर्याणामेते दृश्यन्ते। यथा—मधुर-कषाय-तिक्तं स्निग्धं पिच्छिलं मदनफलं वामयति, कषायमधुराः सतिक्ताः स्निग्धा उष्णास्तिला न वामयन्ति। उक्तं हि—"मधुकं सकषायतिक्तकं न तु रूक्षं सकटूष्ण-पिच्छिलम्। कफ-पित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च॥ फलनामविशेषस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि।" (च. सि. अ. ११) इति। "ईषत्कषाया मधुराः सतिक्ताः सांग्राहिकाः पित्तविवर्धनाश्च। वृष्याश्च बल्याश्च तथोष्णवीर्याः स्निग्धास्तिलाः सर्वश एव दृष्टाः॥" इति। तस्मादन्यथावीर्यत्वमेव चिन्त्येष्वपि विद्यते तिलेषु। तद्वीर्यमूर्ध्वभागिकं नारब्धमग्निवायुभ्यामतो न वामयन्तीति चेदत्रापि तद्वीर्यं मेध्यं नारब्धमीति शक्यं वक्तुमिति तुल्यत्वान्न

किंचिदेतदिति। तथाऽप्यस्त्यत्र विशेषः—अत्रोर्ध्वभागिकं वीर्यमग्नि-वायुभ्यां निर्वर्त्यते, तयोरूर्ध्वगतित्वात्; ताभ्यामत्रारब्धमिति शक्यमवधारयितुम्। अत्र या मेधा सैव न ज्ञायते कस्य भूतस्य गुणः, वशीकरणत्वं वा कस्य भूतस्येति न निर्धार्यत इति। अथवा तथारस-गुण-भूतसमुदायानामिति यथारस-गुण-भूतसमुदायान्यचिन्त्यवीर्यद्रव्याणि, तथारस-गुण-भूतसमुदायानां तत्तुल्यरस-गुण-भूतसमुदानामिति, अन्येषां चिन्त्यवीर्याणां द्रव्याणामन्यथावीर्यत्वात्। तस्मादेवंभूतभौतिकक्रममेणाचिन्त्यान्येतानि वीर्याणीति जानीम इति (भा.)। समन्त्राणि पुनरेषां कानिचित् (सू. २९)।—एषां वीर्याणां कानिचिद् अन्तर्धानिकवशीकरण-पौष्टिकादीनि समन्त्राणि भवन्तीति। मन्त्रतत्त्वं चाचिन्त्यकारणमेव, भूतसमुदायाभावात् (भा.)। कर्मणाऽनुमेया संपत्तिः (सू. ३०)।—कथमिदानीं निर्धार्यन्त इत्याह—कर्मणेत्यादि। कर्मणा फलेनानुमेया इति। एवं वीर्यं परीक्षितं चिन्त्याचिन्त्यभेदेन। तत्राचिन्त्यानि प्रभृतिशब्देनोक्तत्वाद् बहूनि गम्यन्ते। एतानि किं चिन्त्यान्यपि वीर्याणि छर्दनीयादीनि विलयनान्तान्याहोस्विदन्यान्यपि? अन्यान्यपि सन्ति तन्त्रेषु, तस्मान्नोक्तानीति; अनेनैवाप्यूह्यत्वान्नोक्तानीति। उक्तानि निमिना—"अब्भूमिजमधोभाग, तेजो-वायुजमूर्ध्वगम्। तथैवोभयतोभाग सङ्गत्यनिलजं मतम्॥ सांग्राहिकं विजानीयात् पृथिव्यनिलसंभवम्। वायु-सोम-समीजातं तथा संशमनं विदुः॥ पृथिव्यनिलबाहुल्याद्दीपनं परिचक्षमहे। पृथिव्यां गुणयक्त जीवनीयमिति स्थितिः॥ वाय्वनलस्वभावाच्च प्राणघ्नं मदनं मतम्। प्राणघ्नं तीव्रभावात्तु दोष-धातुप्रकोपनम्। मदनं चलधातुत्वाद् दोषकोपनमेव तु। अपां गुणबहुत्वात्तु शीतीकरणमिष्यते॥ भूम्यब्जं शोफकृद् विद्धि, शोफघ्नं च खवायुजम्। अग्नेस्तु गुणबाहुल्यात् पाचनं परिचक्षमहे॥ दारणं मारुताग्नेयं, रोपणं भू-जलानिलम्। एवमेतानि प्रोक्तानि यथावदनुपूर्वशः॥ दश पञ्च च कर्माणि गुणानां पाञ्चभौतिकात्। द्रव्येष्वेव विजानीयात् कर्माणि दश पञ्च च।" इति (भा.)॥

नागार्जुन कहते हैं कि—वीर्य कर्म (फल) लक्षण है अर्थात् द्रव्यगत जिस सारभाग सत्त्वांशसे वमन-विरेचन आदि कार्म होते हैं वह वीर्य है। शंखाहुलीके उपयोगसे मेधाकी उत्पत्ति (वृद्धि) तथा मैनफलके उपयोगसे वमनरूप कर्म (फल) होता हुआ देखकर शंखाहुलीमें मेध्य (मेधाजनन) और मैनफलमें छर्दनीय (वमनकारक) वीर्य है ऐसा जाना जाता है। नागार्जुनने शीत, उष्ण आदि प्रकृष्टशक्तिसंपन्न गुण ही वीर्य है, इस मतका खंडन किया है। उन्होंने अपने पक्षके समर्थनमें जो विस्तारपूर्वक युक्तियां दी हैं उनको मूलमें ही देखें। हमने विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखी हैं। नागार्जुनने छर्दनीय (वामक), अनुलोमनीय (विरेचक), उभयतोभाग (संशोधन, वमन-विरेचन दोनों करानेवाला), प्रशमन

(वातादिदोषप्रशमन), संग्रहण (सांग्राहिक), दीपनीय, प्राणघ्न (विष), मदन (मादक), विदारण (प्रदरण), श्वयथुकरण, श्वयथुविलियन, मेध्य (मेधाजनन), आयुष्य (जीवनीय), वृष्य, वयस्य (वयःस्थापन), वर्चस्य (वर्णजनन-वर्ण्य), रक्षोघ्न, पुंसवन आदि अनेक प्रकारके वीर्य माने हैं। छर्दनीय वीर्य ऊर्ध्वगतिस्वभाववाले अग्नि और गतिस्वभाववाले वायुसे उत्पन्न होता है तथा मधुरादि सब (मधुरादिमें से किसी एक या अनेक) रसोंको आश्रय करके रहता है। अनुलोमनीय वीर्य अधोगतिस्वभाववाले जल और पृथिवीसे उत्पन्न होता है तथा सर्व रसोंको आश्रय करके रहता है। उभयतोभाग वीर्य वायुको उत्पन्न करनेवाले कटु, तिक्त और कषाय रस तथा पित्तको उत्पन्न करनेवाले तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुण—इनको आश्रय करके रहता है। वह पृथिवी, जल, अग्नि और वायुसे उत्पन्न होता है। प्रशमन वीर्य वात, पित्त और कफके अपने-अपने रसों और गुणोंसे विपरीत रसों और गुणोंको आश्रय करके रहता है। जैसे—वातप्रशमन वीर्य मधुर, अम्ल और लवण रस तथा गुरु, उष्ण, स्निग्ध और पिच्छिल गुण—इनको आश्रय करके रहता है। पित्तप्रशमन वीर्य कषाय, मधुर और तिक्त रस तथा शीत, गुरु, मृदु और पिच्छिल—इन गुणोंका आश्रय करके रहता हैं। कफप्रशमन वीर्य कषाय, कटु और तिक्त रस तथा तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद—इन गुणोंको आश्रय करके रहता है। सांग्राहिक वीर्य पृथिवी और वायुसे उत्पन्न होता है तथा लवणको छोड़कर अन्य पाँच रसों तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुणको छोड़कर अन्य गुणोंको आश्रय करके रहता है। दीपनीय वीर्य अग्निसे उत्पन्न होता है तथा पित्तको उत्पन्न करनेवाले कटु, अम्ल और लवण रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण और लघु गुण—इनको आश्रय करके रहता है। मदनीय वीर्य सर्व रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, लघु और विशद गुण—इनको आश्रय करके रहता है। वह अग्नि और वायुसे उत्पन्न होता है। प्राणघ्न वीर्य अग्निसे उत्पन्न होता है और शीघ्र (आशुकारी), सुषिर, व्यवायी, विकाशी (उष्ण, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, विशद, लघु, तथा रूक्ष)—इन गुणोंको आश्रय करके रहता है। प्रदरण (विदारण) वीर्य पृथिवी और अग्निसे उत्पन्न होता है तथा पित्तको उत्पन्न करनेवाले कटु, अम्ल और लवण रस तथा तीक्ष्ण और उष्ण गुण—इनको आश्रय करके रहता है। श्वयथुजनन (सूजन उत्पन्न करनेवाला) वीर्य अग्नि और वायुसे उत्पन्न होता है तथा मधुर और कषायको छोड़कर अन्य चार रस तथा तीक्ष्ण, उष्ण और रूक्ष गुण—इनको आश्रय करके रहता है। श्वयथुविलयन (सूजनको बैठानेवाला) वीर्य जल और पृथिवीसे उत्पन्न होता है तथा सर्व रस और शीत, मृदु तथा पिच्छिल गुण—इनको आश्रय करके रहता है। शोधन वीर्य किसी एक दोषके निर्हरणके लिये प्रयुक्त हुआ हो, तथापि वह एक या अनेक दोषोंको निकालता है। जैसे—कफनिर्हरणके लिये प्रयुक्त वमन पित्तको भी

निकालता है, पित्तनिर्हरणार्थ प्रयुक्त विरेचन कफ और वातको भी निकालता है। सांग्राहिक वीर्य पित्त और कफका प्रशमन करनेवाला होता है। प्राणघ्न, मदन और प्रदरण ये वीर्य सर्व दोषोंका प्रकोप करते हैं। श्वयथुजनन वीर्य वायु और पित्तका प्रकोप करता है। श्वयथुविलयन वीर्य सब दोषोंका प्रशमन करता है। मेध्य (स्मरणशक्ति या बुद्धि बढ़ानेवाला), आयुष्य (दीर्घायु करनेवाला) वृष्य, वयस्य, वर्चस्य, रक्षोघ्न, पुंसवन (पुरुष सन्तति उत्पन्न करनेवाला), सौभाग्यकर (जिसको देखकर सबकी उसपर प्रीति हो ऐसा करनेवाला), विशल्यकर (शरीरसे शल्यको निकालनेवाला), विमोक्षकरण (बेड़ी-जंजीरको तोड़नेवाला), उन्मादकर, क्लैब्यकर (नपुंसकता करनेवाला), वशीकरण, विद्वेषण (द्वेष उत्पन्न करनेवाला), प्रवासन (देशसे निकालनेवाला), आकर्षण (खींचनेवाला), आन्तर्धानिक (अदृश्य करनेवाला), पौष्टिक (धनादिका लाभ करानेवाला), राजद्वारिक (राजाको वश करनेवाला) इत्यादि अन्य भी वीर्य हैं। ये अचिन्त्य वीर्य किन रसों, गुणों और महाभूतोंका आश्रय करके रहे हुए होते हैं, इसका निर्णय नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे ही रस, गुण और भूतसमुदायवाले अन्य द्रव्योंमें इससे भिन्न ही प्रकारका वीर्य देखनेमें आता है। इनमेंसे आन्तर्धानिक, वशीकरण, आदि कई वीर्य तो समन्त्रक (मन्त्रशक्तिसे होनेवाले) हैं। इनका कर्म-फल देखकर निर्णय किया जाता है।

रसवैशेषिक सूत्रके भाष्यमें कुछ निमिके श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें लिखा है कि—जल और पृथिवीसे अधोभाग; अग्नि और वायुसे ऊर्ध्वभाग; पृथिवी, अग्नि और वायुसे उभयतोभाग; पृथिवी और वायुसे सांग्राहिक; वायु, जल और पृथिवीसे संशमन; पृथिवी और अग्निसे दीपन; पृथिवी और जलसे जीवनीय (आयुष्य); वायु और अग्निसे प्राणघ्न और मदन[१]; जलसे शीतीकरण; पृथिवी और जलसे शोथकर; आकाश और वायुसे शोथघ्न; अग्निसे पाचन; वायु और अग्निसे दारण; पृथिवी, जल और वायुसे रोपण वीर्य उत्पन्न होता है। पञ्चमहाभूतोंसे इस प्रकार पन्द्रह प्रकारके कर्म (कर्मलक्षण वीर्य) उत्पन्न होते हैं।

तत्राग्नि-मारुतात्मकं प्रायेणोर्ध्वभागिकं, तयोर्हि लाघवादूर्ध्व-गतित्वाच्चाग्नेः प्लवनत्वाच्च मारुतस्य। भूम्यौदकात्मकं प्रायेणाधो भागिकं,

---

१—प्राणघ्न वीर्य अपनी तीव्रतासे सब दोष और धातुओंका तीव्र प्रकोप करता है। मदन (मादक) वीर्य चल (वात) गुणसे दोषोंका (सामान्य) प्रकोप करता है। सब द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं अतः यहाँ पृथिवीसे, जलसे इत्यादिका अर्थ पृथिवीकी अधिकतासे, जलकी अधिकतासे इत्यादि जानना चाहिए।

तयोर्हि गौरवान्निम्नगत्वाच्च तोयस्य। व्यामिश्रात्मकमुभयतो भागम्। शमनं तु दोषविपरीतगुणमुक्तं प्राक्। तत्संकरे च यतो वाहुल्येन कार्यकर्तृत्वं भवति यदेवाधिकं तदेव तत्कार्यकरमिति व्यपदेशः। तथाऽनिलात्मकं ग्राहि। अनलात्मकं दीपन-पाचनम्। उभयात्मकं लेखनम्। भूम्युदकात्मकं बृंहणम् (अ. सं. सू. अ. १७)॥

तस्य च द्रव्यस्य ये शोधन-शमन-ग्राहि-दीपनत्वादयो विशेषास्तेऽप्येकादिमहाभूतोत्कर्षापकर्षकृता एवेति प्रदर्शनार्थमाह—तत्रेत्यादि। ऊर्ध्वभागिकं यस्यातिशयो वमनं तदग्निमारुतात्मकम्, अग्निमारुतयोर्लघुत्वादग्नेरूर्ध्वगमनसंभवाद्वायोश्च प्लवनत्वात्। पृथिव्युदकात्मकमधोभागिकं यस्यातिशयो विरेचनं, पृथिव्युदकयोर्गुरुत्वदधोगमनं तोयस्य निम्नगत्वादपि। व्यामिश्रभूतचतुष्टयाधिक्येनोभयात्मकं वमन-विरेचनम्। शमनं यदुक्तभूताधिक्यरहितं नाधो गच्छति नाप्यूर्ध्वमेति केवलं दोषविपरीतगुणमेव, तच्च प्रकृतिविघातकत्वेन पूर्वमुक्तम्। तेनैतदुक्तं—दोषगुणवैपरीत्यापेक्षया सर्वस्मिन् द्रव्ये संभवति; नत्वेवं शोधनं, तस्य विशिष्टभूताधिक्यहेतुत्वात्। यत्र त्वेकस्मिन्नेव द्रव्ये ऊर्ध्वगत्वाधागत्व-शमनत्वानां संभवस्तत्र यतो बाहुल्येन कार्यकर्तृत्वं भवति ततो यदेवाधिकं तदेव कार्यकरमिति व्यपदेश इत्यर्थः (इन्दुः)॥

वृद्धवाग्भट लिखते हैं कि—ऊर्ध्वभागिक द्रव्य (वीर्य) जिसके अतिशयसे वमन होता है, वह अग्नि और वायुको आश्रित करके रहता है। अधोभागिक द्रव्य पृथिवी और जलकी अधिकतासे उत्पन्न होता है। उभयतोभाग द्रव्य अग्नि, वायु, पृथिवी और जलकी अधिकतावाला होता है। वातादिशमन द्रव्य तत्तत् दोषसे विपरीत गुणवाला होता है। ग्राहि द्रव्य वातकी अधिकतावाला होता है। दीपन और पाचन द्रव्य अग्निके गुणोंकी अधिकतावाला होता है। लेखन द्रव्य वायु और अग्निकी अधिकतावाला होता है। बृंहण द्रव्य पृथिवी और जलके गुणोंकी अधिकतावाला होता है।

उपयुज्यमानानां द्रव्याणां वीर्यं कदोपलभ्यते?—

वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते। (च. सू. अ. २६)।

अधीवासः सहावस्थानम्। यादवधीवासादिति यावच्छरीरनिवासात्। एतच्च विपाकात् पूर्वं, निपाताच्चोर्ध्वं ज्ञेयम्। निपाताच्चेति शरीरसंयोगमात्रात्। तेन किंचिद्वीर्यमधीवासादुपलभ्यते, यथा—आनूपमांसादेरुष्णत्वं; किंचिच्च निपातादेव लभ्यते, यथा—मरीचादीनां तीक्ष्णत्वादि; किंचिच्च निपाताधीवासाभ्यां, यथा—मरीचादीनामेव। एतेन रसः प्रत्यक्षेणैव; विपाकस्तु नित्यपरोक्षः, तत्कार्येणानुमीयते;

वीर्यं तु किञ्चिदनुमानेन, यथा—सैन्धवगतं शैत्यम्, आनूपमांसगतमौष्ण्यं वा ; किंचिच्च वीर्यं प्रत्यक्षेणैव, यथा—राजिकागतं तैक्ष्ण्यं घ्राणेन, पिच्छिल-विशद-स्निग्ध-रूक्षादयः चक्षुःस्पर्शनाभ्यां निश्चीयन्त इति वाक्यार्थः। एतच्च वीर्यं सहजं कृत्रिमं च ज्ञेयम्। एतच्च यथासंभवं गुरु-लघ्वादिषु वीर्येषु लक्षणं ज्ञेयम्। एतच्च लक्षणं पारिभाषिकवीर्यविषयमेव ज्ञेयम् (च. द.)।

× × × × × तेनाधिवसनेन च।

वीर्यं × × × × × × × × × × ×॥ (अ. सं. सू. अ. १७)।

यत्र तु द्रव्ये विपरीतत्वाद्रसेनाभिभूतं वीर्यं निपातमात्रान्न ज्ञायते तत्र कालाधिवासेन देहमार्दवादिकरणाज्ज्ञायते (इन्दुः)॥

द्रव्यगत वीर्यका ज्ञान द्रव्यका शरीरके साथ संवन्ध होनेसे लेकर वह जब तक शरीरके अन्दर रहता है, तब तक शरीर पर होनेवाली उसकी क्रियाओंके द्वारा होता है। कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपातसे अर्थात् जिह्वा या त्वगिन्द्रियके साथ उनके संयोगमात्रसे होता है, जैसे काली मिर्च आदिके तीक्ष्णत्व आदिका ज्ञान निपातसे होता है ; कुछ उपयुज्यमान द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान अधिवाससे अर्थात् जबतक वे शरीरमें रहें, तबतक शरीरपर होनेवाली उनकी क्रियाओंसे होता है, जैसे—आनूपमांसके उष्णत्वका ज्ञान जबतक वह शरीरमें रहता है, तबतक शरीरपर होनेवाली उसकी क्रियाओंसे अनुमान किया जाता है ; कुछ द्रव्योंके वीर्योंका ज्ञान निपात और अधिवास दोनोंसे होता है, जैसे—काली मिर्च आदिके उष्णत्वका ज्ञान निपात और अधिवास दोनोंसे होता है[1]। वीर्यका ज्ञान निपातके बाद और विपाकके पूर्व होता है (यह पारिभाषिक वीर्यका लक्षण है, शक्तिरूप वीर्यका लक्षण नहीं है)।

प्रभावनिरूपणम्—

रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥
कटुकः कटुकः पाके वीर्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्वद्दन्ती प्रभावात्तु विरेचयति मानवम्॥

१—मधुरादि रसोंका ज्ञान प्रत्यक्षसे (जिह्वेन्द्रियसे) होता है। विपाक नित्य परोक्ष है। विपाकका ज्ञान उसका कार्य देखकर अनुमानसे किया जाता है। वीर्यका ज्ञान कुछ अनुमानसे, जैसे—सैन्धवगत शैत्यका और आनूपमांसगत औष्ण्यका तथा कुछ प्रत्यक्षसे, जैसे—राजिकागत तैक्ष्ण्यका ज्ञान घ्राणेन्द्रियसे और पिच्छिल-विशद-स्निग्ध-रूक्ष आदिका ज्ञान नेत्र और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा)से होता है (च. द.)।

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् ।
ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम् ।।
मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम् ।
तत् प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ।।
(च. सू. अ. २६) ।

प्रभावलक्षणमाह—रस-वीर्येत्यादि । सामान्यमिति तुल्यता । विशेषः कर्मणामिति दन्त्याद्याश्रयाणां विरेचनत्वादीनां सामान्यं लक्ष्यत इत्यनेन रसादिकार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत् प्रभावकृतमिति सूचयति, अत एवोक्तं—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ; रस-वीर्य-विपाककार्यतयाऽचिन्त्य इति । अस्यैव दुरभिगमत्वादुदाहरणानि बहून्याह—कटुक इत्यादिना । तद्वदिति चित्रकसमानगुणा । विषघ्नमुक्तमिति "तस्माद्दंष्ट्राविषं मौलं" (च. चि. अ. २३) इत्यादिना । ऊर्ध्वानुलोमिकमिति युगपदुभयभागहरं किंवा ऊर्ध्वहरं तथाऽनुलोमहरं च । कर्म यद्विविमात्मकमिति विषहरण-शूलहरणादि । एतच्चोदाहरणमात्रं, तेन जीवनमेध्यादिद्रव्यस्य रसाद्यचिन्त्यं सर्वं 'प्रभाव' इति ज्ञेयम् । प्रभावश्चेह द्रव्यशक्तिरभिप्रेता, सा च द्रव्याणां सामान्यविशेषः दन्तीत्वादियुक्ता शक्तिरेव, यतः शक्तिर्हि स्वरूपमेव भावानां, नातिरिक्तं किंचिद्धर्मान्तरम् ; एवं प्रदेशान्तरोक्तगुणप्रभावादिष्वपि वाच्यं ; यथोक्तं—"द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावात्" (च. सू. २६) इत्यादि । न च वाच्यं दन्त्यादि स्वरूपत एव विरेचयति, तेन किमिति जलाद्युपहता दन्ती न विरेचयतीति ; प्रतिबन्धकाभावविशिष्टस्यैव प्रभावस्य कारणत्वात्, जलोपहतायां दन्त्यां जलोपघातः प्रतिबन्धक इत्याद्यनुसरणीयम् । नैयायिकशक्तिवादे या च विषस्य विषघ्नत्वे उपपत्तिरुक्ता ऊर्ध्वाधोगामित्वविरोधलक्षणा साऽन्तर्भागत्वात् प्रभावादेव भवति ; एवमूर्ध्वानुलोमिकत्वादौ पार्थिवत्वादिकथनेऽपि वाच्यम् (च. च.) । प्रभावोऽचिन्त्यक्रियाहेतुर्वीर्यमेवेति शक्तिविशेष एव 'प्रभाव' इत्यभिधीयते । × × × । सामान्यमिति तुल्यता ; कर्मणां विशेषः न तुल्यतेत्यर्थः । एतेन द्रव्ययोर्द्वयो रसादिसाम्ये सत्यप्येकस्मिन् द्रव्ये जायते कार्यविशेषः, इतरत्र तु न जायते, इत्यत्र यत् कारणतया वाच्यं तदेव प्रभाव इत्यर्थः । तद्वदिति चित्रकतुल्यरस-विपाका । एतेन रसाद्यैस्तुल्यायामपि दन्त्यां यद्विरेचकत्वरूपं विशिष्टं कर्म तत् स्वकारणं प्रभावमनुमापयतीत्यर्थः । तथा रसादिजन्यत्वेन यत् कार्यं नावधारयितुं पार्यते तदपि प्रभावकृतमेव मन्तव्यं ; यथा मण्यादीनां विषहरणादि कर्म (शि.) । यत्र द्रव्ये रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यम् अन्यैः सह साम्यं लक्ष्यते, कर्मणां पुनर्विशेषः, तस्य द्रव्यस्य स विशिष्टकर्महेतुः प्रभावः स्मृतः । तत्र दृष्टान्तमाह—कटुक इत्यादि । चित्रकः कटुकरसः,

पाके कटुविपाकः, वीर्येण चोष्णो मतः ; दन्ती तद्वत् चित्रक इव कटुरसा, कटुविपाका, वीर्योष्णा च ; किन्तु प्रभावात् सा दन्ती नरं मानवं विरेचयति, न चित्रकः। दन्ती-चित्रकयो रस-वीर्य-विपाकानां तुल्यत्वेऽपि दन्त्या यद्विरेचनरूपं विशिष्टं कर्म तत् प्रभावादेव। विषं विषघ्नं यदुक्तं तत्र प्रभावः कारणम्। यत् ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वभागहरम्, आनुलोमिकम् अधोभागहरं वमन-विरेचनरूपं द्रव्याणां कर्म, तत् प्रभावेण प्रभावितं जनितम्। मणीनां धारणीयानामोषधीनां च विविधात्मकं विषहरण-शूलहरण-शल्याकर्षणादिकं कर्म तत् तेषां प्रभावकृतं ; तस्मात् प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते। × × ×। (यो.)। ननु द्रव्याणां गुणाः कर्माणि च दृश्यन्ते पदार्थाः, द्रव्यप्रभावश्च कीदृश इति ? अत उच्यते—रसेत्यादि। यत्र वस्तुनि रस-वीर्य-विपाकानां सामान्यं यस्य रसस्य यत् कार्यं, यस्य विपाकस्य यत् कार्यं, यस्य वीर्यस्य च यत् कार्यं तत्तस्य सामान्यं यत्र वस्तुनि लक्ष्यते, तत्र कर्मणां यो विशेषो लक्ष्यते स कर्मणां विशेषस्तस्य वस्तुनः प्रभावः स्मृतः। तदुदाहरति—कटुक इत्यादि। चित्रकः कटुको रसे पाके च, वीर्ये चोष्णः, तस्य तस्य कार्यं सामान्यं कटुरसस्य यत् कार्यं, कटुविपाकस्य यत् कार्यम्, उष्णवीर्यस्य च यत् कार्यं तल्लक्ष्यते, न चाधिकं कर्म लक्ष्यते : तद्वद्दन्ती रसे पाके च कटुका, वीर्ये चोष्णा, तद्रसविपाक-वीर्याणां कर्माणि शुक्रहननादीनि यानि तेषु मध्ये सामान्यं लक्ष्यते, विशेषस्तु विरेचनं कर्म लक्ष्यते, तत् प्रभावान्मानवं विरेचयति। अपरं च विषमित्यादि। विषं विषघ्नं यदुक्तं जङ्गमविषघ्नं स्थावरविषं, स्थावरविषघ्नं जङ्गमविषं, विपरीतगतित्वात् ; जङ्गमविषमूर्ध्वगं स्थावरविषमधोगमिति परस्परं गतिविपरीतत्वेन मिथो नाशकमपि, यद्गतिविपर्ययः स प्रभावादेवेति। यच्चोर्ध्वानुलोमिकं द्रव्यं मदनादि-त्रिवृतादिकं तदपि प्रभावप्रभावितम्। एवं चन्द्रकान्तादीनां मणीनां ग्रहपीडादिशान्तिरपामार्गमूलादीनां धारणीयानां यद्दाह-विषादि-ग्रहपीडादि-प्रशमनादिकं विविधात्मकं कर्म दृश्यते तेषां प्रभावकृतं तत्, तत् कर्म न तु रस-पाक-वीर्यकृतं भवति। ननु, येन या क्रिया क्रियते तस्यां क्रियायां तस्य तद्वीर्यमुक्तं, ततो वीर्यमेव प्रभावः, कथं वीर्यसामान्ये कर्मविशेष एव प्रभावोऽतिरिच्यत इति। अत आह—प्रभावोऽचिन्त्य उच्यत इति येन कुर्वन्ति तद्वीर्यमिति साधारण-लक्षणेन रस-पाक-शब्द-स्पर्शादि-गुरु-लाघवादीनि कर्माणि च सर्वाणि वीर्याणि भवन्ति। तत्र यस्य यत् कर्म तत् तस्य चिन्तया निर्वक्तुं शक्यं, तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यस्य यत् कर्मविशेषः सोऽचिन्त्यः, तत्तद्रस-पाक-गुण-कर्मभिः कार्यतया चिन्तयितुमशक्यः, ततः प्रभावः शक्तिविशेष उच्यते। प्रभवनं प्रभावः सामर्थ्यं स्वस्वारम्भकद्रव्य-संयोगे समवेतानां तेषां द्रव्य-गुण-कर्मणां द्रव्य-गुणयोः सजातीयारम्भकत्वात् तत्र द्रव्यात् सजातीयद्रव्यान्तरं जायते, गुणात् सजातीयगुणान्तरं जायते, कर्मणां तु

सजातीयकर्मारम्भकत्वनियमाभावात् कर्मसाध्यकर्माभावाच्च[1] यत्र विजातीयं कर्म तदारम्भकद्रव्याणां कर्माण्यारभते, तद्विजातीयं कर्म खल्वचिन्त्यं, स प्रभाव उच्यते। कार्यभूतं कर्मेदं, कर्मपदार्थः प्रभावः। कार्यद्रव्यं दन्त्यादिकं तत्कर्म-विशेषेण स्वीयेन प्रभावेण विरेचनादि कर्म करोतीति (ग.)॥

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्॥
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी।
मधुकस्य च मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्॥
कटुपाक-रस-स्निग्ध-गुरुत्वैः कफवातजित।
लशुनो वातकफकृन्न तु तैरेव यद्गुणैः॥
मिथो विरुद्धान् वातादीन् लोहिताद्या जयन्ति यत्।
कुर्वन्ति यवकाद्याश्च तत् प्रभावविजृम्भितम्॥
शिरीषादि विषं हन्ति स्वप्नाद्यं तद्विवृद्धये॥
मणि-मन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम्॥
शल्याहरण-पुंजन्म-रक्षायुर्धी-वशादिकम्।
दर्शनाद्यैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः॥
विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा।
ऊर्ध्वाधोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च॥
मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम्।
तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते॥
रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विदध्यात्।
सद्योऽन्यथा तत् कुरुते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति॥
(अ. सं. सू. अ. १७)।

एवं रसाद्या ज्ञाताः, प्रभावस्तु न ज्ञातः, अतस्तद्विज्ञानार्थमुच्यते—रसादीत्यादि। रस-वीर्य-विपाकानां परस्परसाम्येऽपि यद्यद्विशिष्टं कर्म दृश्यते तत्तत् प्रभावजं विद्धि। एतावतैतदुक्तं भवति—विशिष्टा सर्वातिशायिनी द्रव्यशक्तिः 'प्रभाव' शब्दवाच्या। तस्य च प्रभावजस्य कर्मण उदाहरणमुच्यते—दन्तीत्यादि। दन्ती रसाद्यैश्चित्रकस्य तुल्याऽपि विरेचनी, न तु चित्रकमपि विरेचनमिति प्रभावकर्म। मधुकस्य रसाद्यैः सदृश्यपि द्राक्षा विरेचनी, न मधुकमिति प्रभावकर्म। क्षीरस्य रसाद्यैः सदृशमपि

१—"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (वै. द. १।१।११)।

घृतं दीपनं, न क्षीरमिति प्रभावः। लशुनः कटुरसत्वेन कटुविपाकित्वेन कफजित्, स्निग्धत्वेन गुरुत्वेन वातजित्, स लशुनः स्वैरेव गुणैर्वातकफौ न करोतीति प्रभावः। तेनैतदुक्तं भवति—कटुकरस-विपाकौ तु लशुने कफच्छित्त्वे द्रव्यप्रभावात् पर्याप्तौ, न तु वातकरत्वे; तथा तत्र स्निग्धत्वं गुरुत्वं च वातजित्वे द्रव्यप्रभावादेव पर्याप्तं, न तु श्लेष्मकरत्व इति। परस्परविरुद्धानपि वातादीन् रक्तशालिः स्निग्धत्वेन गुरुत्वेन नाशयति, यवकश्च तानेव करोतीति प्रभावकर्म। शिरीष-हरिद्रादिकं विषं नाशयति, स्वप्न-मेघादि च तदेव विषं वर्धयति, तत् प्रभावकर्म। वृष्यं च द्रव्यं यच्छीघ्रमेव शुक्रं वर्धयति बहिर्विरेचयति वा, तत् प्रभावाकर्म। यच्च द्रव्यं मदन-फलादि ऊर्ध्वं देहे गच्छति, हरीतक्यादि वाऽधः, तत् प्रभावात्। अन्यच्च शमनं प्रभावादेव। यच्च मात्रादिप्रकरणे प्रपञ्चेन विस्तरेण वर्णितं तत् प्रभावजं विद्धि। अतः प्रभावस्य तत्स्वभावत्वात् स प्रभावोऽचिन्त्यः, कीदृशः? कदा? कुतस्त्यः? इति ज्ञातुं न शक्यते। सदपि तत्कारणं महाभूतविशेषपरिणामाख्यमस्मद्विधैस्तत्राधिगन्तुं न शक्यत इत्यर्थः। एतमेव प्रभावार्थमुपसंहरति—रसेनेत्यादि। रसादिभिः करणैर्द्र० यत् कर्म करोति तत् प्रभावेणान्यथा कुरुते विपरीतयतीत्यर्थः। अतस्तस्य प्रभावहेतोर्मार्गणं न शक्यते, तथाविधभावस्याभावत्वात् (इन्दुः)॥

रसादिसाम्ये यत् कर्म विशिष्टं तत् प्रभावजम्।
दन्ती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी॥
मधुकस्य च मृद्वीका, घृतं क्षीरस्य दीपनम्। (अ. हृ. सू. अ. ९)।

ननु, द्रव्य-रस-विपाक-वीर्याणि कर्मानुमानेन यथास्वरूपाण्येवावगच्छामः, प्रभावस्य तु न ज्ञायते कीदृशं कर्म? इत्यत आह—रसादीत्यादि। द्वयोर्द्रव्ययो रसादीनां रस-वीर्य-विपाकानां साम्ये सति, यदेकं द्रव्यमन्यत् कर्म कुरुते, अन्यत् पुनरन्यद्विशिष्टं कर्म, तत् प्रभावजं प्रभावाज्जातमिति ज्ञेयम्। अयमस्य द्रव्यस्य प्रभाव इति विशिष्टकर्मकरणान्निश्चीयत इत्यर्थः। ननु, प्रभावः क उच्यते? इति चेद् ब्रूमः—रस-वीर्य-विपाकादिगुणातिशायी द्रव्यस्य स्वभावो यः, स प्रभावः। उक्तं च—"रस-वीर्य-विपाकादिगुणातिशयवानलम्। द्रव्यस्वभावो निर्दिष्टो यः प्रभावः स कीर्तितः॥" इति। अत्र निदर्शनार्थमाह—दन्तीत्यादि। चित्रकस्य रस-वीर्य-विपाकैस्तुल्याऽपि दन्ती रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगाद्विरेचनी, न चित्रकः; मधुकस्य च मृद्वीका तुल्याऽपि रसादिभ्योऽतिशायिद्रव्यस्वभावयोगात् मृद्वीका विरेचनी, न मधुकं; घृतं क्षीरस्य रसादिभिस्तुल्यमपि घृतं दीपनं, न पुनः क्षीरम्। अन्ये प्रभावलक्षणमन्यथाऽऽहुः—प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणो यो धर्मस्त्व-तलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः। तत्रान्तरे चोक्तं—"वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः प्रवृत्तौ कारणं स्मृतः। त्व-तलादिप्रबोध्यश्च प्रभाव इति

स स्मृतः ॥" इति। एवं च दन्तीत्वाद्दन्त्या विरेचनकारित्वं प्रभावः, चित्रकस्य चित्रकत्वादविरेचनकारित्वं प्रभावः, एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वीकाया विरेचनकारित्वं प्रभावः, इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम् (अ. द.)। प्रभावं लक्षयति— रसादिसाम्य इति। द्वयोर्द्रव्ययो रसादिसाम्ये सत्यप्येकस्य यद्विशिष्टं कर्म दृश्यते, तत् प्रभावजम्। तत्र यो द्रव्यधर्मो हेतुः स प्रभाव इत्यर्थः। प्रभाव-मुदाहरति—दन्तीत्यादि। मधुक-मृद्वीकयोः क्षीर-घृतयोश्च मधुररस-पाकत्वेन शीतवीर्यत्वेन च साम्येऽपि मृद्वीकैव विरेचनी न मधुकं, घृतमेव दीपनं न क्षीरम् (हे.)॥

जिस द्रव्यमें रस, वीर्य और विपाकका सामान्य हो अर्थात् उस द्रव्यमें रहे हुए रस, विपाक और वीर्यके जो कार्य आयुर्वेदशास्त्रमें कहे हुए हैं वे समान हों (शास्त्र-कथनानुसार हों), परन्तु कर्ममें विशेषता हो अर्थात् उसमें रहे हुए रस, वीर्य और विपाकके कर्मोंसे भिन्न ही कर्म देखनेमें आवें, उस विशेष (भिन्न) कर्मका कारण प्रभाव है। जैसे—चित्रक रसमें कटु है, उसका विपाक कटु होता है और उसका वीर्य उष्ण है। चित्रकमें कटु रसका, कटु विपाकका और उष्ण वीर्यका जो कार्य शास्त्रमें कहा गया है वही देखनेमें आता है, उनसे विपरीत कोई विशेष कार्य देखनेमें नहीं आता; परन्तु दन्ती चित्रकके समान रस, वीर्य और विपाकवाली अर्थात् रसमें कटु, विपाकमें कटु और उष्ण वीर्यवाली है, किन्तु उसमें इन रस, वीर्य और विपाकके कार्योंसे विशेष-भिन्न विरेचनरूप कर्म देखनेमें आता है; दन्तीके इस विरेचनरूप कर्मका कारण प्रभाव है। एक विष जो दूसरे विषका नाश करता है, उसका कारण उस विषमें रहा हुआ प्रभाव है। वामक और विरेचक द्रव्य जो वमन और विरेचन कराते हैं, उनमें भी प्रभाव ही कारण है। क्योंकि; उनके समान रस, वीर्य और विपाकवाले अन्य द्रव्य वमन या विरेचन नहीं कराते। नाना प्रकारके रत्नों तथा अन्य वनस्पति आदि द्रव्योंके धारण करनेसे जो विविध प्रकारके कर्म होते हुए देखनेमें आते हैं, वे उनके प्रभावसे ही होते हैं। (च.)। मुनक्का मुलेठीके समान होनेपर भी मुलेठी विरेचन नहीं कराती और मुनक्का विरेचन कराती है; घृत दूधके समान होनेपर भी दूध दीपन नहीं है, परन्तु घृत दीपन है; लहसुन कटुविपाक, कटुरस और स्निग्ध तथा गुरु वीर्यसे कफ और वातका नाश करनेवाला है परन्तु उन रस, विपाक और वीर्यसे वात तथा कफको उत्पन्न नहीं करता; परस्परविरुद्ध गुणवाले वात, पित्त और कफ तीनों दोषोंका रक्तशालि नाश करता है, परन्तु यवक उनको उत्पन्न करता है; सिरस आदि द्रव्य विषका नाश करते हैं और निद्रा आदि विषको बढ़ाते हैं; मणि, मन्त्र और ओषधियोंके धारण करनेसे नाना प्रकारके कर्म देखे जाते हैं; शल्योंका आकर्षण, पुत्र प्रजा उत्पन्न करना, राक्षसादिसे रक्षा करना, रसायनोंका आयुष्य बढ़ाना,

शंखपुष्पी आदिका मेधाको बढ़ाना, मन्त्रादिसे किसीको वश करना, अगदका दर्शन आदिसे विषका नाश करना, वाजीकर द्रव्योंका शीघ्र शुक्र उत्पन्न करना, मदनफलका वमन कराना, हरीतकीका विरेचन कराना, आँवलेका तीनों दोषोंका शमन करना यह सब कर्म प्रभावसे ही होते हैं, अतः प्रभाव अचिन्त्य है ; अर्थात् रस, वीर्य और विपाकसे उसकी कल्पना नहीं की जा सकती (रस, वीर्य और विपाकसे उनका कार्यकारणभाव नहीं दिखाया जा सकता)। रस, वीर्य, गुण या विपाकसे द्रव्य जो कार्य करता है, उससे भिन्न ही कार्य प्रभावसे करता है। उसका हेतु (कार्य-कारणभाव) समझना कठिन है।

वक्तव्य—द्रव्यगत कार्यकारिणी शक्तिको वीर्य कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकारकी होती है—एक चिन्त्य शक्ति और दूसरी अचिन्त्य शक्ति। चिन्त्य शक्ति वह है, जिसका द्रव्योंके पांचभौतिक संगठन, रस, गुण या विपाकद्वारा कर्मके साथ कार्य-कारण-संबन्ध दिखाया जा सके, इस चिन्त्य शक्तिको आयुर्वेदकी परिभाषामें वीर्य कहा जाता है। अचिन्त्य शक्ति वह है, जिसका द्रव्योंके पाञ्च-भौतिक संगठन, गुण, रस या विपाकद्वारा उनके कर्मके साथ कार्य-कारणसंबन्ध न दिखाया जा सके, उसको आयुर्वेदकी परिभाषामें प्रभाव कहते हैं।

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः॥
प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु॥ (सु. सू. अ. ४०)।

यथोक्तभेषजानां स्वबुद्ध्या विचारनिषेधं निदर्शयन्नाह—अमीमांस्यानीत्यादि। अमीमांस्यानि न विचार्याणि, अचिन्त्यानि यान्येवाचिन्त्यानि तान्येवामीमांस्यानि। कानि पुनस्तानि ? खदिर-तुवरक-रसाञ्जन-हरिद्रादीनि कुष्ठघ्नानि, न तु सर्वाणि द्रव्याणि; अन्यथा "वर्गमपि वर्गेणोपसृजेत्" (च. वि. अ. ८), तथा "बीजेनानेन मतिमान् कुर्याद् बस्तिशतान्यपि" (सु. चि. अ. ३८) इत्यादि विरुद्धं भवेत्। स्वभावतो जन्मतः। अन्ये तु आगमे यानि भेषजानि प्रसिद्धानि तान्यमीमांस्यानि अविचारणीयानि; कुतो हेतोरविचार्याणि ? यतः स्वभावतोऽचिन्त्यानि तेषां स्वभावश्चिन्तयितुं न शक्यत इत्यर्थः; यथा द्रव्यत्वमपाम्, उष्णत्वमग्नेः, इत्यादि। कथं पुनस्तानि प्रयोज्यानी-त्याह—आगमेनोपयोज्यानि; आगमेनैवैकेनोपयोगः कार्य इत्यर्थः। ननु, अनुमान-विरुद्धानि कथमागमैकप्रयोज्यानीत्याशङ्क्य, आगमस्य प्रत्यक्षफलत्वेन बलीयस्त्वं

दर्शयन्नाह—प्रत्यक्षेत्यादि । प्रत्यक्षलक्षणफला हिताहितभेदेन । कुतः पुनर्हेतुभिर्न परोक्षणोयं भेषजं प्रसिद्धलक्षणफलमित्याह—सहस्रेणेत्यादि (ड)। इदानीं द्रव्यादिविषये परीक्षारूपमीमांसाया दर्शितत्वादचिन्त्यद्रव्यस्वभावेऽपि मीमांसा वो मा भूदित्याह—अमीमांस्यानीत्यादि । अचिन्त्यानि यानि भेषजानि, यथा—दन्ती चित्रकसमाऽपि विरेचयति, यथा—विषं विषं हन्ति, लोहाकर्षकमणिर्लोहमाकर्षतीत्याद्युक्तानि आगमावधारितानि मीमांसया अपरीक्ष्याणि; कथं तर्हि तानि ज्ञातव्यानीत्याह—प्रसिद्धानि स्वभावतः । आगमादेव परं प्रसिद्धानि भवन्तीत्यर्थः । एतेन यानि चिन्त्यनि भेषजानि तेषां मीमांसा कर्तव्यैव, यदुच्यते—"द्रव्याणां तत्समानानां तत्रावापो न दुष्यति ।" (सु. चि. अ. १) इति ; तथा "स्वयमप्यत्र भिषजा तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ।" इत्यादिष्वागमविरोधाध्यवसायः । आगमस्यैवात्र बलवत्त्वं दर्शयन्नाह—प्रत्यक्षेत्यादि । प्रत्यक्षेण लक्ष्यते दृश्यते फलं येषां दन्ती-विषहरमणिप्रभृतीनां ताः प्रत्यक्षलक्षणफलाः । प्रसिद्धा इति आगमप्रसिद्धाः । स्वभावत इति अचिन्त्यस्वरूपतो विरेचकत्व-स्तम्भनत्व-विषहरत्वादेः । हेतुभिरिति आगमविरुद्धैः कुहेतुभिः, आगमानुगुणैः सद्धेतुभिर्भेषजादीनि सर्वाण्येव परीक्ष्याणि; यदुक्तं चरके—"न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यत्राभिनिविशेद् बुधः । स्वयमप्यत्र भिषजा तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥" (च. सि. अ. २), इत्यादि । इहापि "स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कषायादीनि योगवित् ।" (सु. चि. अ. १) इत्यादि । स्वागमस्यानुमानाबाधनीयत्वमेवोदाहरणनिष्ठमाह—सहस्रेणापीत्याति । सहस्रशब्दो विपुलवचनः । अम्बष्ठादिः संग्राहकत्वेन प्रागुक्तो गणः । अत्र 'अम्बष्ठादिर्विरेचयति, पृथिवी-तोयगुणयुक्तत्वात् , त्रिवृतादिवत्' इत्यादिबहुकुहेतुभिरपि आगमबाधितैर्नाम्बष्ठादिर्विरेचयति, किं त्वागमोक्तं संग्रहणमेव करोति । उपसंहरति—तस्मादित्यादि । तिष्ठेदिति स्थैर्येण तिष्ठेत् । हेतुष्विति आगमविरुद्धेषु हेतुषु (च. द.) । नन्विदमुक्तं "तद् द्रव्यमात्मना किंचित किंचिद्वीर्येण सेवितम् ।" इत्यादि, न चायमस्ति नियमः खल्वेवंजातीयं द्रव्यमेवंजातीयेन साधनेन दोषं हन्ति करोति वेति, दृश्यते हि मधुरोऽयमिक्षुरसः पित्तं शमयति, तथाविधाश्च मत्स्याः पुनरेनद् बर्धयन्तीति, तद् भूयोऽपि युक्त्या समन्वीय विशदं विज्ञापयतु भगवान्, येन वयं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावाननुसंधाय व्यापदः प्रशमार्थं तं तं द्रव्यविशेषं यथावदुपयोक्तुं प्रभविष्याम इत्यत आह—अमीमांस्यानीत्यादि । सर्वमिदं निगदव्याख्यातम् (हा.) ॥

जिन द्रव्योंकी कार्यकारिणी शक्ति युक्ति और तर्कसे सिद्ध नहीं होती तथा जो विरेचकत्व, स्तम्भकत्व, विषहरत्व आदि अपने स्वभावसे ही शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उन द्रव्योंका उपयोग व्यवहारकुशल वैद्य शास्त्रके आधारपर ही करे । जिन ओषधियोंका फल–कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है और जो स्वभाव (विरेचकत्व, विषहरत्व आदि अपने

कर्म) से शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं, उन ओषधियोंकी विद्वान् वैद्य (शास्त्रविरुद्ध) तर्क और युक्तियोंसे परीक्षा न करें। क्योंकि अम्बष्ठादि गणकी ओषधियाँ हजारों तर्क और युक्तियोंसे यह विरेचन करेगी, ऐसा सिद्ध किया जाय तो भी विरेचन नहीं करती। इसलिए बुद्धिमान् वैद्य अचिन्त्य और प्रत्यक्ष फलवाली ओषधियोंके विषयमें शास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखकर उनका प्रयोग करें, युक्ति और तर्कसे उनका कार्य सिद्ध करनेका यत्न न करें[1]।

विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यकर्माणि—

इति सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनां, पुनश्च तत्।
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते॥ (अ. हृ. सू. अ. ९)।

सामान्य-विशेषाभ्यां यतः सकल व्याप्तम्, अतो ग्रन्थकार इदमाह—इती-

---

१—इन श्लोकोंकी व्याख्याके ऊपर अपने वक्तव्यमें डॉ. भा. गो. घाणेकरजी लिखते हैं कि—"आयुर्वेदमें ओषधियोंके वैद्यकीय उपयोगोंकी मीमांसा या उपपत्ति उनके पञ्चतत्त्वात्मक संगठन, रस, गुण, वीर्य और विपाककी सहायतासे की जाती है। रसादिद्वारा चिकित्सामें प्रयुक्त हुई अधिकसंख्य ओषधियोंके उपयोगोंकी कार्यकारणमीमांसा ज्ञात हो जाती है। तथापि खदिर, तुवरक, विषमणि प्रभृति कुछ द्रव्य ऐसे भी प्रयुक्त होते हैं, जिनके उपयोगोंकी मीमांसा रसादिद्वारा नहीं हो सकती है। इसलिए इन ओषधियोंको 'अमीमांस्य' या 'अचिन्त्य' कहा है। अमीमांस्य या अचिन्त्यका अर्थ 'रस-वीर्य-विपाकतया अचिन्त्यं वा अमीमांस्यं वा' ऐसा है। ओषधिगत अचिन्त्य कार्यशक्तिका विवरण इन अन्तिम ३ श्लोकोंमें किया गया है। चरक और वाग्भटने द्रव्यगत इस अचिन्त्यशक्तिको ही 'प्रभाव' कहा है। पाश्चात्य ओषधिवज्ञानमें भी ओषधियोंके वैद्यकीय उपयोगोंके संबन्धमें मीमांस्य और अमीमांस्य ऐसे दो भेद किये जाते हैं। जिनके उपयोगोंकी मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वोंके अनुसार की जा सकती है उनको मीमांस्य या रेशनल (Rational) कहते हैं। जिनके उपयोगकी उपलब्धि वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार नहीं की जा सकती अर्थात् जिनका उपयोग केवल अनुभवोंपर निर्भर होता है उनको **अमीमांस्य** या इम्फीरिकल (Empherical) कहते हैं। विषम-ज्वरके लिये कूनिन (Quinine); काला आजार, निद्रारोग आदिके लिये अंजन तथा उसके योग (Antimony and its preparations) राजयक्ष्माके लिये स्वर्ण इत्यादि शर्तिया दवाइयाँ इसी अमीमांस्य वर्गकी हैं। इस अमीमांस्य वर्गको आयुर्वेदमें प्रभाव कहते हैं और पाश्चात्य कल्पनाके अनुसार इम्फीरिकल ॲक्शन (Empherical action) कह सकते हैं, यद्यपि प्रभावका पूरा-पूरा अर्थ इससे निर्दशित नहीं होता।" (सु. सू. पृ. २२५)।

त्यादि। इति प्रकारे, अनेन प्रकारेण द्रव्य-रस-वीर्यादीनां सामान्येन कर्म व्याख्यातं, न विशेषेण। यैरेव महाभूतै रस-वीर्यादयो द्रव्याश्रिता आरब्धाः, तैरेव तथाभूतैस्तदाश्रयमपि द्रव्यम्। अतः सामान्यतः कर्म द्रव्यादीनामुक्तम्। सांप्रतं विशिष्टं कर्म प्रतिद्रव्यं वक्तुमिदमाह—पुनश्च तदिति। तत् सामान्योक्तं कर्म द्रव्य-रसादीनां संबन्धि, पुनर्भिद्यते विशिष्यते। केन? इत्याह—विचित्रेत्यादि। विचित्राश्च ते प्रत्ययाश्च विचित्रप्रत्ययाः नानाकारसन्निवेशविशेषयुक्तानि महाभूतानि, प्रतिसत्त्वं प्राक्तनशुभाशुभकर्मप्रेरितो विचित्रो महाभूतपरिणाम इत्यर्थः। विचित्रप्रत्ययारब्धं च तद् द्रव्यं च, तस्य भेदो विशेषः, तेन विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन, तत् सामान्योक्तं कर्म द्रव्यादीनां, भिद्यते नानात्वेन संपद्यते। द्रव्याश्रितत्वाद्रसादीनामपि यत् कर्म तदपि द्रव्यभेदेन भिद्यते। ननु, सर्वमपि देश-कालादिवशाद्विचित्रप्रत्ययारब्धं, परस्परवैलक्षण्याद् द्रव्याणां; परस्परवैलक्षण्ये चैषां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वमेव कारणं, यद्वशादन्यदिदं द्रव्यमिति रूप-रस-वीर्य-विपाकादिभिर्भिन्नमुत्पद्यते, तथा प्रतिभासते च; तत् किन्तु विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते इति। अत्राचक्ष्महे—सत्यमेतत्, किन्तु विशिष्टद्रव्यस्य संग्रहार्थं विचित्रप्रत्ययारब्धमिति विशेषणं शास्त्रकृता कृतम्। यस्य भेदेन द्रव्ये रस-वीर्यादीनां यत् सामान्योक्तं कर्म तद्भिद्यते; यस्मिन् द्रव्ये रसादीनामन्यानि महाभूतान्यारम्भकाणि, द्रव्यस्य चारम्भकाण्यपराणि, तद् द्रव्यं विचित्रप्रत्ययारब्धम्। तदेवं द्रव्याणां द्वैविध्यं, यतः कानिचिद् द्रव्याणि यैरेव महाभूतैर्यथाविधै रसादय आरब्धास्तैरेव तथाविधैर्महाभूतैस्तदाश्रयाणि द्रव्याण्यप्यारब्धानि, तानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्युच्यन्ते। तानि च यथायथं तत् कर्म रसाद्यनुगुणं सामान्यात् कुर्वते। यथा—क्षीरेक्षु-शर्करादीनि। कानिचित् पुनस्तदाश्रितरसादिसमारम्भकमहाभूतान्यन्यानि, तदाश्रयद्रव्यारम्भकाण्यन्यानि च महाभूतानि, तैरारब्धानि तानि विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि। एतदुक्तं भवति—रसादीनामारम्भकाण्यन्यानि, द्रव्यस्य चारम्भकाण्यन्यथाभूतानि महाभूतानि, नोभयत्रैकरूपाणीति; तानि च यथायथं रसाद्यनुगुणं कर्म न कुर्वन्ति, भिन्नत्वाद्धेतुभावस्य। तथा हि—रसादीनामारम्भेऽन्यो हेतुः, अन्यश्च तदाश्रयद्रव्यारम्भ इति। यथा—मकुष्ठ-यव-मत्स्य-सिंहादीनि। एतानि हि यथारसं न वीर्य-विपाकर्म कुर्वन्ति, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। इत्थं यानि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि बहून्यपि तेषां रसोपदेशेन कर्म निर्देष्टुं शक्यते। अत एव हेतोः षण्णां रसानां यो गुणनिर्देशः तस्य सार्थकत्वम्। रसोपदेशमन्तरेण हि बहुतराणां द्रव्याणां समानरूपाणां क्षीरेक्ष्वादीनां कर्म वक्तुं सुखेन शक्यते। यानि तु विचित्रप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां प्रतिद्रव्यं कर्मोपदेशं विना यथायथं कर्म वक्तुं न शक्यते (अ. द.)। अध्यायार्थमुपसंहरति—इति सामान्यत इति। द्रव्यादीनां प्रभावान्तानां सामान्योक्तं कर्मापवदति—पुनश्च तदिति। तत् सामान्योक्तं कर्म,

भिद्यते विशिष्यते, अन्यथा क्रियत इत्यर्थः। केन ? विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन ; विचित्राः परस्परविलक्षणाः, प्रत्ययाः कारणभूता महाभूतसङ्घाताः, तैरारब्धं यद् द्रव्यं तस्य भेदो द्रव्यान्तरविशिष्टत्वं, तेन। पार्थिवाद्यवान्तरसामान्यभेदस्य पूर्व-मुक्तत्वात् 'पुनश्च तत्' इत्युक्तम्। एतदुक्तं भवति—क्वचिद् द्रव्ये यादृगेव भूत-सङ्घातो द्रव्यस्यारम्भकः, तादृगेव रसादीनां, तत् समानप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्य-गुणानातिक्रामति ; क्वचिदन्यादृग्भूतसङ्घातो द्रव्यस्यारम्भकोऽन्यादृग्रसस्यान्या-दृग्गुणस्येत्यादि, तद्विचित्रप्रत्ययारब्धं, तत् सामान्यगुणानतिक्रामति। तदर्थं द्रवद्रव्या-न्नस्वरूपविज्ञानीयाद्यारम्भः (हे.)॥

एतदुदाहरणार्थं ग्रन्थकृदाह—

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः।
उष्णा मत्स्याः, पयः शीतं, कटुः सिंहो, न शूकरः॥
(अ. हृ. सू. ९)।

स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च गोधूमो मधुररसोपदिष्टं वातजित्त्वं यत् कर्म तत् करोति, समानप्रत्ययारब्धत्वात् ; यवस्तु स्वादुरसोपेतो गुरुगुणयुक्तश्च मधुररसोपदिष्टं यद्वातजित्त्वं कर्म तन्न करोति, अपि तु वातकृत्त्वमेव करोति, विचित्रप्रत्ययारब्ध-त्वात्। मत्स्यः स्वादुरसोपेतो गुरुगुणोपेतश्च न मधुररसोपदिष्टः शीतवीर्यः, किं तर्हि ? उष्णवीर्यः, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात्। क्षीरं च स्वादुरसोपेतं गुरुगुणयुक्तं च मधुररसोपदिष्टं शीतवीर्यं, समानप्रत्ययारब्धत्वात्। स्वादुरसयुक्तो गुरुगुण-युक्तश्च सिंहो न यथारसं मधुरविपाकः, किं तर्हि ? कटुको विपाके, विचित्र-प्रत्ययारब्धत्वात्। शूकरो मधुररसयुक्तो गुरुगुणोपेतश्च यथारसं मधुरविपाक एव, समानप्रत्ययारब्धत्वात्। एवं यानि समानप्रत्ययारब्धानि द्रव्याणि तेषां रसोप-देशेनैव गुणा निर्दिष्टा भवन्ति। तथा च मुनिः (च. सू. अ. २६)—"शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः। × × ×।" इत्यादि। बाहुल्येन च रसादिसमानप्रत्ययारब्धान्येव द्रव्याणीति चेतसि कृत्वाऽऽचार्योऽवोचत्। यथा— "गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये। रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योप-चारतः॥" (अ. हृ. सू. अ. ९) इति। अत एव च बहुतराणि द्रव्याणि रसादिसमानप्रत्ययारब्धानि, अतो रसोपदेशव्याप्त्या तानि निर्देष्टुं शक्यन्ते, नान्यथा। विचित्रप्रत्ययारब्धानि पुनः कतिपयान्येव द्रव्याणि, तानि प्रतिद्रव्य-मेवोपदिश्यन्ते। मुनिनाऽप्ययमर्थो युक्त्यैवोक्तः। यथा—"मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात् कषायं तिक्तमेव च। (च. सू. अ. २६)। × × ×।" इत्यादि। ये च रससंयोगा वक्ष्यमाणास्ते रसादिसमानप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ल-लवण-तिक्त-कटु-कषायरूपैर्मिथः कल्पनीयाः, न तु विचित्रप्रत्ययारब्धैर्मधुराम्ल-लवण-तिक्त-कटु-

कषायरूपैः। यस्मात्तेषां न यथाशास्त्रनिरूपिता रस-वीर्य-विपाकादयो विद्यन्ते, विचित्रप्रत्ययारब्धत्वात् [अतो न रसोपदेशव्याप्याः, तैर्द्रव्यैस्ते रससंयोगाः कल्पयितुं न युज्यन्ते]। अयं रससंयोगभेद एवंगुणोऽयमेवंगुणः, एवंगुणत्वाच्चामुष्मिन् विषये योज्य एतस्मिन् विषये चायमिति निर्देष्टुं न शक्यते, अनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात्। न हि विचित्रप्रत्ययारब्धैर्ये रससंयोगाः क्रियन्ते, तेषां स्वरूपं कथमप्यवधारयितुं शक्यते। अपि च, समानप्रत्ययारब्धैर्ये संयोगाः कल्प्यन्ते, तेषां संयोगिनां वीर्यतो यो विरोधः शीतोष्णलक्षणः, स न दोषाय ; ये तु विचित्रप्रत्ययारब्धैः संयोगाः कल्प्यन्ते, तेषां संयोगिनां यः शीतोष्णलक्षणो विरोधः, स दोषायेत वेद्यम्। अन्यथा रसाला-पानकादीनामनेकद्रव्यकृतानामनभ्यवहार एव प्राप्नुयात्। तथा, त्रयस्त्रिंशद्वर्गा ये वक्ष्यमाणास्तेषु यदयौगिकं तज्जह्यात्, यौगिकं त्वनुक्तमपि युञ्ज्यात्, इति यद्वक्ष्यते तत्र रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव योज्यं ; न विचित्र-प्रत्ययारब्धं, तस्य रसवीर्यविपाकानां निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वात्। तस्मादित्यादि। यत एवं विचित्रप्रत्ययारब्धं विचित्ररूपं, तस्माद्रसोपदेशेन न तत् सर्वं द्रव्यमादिशेत्, अपि तु रसादिसमानप्रत्ययारब्धमेव द्रव्यं रसोपदेशेन निर्दिशेदिति। (अ. द.)। द्रव्यभेदमुदाहरति—स्वादुरित्यादि। यवगोधूमयोर्मत्स्य-पयसोः सिंह-शूकरयोश्च स्वादुत्व-गुरुत्वाभ्यां तुल्यत्वेऽपि यव-मत्स्यसिंहानां विचित्रप्रत्ययारब्धत्वाद् वातलप्रभावत्वोष्णवीर्यत्व-कटुविपाकित्वानि स्वादुत्व-गुरुत्वविपरीतानि। गोधूम-पयः-शूकराणां तु समानप्रत्ययारब्धत्वाद् वातघ्न प्रभावत्व-शीतवीर्यत्व-मधुरविपाकि-त्वानि स्वादुत्व-गुरुत्वयोरविपरीतानि। वात जित्त्व-वातकृत्त्वाभ्यां तत्कारणभूतौ प्रभावौ लक्ष्येते (हे.)॥

यस्माद् दृष्टो यवः स्वादुर्गुरुरप्यानिलप्रदः।
दीपनं शीतमप्याज्यं, वसोष्णाऽप्यग्निसादिनी॥
कटुपाकोऽपि पित्तघ्नो मुद्गो, माषस्तु पित्तलः।
स्वादुपाकोऽपि, चलकृत् स्निग्धोष्णं गुरु फाणितम्॥
कुरुते दधि गुर्वेव वह्निं, पारावतं न तु।
कपित्थं दाडिमं ग्राहि साम्लं, नामलकीफलम्॥
कषाया ग्राहिणी शीता धातकी, न हरीतकी।
अप्रधानाः पृथक् तस्माद्रसाद्याः, संश्रितास्तु ते॥
प्रभावश्च यतो द्रव्ये, द्रव्यं श्रेष्ठमतो मतम्।
(अ. सं. सू. अ. १७)।

ते च रसादयो द्रव्या पृथग्भावेन कार्यकरत्वेन विकल्प्यमाना अप्रधाना . यतस्ते

स्थिता अपि यस्मिन् द्रव्ये तद् द्रव्ये न तत्सदृशमेव कार्यं कुर्वन्ति, एतदेव यस्माद् दृष्ट इत्यादिना दर्शयति। एवं यथा मधुररसे विपर्ययो दृष्टस्तथाऽन्येष्वपि रसेषु दृश्यत इत्यप्रधाना रसाद्याः, द्रव्यं तु श्रेष्ठमित्याचार्याणां मतं; यतस्ते रसाद्या रस-वीर्य विपाकाः प्रभावश्च द्रव्यसंस्थिताः तत्परतन्त्रा इत्यर्थः (इन्दुः)॥

जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक (द्रव्यको बनानेवाले) महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनोंका एक ही प्रकारके उत्कर्ष और अपकर्ष (न्यूनाधिकता) से सन्निवेश (संगठन) हुआ हो, उन द्रव्योंको **समानप्रत्ययारब्ध** (समान कारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं। जैसे—दूध; दूधमें द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत दोनोंका सन्निवेश एक प्रकारका है। अतः दूधमें रस, वीर्य और विपाक एक दूसरेके अनुकूल ही होते हैं। अतः ऐसे द्रव्योंके समग्र कर्म केवल रसोपदेशसे ही कहे या जाने जा सकते हैं। जिन द्रव्योंमें द्रव्यारम्भक महाभूत और रस-वीर्य-विपाकारम्भक महाभूत इन दोनोंका एक दूसरेसे भिन्न प्रकारके उत्कर्षापकर्षसे संनिवेश हुआ हो उनको **विचित्रप्रत्ययारब्ध** (विचित्र-विभिन्न प्रकारके कारणोंसे बने हुए) द्रव्य कहते हैं। ऐसे द्रव्योंमें उनके रस, वीर्य और विपाक विभिन्न प्रकारके होनेसे उसके कर्म विभिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे—जौ। इस ग्रन्थमें हमने जो रस, वीर्य और विपाकके कर्म कहे हैं, वे समानप्रत्ययारब्ध द्रव्यके ही जानने चाहिए। विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंमें उनके कर्म रस, वीर्य और विपाकसे भिन्न प्रकारके होते हैं; अतः उनके कर्म केवल रसोपदेशसे न कहकर शास्त्रकारोंने स्वतन्त्ररूपसे कहे हैं। क्योंकि विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके कर्म उनके रस, वीर्य और विपाकसे भिन्न प्रकारके होते हैं। जैसे—गेहूं और जौ दोनों मधुर रसवाले और गुरु हैं, परन्तु गेहूँ समायप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने गुणोंके अनुकूल कर्म वायुका शमन करता है और जौ विचित्र प्रत्ययारब्ध होनेसे अपने गुणोंसे विपरीत वायुको बढ़ाता है। मत्स्य और दूध दोनों मधुर रसवाले हैं, परन्तु दूध समानप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके अनुकूल शीतवीर्य है, अतः दूधके कर्म अपने रसके अनुसार होते हैं और मत्स्य विचित्रप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके विपरीत उष्णवीर्य हैं, अतः उसके कर्म अपने रससे भिन्न प्रकारके होते हैं। सिंह और शूकर (सूअर) दोनों मधुर और गुरु हैं, परन्तु सूअर समानप्रत्ययारब्ध होनेसे अपने रसके अनुकूल मधुर विपाकवाला है, अत; उनके कर्म अपने रस तथा विपाकके अनुसार होते हैं और सिंह विचित्रप्रत्ययारब्ध होनेसे उसका विपाक अपने रससे प्रतिकूल कटु होता है अतः उसके कर्म रसके अनुकूल न होकर विपाकके अनुकूल होते हैं। जौ मधुर और गुरु होनेपर भी वायु करता है, घी शीतवीर्य होनेपर भी जठराग्निका दीपन करता है, वसा उष्णवीर्य होनेपर भी जठराग्निको मन्द करती है, मूँग कटुविपाक होनेपर भी पित्तका शमन करता है, उड़द मधुरविपाक होनेपर भी

पित्तको बढ़ाता है, फाणित (राब-काकवी) स्निग्ध, उष्ण और गुरु होनेपर भी वायु को बढ़ाता है, दही गुरु होनेपर भी जठराग्निका दीपन करता है परन्तु पारावत (परेवा-कबूतर) जठराग्निका दीपन नहीं करता, कैथ और अनार अम्लरसवाले होनेपर भी ग्राही हैं किन्तु आँवले ग्राही नहीं हैं, धायके फूल कषाय और शीतवीर्य होनेसे ग्राही हैं परन्तु हर्ड कषाय और शीत होनेपर भी विरेचन करती है। जौ, घी, वसा, मूँग, उड़द, फाणित, दही, कैथ, अनार और हर्ड इनके जो ऊपर अपने रस, वीर्य या विपाकसे विपरीत कर्म कहे गये हैं वे उनके द्रव्यगत प्रभावसे होते हैं (प्रभाव प्रायः विकृति विषमसमवेत, विचित्रप्रत्ययारब्ध और विजातीयान्वय वाले द्रव्योंमें रहता है)। रस, वीर्य और विपाक प्रभावकी अपेक्षया अप्रधान हैं और प्रधानभूत प्रभाव द्रव्यमें ही रहता है, अतः द्रव्य ही सबसे श्रेष्ठ है (यद्यपि इन श्लोकोंके अन्तमें द्रव्यकी प्रधानता बताई गई है, परन्तु इन श्लोकोंमें जो कर्म बताए गए हैं वे सब प्रभावके ही उदाहरणरूप हैं और विचित्रप्रत्ययारब्ध द्रव्योंके उदाहरणों में जो कर्म कहे हैं उनको भी प्रभावसे होनेवाले कर्म ही कह सकते हैं, अतः इन श्लोकोंको विचित्रप्रत्ययारब्ध कर्मोंके साथ रखा गया है)।

द्रव्यादिप्राधान्यवादोपसंहारः—

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः ।
चतुर्णामपि[1] सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥
तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम् ।
किंचिद्रस-विकाराभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥

(सु. सू. अ. ४०)।

१—न युक्तमवधारणमिदमेव प्रधानमिदं नेति चिकित्सायां द्रव्यादिषु वस्तुषु (र. वै. अ. १, सू. १६३)। इदमेव प्रधानं चिकित्सायामित्यवधारणं न युक्तम्, एकान्तभावाश्रयणमयुक्तमित्यर्थः (भा.)। किं तर्हि ? यथाविषयं हि प्राधान्यं सर्वेषाम् (सू. १६४)। यथाविषयं सर्वेषां प्राधान्यं भवति । सर्वाण्यपि स्वे स्वे विषये प्रधानानि । कः पुनरसौ विषय इति ? हेतुरूपेणोक्ताः सर्वेषामधिष्ठानारम्भादिषु द्रव्यं प्रधानं शेषाश्च (भा.)। कुत इति ? अत्राह—अविनिर्भागाच्चैषां, परस्परेणानुग्रहाच्च (सू. १६५)। अविनिर्भागादिति द्रव्यादीनि षडपि न पृथग्वर्तीनि ; यत्र द्रव्यं तत्र शेषाश्च, यत्र कर्म तत्र द्रव्यादीनि चेति । परस्परानुग्रहकराश्चैते चिकित्सायाम्। यथा—रसे प्रयुज्यमाने द्रव्यमाधारभावेनानुग्रहं करोति, गुणा रससाहचर्याद्, वीर्यं शक्तिप्रकाशनात्, विपाकः परिणामयेत्, कर्म संयोगसाधकमिति ; एवं षडपि पदार्था विवक्षिताः प्राधान्येन व्यवस्थिताश्च (भा.) ॥

संप्रति द्रव्यादिप्राधान्ये एकीयमतानि दर्शयित्वा स्वमतं सिद्धान्तरूपमाह—पृथक्त्वदर्शिनामित्यादि। पृथक्त्वेन एकैकश्येन द्रव्यादीनामितरप्राधान्यापवादपूर्वकं प्राधान्यं द्रष्टुं शीलं येषां ते पृथक्त्वदर्शिनः। पृथक्त्वशब्दोऽपि प्रकरणागतेन द्रव्यादिप्राधान्येन संबध्यते। यतो न द्रव्यादीनामिह पृथक्त्वं पक्षीकृतम्, एकैकप्राधान्यं तु पक्षीकृतम्, अत एकैकप्राधान्यमेवानूद्य तत्प्रतिषेधो युक्तः। एष इति अनन्तरप्रक्रान्तवादसंग्रहः ; द्रव्यमेव प्रधानमित्यादिरूपो वादपरिग्रहः। एतत्पक्षविपरीतपक्षं सर्वप्राधान्यं सिद्धान्ततया दर्शयन्नेव एकैकप्राधान्यपक्षान्निषेधयन्नाह—चतुर्णामित्यादि। चतुर्णामिति द्रव्य-रस-वीर्य-विपाकप्राधान्यानाम्। समग्रस्येदं सामग्र्यं मेलकमित्यर्थः। अत्रेति प्राधान्यचिन्तायाम्। विपश्चित इति प्रामाणिकाः। तेन प्रामाणिकेच्छया मेलकस्यैव प्राधान्यं फलति। सामग्र्येण चेह धर्मेण समग्रा धर्मिणो विवक्षिताः। यत्र द्रव्यप्राधान्यं तत्र रसानामप्राधान्यं, यत्र रसप्राधान्यं तत्र द्रव्यादीनामप्राधान्यमित्याद्यनुसरणीयम्। एतदेव स्व-स्वविषये द्रव्यादिप्राधान्यमाह—तद् द्रव्यमित्यादि। तदिति तस्माद् द्रव्यादिसामग्र्यप्राधान्यात्। अत्र द्रव्यमेव पञ्चमहाभूतविकारविशेषमन्न-पान-भेषजरूपं पाञ्चभौतिकशरीरस्य धातुवैषम्यरूपं दोषं विकारं, धातुसाम्यरूपं दोषविकारोपशमनं वा समवायिकारणतया कुर्वन् कर्तृत्वेन व्यवस्थाप्यते। तदाश्रितास्तु द्रव्यशक्तिरूपप्रभाव-रस-वीर्य-विपाका यथायोगं निमित्तकारणतां समवायिकारणतां वा भजन्ते ; न कर्तृतया व्यपदिश्यन्ते, द्रव्यपराधीनत्वात्। यत्तु "मधुराम्ललवणा वातघ्नाः" (सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसादीनामपि कर्तृत्वं व्यपदिश्यते, तद्रसादिप्राधान्यविवक्षया, न तु परमार्थतः, तेषां नित्यं द्रव्यपराधीनत्वात् ; तेन द्रव्यप्रभावादेव रसादिसाध्ये कार्ये द्रव्यमेव कर्तृतयोपदिशति—तद् द्रव्यमात्मनेत्यादि। किंचिद् द्रव्यमात्मनेति आत्मशक्त्या प्रभावाख्यया दोषं हन्ति करोति वा। दोषमिति दोषशब्देन च विकारोऽपि गृह्यते। यदुच्यते—"दोषाः प्रकुपिता विकारशब्दं लभन्ते" (च. वि. अ. ६) इति। शक्तिश्च द्रव्यस्य स्वरूपरूपा सामान्यविशेषात्मिका न्यायदर्शनसिद्धा भवतु, भट्टनयसिद्धा वा तदतिरिक्ता कार्यगम्या भवतु, नेह तद्विचारः प्रयोजकः ; उभयथाऽपि शक्तिसिद्धेः। इयमेव च शक्तिस्तन्त्रान्तरे प्रभावशब्देन, इह चाचिन्त्यशब्देन व्यवह्रियते। अत्र द्रव्यशक्तिकार्योदाहरणं यथा—कर्षकमणिर्लोहशल्यमाकर्षति, विषमणिर्विषमपहरतीत्यादि। × × ×। किंचिद्वीर्येणेति यथा—कुलत्थः कषायोऽपि उष्णत्वादनिलनाशन इति। किंचिद्रसादित्यस्योदाहरणं यथा—"कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्" (च. चि. अ. १६) इति। किंचिद्विपाकादित्यस्योदाहरणं यथा—शुण्ठी रसात् कटुका, वीर्येण चोष्णा, तयोर्विरुद्धेन विपाकेन मधुरेण वृष्या भवतीत्यादि। रस-विपाकाभ्यामिति समासोपदेशेन संभूयापि द्रव्यादीनां कार्यकर्तृत्वं सूचितं,

तेन क्वचिद् द्रव्यप्रभाव-वीर्याभ्यां, क्वचिद् द्रव्यप्रभाव-वीर्य-रसैः, क्वचिद्द्रव्यप्रभाव-रस-वीर्य-विपाकैर्मिलितैः सर्वैरेव क्रियते कार्यम। यथा—आमलकं त्रिदोषशमनं रस-वीर्य-विपाक-प्रभावैरेव करोति ; यथा—"हन्ति वातं तदम्लत्वात्, पित्तं माधुर्य-शैत्यतः। कफं कषाय-रूक्षत्वात्" (सु. सू. अ. ४६) इति। अत्र माधुर्यशब्देन विपाकोऽपि मधुरो गृह्यते, शैत्यं तु वीर्यं, प्रभावश्चामलके शिवत्वं ; शिवत्वलक्षण-प्रभावोपयन्त्रिता अम्लादयो न परस्परं पित्तजननादि कुर्वन्ति, किन्तु दोषशमनमेव कुर्वन्ति। क्वचिच्च तस्मिन्नेव द्रव्ये प्रभावादिना पृथक् कार्यं निष्पाद्यते। यथा—गुडूची तिक्तरसतया पित्त-कफहरी, उष्णवीर्यतया वातहरी, मधुरविपाकतया वृष्या, प्रभावात्तु वातरक्तमामं हन्ति ; इत्याद्यनुसरणीयम्। अत्रार्थे चरकः—"द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्मुकाणि भवन्ति।" (च. सू. अ. २६) इति। अत्र हि गुणशब्देन रस-वीर्य-विपाकानां गुणरूपाणां सर्वेषामेव ग्रहणम्। × × ×। अत्र दोषहरण-करणाभ्यामेव च सर्वद्रव्यकार्याविरोधः। यतो रसायन-स्वस्थवृत्त-जीवनादिकारणमपि द्रव्यं धातुसामान्य-विशेषजनकत्वाद-नागतरोगप्रशमनकारकमुच्यते। एतच्च द्रव्याणां कार्यकर्तृत्वमसति विरोधके ज्ञेयम्। तेनासाध्यव्याधौ द्रव्यादीनां व्याधिबलबाधितत्वान्न कर्तृत्वम्। यथा—यस्य कोष्ठे पित्तं बलवदस्ति तस्य मधुरशीतमपि क्षीरं विदह्यते। यदुक्तं "स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते॥" (सु. सू. अ. ४६) इत्याद्यनुसरणीयम्। तद् द्रव्यमात्मनेत्यादिना स्वकार्ये सर्वप्राधान्येऽपि मुख्यकर्तृतया द्रव्यं प्रधानमित्युक्तं भवति (च. द.)। द्रव्यादीनां प्राधान्यमाश्रित्य परस्परं विवदमानानां भिषजां मतान्युपसंहरन् स्वमतमुप-न्यसति—पृथक्त्वेत्यादिना। एष सप्रतिवादमुपदिष्टो द्रव्यादिप्राधान्यख्यापको ग्रन्थः, पृथक्त्वदर्शिनां विगृह्य कैकशो द्रव्यादिस्वातन्त्र्यमाचक्षाणानां वादिनां, वादानां संग्रहोऽत्रेति वादसंग्रहः केवलं तर्कनिचय इत्यर्थः। अत्र प्रतीकारविधौ, विपश्चितः तत्त्वार्थदर्शिनो विद्वांसस्तु चतुर्णां द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाकानामेव सामर्थ्यं योग्यतामिच्छन्ति, अतश्चत्वार एव प्रधानानीति भावः। अपिशब्दोऽत्रा-वधारणार्थः। चतुर्णां प्राधान्यप्रकारं दर्शयति—तदित्यादिना। तत् पक्षतः प्राधान्ये-नोपदिष्टं, द्रव्यं द्रव्यजातं, सेवितमुपयुक्तं सत्, तत्र किंचिद् द्रव्यमात्मना सर्वार्थ-कारिणा भावविशेषेण प्रभावणेति यावत्, दोष हन्ति करोति वेति परेणान्वयः। एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम्। × × ×। नेह गुणानामनुपादानात् "किंचिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेन च किंचन॥" (च. सू. अ. २६) इति चरकवचनं प्रतिषिद्धं भवति, "रसेषु गुणसंज्ञा" (सु. सू. अ. ४२) इति प्रागुक्तेरित्यनुसन्धेयम्। "नन्वेतावता "मधुराम्ल-लवणा वातघ्नाः"

(सु. सू. अ. ४२) इत्यादिना रसानां कर्तृत्वेन व्यपदेशोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'दात्रं लुनाति' इतिवत् करणे एव कर्तृत्वव्यपदेशात् (हा.) ॥

द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्यके प्रकरणोंमें (अध्यायोंमें) द्रव्य आदि एक-एकको प्रधान माननेवाले आचार्योंके मतोंका निरूपण सुश्रुत और रसवैशेषिक-सूत्रके अनुसार किया गया है। सुश्रुतने इन मतोंका उपसंहार करते हुए अन्तमें अपने-अपने विषयमें द्रव्य आदि सब प्रधान हैं, ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया है। वे लिखते हैं कि—इतरके प्राधान्यका खण्डन करके द्रव्य आदि एक-एकको ही प्रधान बतलाने वाले एकान्तवादियोंका मत हमने संक्षेपमें कहा है। परन्तु प्रामाणिक (तत्त्वार्थदर्शी) लोग द्रव्य, रस, विपाक और वीर्य इन चारोंको[1] अपने अपने विषयमें प्रधान मानते हैं। क्योंकि सेवन किये हुए द्रव्योंमेंसे कई द्रव्य अपनी पार्थिव-आप्य आदि पाञ्चभौतिक रचनासे, कई वीर्यसे, कई रससे, कई विपाकसे और कई द्रव्य इन चारोंमेंसे दो, तीन या चारोंसे शरीरमें दोषादिवैषम्यरूप विकारोंका नाश करते हैं अथवा दोषादिवैषम्यरूप विकारोंको उत्पन्न करते हैं (यहाँ दोषादि-वैषम्यरूप विकारोंका नाश अथवा उत्पत्ति इन दो शब्दोंमें शरीरपर होने वाली द्रव्योंकी सब क्रियाओंका अवरोध (समावेश) किया गया है, ऐसा समझना चाहिये)।

नागार्जुन इस प्रकरणके उपसंहारमें लिखते हैं कि—द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और कर्म[2] छहों पदार्थोंमेंसे यह एक ही प्रधान है, अन्य अप्रधान हैं, ऐसा निर्णय करना ठीक नहीं है। क्योंकि अपने-अपने विषयोंमें सब प्रधान हैं। द्रव्य आदिको हम विभक्त (अलग) नहीं कर सकते। क्योंकि जहाँ द्रव्य होता है वहाँ रसादि शेष होते हैं और रसादि द्रव्यके बिना रह भी नहीं सकते। चिकित्सामें द्रव्य आदि एक दूसरेका अनुग्रह करते हैं, जैसे-रसोंके उपयोगमें द्रव्य आधार भावसे, गुण रसोंके साहचर्यसे, वीर्य उनकी शक्तिका प्रकाशन करके, विपाक उनका परिणाम करके और कर्म उनका शरीरके साथ संयोग कराके अनुग्रह करता है। अतः एकको प्रधान और दूसरेको अप्रधान मानना युक्त नहीं है।

१—'रस गुणोंका ही एक भेद है, इसलिये रसप्राधान्य हेतुओंसे गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है' ऐसा इसी ग्रन्थमें पृ० २२७ पर लिखा है, अतः यहां 'द्रव्य, गुण, रस, विपाक और वीर्य इन पाँचोंको, ऐसा अर्थ लेना चाहिये।

२—नागार्जुनने द्रव्यगुणविज्ञानके प्रतिपाद्य विषयोंमें द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक इन पाँचोंके अतिरिक्त 'कर्म' नामका एक छठा पदार्थ माना है और उन प्रत्येकके प्राधान्यका निरूपण किया है।

रसादिद्वारा द्रव्याणां कार्यकर्तृत्वनिरूपणं, रसादीनां नैसर्गिकबलनिरूपणं च—

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन, पाकेन, प्रभावेण च किंचन॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्यपोहति।
बलसाम्ये[1] रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥

(च. सू. अ. २६)।

किंचिदित्यादि। द्रव्यं रसेन किंचिच्छुभाशुभं कर्म कुरुते। यथा—मधु कषायरसत्वात् पित्तं शमयति। वीर्येणेति वीर्यं शक्तिमन्तो गुर्वादयो गुणाः, तेनापरमन्यत् कर्म कुरुते। यथा—कषायतिक्तं महत्पञ्चमूलं वातं जयति न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात्। गुणेन किंचित् कर्म कुरुते। यथा—मधु रौक्ष्यात् श्लेष्माणं जयति। पाकेन विपाकेन किंचित् कर्म कुरुते। यथा—शुण्ठी कटुकाऽपि मधुरविपाकतया वातं शमयति। प्रभावेणापि किंचन किंचित् कर्म कुरुते। यथा—दन्ती कटुरसविपाका उष्णवीर्या चापि विरेचयति, प्रभावात्। ×××। सह वसतां रसादीनां मध्ये यद्यत् बलवत्तरं भवति तत् इतरदभिभूय कर्म कुरुते। ×××। ननु यत्र रसादीनां बलसाम्यं तत्र कस्य कार्यनिष्पत्तौ कारणत्वं स्यादिति? अत आह—रसमित्यादि। रसं मधुरादिकं षड्विधं तुल्यबलमपि विपाकः अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति। यथा—मधुनि मधुरो रसः कटुना विपाकेनाभिभूयते, तस्मान्मधु मधुररसहेतुकं श्लेष्मजननं कर्म न करोति। तौ रस-विपाकौ समबलौ वीर्यं कर्तृ अपोहति। यथा—आनूपौदकपिशिते मधुररस-विपाके उष्णेन वीर्येणाभिभूयेते; तस्मादानूपौदकपिशितं मधुररस-विपाकतया शीतमपि पित्तं न जयति, किंतु उष्णवीर्यत्वात् पित्तं जनयति। प्रभावः पुनस्तान् समबलानपोहति। यथा—अम्लरसविपाका उष्णवीर्याऽपि सुरा क्षीरं जनयति, प्रभावात्। कटुरसविपाका उष्णवीर्या चापि दन्ती विरेचयति, प्रभावात्। अत्र प्रभावेण रस-वीर्य-विपाका अभिभूयन्ते। इति ईदृशं रसादीनां बलसाम्ये नैसर्गिकं बलं स्वाभाविकी शक्तिः (यो.)। तथा चोच्यते—किंचिदित्यादि। द्रव्यं तु रसेन किंचित कर्म कुरुते, अपरं किंचित् कर्म वीर्येण वीर्यसंज्ञकेन गुणाष्टकेन कुरुते, किंचन कर्म गुणेन रस-वीर्यसंज्ञगुणव्यतिरिक्तेन गन्धादि-स्थिर-सरादिना कुरुते, किंचन कर्म पाकेन कुरुते, किंचन कर्म स्वस्य प्रभावेण कुरुते, इति प्राधान्याद् द्रव्यप्रभाव उदाहृतः। रसादीनां खलु मधुरादीनामपि यत् स्व-स्वलक्षणं स्वभावसिद्धं तत् तस्य तस्य प्रभावकृतमुन्नेयम्। यथाऽग्ने रूपं प्रकाशयति, भूमे रूपं तमो न प्रकाशयति, औष्ण्यं दहति, शैत्यं

१—'गुणसाम्ये' इति पाठान्तरम्।

शीतयतीत्येवमादि सर्वं प्रभाववदेव, नाप्रभावं किंचिदस्ति द्रव्यं वा गुणो वा कर्म वेति। ननु मृदु-तीक्ष्णादयोऽष्टौ गुणाः कथं वीर्यसंज्ञया पृथगुपदिश्यन्ते इत्यत उच्यते—रसमित्यादि। द्रव्ये यो रसो वर्तते यदि पाकश्च स एव रसः स्यात् तदाऽविरोधः स्यात्। यत्र द्रव्ये रस-पाकयोर्विरोधो वर्तते, यथा—तिक्तः पित्तशमनस्तस्य पाकः कटुः पित्तवर्धनस्तत्र विपाको रसमपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षात्। तिक्तस्तु प्राग्विपाकात् स्वकर्म करोति, पाके तु कटुः सन् तिक्तकर्म न कृत्वा कटुककर्म करोतीति। वीर्यं तु मृदु-तीक्ष्णादिगुणाष्टकं तौ रस-विपाकौ विरोधिनौ अपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षादिति। यथा—अर्कागुरु-गुडूचीनां तिक्तं रसं कटुं च विपाकमुष्णवीर्यमपोहति। निपातावधि यावदधीवासं तिक्तकार्य-कटुपाककार्यं न कृत्वोष्णवीर्यकार्यमर्कादीनि कुर्वन्ति। प्रभावस्तु तानि रस-विपाक-वीर्याण्यपोहति, स्वबलगुणोत्कर्षात्। यथा—दन्ती कटुरसकार्यं कटुपाककार्यमुष्णवीर्यकार्यं च निरस्य प्रभावकार्यं विरेचनं करोति। कुत एवं बलाबलं रसादीनामित्यत उच्यते—गुणसाम्य इत्यादि। रसादीनां रस-विपाक-वीर्य-प्रभावाणां गुण-कर्मतया विशेषे सत्यपि द्रव्यस्य कार्यभूतस्य द्रव्यगुणकर्मसमुदायात्मकस्यारम्भकाणां द्रव्याणां प्रधान्याद् द्रव्यांशस्य प्राधान्यं, गुण-कर्मणामारम्भकाणामप्राधान्यात् तदारब्धगुणकर्मणामपि रस-विपाक-वीर्यसंज्ञ-प्रभावाणां गुणीभावाद् गुणसंज्ञा; तद्गुणभावसाम्येऽपि खल्वतिबलं रसादधिकं बलं विपाकस्य, विपाकाद् वीर्यस्य, वीर्यात् प्रभावस्य; तन्नैसर्गिकं स्वाभाविकं स्वभावसिद्धं न तु कारणजमिति। ××× । (ग.) ॥

किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, पाकेन चापरम्।
द्रव्यं गुणेन, वीर्येण, प्रभावेनैव किंचन॥
यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते।
अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते॥
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥
रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥

(अ. सं. सू. अ. १७)।

एवं स्थितेऽनन्तरप्रक्रान्तमेवार्थं स्फुटयन्नाह—किंचिदित्यादि। द्रव्यं मध्वादि किंचित् कर्म अस्रपित्तोपशमनादिकं रसेन कुरुते, किंचित् कर्म श्लेष्मशमनादिकं विपाकेन, अपरं वातवृद्ध्यादि लघ्वादिना गुणेन, अपरं तृट्शमनादि वीर्येण शीतेन, किंचन विषापनुत्त्यादि प्रभावेणेति। ननु च यत्र द्रव्याश्रितानां रस-वीर्य-गुण-विपाक-

प्रभावानां विरोधस्तत्र तेषां कार्यनिष्पादने समशक्तित्वं न वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—यद्यद् द्रव्य इत्यादि। रसादीनां रस-वीर्य-गुण-विपाक-प्रभावानां यद्रसो वा वीर्यं वा विपाको गुणः प्रभावो वा बलवत्त्वेन विजातीयाधिक्येन वर्तते तत्तत् कारणत्वं कार्यसाधकत्वं प्रतिपद्यते। किं कृत्वा? इतरान् द्रव्याश्रितान् हीनानभिभूय विफलीकृत्य। यत्र तु द्रव्ये रसादिद्वारको विरुद्धानां गुणानां गुर्वादीनामेव संयोगो, न तु रसादयोऽपेक्ष्यन्ते, तत्र कथं कार्यकर्तृत्वमिति पृष्ट आह—विरुद्धेत्यादि; अथवा रसादिकल्पनाविशेषेणैव यत्र विरुद्धगुणोपनिपातस्तत्र कथं कार्यकरणत्वमित्याह—विरुद्धेत्यादि। तत्र भूयसा प्रभूतेन गुणेनाल्पं जीयते निष्फलीक्रियते। द्विविधश्च विरोधः—स्वरूपतः, कार्यतश्च। स्वरूपविरोधो यथा गुरु-लघ्वोः, शीतोष्णयोश्च; कार्यविरोधो यथा—गुरु-रूक्षयोः, उष्ण-स्निग्धयोश्च। तथाहि—गुरुः श्लेष्म-वृद्धिकरः, रूक्षश्च गुरोर्विरुद्धः; गुरुः कार्येण श्लेष्मवृध्याख्येन विरुध्यते। एव-मुष्णस्य श्लेष्महन्तृत्वं स्निग्धस्य श्लेष्मकर्तृत्वेन। इह चोभयोरपि विरोधयो-र्ग्रहणम्। एकत्र द्रव्ये स्वरूपकार्यविरुद्धयोर्भाव आगमलब्धः पञ्चभूतात्मकत्वाद् द्रव्यस्योपपद्यते। ननु यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत् तत्तत् कार्यकरणशक्तमित्युक्तं, यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षासंभवः परस्परसाम्यं तत्र कस्य कार्यकरणत्वमित्यु-च्यते—रसमित्यादि। विपाकः कर्ता रसं कर्म अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति, तौ रस-विपाकौ कर्मणी वीर्यं कर्तृ अपोहति, तानि रस-विपाक-वीर्याणि प्रभावो वक्ष्यमाणः अपोहति, इत्येतद् रसादीनां बलसाम्ये नैसर्गिकं स्वाभाविकं बलम्। तेनैतदुक्तं भवति—रसादीनां समबलानामपि तथाविधो बलस्वभावो यत् पूर्वस्य बलमुत्तरस्य बलेन समेनाप्यभिभूयते। रसबलं विपाकबलेन समेनापि स्वभावा-देवाभिभूयते, एवं रस-विपाकयोर्बलं वीर्यबलेन, रस-विपाक-वीर्यबलं प्रभावबलेनेति। तेन रसादीनां विषमत्वेऽपि स्वभावबलमपेक्ष्याधिकस्य सामर्थ्यं विज्ञेयम् (इन्दुः)।।

× × × × × × × × × × तत्र द्रव्यं शुभाशुभम्।
किंचिद्रसेन कुरुते कर्म, पाकेन चापरम्।।
गुणान्तरेण, वीर्येण, प्रभावेणैव किंचन।
यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते।
अभिभूयेतरांस्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते।
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते।।
रसं विपाकस्तौ वीर्यं, प्रभावस्तान्यपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्।

(अ. हृ. सू. अ. ९)।

तत्रेत्यादि। तत्र तेषु रस-वीर्य-विपाकादिषु मध्ये, द्रव्यं किंचिच्छुभाशुभं सदसत् कर्म रसेन कुरुते। यथा—मधु मधुर-कषायरसत्वेन पित्तं शमयति। किंचिद्विपाकेन। यथा—तदेव मधु कटुविपाकतया कफं हन्ति। किंचन द्रव्यं गुणान्तरेण अन्यगुणविवृतत्वाद्रस-विपाकतो भिन्नो यो गुणान्तरो गुर्वादिः, तेन। यथा—अम्लं काञ्जिकं कफं शमयति, रौक्ष्यात्। किंचन वीर्येण। यथा कषाय-तिक्तं महत् पञ्चमूलं वातं जयति, न तु पित्तम्, उष्णवीर्यत्वात्। किंचन द्रव्यं प्रभावेणैव शुभाशुभं कर्म कुरुते। यथा—अम्लोष्णा सुरा क्षीरं वर्धयति। ननु यत्र द्रव्याश्रितानां रसादीनां विरोधः, तत्रैषां कार्यनिष्पत्तौ समशक्तित्वं न वा? इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—यद्यदित्यादि। रसादीनां रस-वीर्य-विपाक-प्रभावानां मध्ये, यद् रसादिवस्तु रसो वा वीर्यं वा विपाको वा प्रभावो वा बलवत्त्वेन बलिष्ठतया, द्रव्ये वर्तते अवतिष्ठते, तद् वस्तुजातम्, इतरान् अबलिष्ठान्, अभिभूय विफलीकृत्य, कारणत्वं प्रपद्यते कर्मकरणे कारणतामासादयतीत्यर्थः। अत इदमाह—विरुद्धेत्यादि। हि यस्मात्, विरुद्धगुणसंयोगे संहतीभावे सति, यदल्पं वस्तु तत् भूयसा बलवता, जीयते अभिभूयते। गुणशब्देन चात्र रसादयो गृह्यन्ते, न पारिभाषिका गुर्वादयः, अप्रकृतत्वात्। विरुद्धगुणसंयोग इत्यत्र विरुद्धगुण-समवेतद्रव्यसंयोग इति बोध्यं, न विरुद्धगुणसंयोग इति; न हि गुणानां संयोगो वक्तुं युज्यते, किं तर्हि? द्रव्याणाम्। तथा च मुनिः—"संयोगस्तु द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः।" (च. वि. अ. १) इति। विरोधश्च द्विविधः—स्वरूपतः, कार्यतश्च। स्वरूपविरोधो यथा—गुरु-लघ्वोः, शीतोष्णयोश्च। कार्यतो यथा—वायौ जेतव्ये रूक्षोष्णद्रव्यसंयोगोपयोगः। अत्र हि यो गुणानां विरोधः, स कार्येण। तत्र यदल्पं वस्तुजातं तद् भूयसा वस्तुजातेनाभिभूयते। तत्र यथा—क्षीरं शीतवीर्यमपि मधुररसहेतुकस्नेह-गौरवादिभिः सहायबाहुल्या-द्वातशमनाख्यं कार्यं करोति, न पुनः स्वकार्यं वातप्रकोपाख्यम्। यत्र तु द्रव्ये रसादीनामुत्कर्षासंभवः परस्परं साम्यं, तत्र कस्य कार्यकारणत्वम्? इत्याह—रसमित्यादि। रसं मधुरादि-षड्विधं, विपाकः कर्ता, अपोहति कार्यकरणे कुण्ठयति। यथा—मधुरो मधुनि रसः कटुना विपाकेनाभिभूयते, अत एव पवनशमनाख्यं कार्यं मधुररसहेतुकं न करोति, अपि तु वातप्रकोपनाख्यं कटुविपाकहेतुकमेव करोति। तौ रस-विपाकौ वीर्यं कर्तृभूतमपोहति। यथा—महिषामिषे स्थितौ मधुररस-विपाकावुष्णवीर्याख्यं कर्तृ अभिभवति, अत एव तन्मांसं पित्तादिदूषणम्, अन्यथा स्वादुरस-विपाकित्वात् पित्तशमनमेव स्यात्। प्रभावस्तु त्रीण्यपि रसादीनि विजयते। यथा—अम्लरस-विपाका उष्णवीर्या सुरा क्षीरं जनयति। बलसाम्ये इति ईदृशं, रसादीनां नैसर्गिकं बलं स्वाभाविकी शक्तिः। एतदुक्तं भवति—रसं समबलमपि विपाकोऽपोहति, रस-विपाकौ च समबलावपि वीर्यं स्वभावादपोहति,

एतानि च समबलान्यपि प्रभावोऽपोहतीति (अ. द.)। द्रव्यादीनां पृथक् प्रयोजकत्वमाह—तत्र द्रव्यमित्यादि । गुणान्तरेण रसाद् व्यतिरिक्तेन गुर्वादिना गुणेन । एतदेव रसादीनामपि गुणत्वं ज्ञापयति । तेन "पलाण्डुस्तद्गुणैर्न्यून:" (अ. हृ. सू. अ. ६) इत्यादिप्रयोगा उपपन्नाः। प्रभावेण आत्मनैव। द्रव्यस्यात्मा प्रभावः । × × × । शुभं दोषशमनं कर्म, अशुभं दोषकोपनम् । किंचिदपरं किंचनेति कर्तृ-कर्मविशेषणम् । यदा बहूनि द्रव्याणि एकमेव कर्म कुर्वन्ति तदा कर्तृविशेषणम्, यदैकमेव द्रव्यं बहूनि कर्माणि तदा कर्मविशेषणम् । × × × । सत्स्वपि सर्वेष्वेकस्यैव प्रयोजकत्वे हेतुमाह—यद्यदित्यादि । बलवत्त्वेन बलाधिक्येन । बलं च द्विविधं - कृत्रिमम्, अकृत्रिमं च । मात्राधिक्येन सहायसंपत्त्या च कृतं कृत्रिमं, स्वाभाविकमकृत्रिमम् । तत्र स्वाभाविकं बलमाह—रसमित्यादि । तौ रस-विपाकौ, तानि रस-विपाक-वीर्याणि अपोहति जयति । बलसाम्ये कृत्रिमबलतुल्यत्वे । यत्र रस-विपाकयोस्तुल्यमात्रत्वं तुल्यसहायत्वं च तत्र रसाद् विपाको बली, मात्रासहायवैषम्ये तु यो मात्राधिकः सहायाधिको वा स बलीत्यर्थः ; एवं वीर्यादिष्वपि वाच्यम् । × × × । (हे.)॥

द्रव्य कुछ कर्म—कार्य रससे करता है, जैसे—शहद अपने कषायरससे पित्तका शमन करता है ; कुछ कर्म वीर्यसे करता है, जैसे—कषाय और तिक्त रसवाला बृहत्पञ्चमूल अपने उष्ण वीर्यसे वायुका शमन करता है परन्तु पित्तका शमन नहीं करता ; कुछ कर्म रस-वीर्यव्यतिरिक्त गन्ध-स्थिर आदि गुणोंसे करता है ; कुछ कर्म विपाकसे करता है, जैसे-सोंठ कटुरसवाली होनेपर भी अपने मधुरविपाकसे वायुका शमन करती है ; और कुछ कर्म प्रभावसे करता है, जैसे—दंती कटुरस, कटुविपाक और उष्णवीर्य होनेपर भी अपने प्रभावसे विरेचन करती है। रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव इन चारोंमें जो बलवान् होता है वह दूसरे दुर्बलका पराभाव करके अपना कार्य करता है । क्योंकि जहाँ विरुद्ध गुणोंका संयोग होता है वहाँ बलवान्के द्वारा दुर्बलका पराभाव होता है। परन्तु जहाँ रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले होते हैं वहाँ अपने नैसर्गिक (स्वाभाविक) बलसे विपाक रसका, वीर्य रस और विपाक दोनोंका तथा प्रभाव रस, विपाक और वीर्य तीनोंका पराभव करके अपना कार्य करता है ।

परस्परं विरुद्धानामपि रसादीनां कार्यसाधनेऽविघातकत्वम्—

विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाद्याः कार्यसाधने ।
नावश्यं स्युर्विघाताय गुणदोषा मिथो यथा ॥
(अ. सं. सू. अ. १७) ।

ननु यत्र रसादीनामन्यतमस्य कार्यमितरस्य कार्येण विरुध्यते तत्र कस्य कार्य-

कर्तृत्वं भवति ? यदि तु प्रभूतस्य स्वभावबलवतश्चेत्युच्यते, तत्राल्पोऽल्पबलश्च किंचित् कर्तुं शक्तो न वा ? इत्येवं पृष्ट इदमाह—विरुद्धा इत्यादि। रसाद्या रस-वीर्य-विपाक-गुण-प्रभावाः, अन्योन्यं परस्परं, विरुद्धा अपि न नाशाय भवन्ति कार्यसाधनकाले। दृष्टान्तो—गुण-दोषा मिथो यथेति। गुणाः सत्त्व-रजस्तमांसि, परस्परं पुरुषाद्यभिधानकार्यसाधने, विरुद्धा अपि यथा विघाताय न भवन्ति; दोषाश्च वात-पित्त-कफाः, देह-रोगादिसाधने यथा मिथो विघाताय न भवन्ति, तद्वद्रसादयोऽपि (इन्दुः)॥

इस प्रश्नके उत्तरमें वृद्ध वाग्भट कहते हैं कि—जैसे—सत्त्व, रज और तम ये प्रकृतिके तीन गुण जगत्‌की उत्पत्तिमें तथा वात, पित्त और कफ ये तीन दोष देहकी उत्पत्तिमें या रोग उत्पन्न करनेमें विरुद्ध गुणवाले होनेपर भी एक-दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होते हैं वैसे ही रस, वीर्य और विपाक भी अपने कार्य करने में एक दूसरेके प्रतिबन्धक नहीं होते।

भूतोत्कर्षापकर्षतो रस-विपाक वीर्याणां द्रव्ये एकरूपत्वं विरूपत्वं वा भवति—

रस-वीर्यप्रभृतयो भूतोत्कर्षापकर्षतः।
एकरूपा विरूपा वा द्रव्यं समधिशेरते॥
माधुर्य-शैत्य-पैच्छिल्य-स्नेह-गौरव-मन्दताः।
सहवृत्त्या स्थिताः क्षीरे नत्वानूपौदकामिषे॥
(अ. सं. सू. अ. १७)।

ननु द्रव्ये रसादीनां परस्परसम-विषमतया कार्यकरत्वमुक्तं, तस्याश्च रसादिसम-विषमतायाः कारणं न ज्ञायते, अत उच्यते—रस-वीर्येत्यादि। रस-वीर्यादीनां कार्यकरत्वे परस्परसदृशानां विसदृशानां वा यद् द्रव्याश्रयणं तन्महाभूतस्य पृथिव्यादेरुत्कर्षादपकर्षाच्च संपद्यते; तेनैतदुक्तं भवति—यद् द्रव्ये रसस्य वीर्यादिभिः सादृश्यमसादृश्यं वा तत्सर्वमेकादानां भूतानां केषाञ्चित् कियताऽप्युत्कर्षेण, कियताऽप्यपकर्षेण जन्यते; तेन द्रव्येण सदृशस्यापि द्रव्यस्य योंऽशांशो विशेषः स भूतकृत एव। एतदेव माधुर्येणेत्याद्युदाहरणेन स्फुटयति। तेन क्षीरे माधुर्यादीनां समानकार्यकर्तृत्वेन यदेकत्र सदृशानामवस्थानं, तदबाख्यस्य महाभूतस्योत्कर्षणान्यभूतेभ्यः (इन्दुः)॥

पञ्चमहाभूतोंमेंसे किसीके उत्कर्ष और किसीके अपकर्षके कारण रस, वीर्य और विपाक एकरूपसे (एकसे-परस्पर अनुकूल रूपसे) या विरूपसे (भिन्नता—परस्पर प्रतिकूलतासे) द्रव्योंमें रहते हैं। जैसे—दूधमें रस, वीर्य और विपाक एकरूपसे रहते हैं, परन्तु आनूप और औदकमांसमें विरूपसे-भिन्नरूपसे रहते हैं। अतः वे द्रव्यमें परस्पर अनुकूल—सहायक-रूपसे रहे हैं या परस्पर प्रतिकूलरूपसे रहे हैं यह जानकर द्रव्योंके गुणोंका निर्णय करना चाहिये।

द्रव्याण्येव शरीरस्थिति-वृद्धि-क्षयहेतवः—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा ।
स्थान-वृद्धि-क्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥
(सु. सू. अ. ४१) ।

इदानीं पार्थिवादिद्रव्यगुणानां शरीरगतपार्थिवादिगुणैस्तुल्यातुल्यतया द्रव्यैरेव समानासमानैः शरीरक्षय-वृद्धि-स्थानादि दर्शयति—गुणा य इत्यादि । गुणा इह रस-वीर्य-विपाकतयोक्ताः, तथा साक्षादनुक्ताश्च स्थूल-सान्द्रादयः सर्वे ग्राह्याः । स्थानं धातुसाम्येनावस्थानम् । देहिनां शरीरेषु स्थान-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुका इति योजना । तत्र समानासमानेन च साम्यं ज्ञेयम् । तदुक्तं चरके—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् । ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥" (च. सू. अ. १) (च. द.) । कथं नु पुनर्जीवति शरीरे निर्जीवं द्रव्यजातं स्थित्यादौ हेतुर्भवतीत्याह—गुणा इत्यादि । द्रव्येषु ये गुणास्ते गुणाः शरीरेष्वपि तथा, 'उच्यन्ते भिषग्भिः' इति शेषः; तस्माद्देहिनां स्थान-वृद्धि क्षया दोष-धात्वग्निसमता-वृद्धिक्षया द्रव्यहेतुकाः निर्जीवद्रव्यमूला भवन्ति. यथावदुयोगादुपयोगतारतम्याच्चेति भावः (हा.) ॥

गुणा द्रव्येषु ये चोक्तास्त नव तनु-दोषयोः ।
स्थिति-वृद्धि-क्षयास्तस्मात्तेषां हि द्रव्यहेतुकाः ॥
(अ. सं. सू. अ. १७) ।

ये हि गुर्वादयो द्रव्ये संभवन्ति त एव गुणास्तनोः शरीरस्य प्रत्यङ्गं संभवन्ति, दोषस्य च वातादेः । तस्मात्तनोर्वातादीनां च स्थिति-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुकाः, "वृद्धिः समानैः सर्वेषां" (अ. हृ. सू. अ. १) इत्यादिन्यायात् (इन्दुः) ॥

औषध और आहारके लिये उपयोगमें आने वाले द्रव्य और जीवित शरीर दोनों पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए हैं और पाञ्चभौतिक द्रव्योंमें जो गुण हैं वे ही गुण शरीरमें भी हैं । अतः निर्जीव द्रव्योंके क्रमशः सम, हीन और अति योगसे उपयुक्त होनेसे शरीरकी (शरीरके धातुओं की) समता, क्षय और वृद्धि होती है ।

इति आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा विरचिते द्रव्यगुणविज्ञाने पूर्वार्धे वीर्य-प्रभाव-विज्ञानीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

रसविज्ञानीयाध्यायस्य परिशिष्टम्

तत्र कट्वम्ल-लवणा वीर्येण यथोत्तरमुष्णाः, तिक्त-कषाय-मधुराः शीताः, तिक्त-कटु-कषाया रूक्षा बद्धविण्मूत्र-मारुताः, लवणाम्ल-मधुराः स्निग्धाः सृष्टविण्मूत्र-मारुताः, लवणाम्ल-मधुरा गुरवः, तद्वदम्ल-कटु-तिक्ता लघवः; अन्ये पुनर्गुरु-लघु-स्निग्ध-रूक्षसाधारणं लवणमिच्छन्ति (अ. सं. सू. अ. १७)॥

यथोत्तरमिति सर्वत्राभिसंबध्यते। पूर्वादुत्तरो यथोक्तगुणाधिक इत्यर्थः (इं.)॥

कटु, अम्ल और लवण ये तीन रस उत्तरोत्तर उष्ण हैं; तिक्त, कषाय और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर शीत हैं; तिक्त, कटु और कषाय ये तीन रस उत्तरोत्तर रूक्ष तथा विष्ठा, मूत्र और वायुको रोकनेवाले हैं; लवण, अम्ल और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर स्निग्ध तथा विष्ठा, मूत्र और वायुको साफ लानेवाले हैं; लवण, अम्ल और मधुर ये तीन रस उत्तरोत्तर गुरु हैं तथा अम्ल, कटु और तिक्त ये तीन रस उत्तरोत्तर लघु हैं। कई आचार्य लवण रसको गुरु, लघु, स्निग्ध और रूक्षमें साधारण (मध्यम) मानते हैं।

(यह ग्रन्थ पृ. १६२ पर ८ वीं पंक्तिके नीचे पढ़ना चाहिये)।

द्रव्यगुणविज्ञानस्य पूर्वार्धे प्रथमं परिशिष्टम्

भूतानामसाधारणं लक्षणम्[१] (लिङ्गम्)।

पृथिव्या लिङ्गं	जलस्य लिङ्गं	वायोर्लिङ्गं	तेजसो लिङ्गं	नभसो लिङ्गम्
खरत्वं (कठिनत्वं)	द्रवत्वं	चलत्वं (गतिमत्त्वं)	उष्णत्वं	अप्रतिघातः (अस्पर्शवत्त्वम्)

भूतानामसाधारणा गुणाः[२]।

आकाशगुणः	वायुगुणः	अग्निगुणः	जलगुणः	पृथिवीगुणः
शब्दः	स्पर्शः	रूपं	रसः	गन्धः

१—"खर-द्रव-चलोष्णत्वं भू-जलानिल-तेजसाम्। आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥" (च. शा. अ. १)।

२—"शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।" (च. शा. अ. १)।

भूतानामसाधारणा भूतान्तरानुप्रवेशकृताश्च गुणाः[१] ।

आकाशगुणः	वायुगुणौ	अग्निगुणाः	जलगुणाः	पृथिवीगुणाः
शब्दः	शब्द-स्पर्शौ	शब्द-स्पर्श-रूपाणि	शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः	शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः

भावमिश्रमतेन भूतानां गुणाः[२] ।

आकाशगुणः	भूमिगुणः	जलगुणः	वायुगुणः	अग्निगुणः
लघुः	गुरुः	स्निग्धः	रूक्षः	तीक्ष्णः

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्य (कार्यद्रव्य) गुणाः[३] ।

पार्थिवद्रव्यं	आप्यद्रव्यं	आग्नेयद्रव्यं	वायव्यद्रव्यं	नाभसद्रव्यं
गुरु	द्रवं	उष्णं	लघु	मृदु
खरं (खरस्पर्शं)	स्निग्धं	तीक्ष्णं	शीतं	लघु
कठिनं	शीतं	सूक्ष्मं	रूक्षं	सूक्ष्मं
मन्दं	मन्दं	लघु	खरं	श्लक्ष्णं
स्थिरं	मृदु	रूक्षं	विशदं	व्यवायि
विशदं	पिच्छिलं	विशदं	सूक्ष्मं	विशदं
सान्द्रं	स्तिमितं	खरं	विकाशि	विविक्तं
स्थूलं	सरं	ऊर्ध्वगतिस्वभावं	व्यवायि	अव्यक्तरसं
अधोगतिस्वभावं	रसबहुलं	रूपबहुलं	स्पर्शबहुलं	शब्दबहुलं
गन्धबहुलं				

पार्थिवादिकार्यद्रव्यरसाः[४] ।

पार्थिवद्रव्यं	आप्यद्रव्यं	आग्नेयद्रव्यं	वायव्यद्रव्यं	नाभसद्रव्यं
ईषत्कषायं	ईषत्कषायाम्ललवणं	ईषदम्ललवणं	ईषत्तिक्तं	अव्यक्तरसं
प्रायशो मधुरं	प्रायशो मधुरं	प्रायशः कटुकं	विशेषतः कषायं	

१—"तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे ।" (च. शा. अ. १) ।
२—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ. ११०, पं. २१–२२ ।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ. ७–१० । ४—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० ८–९ ।

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्यविपाकाः[1]

पार्थिवद्रव्यविपाकः	आप्यद्रव्यविपाकः	आग्नेयद्रव्यवि०	वायव्यद्रव्यवि०	नाभसद्रव्यवि०
गुरुः	गुरुः	लघुः	लघुः	लघुः

पार्थिवादिपाञ्चभौतिकद्रव्यकर्माणि[2]

पार्थिवद्रव्यकर्म	आप्यद्रव्यकर्म	आग्नेयद्रव्यकर्म	वायव्यद्रव्यकर्म	नाभसद्रव्यकर्म
उपचयः (बृंहणं)	क्लेदनं	दहनं	विरूक्षणं	मार्दवं
संघातः	स्नेहनं	पचनं	ग्लपनं	सौषिर्यं
गौरवं	बन्धनं	प्रभा	विचारणं	लाघवं
स्थैर्यं	विष्यन्दनं	प्रकाशनं	वैशद्यं	विवरणं
बलं	मार्दवं	वर्णः	लाघवं	
अधोगमनं	प्रह्लादनं	दारणं	कर्शनं	
		तापनं	शैत्यं	

गुणाः[3]

वैशेषिकगुणाः	शारीरगुणाः	अध्यात्मगुणाः	सामान्यगुणाः	महागुणाः
शब्दः	गुरुः	बुद्धिः	परत्वं	सत्त्वं
स्पर्शः	लघुः	इच्छा	अपरत्वं	रजः
रूपं	शीतः	द्वेषः	युक्तिः	तमः
रसः	उष्णः	सुखं	संख्या	
गन्धः	स्निग्धः	दुःखं	संयोगः	**नागार्जुनमतेन कर्मण्या गुणाः**
	रूक्षः	प्रयत्नः	विभागः	
	मन्दः	मनोर्थाः	पृथक्त्वं	
	तीक्ष्णः		परिमाणं	शीतः
	स्थिरः		संस्कारः	उष्णः
	सरः		अभ्यासः	स्निग्धः
	मृदुः			रूक्षः
				विशदः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २४५। २—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० ७–११।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १०३–१०६।

शारीरगुणाः	नागार्जुनमतेन कर्मण्या गुणाः
कठिनः	पिच्छिलः
विशदः	गुरुः
पिच्छिलः	लघुः
श्लक्ष्णः	मृदुः
खरः	तीक्ष्णः
स्थूलः	
सूक्ष्मः	
सान्द्रः	
द्रवः	

गुर्वादिगुणानां कर्माणि[1]

गुरुगुणकर्म	लघुगुणकर्म	शीतगुणकर्म	उष्णगुणकर्म
अवसादः (ग्लानिः)	असादः (अग्लानिः)	ह्लादनं	अह्लादनं (असुखकरणं)
उपलेपः (मलवृद्धिः)	अनुपलेपः (मलक्षयः)	स्तम्भनं	अनुलोमनं
बलं	बलहानिः	मूर्च्छाहरणं	मूर्च्छनं
तर्पणं	अपतर्पणं (लङ्घनं)	तृषाहरणं	तृष्णाकरणं
बृंहणं	कर्शनं	स्वेदहरणं	स्वेदनं
वातहरणं	लेखनं	दाहप्रशमनं	दहनं
कफवर्धनं	रोपणं		पाचनं
चिरपाकित्वं	वातवर्धनं		
	कफहरणं		
	अचिरपाकित्वं		

स्निग्धगुणकर्म	रूक्षगुणकर्म	मन्दगुणकर्म	तीक्ष्णगुणकर्म
स्नेहनं	रूक्षणं	चिरकारित्वं	दहनं
मार्दवं	काठिन्यं	शमनं	पाचनं
बलं	बलहानिः		स्रावणं
वर्णः	वर्णहानिः		पित्तवर्धनं
वातनाशनं	स्तम्भनं		लेखनं

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १०७-११९।

स्निग्धगुणकर्म
कफवर्धनं
वाजीकरणं
क्लेदनं

रूक्षगुणकर्म
कार्कश्यं
वातवर्धनं
कफहरणं

मृदुगुणकर्म
पाकनाशनं
(अपचनं)
दाहहरणं
स्रावनाशनं
श्लथनं

तीक्ष्णगुणकर्म
कफ-वात-हरणं
शोधनं

स्थिरगुणकर्म
धारणं
(वात-मल-स्तम्भनं)

सरगुणकर्म
अनुलोमनं
(वात-मल-प्रवर्तनं)
प्रेरणं

कठिनगुणकर्म
द्रढनं (दृढीकरणं)

विशदगुणकर्म
क्लेदाचूषणं
रोपणं
अजीवनं
बलहानिः
असंधानं
श्लेष्मनाशनं
लाघवं

पिच्छिलगुणकर्म
जीवनं
बलं
संधानं
गौरवं
कफवर्धनं
लेपनं

श्लक्ष्णगुणकर्म
रोपणं
जीवनं
संधानं
कफवर्धनं

खरगुणकर्म
लेखनं

सूक्ष्मगुणकर्म
सूक्ष्मस्रोतःप्रवेशः
विवरणं

स्थूलगुणकर्म
बृंहणं
संवरणं
स्रोतोवरोधः

सान्द्रकर्म
बृंहणं
बन्धनं
प्रसादनं

द्रवकर्म
प्रक्लेदनं
व्याप्तिः
विलोडनं

रसानां गुण-कर्माणि[1]

मधुरो रसः
जन्मप्रभृतिशरीरसात्म्यात्
,, रसाभिवर्धनः
,, रक्ताभिवर्धनः

अम्लो रसः
अन्नरुचिकरः
अग्निदीपनः
बृंहणः
ऊर्जाकरः

लवणो रसः
पाचनः
क्लेदनः
दीपनः
च्यावनः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३—१७९ ।

मधुरोरसः	अम्लो रसः	लवणो रसः
जन्मप्रभृतिशरीरसात्म्यात्		
,, मांसाभिवर्धनः	मनोबोधनः	छेदनः
,, मेदोऽभिवर्धनः	इन्द्रियदार्ढ्यकरः	भेदनः
,, मज्जाभिवर्धनः	बलवर्धनः	तीक्ष्णः
,, ओजोभिवर्धनः	वातानुलोमनः	सरः
,, शुक्राभिवर्धनः	हृदयतर्पणः	विकासी
आयुष्यः	आस्यस्रावणः	अवस्रंसी
षडिन्द्रियप्रसादनः	भुक्तापकर्षणः	अवकाशकरः
बलकरः	क्लेदनः	वातहरः
वर्णकरः	पाचनः	स्तम्भविश्रमनः
पित्तघ्नः	प्रीणनः	बन्धविश्रमनः
विषघ्नः	लघुः	संघातविश्रमनः
मारुतघ्नः	उष्णः	सर्वरसप्रत्यनीकः
तृष्णाप्रशमनः	स्निग्धः (च.)	आस्यस्रावणः
दाहप्रशमनः	वातनिग्रहणः	कफविष्यन्दनः
त्वच्यः	अनुलोमनः	स्रोतोविशोधनः
केश्यः	कोष्ठविदाही	शरीरावयवमार्दवकरः
कण्ठ्यः	बहिःशीतः	आहाररोचनः
बल्यः	प्रायशो हृद्यः (सु.)	आहारयोगी
प्रीणनः	हृदयबोधनः	किंचिद् गुरुः
जीवनः	तर्पणः	स्निग्धः
तर्पणः	व्यवायी (अ. सं.)	उष्णः (च.)
बृंहणः	कफकरः	संशोधनः
स्थैर्यकरः	पित्तकरः	विश्लेषणः
क्षीणक्षतसन्धानकरः	रक्तप्रकोपकः (अ.हृ.)	शैथिल्यकरः (सु.)
घ्राणप्रह्लादनः	सृष्टमूत्रः	स्नेहनः
ओष्ठप्रह्लादनः	सृष्टपुरीषः (र. वै.)	स्वेदनः
जिह्वाप्रह्लादनः	...	व्यवायी
दाहप्रशमनः	...	कफविष्यन्दनः (अ. सं.)
मूर्च्छाप्रशमनः	...	सृष्टमूत्रः
षट्पदपिपीलिकेष्टः	...	सृष्टपुरीषः (र. वै.)

मधुरो रसः

|

स्निग्धः
शीतः
गुरुः (च.)
चक्षुष्यः
संधानः
बालहितः
वृद्धहितः
क्षतक्षीणहितः
कृमिकरः
कफकरः (सु.)
स्तन्यकरः
मृदुः (अ. सं.)
सृष्टमूत्रः
सृष्टपुरीषः (र. वै.)

कटुको रसः	तिक्तो रसः	कषायो रसः
मुखविशोधनः	अरोचिष्णुः	संशमनः
अग्निदीपनः	अरोचकहरः	संग्राही
भुक्तशोषणः	विषघ्नः	संधानकरः
नासास्रावणः	कृमिघ्नः	पीडनः (व्रणस्य)
नेत्रविरेचनः	मूर्च्छाप्रशमनः	रोपणः
इन्द्रियपाटवकरः	दाहप्रशमनः	शोषणः
अलसकविनाशनः	कुष्ठप्रशमनः	स्तम्भनः
श्वयथुविनाशनः	तृष्णाप्रशमनः	श्लेष्मप्रशमनः
उपचयहरः	त्वक्स्थिरीकरः	रक्तप्रशमनः
उदर्दहरः	मांसस्थैर्यकरः	पित्तप्रशमनः
अभिष्यन्दहरः	ज्वरघ्नः	क्लेदशोषणः
स्नेहहरः	दीपनः	रूक्षः
क्लेदहरः	पाचनः	शीतः
मलहरः	स्तन्यशोधनः	लघुः (च.)
अन्नरुचिकरः	लेखनः	लेखनः (सु.)
कण्डूहरः	क्लेदोपशोषणः	बद्धपुरीषः

कटुको रसः	तिक्तो रसः	कषायो रसः
व्रणावसादनः	मेदस उपशोषणः	त्वक्सवर्णकरः
कृमिहरः	मज्जोपशोषणः	प्रीणनः (अ. सं.)
मांसविलेखनः	लसिकोपशोषणः	मेदोविशोषणः
बन्धच्छेदनः	पूयोपशोषणः	आमस्तम्भनः (अ.हृ.)
स्रोतोविवरणः	स्वेदोपशोषणः	बद्धमूत्रः (र. वै.)
श्लेष्मशमनः	मूत्रोपशोषणः	
लघुः	पुरीषोपशोषणः	
उष्णः	पित्तोपशोषणः	
रूक्षः (च.)	श्लेष्मोपशोषणः	
पाचनः	रूक्षः	
शोधनः	शीतः	
स्थौल्यहरः	लघुः (च.)	
आलस्यहरः	छेदनः	
स्वेदहरः	शोधनः	
कफहरः	कण्ठविशोधनः (सु.)	
विषहरः	मेध्यः (अ. सं.)	
कुष्ठहरः	बद्धमूत्रः	
स्तन्योपहन्ता	बद्धपुरीषः (र. वै.)	
मेदोपहरः		
शुक्रहरः (सु.)		
शोणितसंघातभेदनः		
तीक्ष्णः (अ. सं.)		
मलापहरः (अ. हृ.)		
बद्धमूत्रः		
बद्धपुरीषः (र. वै.)		

भक्ष्यमाणानां षण्णां रसानां लक्षणानि[1]

मधुररसलक्षणम्	अम्लरसलक्षणम्	लवणरसलक्षणम्
स्नेहनम्	दन्तहर्षः	मुखे विलयनम्
प्रीणनम्	मुखास्रावः	क्लेदनम्
आह्लादः	स्वेदनम्	विष्यन्दनम्

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १५७-१६१।

मधुररसलक्षणम्	अम्लरसलक्षणम्	लवणरसलक्षणम्
मार्दवम्	मुखबोधनम्	मार्दवम्
मुखव्यापनम्	मुख-कण्ठविदाहः (च.)	मुखविदाहः (च.)
मुखबोधनम्	अन्नभक्षणेऽभिरुचिः (सु.)	अन्नभक्षणे रुचिः
मुखोपलेपः (च.)	जिह्वोद्वेजनम्	कफप्रसेकः (सु.)
परितोषः	अक्षिभ्रुसंकोचः	कण्ठ-कपोल-विदाहः (अ. सं.)
तर्पणम्	रोमहर्षः (अ. सं.)	कण्ठ-गलदाहः (अ. हृ.)
जीवनम्		
श्लेष्माभिवृद्धिः (सु.)		
षट्पदपिपीलिकाप्रियत्वम् (अ. सं.)		
इन्द्रियप्रसादनम् (अ. हृ.)		

कटुरसलक्षणम्	तिक्तरसलक्षणम्	कषायरसलक्षणम्
रसनासंवेजनम्	रसनेन्द्रियप्रतिघातः	जिह्वावैशद्यम्
जिह्वातोदः	अस्वदनम्-अस्वादुता	जिह्वास्तम्भः
विदाहः	मुखवैशद्यम्	जिह्वाजाड्यम्
मुखसंस्रावः	मुखशोषः	कण्ठविबन्धः (च.)
नासासंस्रावः	प्रह्लादः (च.)	मुखशोषः
अक्षिसंस्रावः (च.)	गलचोषः	हृदयकर्षणम्
जिह्वाप्रपीडनम्	अन्नभक्षणे रुचिः	हृदयपीडनम् (सु.)
उद्वेगः	हर्षः (सु.)	स्रोतोविबन्धः (अ. हृ.)
शिरोग्रहः (सु.)	कण्ठविशोधनम् (अ. सं.)	
कण्ठ-कपोलयोश्चिमिचिमायनम् (अ. सं.)		
कपोलदाहः (अ. हृ.)		

रसानामतिसेवने दोषाः[1]

मधुररसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः	अम्लरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः	लवणरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः
स्थौल्यम्	दन्तहर्षः	पित्तप्रकोपः
मार्दवम्	तर्षः (तृष्णारोगः)	रक्तप्रकोपः
आलस्यम्	नेत्रसंमीलनम्	तृषा
अतिस्वप्नम्	रोमसंवेजनम् (रोमहर्षः)	मूर्च्छा
गौरवम्	कफविलयनम्	तापः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३-१७९ ।

मधुररसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः	अम्लरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः	लवणरसस्यातिसेवने जायमाना विकाराः
अनन्नाभिलाषः	पित्ताभिवृद्धिः	दारणम्
अग्निदौर्बल्यम्	रक्तदुष्टिः	मांसकोथः
आस्य-कण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिः	मांसविदाहः	कुष्ठप्रगलनम्
श्वासः	देहशैथिल्यम्	विषवर्धनम्
कासः	क्षीण-क्षत-कृश-	मांसस्फुटनम्
प्रतिश्यायः	दुर्बलानां श्वयथुजननम्	दन्तच्यवनम्
अलसकः	क्षत-अभिहत-दष्ट-दग्ध-भग्न-	पुंस्त्वोपघातः
शीतज्वरः	शून-प्रच्युत-अवमूत्रित-	इन्द्रियोपरोधः
आस्यमाधुर्यम्	परिसर्पित-मर्दित-च्छिन्न-	वलयः
वमनम्	भिन्न-विश्लिष्ट-विद्ध-उत्पि-	पलितम्
संज्ञाप्रणाशः	ष्टादिषु पूयजननम्	खालित्यम्
स्वरप्रणाशः	कण्ठोरोहृदयेषु दाहः (च.)	रक्तपित्तम्
गलगण्डः	कण्डूः	अम्लपित्तम्
गण्डमाला	पाण्डुता	विसर्पः
श्लीपदः	दृग्विघातः	वातरक्तम्
गलशोथः	क्षत-विहतविसर्पः	विचर्चिका
बस्त्युपलेपः	रक्तपित्तम्	इन्द्रलुप्तम् (च.)
गलोपलेपः	भ्रमः (अ. सं.)	कण्डूः
अक्ष्यामयाः	तिमिरम्	कोठः
अभिष्यन्दः (च.)	विस्फोटः	शोफः
कृमयः	ज्वरः (अ. हृ.)	वैवर्ण्यम्
अर्बुदम् (सु.)		इन्द्रियोपतापः
प्रमेहः		मुखपाकः
नेत्रार्बुदम्		अक्षिपाकः
गलार्बुदम्		वातरक्तम्
उदर्दः		अम्लोद्गारः (सु.)
शिरःशूलम्		किटिभः
उदरम् (अ. सं.)		आक्षेपः
सन्न्यासः (अ. हृ.)		क्षतवृद्धिः
		विषवृद्धिः
		मदवृद्धिः

लवणरसस्यातिसेवने
जायमाना विकाराः

बलक्षयः
ओजःक्षयः (अ. सं.)
कुष्ठानि (अ. हृ.)

कटुरसस्यातिसेवने
जायमाना विकाराः

पुंस्त्वोपघातः
मोहः
ग्लानिः
सादः
कृशता
मूर्च्छा
नमनम्
तमः
भ्रमः
कण्ठदाहः
शरीरोपतापः
बलक्षयः
तृषा
भ्रमः
दवथुः - दाहः
कम्पः
तोदः
भेदः
चरण-भुज-पार्श्व-पृष्ठ-
प्रभृतिषु वातरोगाः (च.)
मदः
गल-ताल्वोष्ठशोषः
सन्तापः (सु.)
वमनम्
शुक्रक्षयः

तिक्तरसस्यातिसेवने
जायमाना विकाराः

रसादिसप्तधातुशोषणम्
बलक्षयः
कृशता
ग्लानिः
मोहः-मूर्च्छा
भ्रमः
मुखशोषः
वातविकाराः (च.)
गात्रस्तम्भः
मन्यास्तम्भः
आक्षेपकः
शिरःशूलम्
तोदः
भेदः
छेदः
आस्यवैरस्यम् (सु.)

कषायरसस्यातिसेवने
जायमाना विकाराः

मुखशोषः
हृदयपीडा
उदराध्मानम्
वाक्संगः
स्त्रोतोबिबन्धः
श्याववर्णता
पुंस्त्वोपघातः
विष्टम्भः
वात-मूत्र-पुरीषा-
णामवरोधः
कृशता
ग्लानिः
तृषा
स्तम्भः
पक्षवध-ग्रह-अपतानक
प्रभृतयो वातोगाः (च.)
मन्यास्तम्भः
गात्रस्फुरणम्
चुमचुमायनम्
आकुञ्चनम्
आक्षेपः (सु.)

कटुरसस्यातिसेवने
जायमाना विकाराः
|
गलोपशोषः
संकोचः (अ. सं.)
आकुञ्चनम्
कटिवेदना (अ. हृ.)

रसानां गुणतारतम्यम्[1]

शीता (सौम्या) रसाः	उष्णा (आग्नेया) रसाः	गुरवो रसाः
मधुरः (उत्तमः)	कटुः (अवरः)	मधुरः (उत्तमः)
तिक्तः (अवरः)	अम्लः (मध्यमः)	लवणः (अवरः)
कषायः (मध्यमः)	लवणः (उत्तमः)	कषायः (मध्यमः) (च.)
		अम्लः (सु.)

लघवो रसाः	रूक्षा रसाः	स्निग्धा रसाः
अम्लः (अवरः)	कषायः (उत्तमः)	मधुरः (उत्तमः)
कटुः (मध्यमः)	कटुः (मध्यमः)	अम्लः (मध्यमः)
तिक्तः (उत्तमः) (च.)	तिक्तः (अवरः)	लवणः (अवरः)
कषायः, (सु.)		

रससहचरा वीर्यसंज्ञका गुणाः[2]

मधुरः	अम्लः	लवणः	कटुः	तिक्तः	कषायः
स्निग्धः	लघुः	किञ्चिद्गुरुः	लघुः	रूक्षः	रूक्षः
शीतः	उष्णः	स्निग्धः	उष्णः	शीतः	शीतः
गुरुः	स्निग्धः	उष्णः	रूक्षः	लघुः	गुरुः
मृदुः		तीक्ष्णः	तीक्ष्णः		

दोषहरा रसाः[3]

वातहरा रसाः	पित्तहरा रसाः	कफहरा रसाः
मधुरः	कषायः	कषायः
अम्लः	मधुरः	कटुः
लवणः	तिक्तः	तिक्तः

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९१–१९२ ।
२—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १६३–१७९ ।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९३–२०० ।

रसानां विपाकाः[२]

चरकमतेन विपाककर्माणि[३]

सुश्रुतमतेन विपाककर्माणि[४]

वीर्यकर्माणि[५]

उष्णवीर्यकर्म	शीतवीर्यकर्म	स्निग्धवीर्यकर्म	रूक्षवीर्यकर्म
दहनं	प्रह्लादनं	स्नेहनं	वातवर्धनं
पचनं	विष्यन्दनं	बृंहणं	संग्रहणं

१—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० १९३-२०० ।
२—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २३३-२४३ ।
३—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २५८-२६१ ।
४—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २६० ।
५—अस्मिन्नेव ग्रन्थे पृ० २८१-२८५ ।

उष्णवीर्यकर्म	शीतवीर्यकर्म	स्निग्धवीर्यकम	रूक्षवीर्यकर्म
मूर्च्छनं	स्थिरीकरणं	संतर्पणं	पीडन
स्वेदनं	प्रसादनं	वाजीकरणं	विरूक्षणं
वमनं	क्लेदनं	वयःस्थापनं	रोपणं
विरेचनं	जीवनं		
विलयनं	स्तम्भनं		
वात-कफ-नाशनं	रक्त-पित्त-प्रसादनं		
पित्तवर्धनं	वात-कफ-वर्धनं		
लाघवं	गौरवं		
शुक्रनाशनं	बलवर्धनं		
भ्रमः			
तृषा			
ग्लपनं			
स्वेदनं			

विशदवीर्यकर्म	पिच्छिलवीर्यकर्म	मृदुवीर्यकर्म	तीक्ष्णवीर्यकर्म
क्लेदाचूषणं	उपलेपनं	रक्त-मांस-प्रसादनं	आचूषणं
विरूक्षणं	पूरणं	सुस्पर्शनं	अवदारणं
उपरोहणं	बृंहणं		स्रावणं
	संश्लेषणं		
	वाजीकरणं		

परिशिष्ट २

आयुर्वेदिक तथा आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानपर तुलनात्मक विचार

लेखक

स्व० वा० डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक एम० बी० बी० एस०

आज, जब कि आयुर्वेदके उपासकोंपर विपक्षियोंकी ओरसे यह आक्षेप करनेमें आता है कि—आयुर्वेदमें द्रव्योंका उपयोग उनके शास्त्रीय ज्ञानके बिना ही किया जाता है, 'द्रव्यगुणविज्ञानम्' जैसे ग्रन्थका प्रकाशन स्वागतार्ह है। बहुत थोड़े मनुष्य यह जानते हैं कि आयुर्वेदाचार्योंने भी द्रव्योंके गुण-दोषोंके सम्बन्धमें अनेक विचार किये हैं, इतना ही नहीं किन्तु इन विचारोंको उन्होंने एक सिद्धान्त (Theory) द्वारा एकसूत्रमें आबद्ध भी कर लिया है, तथा जैसे आयुर्वेदका रोगविज्ञान त्रिदोषवादपर आश्रित है वैसे ही उसका चिकित्साविज्ञान (Therapeutics) भी द्रव्यगुणविज्ञानपर आश्रित है।

इस पूर्वार्धमें किया गया निरूपण लोकभोग्य नहीं, किन्तु विद्वद्भोग्य है; कारण, एक साधारण चिकित्सकको द्रव्योंके गुण-दोषोंकी जानकारीसे ही सन्तोष हो जाता है। उसे यह जाननेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती कि यह जानकारी किन प्रमाणोंपर अवलम्बित है।

जो लोग आयुर्वेदको जादू-टोनेकी नवीन आवृत्ति मानते हैं अथवा जिनका यह पूर्वग्रह (prejudice) है कि इस देशके वैद्यकीय वाङ्मयमें वैज्ञानिक विचारोंका अभाव है, उन्हें तो मुझे कुछ कहना ही नहीं है। परन्तु जो अवलोकनके आधारपर[१] सत्यासत्यकी परीक्षा किया चाहते हैं, उनके लिये इस ग्रन्थमें संगृहीत जानकारी अमूल्य है। आयुर्वेदके उपासकोंको इस ग्रन्थमें, मधुमक्षिकाओं द्वारा विभिन्न पुष्पोंमेंसे सुगन्धित द्रव्य संचित करके बनाये हुए मधुके सदृश, आयुर्वेदिक वाङ्मयके विभिन्न ग्रन्थोंमेंसे एकत्र करके संकलित की गयी सरस सामग्री उपलब्ध होगी, ऐसा मेरा मत है।

जैसे वर्तमान वैद्यकीय ज्ञानका पदार्थविज्ञान (Physics), रसायनशास्त्र (Chemistry), जीवविद्या (Biology), मानसशास्त्र (Psycholgy) आदि विज्ञानकी शाखाओंके साथ गाढ़ सम्बन्ध है, उसी प्रकार आयुर्वेदका उस कालके

१—Therefore, medical science should always be ready to investigate claims that can be confirmed or disproved by observation irrespective of the question as to the possibility of the truth of the theory which led to their discovery. Applied Pharmacology, by Clark.

दर्शनोंके साथ गाढ़ सम्बन्ध था। सांख्य, वैशेषिक, योग तथा न्यायशास्त्रके साथ आयुर्वेदका सम्बन्ध आयुर्वेदके अभ्यासियोंको सुविदित है[1]।

आयुर्वेदाचार्योंने संयमधन तपस्वियोंके गम्भीर चिन्तनोंके परिणामस्वरूप उत्पन्न दार्शनिक मन्तव्योंको चिकित्साके व्यावहारिक क्षेत्र (Practical field) में नियोजित करके, अपनी वैज्ञानिक दृष्टिका उपयोग किया है। इस ग्रन्थके अध्याय इस बातके साक्षी हैं।

साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन आचार्य अन्य वैद्यकीय शास्त्रोंके प्रति भी उदार दृष्टि रखते थे[2]। जैसे व्यवहारमें संकुचित दृष्टि दैन्यमनोग्रन्थि (Inferiority Complex) का लक्षण है, वैसे ही विज्ञानके क्षेत्रमें संकुचित दृष्टिवाले मनुष्य अपना मानसिक दौर्बल्य प्रकट करते हैं। यह कथन विज्ञानके अन्य क्षेत्रोंकी अपेक्षया वैद्यकीय क्षेत्रमें अधिक सत्य है। कारण, रोगनिवारण (Cure) तथा रोगप्रतिबन्ध (Prevention) के सतत प्रयास होते हुए भी एक भी चिकित्सापद्धतिको इस कार्यमें संपूर्ण सिद्धि नहीं मिली है। यही देखकर तो इस देशमें तथा पश्चिममें साहित्यकारोंने समय-समयपर अपनी प्रतिभाका उपयोग वैद्यों या डाक्टरोंके धन्धेका उपहास करनेमें किया है[3]।

वाचकोंको आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानका यत्किंचित् परिचय कराने तथा पूर्व और पश्चिमकी विचारधाराएँ कहाँ-कहाँ मिलती हैं और कहाँ-कहाँ पृथक् होती हैं यह बतानेके उद्देश्यसे ही यह परिशिष्ट लिखा गया है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसमें प्रकट किये गये विचारोंकी जबावदारी मेरी है। जिनको विशेष जिज्ञासा हो उन्हें तो प्राचीन तथा अर्वाचीन आकर ग्रन्थ ही देखने चाहिए।

१—देखिये—'आयुर्वेद अने दर्शनो' इस नामका दुर्गाशङ्कर केवलराम शास्त्रीका गुजराती निबन्ध, तथा पं० नारायणदत्त त्रिपाठीकृत 'आयुर्वेददर्शन' नामक ग्रन्थ।

२—देखिये—"विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके, तत्र यन्मन्येत······तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्"; तथा—"न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्······परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम्।" आदि उपदेशवचन (चरक० वि० अ० ८)।

३—संस्कृतमें भाण-प्रहसन आदि रूपकोंमें अन्य अधम कक्षाके पात्रोंके साथ एकाध मूढ़ वैद्यको भी खड़ा किया पाया जाता है। अंग्रेजी वाङ्मयमें भी प्रख्यात सिद्धहस्त लेखक बर्नार्ड शॉने Doctor's Dilemma (डॉक्टर्स डाइलेमा) नामके नाटकमें चिकित्साशास्त्रके व्यापारी अर्थात् डाक्टरोंपर कटाक्षरूप शरवर्षा करनेमें कमी नहीं की है।

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञानका इतिहास—

पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञान (Pharmacology) अबतक विचित्र परिस्थितियोंमें से गुजरा है। इसका लोकप्रिय नाम मॅटीरिया मेडिका (Materia Medica) है। आजकल लगभग इसी अर्थमें फार्मकॉलॉजी (Pharmacology) शब्द व्यवहृत होता है। वैज्ञानिक पद्धतिसे जिन द्रव्योंका गुण-धर्म समझमें आवे उन्हींका उपयोग करना यह इस शास्त्रका आग्रह है। प्राचीन ग्रीक तथा रोमन संस्कृतियोंकी इस पर छाया है। हीपोक्रेटिस, गेलन आदि प्राचीन चिकित्सकोंके लेखोंका इस पर प्रभाव है। ये प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सक भारतके कितने अंशमें ऋणी हैं यह बात ऐतिहासिकोंको सुविदित है[1]। सत्रहवीं शताब्दी तकके इतिहासकी परीक्षा की जाय तो तुलनामें, इस देशमें हुई द्रव्यगुणविज्ञानकी प्रगति बहुत संतोषकारक प्रतीत होगी। यूरोपमें लगभग सोलहवीं शताब्दी तक परम्परागत मन्तव्यों किंवा रूढ़ियोंका अनुसरण करने एवं लब्धप्रतिष्ठ वैद्योंका अनुकरण करनेकी परिपाटी प्रचिलत थी। किन्तु अमुक औषध अमुक रोगकी चिकित्सामें क्यों देना चाहिये, वह औषध किस प्रकार कार्य करता है, इस बातका सप्रमाण विचार (Logicalthought) नहीं किया जाता था।

इस स्थितिका मुख्य कारण शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) तथा संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) के ज्ञानका अभाव था। उस कालमें विज्ञानकी इन दोनों शाखाओंका संतोषप्रद विकास नहीं हुआ था। अतः द्रव्यगुणविज्ञान केवल अनुभव तथा शब्दप्रमाण पर आश्रित था। परन्तु, जबतक शरीरके विभिन्न अवयवोंके व्यापार न विदित हों तबतक उनकी विकृतियाँ समझमें नहीं आ सकती, यह बात दीपकके समान स्पष्ट है[2]।

इस विचित्र परिस्थितिके परिणाम भी विचित्र थे। विषमज्वर (Malaria) चिकित्सा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सत्रहवीं शताब्दीमें अमेरिकासे लौटे हुए यात्रियोंने बताया कि सिनकोनाकी छाल (Cinchona bark) मैलेरियाके लिए अमोघ औषध है। उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतसे निवृत्त हुए एक डॉक्टरने कहा कि विषमज्वरके लिए कैलोमेल (Calomel) एक अव्यर्थ औषध है। जानकर वाचकोंको विस्मय होगा कि ई० सन् १८४७ तक कम्पनी सरकारके राज्यमें कलकत्ता की हॉस्पिटलमें विषमज्वरकी चिकित्सामें कैलोमेलका छूटसे उपयोग होता था।

१—देखिये 'काश्यप संहिता' का उपोद्घात पृ० १९१।

२—देखिये चक्रपाणिके मननीय शब्द—'तत्र ग्रहणीरोगनिर्दिष्टाग्नि-दोषे वक्तव्ये प्रकृतिज्ञानानन्तरीयत्वाद् विकृतिज्ञानस्य प्रथमं तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह' (च. चि. अ. १५)।

परिणामकी कल्पना की जा सकती है ! ! अन्ततः क्वीनाइनका आविष्कार हुआ और अनेकोंका विरोध होते हुए भी उसका उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

औषध चिकित्साशास्त्रका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, परन्तु औषध देनेमें ही चिकित्साकी सम्पूर्णता नहीं है। अन्य विषयोंपर भी लक्ष्य करना आवश्यक होता है[1]। शारीरशास्त्र तथा संप्राप्तिविज्ञान (Pathology) के घोर अज्ञानके वातावरणमें ऐसा चिकित्साशास्त्र रचनेके प्रयास शुरू हुए जिसका स्वरूप निश्चित हो तथा जो प्रत्यक्ष, अनुमान, अनुभव तथा युक्तिकी भित्ति पर खड़ा (Rational System of Therapeutics) हो। इसके परिणामस्वरूप १९ वीं सदीमें यूरोपमें जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसका इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है।

अठारहवीं शताब्दीसे आजकल ॲलॉपॅथी (Allopathy) के नामसे प्रसिद्ध चिकित्सापद्धतिका प्रचार बढ़ा। आजकल डाक्टर लोग इस नामसे चिढ़ते हैं। कारण, इसमें जो दोष विद्यमान थे वे प्रकाशमें आ गये हैं। ॲलॉपॅथीका मुख्य ध्येय रोगके लक्षणोंको जैसे बने दबा देना था। जैसे—ज्वर आया तो दो स्वेदल (Diaphoretic) औषध, अतिसार हुआ तो दो ग्राही (Astringent) औषध इत्यादि। और इस ध्येयकी पूर्तिके लिये जोंक, सिरावेध, वमन, विरेचन प्रभृतिका पुष्कल व्यवहार होता था। केवल फ्रांसमें १८२७ ई० में तीन करोड़ बीस लाख जोंकोंका उपयोग हुआ था। प्रवाहिका (Dysentery) तथा विषमज्वरकी चिकित्सामें कॉलोमेलकी बीस ग्रेन जितनी बड़ी मात्रा दी जाती थी। फल यह होता था कि प्रायः केसोंमें रोगी सर्वथा अशक्त और निःसंज्ञ होकर परम-धामको सिधार जाता था। आज भी डॉक्टरोंमें कितने ही इस परंपराको चालू रखे हुए हैं।

इस लक्षणप्रत्यनीक चिकित्सापद्धति (Symptomatic treatment) के सामने हॉमियोपॅथीने सिर उठाया। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही हेनसेन (Hahnemann) ने प्रतिपादन किया कि औषधोंकी परीक्षा प्रथम स्वस्थ पुरुषों पर होनी चाहिए और पीछे उनका प्रयोग रोगियों पर होना चाहिए। यह विचार उत्तम था और है। परन्तु उसने दो अन्य सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये जो विवादास्पद हैं—(१) स्वस्थ पुरुषको अमुक औषध देनेसे जो चिह्न दृष्टिगोचर हों उन्ही चिह्नोंवाला रोग उस औषधके देनेसे मिट जाता है[2]। (२) औषधको क्रमशः घोटते-घोटते उसकी मात्राका प्रमाण अल्पतर वा अल्पतम बनानेसे उसकी

१—देखिये भगवान् चरकके शब्द—'इह खलु व्याधीनां × × × अनन्तरं दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसां मानम्' (च. वि. अ. १)।

२—Like cures like.

रोगनिवारणशक्ति क्रमशः अधिकतर वा अधिकतम हो जाती है[१]। ये दोनों सिद्धान्त ऍलॉपॅथीके सिद्धान्तसे भिन्न हैं और इतने अंशमें हॉमियोपॅथीका द्रव्यगुण-विज्ञान भिन्न मार्गका अनुसरण करता है। जब हॉमियोपॅथीकी दवाओंसे भी रोगी अच्छे होने लगे तब लोगोंको ख्याल आया कि द्रव्यगुणविज्ञानके सिद्धान्तोंमें भी मतभेदको स्थान है एवं ऍलॉपॅथीमें भी कुछ दोष हैं। अस्तु।

हॉमियोपॅथीके उपासकोंने औषधद्रव्योंकी इतनी अल्पतम मात्रा देनी शुरू की कि साधारण मनुष्योंको वह हास्यास्पद लगने लगी। परन्तु उस कालमें हॉमियोपॅथी ऍलॉपॅथीकी अपेक्षा कम हानि करती थी। कारण, अत्यन्त अल्प मात्रामें औषध देकर हॉमियोपॅथी शरीरकी स्वाभाविक संरक्षणशक्तिको रोगका सामना करनेका अवसर देती थी। उधर उस कालकी ऍलॉपॅथिक पद्धति रोगके लक्षणोंको एकदम दबानेका प्रयास करके, रोग रोगीको मारे उसके पूर्व ही उसे यमसदनको पहुँचा देती थी!

तथापि, आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र (Modern Therapeutics) उपर्युक्त दोनों चिकित्सापद्धतियोंका ऋणी है। ऍलॉपॅथीमें व्यवहृत होनेवाले कितनेक द्रव्य आज व्यवहारमें आते हैं, जब कि हॉमियोपॅथीद्वारा इसे शरीरकी अद्भुत संरक्षणशक्तिका ज्ञान हुआ है। रोगका आक्रमण होनेके पश्चात् शरीर स्वतः स्वाभाविक रीतिसे रोगमुक्त होनेका यत्न करता है, अतः उसे इस प्रयासमें जितनी सहायता दी जा सके, उतनी ही चिकित्साशास्त्रकी सफलता है[२]।

हॉमियोपॅथीके युगमें साथमें जीवनरसायनशास्त्र (Biochemistry) का भी प्रादुर्भाव हुआ। शरीरमें अमुक-अमुक द्रव्योंकी कमीके कारण रोग होते हैं और ये द्रव्य प्रदान करनेसे रोग निर्मूल हो जाता है, इस मतपर यह आश्रित है। इसका औषधसंग्रह स्वल्प है। सहस्रों व्याधियोंका बहुत थोड़े द्रव्योंकी सहायतासे प्रतीकार करनेकी यह चेष्टा कर रहा है। यह ऍलॉपॅथीकी अपेक्षा हॉमियॉपॅथीके अधिक निकट है।

इसके अनन्तर जानो औषधोंसे उद्विग्न रोगियोंको आश्वासन देनेको अस्थ्युप-चारशास्त्र (Osteopathy) का आगमन हुआ। अस्थियोंके स्थानभ्रंश (Dislocation) किंवा आघातके कारण रोग उत्पन्न होते हैं और अस्थियोंका

१—The actions of drugs are potentiated by dilution.

२—यह स्थापना ऍलॉपॅथीसे स्पष्टतः विपरीत है। लक्षणोंको दबानेसे रोग नष्ट नहीं होता। उसका कारण दूर करनेसे ही रोगका नाश होता है। रोगको नष्ट करनेके लिये सम्पूर्ण शरीर यत्न करता है, यह इसका स्वभाव है।

उपचार करनेसे शान्त हो जाते हैं, यह माननेवाले चिकित्सकोंका भी एक पंथ खड़ा हुआ, जो आज भी विलायतमें खानगी रूपमें अपना धंधा चला रहा है।

इसके बाद इन सब पद्धतियोंको एक ओर रखकर केवल प्राकृतिक उपायोंका अवलम्बन करनेवाली निसर्गोपचारपद्धति (Naturopathy) का जन्म हुआ। प्रकृतिके नियमोंका पालन करनेसे—सादा आहार अथवा उसमें योग्य परिवर्तन, लङ्घन, बस्ति, संवाहन, सूर्यस्नान आदि प्राकृतिक उपायोंसे ही रोग मिट जाते हैं, तथा चिकित्सापद्धतिमें औषधको स्थान नहीं है, यह इस शास्त्रका मन्तव्य है।

परन्तु ये सब पद्धतियाँ शारीरिक उपचारोंकी ओर ध्यान देती थीं। इन सबसे विरुद्धगामिनी एक नवीन चिकित्सापद्धति अस्तित्वमें आई, जिसे मानसोपचारपद्धति (Psychotherapy) कहा जाता है। कितनेक मानसिक रोगोंसे पीडित रोगियोंके लिये यह पद्धति वररूप सिद्ध हुई। आज वह अनेक रोगोंके शान्त करनेका दावा कर रही है। अल्पकालमें इसके तुल्यरूप एक अन्य उपचारपद्धतिका भी आविष्कार हुआ, जिसे प्रार्थनोपचारपद्धति (Christian Science Faith healing) कहते हैं। रोगोंको मिटानेके लिये मनको दृढ़ बनाना, आस्थासहित ईश्वरप्रार्थना करना, ईश्वरपर श्रद्धा रखना, इत्यादि इसके उपदेश हैं। यह पद्धति भी अभी चालू है।

यहाँ समस्त चिकित्साशास्त्रोंकी नामावली नहीं दी है, किन्तु मनुष्य जातिने अपनेको रोगके आक्रमणसे बचानेके लिये कैसे-कैसे उद्यम किये हैं इसका संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र कराया है। किसीको भी चढ़ानेका या किसीको उतारनेका मेरा इरादा नहीं है। कारण, सत्य एक है, परन्तु सत्यके रूप अनेक हैं; जैसे विराट पुरुष एक होते हुए भी उसके हजार सिर, हजार आँख और हजार पैर हैं[1]।

चिकित्साके प्रदेशमें इस प्रकार नाना मत होनेसे सब कोई परस्परके दोष देखने तथा एक पक्ष लेकर विवाद करनेमें मग्न हैं। परन्तु इस प्रकारके विवादके परिणामस्वरूपमें कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं होता, न सत्यकी ही उपलब्धि होती है। विवादप्रिय जनोंको मैं भगवान् पुनर्वसुके शब्द[2] तथा आजसे

१—देखिये पुरुषसूक्त, "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" इत्यादि।

२—"तथर्षीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः।
मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ॥
मुक्त्वैवं वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम्।
नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते॥" (च. सू. अ. २६)।

हजारों वर्ष पूर्व उच्चरित ईशोपनिषद्के पवित्र शब्दोंकी[1] याद दिलाता हूँ।

बीसवीं सदीके प्रारम्भसे एक नवीन चिकित्सापद्धतिका आविर्भाव हुआ जो अपनेको वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति कहलाती है। सामान्य जन तो इसे ॲलॉपॅथीका नवीन संस्करण ही समझते हैं, यद्यपि इस नवीन चिकित्सापद्धतिने उन्नीसवी शतीकी ॲलॉपॅथीके कितने ही मन्तव्योंको तिलांजलि दे दी है। आजकल इस पद्धतिका प्रचार सबसे अधिक है।

विभिन्न चिकित्साशास्त्रोंके विवादके परिणामस्वरूप जो अनवस्था उत्पन्न हुई है उससे उद्धार पनेके लिए वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिने नवीन मार्ग स्वीकार किया है और वह है प्रत्येक औषधके गुण-धर्म दीर्घ अवलोकन तथा प्रयोग करनेके पश्चात् निर्णय करनेका। चिकित्साके अन्य अङ्गोंमें भी यह पद्धति अन्य चिकित्सापद्धतियों की ऋणी है। स्वस्थ तथा रुग्ण प्राणियों एवं पुरुषोंपर परीक्षण करनेके पश्चात् ही औषधको चिकित्सार्थ स्वीकार करना—इस नियमका इसने दृढ़तापूर्वक पालन करना शुरू किया है। वाचकोंको यह न समझना चाहिए कि यह मार्ग सुगम है। कारण, प्राणियोंपर किये हुए परीक्षण सदा ही मार्गदर्शक सिद्ध नहीं होते। प्रत्येक प्राणीमें रोगका प्रतीकार करनेकी शक्ति भिन्न-भिन्न प्रमाणमें होती है, एवं एक ही औषधद्रव्यकी क्रिया भिन्न-भिन्न प्राणियोंपर भिन्न-भिन्न होती है। इस कारण प्राणियोंपर किये हुए प्रयोगोंके परिणाम अक्षरशः मनुष्योंपर घटित नहीं हो सकते यह मर्यादा स्वीकारनी पड़ी है। यही स्थिति मनुष्योंपर किये गये परीक्षकोंकी भी जाननी चाहिए। परन्तु सब मिलकर इस प्रयोगात्मक पद्धतिने अबतक हानिकी अपेक्षा लाभ ही अधिक प्रमाणमें किया है।

यह चिकित्सापद्धति अस्तित्वमें आनेके अन्य भी कई ऐतिहासिक कारण हैं। गत सौ वर्षोंमें विज्ञानकी प्रगति अति वेगवती हो गयी है। इसकी विभिन्न शाखाओंने इतने अधिक नवीन मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं कि अबसे पूर्वकी चिकित्सा-पद्धतियोंद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके चौखटेमें इनका समावेश नहीं हो सका। परिणामतया इस पद्धतिका जन्म हुआ। यह किसी एक प्रजा या देशकी नहीं है। यह संसारके विभिन्न देशोंमें कार्य करनेवाले विज्ञानके विविध क्षेत्रोंमें संचरण करने वाले शोधकोंके सामान्य विचार प्रस्तुत करती है। यह बात साधारण वाचककी समझमें न आयगी, इस कारण इस दृष्टिबिन्दुकी व्याख्या करनेवाली कुछ बातोंका उल्लेख करता हूँ। आशा रखता हूँ कि भगवान् पुनर्वसुके शब्द ध्यानमें रखते हुए वाचक निष्पक्ष होकर अनुमान कर लेंगे।

१—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" (ई. उ. १६)।

(१) शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) ने बतलाया कि मनुष्य शरीरमें, सामान्य दशामें, दो प्रकारकी सत्ता चल रही है। मस्तिष्क तथा ज्ञानतन्तुओंके हाथमें (Nervous Control) जितनी सत्ता है उतनी ही सत्ता शरीरमें संचार करते तथा प्रतिदिन तैयार होते रासायनिक पदार्थों (Chemical Control) के हाथमें है। इनमें भी कतिपय नलिकाहीन ग्रन्थियों (Ductless Glands) द्वारा निर्मित अन्तःस्रावोंके नामसे प्रसिद्ध (Hormones) द्रव्य विशेष करके उल्लेखनीय हैं। इन पदार्थोंकी क्रिया केवल शारीरिक व्यापारोंपर नहीं किंतु मानसिक व्यापारोंपर भी होती है। अन्य शब्दोंमें कहें तो शरीरमें नाडीतन्त्र (Nervous System) के साथ रहकर कार्य करता हुआ एक अन्य भी रासायनिक तन्त्र विद्यमान है, जो उसके व्यापारोंके नियमनमें भाग लेता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने वातादि दोषोंका मन किंवा मानसिक व्यापारोंके साथ सम्बन्ध प्रतिपादित किया है, यह बात तुलनात्मक दृष्टिसे महत्त्वकी है[१]।

(२) विकृतिविज्ञान अथवा संप्राप्तिशास्त्र (Pathology) की देन इससे भी अधिक महत्त्वकी है। गत शताब्दीमें आशुमृतकपरीक्षा (Postmortem examination) द्वारा रोगोंके कारण शरीरमें उत्पन्न हुए परिवर्तनोंका अवलोकन किया जाता था। परन्तु पीछेसे विदित हुआ कि मृत्यु होते ही शरीरके प्रत्येक कोष (Cell) में इतने अधिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाते हैं कि यह निर्णय करना दुष्कर होता है कि रोगजन्य परिवर्तन कौनसे हैं तथा मृत्युजन्य परिवर्तन कौनसे हैं? अतः जीवित शरीरमें होनेवाले विकृतिजन्य विकारोंका अवलोकन करना अधिक लाभप्रद है। इस उद्देश्यसे नवीन यन्त्रों और नवीन पद्धतियोंका अन्वेषण होने लगा। इस शास्त्रकी एक शाखाके रूपमें जन्तुशास्त्र (Bacteriology) भी खूब पल्लवित हुआ। इसकी गवेषणाओंसे सिद्ध हुआ कि इन जन्तुओंमेंसे कितनेक-

---

१—नाड़ीतन्त्रके व्यापारोंमें प्राचीनोक्त वायुका समावेश होता है, जब कि रासायनिक तन्त्रके व्यापारोंमें प्राचीनोंके पित्त और कफका समावेश होता है। शरीरके प्रत्येक कोषमें इन दोनों तन्त्रोंकी क्रियाएँ दृष्टिगत होती हैं। प्राचीनोंकी परिभाषामें, प्रत्येक कोषमें याने प्रत्येक अतीन्द्रिय और अति सूक्ष्म शरीरावयवमें वात, पित्त तथा कफकी क्रियाएँ दीख पड़ती हैं (देखिये—"शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च" (च. शा. अ. ७)। वायुके व्यापार याने ज्ञानतन्तुओंके व्यापार, तथा पित्त और कफके व्यापार अर्थात् कोषोंमें प्रवर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन—इन दोनों तन्त्रोंमें नाड़ीतन्त्रका अधिक महत्त्व माना जाता है। प्राचीन आचार्य भी यही मानते होंगे—यह 'पित्तं पंगुः कफः पंगुः' इस प्रसिद्ध पद्यसे विदित होता है।

की प्रवृत्तियोंके परिणामरूप मनुष्यों, प्राणियों एवं वनस्पतियोंमें व्याधियाँ उत्पन्न होतीं हैं। तथा, इन रोगोत्पादक जन्तुओंसे शरीरका रक्षण किया जाय, तो इनसे उत्पन्न होनेवाले व्याधियोंके आक्रमणसे बचा जा सकता है। इन विचारोंके फलस्वरूप अनेक निज समझे जानेवाले रोग आगन्तुक समझे जाने लगे। क्षय, विषमज्वर, विसूचिका, श्लीपद, स्नायुक, महाकुष्ठ आदि इसके उदाहरण हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंको इस दिशाकी झाँकी हुई थी, परन्तु सम्प्रति जैसे स्पष्ट विचार प्रचरित हैं वैसे उस कालमें न थे। जन्तुशास्त्रकी गवेषणाएँ कायचिकित्सकोंसे अधिक शल्यविदों (Surgeons) को उपयोगी हुई हैं। कारण, जन्तुओंकी छूतके कारण होनेवाले उत्पात शान्त हो गये तथा व्रणशोथ, विसर्प, विद्रधि (Abscess), अश्मरी और अन्त्रवृद्धिका भय दूर हो गया। प्लेग, कॉलेरा, चेचक सरीखे छुतहे (संक्रामक) रोगोंका आतङ्क भी अब कम होता जाता है। इन गवेषणाओंका प्रभाव चिकित्साशास्त्र पर भी हुआ है। कण्ठरोहिणी (Diphtheria), धनुर्वात (Tetanus) आदि रोगोंकी चिकित्सामें विषनाशक किंवा जन्तुनाशक रक्तजलों (Antitoxic or Antibacterial Sera) का पुष्कल उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार जन्तुओंमेंसे बनाई गयी लसीकाओं (Vaccines) का भी उपयोग होता है। इस चिकित्साके अनेक मूलभूत सिद्धान्तोंमें कई दोष भी जाननेमें आये हैं। जन्तुशास्त्रकी शोधोंके कारण उत्साहाविष्ट लोगोंने रोगोत्पादनमें जन्तुओंको उचितसे अधिक महत्त्व दे दिया और इनका संहार करनेसे ही संपूर्ण संक्रामक रोग निर्मूल हो जायँगे यह मान लिया। इसके पीछे विदित हुआ कि चेतन शरीरमें रोगोंका प्रतीकार करनेकी शक्ति (Immunity) स्वभावसे ही रहती है और यदि यह शक्ति टिकाये रखनेका प्रयत्न किया जाय, तो जन्तुओंसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। बीज और क्षेत्रमें किसकी देखभाल अधिक करनी चाहिए—यह पुरातन प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् एक बार पुनः मानने लगा है कि क्षेत्रकी देखभाल अधिक महत्त्वकी है[1]।

जन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे, उनके संपूर्ण जीवनव्यापार सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) की सहायतासे भी नहीं देखे जा सकते। परन्तु अब यह त्रुटि भी दूर हो गयी है। हालहीमें आविष्कृत वैद्युत सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Electron Microscope) की सहायतासे अब यह सूक्ष्मतम वस्तु भी दर्शनसुलभ हो गयी है। कारण, यह यन्त्र सूक्ष्म वस्तुको एक लाखगुणी बड़ी करके दिखाता है। इस यन्त्र द्वारा जन्तुओंके विष (Toxin) तथा उसके प्रतिविष (Antitoxin) के मध्य शरीरमें होनेवाले व्यापार प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। आशय यह कि पहलेके

१—देखिये, Olser's Principles And Practice of Medicine, P. 190.

अनुमानगोचर व्यापार अब प्रत्यक्षगोचर किये जा सकते हैं, एवं इतने अंशमें चिकित्साशास्त्रकी नीव अधिक दृढ़ हो गयी है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने शरीरकी—क्षेत्रको—अधिक महत्त्व देकर जन्तुओंको गौण स्थान दिया था—इस मतका जो कि आज समर्थन होता है, परन्तु जान्तव सृष्टिकी विस्तृत जानकारी आधुनिक वाङ्मय अतिविशाल प्रमाणमें प्रस्तुत करता है। उनका एक अन्य सिद्धान्त भी आज स्वीकृत हुआ है और वह है रोग और मनुष्यकी प्रकृतिके बीचका सम्बन्ध। प्रत्येक मनुष्यकी प्रकृति समान नहीं होती। अमुक प्रकृतिवालेको अमुक रोग होनेकी संभावना विशेषतः होती है। यह नियम शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारके रोगोंकी उत्पत्तिपर समान रूपसे लागू होता है। रोगका आक्रमण होनेपर शरीरका एक भाग नहीं किन्तु समग्र शरीर रुग्ण होता है और इस रोगके सामने सारा शरीर युद्ध करता है। अतएव चिकित्साविधिमें मनुष्यके केवल विकृत या विकृत होते हुए शारीरिक भागकी नहीं परन्तु एक व्यक्ति (Personality) की चिकित्सा करना उचित होता है। व्यक्तिसे पुरुषकी शारीरिक तथा मानसिक उभयविध बल-संपत्तिका ग्रहण है। आयुर्वेदका प्रत्येक अभ्यासी इन सिद्धान्तोंमें प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंकी ही पुनःस्थापना समझे तो कोई विस्मयकी बात नहीं[1]।

(६) रसायनविद्याने चेतन शरीरके प्रत्येक पदार्थका रासायनिक दृष्टिसे अन्वेषण (विश्लेषण) किया और प्रतिपादन किया कि जिन मूल तत्त्वों (Elements) से यह स्थूल संसार बना है, उन्हींसे यह चेतन शरीर भी बना है। परंतु चेतन शरीरमें जो कितनेक नवीन यौगिक पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, उन्हें प्रयोगशालामें कृत्रिम रीतिसे भी बनाया जा सकता है और जीवित शरीरको प्रदान किया जा सकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंकी परिभाषामें कहना हो तो जिन पञ्चमहाभूतोंसे यह विश्व बना है, उन्हींसे यह मानवदेह बना है और इसमें विद्यमान पदार्थोंके तुल्य पदार्थ बाहरसे देनेसे उनकी कमी पूर्ण की जा सकती है[2]।

१—A human being does not exist as rarefied mind united with a solid body. He is an organism all of whose subsidiary functions contribute to this highest function—his mind which brings him not only consciousness, but also an integrated behaviour in relation to his surroundings. A Text Book of the Practice of Medicine, By Price. P. 1805.

२—उदाहरणतया नलिकाहीन ग्रन्थियोंके स्राव (Hormones) तथा प्रजीवनक द्रव्यों-(Vitamins) मेंसे कई एक प्रयोगशालामें बनाकर शरीरको प्रदान करनेसे शारीरिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है। देखिये इस विषयके प्रतिपादक

आहारकी रासायनिक दृष्टिसे मीमांसा होनेपर आहारशास्त्र (Dietetics) अस्तित्वमें आया। शरीरको अपेक्षित खाद्य पदार्थों तथा उनमें विद्यमान प्रजीवनक द्रव्योंकी गवेषणा महत्त्वपूर्ण है। अनुभवके आधारपर उपयोगी सिद्ध हुए आहार-विषयक सिद्धान्तोंको इस प्रकार रसायनशास्त्रसे पुष्टि मिली है, इतना ही नहीं किन्तु इन प्रजीवनक द्रव्योंमेंसे कई एक वनस्पतियोंको हाथ लगाये विना कृत्रिम प्रकारसे प्रयोगशालामें निर्मित होकर चिकित्साशास्त्रकी सेवामें उपस्थित हो गये हैं। अब आहार तथा रोगोंका सम्बन्ध अधिक प्रमाणमें समझमें आता जाता है और बड़े हॉस्पिटलोंमें आहारशास्त्रीकी नियुक्ति आवश्यक मानी जाती है।

प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने औषध द्रव्यों और आहार द्रव्योंका विचार एक ही साथ किया है। आज तो सुज्ञ या अज्ञ रोगी भी वैद्यसे मिलते ही पथ्यकी—क्या खाना और क्या न खाना इस विषयकी प्रश्नावली उपस्थित करता है। उधर, नव्य या वैज्ञानिक चिकित्साशास्त्र जन्तुओंका आमूल विनाश करनेकी कोरी कल्पना छोड़कर मानवदेहको समुचित आहारद्वारा, योग्य प्रजीवनक द्रव्योंके सेवनद्वारा अधिक शक्तिसम्पन्न बनाकर संक्रामक रोगोंसे टक्कर लेनेका विचार कर रहा है[1]।

परन्तु रसायनविद्याने अधिक मूल्यवान् भाग तो चिकित्साके क्षेत्रमें प्रदान किया हैं। संमोहन (Anæsthetics) तथा जन्तुनाशक (Antiseptics) द्रव्योंके आविष्कारने शल्यविद्या तथा चिकित्साशास्त्रको सहायता दी है। शरीरका एक भी अवयव अब शल्यविदोंके लिए दुष्प्राप या दुर्भेद्य नहीं रहा है। मस्तिष्क और हृदयपर भी शल्यशास्त्र अपना प्रभाव बढ़ाता जा रहा है। अब तो कायचिकित्सामें भी रसायनशास्त्री मुख्य भाग लेने लग गये हैं—और वह है प्रयोगशालामें निर्मित रासायनिक द्रव्योंद्वारा जन्तुजन्य व्याधियोंके नाश करनेका कार्य (इस विषयका अधिक विवेचन आगे आयगा)। धातुओं (Metals) का उपयोग

भगवान् चरकके शब्द—"एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः" (च. शा. अ. ६)। तथा—"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रास-हेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥" (च. सू. अ. १)।

१—Preventive medicine hitherto has concerned itself chiefly with the prevention of the spread of organisms, but now it appears probable that much may be done by correct dieting to raise the resistance of populations.—रोगनिरोधक चिकित्साका प्रधान अंग अबतक जन्तुओंके प्रसारको रोकना रहा है। परन्तु अब यह सम्भव प्रतीत होता है कि उचित आहारद्वारा जनताकी रोगनिवारणशक्तिको उत्कृष्ट बनाकर भी बहुत इष्टसिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

पश्चिममें बहुत देरसे शुरू हुआ। ये धातुएँ अब अर्धद्रव स्वरूपमें (Colloidal state) चिकित्सामें प्रयुक्त होने लगी हैं।

वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिकी धारा ऐसे छोटे-छोटे स्रोतोंके मिलनेसे बनी है। इस कारण इसमें कुछ वैविध्य भी आया है। परन्तु विस्मयजनक बात यह है कि इस पद्धतिके सिद्धान्त आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिसे अधिक-से-अधिक प्रमाणमें सैद्धान्तिक दृष्टिसे मिलते हैं। इसी कारण कई लोग कहते हैं कि आधुनिक चिकित्सा-पद्धति, इतिहासका विचार करें तो आयुर्वेदिक पद्धतिका पुनरवतार है। यह स्थापना अत्यन्त विवादास्पद है। इसका निर्णय मैं विद्वान् तथा मननशील वाचकों पर छोड़ता हूँ।

द्रव्य तथा उनके गुण-धर्म—

अभ्यासकी सरलताके लिए द्रव्यों (Substances) के तीन भेद किये गये हैं—औषधद्रव्य (Drugs) आहारद्रव्य (Food) तथा विषद्रव्य (Poisons) विज्ञानकी इन तीनों द्रव्यसमूहोंका वर्णन करनेवाली शाखाएँ क्रमशः फार्मेकॉलॉजी (Pharmacology—old term—Materia Medica प्राचीन संज्ञा—मैटिरिया मेडिका), डायाटेटिक्स (Dietetics) तथा टॉक्सिकॉलॉजी (Toxicology) नामसे प्रख्यात हैं। परन्तु कितनेक द्रव्य ऐसे हैं जिन्हें औषध कहा जाय या विष, इसका निर्णय दुष्कर होता है। सो, वाचकोंको ये तीन विभाग सापेक्ष (Relative) समझने चाहिये। जैसे मधु, मद्य, द्राक्षा, दूध आदि द्रव्य आहारद्रव्यों एवं औषधद्रव्योंके अन्तर्गत हैं। यही कठिनाई औषध और विषद्रव्योंका भेद करनेमें उपस्थित होती है। कारण, कई औषध मात्रा और कालका विवेक न करके दिये जानेपर रोगीमें विषके लक्षण उत्पन्न करते हैं। उधर, कई एक विष युक्तियुक्त सेवनसे अल्पमात्रामें औषधरूप सिद्ध हुए हैं[1]। जैसे पारदके योग, जमालगोटा, एरण्ड आदि अविवेकसे दिये जानेपर हानि करते हैं जब कि अफीम, धतूरा या सर्पविष युक्तिपूर्वक प्रयोगसे अमूल्य औषधरूप होते हैं[2]।

परन्तु इस ग्रन्थका मुख्य विषय औषधद्रव्य होनेसे हम इन्हींकी मीमांसा करेंगे।

१—तुलनार्थ देखिये—"योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत्। भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम्॥" (च. सू. अ, १।१२६)। तथा—"अन्नं हि प्राणिनां प्राणास्तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥"

२—It is indeed impossible to distinguish between drugs and poisons. Most remedies given in excess cause toxic symptoms; while many poisons are valuable remedies in small doses, Pharmacology and Therapeutics, by Cushny.

आयुर्वेदाचार्योंने द्रव्यका संघटन पाञ्चभौतिक माना है तथा गुण और कर्म द्रव्याश्रित माने हैं। अब इस सम्बन्धमें आधुनिक विज्ञानवादियोंका मत देखते हैं। इनके मतानुसार द्रव्योंका संघटन विद्युच्छक्तिमय (Electrical) है। यह दृश्य जगत् ९२ मूल तत्त्वों (Elements) का बना हुआ है। प्रत्येक मूलतत्त्वका संघटन तथा गुणधर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु ये मूलतत्त्व भी अणुओं (Molecules) तथा परमाणुओं (Atoms) की लीलामात्र हैं। आशय यह है कि परमाणु मिलकर अणु बनते हैं और अणु मिलकर मूलतत्त्व बनते हैं। एवं ९२ मूलतत्त्वोंके विविध संयोगोंके परिणामस्वरूप अनेक यौगिक पदार्थ (Compound Substances) प्रादुर्भूत होते हैं। अन्य शब्दोंमें कहें तो यह विश्व परमाणुओंका बना है। पदार्थोंका संघटन परमाणुमय है यह मन्तव्य अति प्राचीन है। प्राचीन वैशेषिकों तथा ग्रीक तत्त्ववेत्ताओंका भी यही अभिप्राय था। परन्तु आधुनिक परमाणुवाद इन प्राचीन मतोंसे भिन्न है। परमाणु भी विभाज्य घटक है--उसकी परीक्षा करनेसे उसमें प्रॉटोन, इलेक्ट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि विद्युद्ग्राही कण रहे हुए मालूम पड़ते हैं। इससे अधिक विस्तार जाननेके लिये पदार्थविज्ञानके आकारग्रन्थ देखने चाहिए[1]। प्रत्येक रसायन-व्यापारमें (Chemical Process) परमाणु भाग लेते हैं। प्रत्येक मूलतत्त्वके परमाणुओंमें विशिष्ट गुण-धर्म होते हैं; कारण, इनका भार तथा इनकी आन्तरिक रचना भिन्न होती है। इसी प्रकार मूलतत्त्वोंके मिलनेसे यौगिक पदार्थ बनते हैं और उन्हें नवीन गुणधर्म भी प्राप्त होते हैं। भूतानुप्रवेशके कारण होनेवाले महाभूतोंके गुणधर्मोंमें परिवर्तनका निर्देश प्रचीनोंने भी किया है। परन्तु प्राचीनोंके महाभूत आधुनिकोंके मूलतत्त्व नहीं हैं। दोनोंकी विचारश्रेणियोंमें मौलिक मतभेद है। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञानके मतसे प्रत्येक पदार्थके गुण-धर्ममें पार्थक्यका कारण उनका पृथक्-पृथक् परमाणुमय संघटन (Atomic Structure) है और इस संघटनसे उनके भौतिक (Physical) तथा रासायनिक गुणों

१—प्राचीन तथा अर्वाचीन परमाणुवाद—प्राचीनकालमें परमाणु अखण्ड माने जाते थे। आजकल ये विभाज्य समझे जाते हैं। इनका संघटन विद्युन्मय है। परन्तु विद्युन्मयका अर्थ क्या ? इस प्रश्नका उत्तर कोई नहीं देता। इसके सिवाय परमाणु स्थिर नहीं किन्तु स्पन्दनशील हैं। विश्वमें करोड़ों परमाणु प्रतिक्षण टूटते हैं और करोड़ों नये उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कितने ही नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और कितने ही नाशको प्राप्त करते हैं। द्रव्य (Matter) और शक्ति (Energy) का सम्बन्ध अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं हुआ है। प्राचीन कालमें ग्रीसमें तथा इस देशमें जो परमाणुवाद था उसमें ग्रीसके विचारोंका वैशेषिक दर्शनपर प्रभाव पड़ा है, प्रख्यात विद्वान् कीथका यह मत प्रमाणभूत नहीं है।

(Chemical Properties) का निर्णय होता है। इतना ही नहीं, मूल-तत्त्वोंके अथवा किसी भी पदार्थके आणविक संघटनमें कृत्रिम रीतिसे—विद्युत्प्रवाह द्वारा या लोहचुम्बकद्वारा अथवा कोई प्रभाविक रासायनिक द्रव्य मिलाकर परिवर्तन किया जाय तो भी उनके गुणोंमें परिवर्तन हो जाता है। इसके विपरीत प्रयोग-शालामें कृत्रिम साधनोंद्वारा अभीष्ट गुणोंवाले पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूलतत्त्वोंको भी एक दूसरेके रूपमें परिणित किया जा सकता है, यद्यपि व्यापारी पैमानेपर तो नहीं ही। इस प्रकार आजकलकी प्रयोगशालाएँ नवीन पदार्थोंके आविष्कार तथा प्राप्त पदार्थोंके सूक्ष्म संघटनकी शोधमें तन्मयतासे कार्य कर रही हैं।

अब पुनः औषधद्रव्योंके विचारकी ओर आते हैं, जो इस ग्रन्थका प्रधान विषय है। आधुनिक द्रव्यगुणशास्त्रको भूतकालके अनुभवसे बड़ा लाभ हुआ है। एवं वर्तमान कालमें बढ़ती हुई वाहनव्यवहारकी सुविधाके कारण विभिन्न देशोंमें प्रयुक्त होनेवाले औषधोंकी इसे ठीक-ठीक सहायता मिलती जाती है। फलतः इसके द्रव्यभण्डारमें विभिन्न प्रकारके द्रव्य दीख पड़ते हैं। इन द्रव्योंके मुख्यतः चार विभाग किये जा सकते हैं—वनस्पतिजन्य, प्राणिजन्य, खनिज तथा प्रयोगशालामें कृत्रिम विधिसे निर्मित रासायनिक द्रव्य (Synthetic Drugs)। रासायनिक द्रव्य बनानेकी प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ती जा रही है। यह कहनेकी शायद ही आवश्यकता होगी कि वानस्पतिक द्रव्योंकी संख्या बड़ी है। उनके विषयमें निम्नोक्त बातोंपर खास लक्ष्य दिया जाता है।

(१) गुणोत्पादक तत्त्व—(Active principes)—प्रायः औषधोंमें विशिष्ट रासायनिक संघटनवाले पदार्थ स्थित होते हैं। औषधोंके गुण-धर्म प्रायशः इनके कारण होते हैं। ये तत्त्व औषधके विभिन्न अंगोंमें विद्यमान होते हैं। अतएव जिस अङ्गमें ये पदार्थ या तत्त्व मालूम पड़े उसीका चिकित्सार्थ उपयोग होता है; उदाहरणतया, मूल, पत्र, त्वक्, स्कन्ध, पुष्प, बीज आदि। इन तत्त्वोंका अन्वेषण प्रयोगशालामें रासायनिक विश्लेषणद्वारा किया जाता है। ये विशिष्ट तत्त्व आल्केलॉइड्, ग्लुकोसाइड्स्, रेजिन्स्, ऑलीयो-रेजिन्स्, गम्स्, वोलेटाइल् ऑइल्स् आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह स्वीकार करना चाहिये कि औषधद्रव्योंके संपूर्ण गुणधर्म इससे स्पष्ट नहीं होते, परन्तु अधिकांशमें समझमें आ जाते हैं[१]।

१—देखिये सु. सू अ. ३९। इसमें भिन्न-भिन्न औषधीय कर्मोंके लिए फल, मूल, त्वक्, आदि भिन्न-भिन्न अङ्ग लेनेका उपदेश किया है। कारण, औषधोंके उस-उस अङ्गमें खास-खास गुणोत्पादक तत्त्व विद्यमान होते हैं।

(१) प्रशस्त भूमि (Habitat) तथा ग्रहणकाल (Time for Collection)।

औषध किस भूमिपर उगा है तथा उसका किस कालमें संचय किया गया है, इस बातपर औषधकी शक्तिका बड़ा आधार है। जहाँ पर्याप्त पोषण न मिले ऐसे स्थलपर औषध उगा हो अथवा कुसमयमें संचय किया गया हो, तो ऐसे औषधमें उपर्युक्त तत्त्व यथेष्ट प्रमाणमें नहीं होते। आजकल खास तैयार कराये गये खेतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी खाद डालकर वनस्पतियोंकी खेती की जाती है और उनके अङ्गोंमें जब गुणोत्पादक तत्त्व अधिकसे अधिक प्रमाणमें हों ऐसे समयमें ही उन्हें एकत्र किया जाता है[1]।

(२) वनस्पतियाँ ठीक-ठीक पहिचाननी चाहिए। एक वर्गको (N. O.) अनेक वनस्पतियाँ होती हैं और एक ही वनस्पतिकी अनेक जातियाँ (Species) होती हैं। इन सबकी खिचड़ी न होने पावे यह आवश्यक है। इसी प्रकार इनके संरक्षण पर भी ध्यान देना चाहिए। उचितसे अधिक धूप, सील, कीड़े आदिके कारण औषध बिगड़ जाते हैं या निर्वीर्य हो जाते हैं[2]। प्राणिजन्य औषधोंके लिए भी ऐसी ही सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा वे भी निर्वीर्य बन जाते हैं। खनिजोंको सामान्यतः रासायनिक विधिसे साफ करके क्षार, अम्ल आदिके रूपमें उपयोगमें लिया जाता है। संक्षेपमें, रासायनशास्त्र और औषधोंके निर्माणमें गाढ़ सम्बन्ध है।

शरीर और औषध—

प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यकार वॉल्टेर (Voltaire) ने अपने कालके चिकित्साशास्त्रका उपहास करते हुए कहा है कि औषध, जिनके सम्बन्धमें हम कुछ भी नहीं जानते, रोगीके शरीरमें डालना जिसके विषयमें हमारा अज्ञान इससे भी अधिक है, इसका नाम है चिकित्सा या परिचर्या। आज भी यह पढ़कर हँसी आवे ऐसी स्थिति है ; कारण, उक्त शब्द लिखे जानेके बाद शरीर और औषधोंके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान बहुत बढ़ गया है, परन्तु अज्ञात प्रदेश अब भी बहुत विशाल है।

जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे वैसे शरीरके व्यापार और भी जटिल मालूम होते जा रहे हैं, जब कि औषधों और शरीरके मध्य आघातप्रतिघात चन्द्र-ग्रहणके सदृश पहलेसे ही हिसाब करके नहीं कहे जा सकते। कारण स्पष्ट है कि एक ओर मानवदेह और दूसरी ओर औषध ये दोनों परिवर्तनशील पदार्थ हैं।

१—देखिये—सुश्रुत सू. अ. ३७। इस आध्यायमें दिये गये निर्देशोंका आज-कल पालन नहीं होता और निर्वीर्य औषध ही व्यवहृत होते हैं, यह शोचनीय है।

२—देखिये—सुश्रुत सू. अ. ३७ तथा चरक क. अ. १।

उदाहरणतया, प्रत्येक रोगीके बल, वय, जठराग्नि आदि भिन्न होते हैं जब कि औषधोंकी रोगनिग्राहक शक्तिके ऊपर भी स्थल, काल, संग्रहणकाल आदिका प्रभाव होता है[१]। अतः दोनोंके संयुक्त होनेपर सर्वदा एक ही प्रकारके (निर्धारित) परिमाणोंकी आशा नहीं की जा सकती। फलितार्थ यह कि शरीर न तो घड़ी है न एञ्जिन, किन्तु एक चेतन घड़ी या एञ्जिन है। इसी विचारपरम्पराके कारण केवल प्राणियोंपर परीक्षण करके प्राप्त किया अनुभव मनुष्य जातिके लिये बहुत लाभदायक नहीं हो सकता। अलबत्ता यह बात अन्वेषकोंकी दृष्टिके बाहर नहीं है। प्राचीन कालमें औषधोंका अनुभव मानवशरीरपर किये गये प्रयोगोंसे ही प्राप्त किया गया है। इस दृष्टिसे हालकी विज्ञानशाखा—द्रव्यगुणविज्ञानशाखा—प्राचीनोंसे भिन्न है। इसके सिवाय, कृत्रिम रोग और स्वयं उत्पन्न हुए रोगकी चिकित्सामें भी भेद होता है। कारण, पहले दृष्टान्तमें शरीरमें प्राकृतिक बल होता है, जब कि दूसरे दृष्टान्तमें वह इस बलसे रहित होकर रोगका भोग हुआ प्रतीत होता है। अतः औषधकी शक्तिका निर्णय करते हुए यह बात विचारने योग्य होती है। प्रयोगशालाओंमें बहुधा प्राणियोंमें कृत्रिम प्रकारसे रोग उत्पन्न करके औषधोंके परीक्षण किये जाते हैं।

विज्ञानवादियोंके मतसे तथा प्रत्यक्षानुसार भी शरीर असंख्य सूक्ष्म कोषों-(Cells) का बना हुआ है। विभिन्न प्रकारके कोष शरीरमें विभिन्न व्यापार करते हैं। औषधद्रव्योंकी क्रिया इन कोषोंपर होती है। औषधोंकी क्रिया निम्न तीनमेंसे एक प्रकारकी हो सकती है। या तो औषध कोषोंको उत्तेजित करता है (Stimulation), क्षुब्ध करता है (Irritation) अथवा अवसन्न करता है (Depression)। आशय यह कि कोषोंका उत्तेजन, क्षोभण या अवसादन ये तीन ही औषधियोंकी क्रियाएँ हो सकती हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि औषधोंके प्रभावसे कोष अपनी प्रवृत्ति न्यूनाधिक कर सकते हैं या विपथगामी भी कर सकते हैं, परन्तु उसे सर्वशः छोड़कर अन्य प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करने लगते हैं। जैसे, फुप्फुसके कोष रक्तको न्यून अथवा अधिक स्वच्छ करें अथवा न करें परन्तु वे रक्तके कण उत्पन्न करनेका नया कार्य नहीं करने पाते। एवं आमाशयके कोष न्यून वा अधिक पाचन करें या उत्क्लेश (Nausea) उत्पन्न करें परन्तु वे रुधिर स्वच्छ करनेका नवीन काम नहीं करने लगते। सच्ची चिकित्साका आदर्श इन कोषोंको प्राकृतिक अवस्थामें लाकर उनसे प्राकृतिक कार्य कराना है। अर्थात् क्षुब्ध हुए कोषोंके व्यापारका संशमन, उत्तेजित व्यापारोंका अवसाद और

१—देखिये—चरक क. अ. १ में 'नानाविधदेशकाल × × × नानाप्रभाववत्त्वाच्च।' यह वाक्य तथा इसपर चक्रपाणिकी टीका।

अवसन्न व्यापारोंकी उत्तेजना चिकित्साका ध्येय है। प्राचीनोंने धातुओंकी—दोषोंकी साम्यावस्था लानेका उपदेश किया है; कारण उन्होंने शरीरके प्राकृतिक और वैकृतिक कार्योंका खुलासा त्रिदोषवादके आधारपर किया है और इसकी नींवपर अपने निदान और चिकित्साको प्रतिष्ठापित किया है।

औषधद्रव्योंका शरीरमें प्रवेश, शोषण, प्रसर, संचय तथा निःसरण (Entry, absorption, distribution, concentration, and excretion of drugs)—

व्याधि दूर करनेके लिए विविध उपयुक्त औषधोंको शरीरमें प्रविष्ट करनेके लिए आजकल अनेक मार्गोंका उपयोग किया जाता है। इनका वर्णन आगे होगा। परन्तु शरीरमें प्रविष्ट होनेके पश्चात उनके गुणका—फलका आरम्भ होनेमें न्यूनाधिक समय लगता है। कारण, इस समयमें द्रव्य विविध अवस्थाओंमेंसे गुजरता है।—

(१) पिचकारीद्वारा सिरावेध करके रक्तप्रवाहमें डाला हुआ द्राव्य (Soluble) औषध एक-दो मिनिटमें ही सारे शरीरमें फैल जाता है और शरीरके प्रत्येक कोषके संपर्कमें आता है। हम जानते हैं कि केशवाहिनियों (Capillaries) की दीवालोंसे स्रुत लसीकाद्वारा धातुओंका पोषण होता है। वस्तुतः इस लसीकाद्वारा शारीर कोष वेष्टित या क्लिन्न (भीगे हुए) रहते हैं। जब औषध सारे शरीरमें फैलता है तब वह इस लसीकाके अन्दर भी व्याप्त हो जाता है। यहाँ भिन्न-भिन्न द्रव्योंकी गति भिन्न-भिन्न होती है। (अ) कितनेक द्रव्य कोषोंके बाहरकी लसीकामें ही रहते हैं, परन्तु कोषोंके अन्दर घुस नहीं सकते। (ब) कितनेक द्रव्य कोषोंके अन्दर एकदम प्रविष्ट हो जाते हैं और कोषोंके चेतनरस (Protoplasm) पर अपनी क्रिया करते हैं। कोषोंकी दीवाल (Cellular wall) उनका मार्ग रोक नहीं सकती। अतः ये द्रव्य बहुत बलवान् माने जाते हैं, जैसे-मद्य। (क) कितनेक द्रव्योंको शारीरिक कोष एकदम अपने अन्दर ग्रहण कर लेते हैं, जहाँ इनका कार्य तीव्रतासे होता है अथवा सर्वथा बन्द हो जाता है। जैसे—यकृत् तथा मूत्रपिण्डोंमें कई वार द्रव्य एकत्र होते देखे जाते हैं, जो इनपर क्रिया करते हैं अथवा निष्क्रिय होकर बैठ रहते हैं।

परन्तु यह तो नवीन स्वीकृत किये हुए मार्गोंकी बात हुई[1]। सहस्रों वर्षोंसे चला

१—इसी प्रकार त्वचामें अथवा त्वचाके नीचे मांसपेशियोंमें पिचकारीद्वारा दिये गये द्रव्य न्यूनाधिक समयमें शोषित होकर रुधिरप्रवाहमें मिश्रित हो जाते हैं। जब महास्रोत दोषावृत हो जाता है अथवा शरीरपर तत्काल असर करनेकी आवश्यकता हो तब इन अन्य मार्गोंका आश्रय लिया जाता है। इसके भी लाभालाभ हैं। चरकोपदिष्ट अन्तःपरिमार्जनका यह एक प्रकार है।

आया मार्ग तो महास्रोत (Alimentary Canal) है। इससे भिन्न विविध मार्गोंसे प्रविष्ट हुए द्रव्य जठराग्निकी क्रियासे बच जाते हैं, जब कि मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्य इससे बच नहीं सकते, यह बात मुख्यतः स्मरण रखने योग्य है।

(ख) मुखद्वारा प्रविष्ट हुए द्रव्योंमेंसे बहुत थोड़े मुखके अन्दर लालास्रावके साथ मिलकर चूषित होते हैं, किन्तु अधिकांश द्रव्य आमाशयमें जाते हैं। यदि खाली पेट पर्याप्त जलके साथ या अन्य द्रवके साथ औषध लिया जाय तो वह आमाशयमेंसे शीघ्र ही निकलकर ग्रहणीमें प्रविष्ट होता है और वहाँसे आगे जाता हुआ अन्त्रोंकी श्लेष्मकलाद्वारा चूसा जाता (Absorbed) है। इनमेंसे कई प्रतिहारिणी सिरा (Portalvein) द्वारा यकृत्में जाते हैं और कई रसायनियोंद्वारा चूसे जाकर रुधिरप्रवाहमें मिल जाते हैं। यकृत्में गये हुए द्रव्योंमेंसे कई एक उसके सूक्ष्म कोषोंमेंसे गुजरनेके बाद रुधिरप्रवाहमें जा मिलते हैं। इसके विपरीत कई विषरूप द्रव्योंको एकत्र करके यकृत् निर्विष (Detoxication) बनाता है अथवा उन्हें रुधिर-प्रवाहमें जानेसे रोकता है, भले ही ये द्रव्य खुद यकृत्को हानि पहुँचानेवाले हों। इस प्रकार सोमल, फॉस्फरस आदि पदार्थोंका शरीरमें प्रमाण बढ़ जानेपर यकृत् उन्हें अधिक हानि करनेसे रोकता है। रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् इनका प्रसार ऊपर कहे गये प्रकारोंसे होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मुखमें प्रविष्ट होनेके बाद प्रथम मुखमेंसे ही लालास्राव (Saliva) की, पीछेसे आमाशयमें जठररस (Gastric juice) की, उससे आगे ग्रहणीमें पित्तरस, अग्न्याशयरस तथा अन्त्ररस (Succus entericus) की भौतिक और रासायनिक क्रिया होती है। बादको इसका शोषण होता है। यदि भरे हुए पेटपर, थोड़े पानीके साथ औषध लिया जाय तो यह आमाशयमेंसे शीघ्र निकल नहीं सकता, उसके शोषणकी तो बात ही क्या? यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कतिपय द्रव्य (व्यवायी, विकासी या विशद) आमाशयमेंसे बाहर ही बाहर चूसे जाकर यकृत्मेंसे होकर सारे शरीरमें फैल जाते हैं। इनपर पाकक्रिया पीछेसे होती है। परन्तु अधिकांश द्रव्य पाकक्रियाके अनन्तर यकृत्द्वारा रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होते हैं।

आमाशय, क्षुद्रान्त्र या बृहदन्त्रमें शोषण, वे खाली हों तब शीघ्र होता है, भरे हों तो धीमे-धीमे और कम होता है। एवं, द्राव्य द्रव्यों का शोषण तीव्रतासे, तथा अद्राव्य द्रव्योंका—धातुओंके अद्राव्य योगोंका शोषण बहुत धीमे या अल्प प्रमाणमें होता है। संक्षेपमें, द्रव्योंका शोषण अन्नमार्गकी रिक्तावस्था तथा औषधोंकी द्रवणशीलता (Solubility) पर मुख्यतया आश्रित है[1]। परन्तु रोगीका आमाशय

१—पाश्चात्य द्रव्यगुणवेत्ता द्रव्योंकी द्राव्यता (Solubility) पर इतना अधिक भार देते हैं और उनका यह दृढ़ मत हो गया है कि इससे भिन्न किसी दशामें द्रव्यकी

या अन्त्र रोगके आक्रमणके समय स्वस्थ नहीं होते। ऐसे समय जब कि महास्रोतके इन भागोंमें शोथ, व्रण या इनका तीव्र क्षोभ (Spasm) हो तब औषधोंपर रसोंकी क्रिया-विपाक तथा श्लेष्मकलद्वारा उनका शोषण दुष्कर हो जाता है। बहुतबार औषध वमन या मलद्वारा सहसा शरीरके बाहर निकल जाते हैं अथवा इन भागोंकी श्लेष्मकलापर हानिकारक क्रिया—विपरीत गुण करते हैं। उलटी रोकनेके लिए दिया गया औषध पेटमें नहीं टिकता और अपना गुण नहीं दिखाता, जब कि दस्त साफ लानेके लिए दिया गया विरेचन महास्रोतसमें हुए विचित्र रसपाकके कारण अपना गुण नहीं दिखा सकता [प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंकी परिभाषामें कहना हो तो ये क्रियाएँ विपाकके अन्तर्गत हैं, इसका विचार आगे होगा] इससे यह न समझना चाहिए कि औषध खाली पेट ही देना चाहिए। औषध विविध उद्देश्योंसे भोजनके पूर्व, साथ या पीछे योग्य अनुपानसे दिए जाते हैं। इसी प्रकार नेत्र, नासिका, बृहदन्त्र, गुदनलिका (Rectum), मूत्रनलिका तथा अपत्यपथद्वारा दिये गये औषधोंका न्यूनाधिक प्रमाणमें शोषण होता है और इनके स्थानिक (Local) तथा सार्वदेहिक कर्म (General action) न्यूनाधिक प्रमाणमें व्यक्त होते हैं।

विभिन्न द्रव्योंका सञ्चय और निःसरण भी न्यूनाधिक प्रमाणमें होता है। कई

क्रिया संभव ही नहीं। इस मन्तव्यके परिणामस्वरूप वे सुवर्ण और पारद जैसे अप्रतिम औषधोंका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकते। वास्तवमें तो यह उनका पूर्वग्रह (Prejudice) है और प्राचीन वैद्योंके मतका तथा अनुभवका निष्कारण और अवैज्ञानिक तिरस्कार है। वैज्ञानिक दृष्टिसे देखें तो इनका अभिप्राय निराधार है। जैसे-सुवर्ण और पारद जैसे शक्तिशाली औषधोंको द्रवरूपमें शरीरमें प्रविष्ट करनेपर यकृत्, मूत्रपिण्ड तथा अन्य अवयवोंमें तीव्र क्षोभ उत्पन्न होता है; परन्तु इन्हीं द्रव्योंके थोड़े परमाणु शरीरको लाभदायी होते हैं। प्राचीन आचर्योंने इसी कारण इन धातुओंका उपयोग अद्राव्य (insoluble) रूपमें किया है। पारदके असंख्य योग-रस तथा सुवर्णके योग अद्राव्य होते हुए भी शरीरको लाभ पहुँचाते हैं, यह अनुभव की प्रत्यक्षसिद्ध बात है। सुवर्ण या पारदके योग जब महास्रोतमेंसे गुजरते हैं तो इनके कुछेक परमाणु रसमार्गद्वारा शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और दूषित प्रदेशपर अपनी क्रिया करते हैं। इतने थोड़े परमाणु कैसे क्रिया करते हैं यह शङ्का निरवकाश है। कारण, एड्रीनालीन (Adrenaline) की अत्यन्त अल्प मात्रा—दश अरब बूंदोंमें केवल एक बूंद प्रभावशाली सिद्ध हो चुकी है, तो फिर संस्कारित सुवर्ण और पारदके दो-चार परमाणु क्या पर्याप्त नहीं होंगे? इस मतभेदके कारण डाक्टर लोग सुवर्ण, ताम्र, मोती आदिका उपयोग आयुर्वेदज्ञोंके समान नहीं कर सकते, यद्यपि उनके मतकी पुष्टिमें वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है।

द्रव्य यकृत्में, कई नाड़ीसंस्थानमें तथा कई सूत्रपिण्डोंमें संचित होते हैं। इनमें कईयोंका निर्विषीकरण (Detoxic action) होता है और कइयोंका नहीं होता। अधिकांश द्रव्योंके रासायनिक संघटनमें भी भेद आता है, परिणामतः नवीन द्रव्य बनते हैं (Synthesis)। द्रव्योंको शरीरके बाहर फेंक देनेमें यकृत् तथा सूत्रपिण्ड मुख्यतया भाग लेते हैं। मुखद्वार सेवित द्रव्य यदि अद्राव्य हों तो इनका बड़ा भाग शोषित हुए बिना गुदद्वारसे निकल जाता है। शोषित भाग यकृत्में जाता है। वहां उसमें इनपर अन्य रासायनिक परिवर्तन होकर पुनः थोड़ा अंश पित्तनलिकाद्वारा ग्रहणीमें और वहाँसे बाहर फेंका जाता है। रक्तमें मिश्रित द्रव्यका कुछ अंश मूत्रद्वारा बाहर निकल जाता है। कई द्रव्य प्रश्वासके साथ वायुरूपमें और कई स्तन्य या प्रस्वेदके साथ भी बाहर निकलते हैं। जैसे पानी प्रवाहमें आई वस्तुको बाहर धकेल देता है उसी प्रकार मनुष्यशरीर अर्थात् उसके कोष देहमें प्रविष्ट होते हुए बाह्य पदार्थोंको शल्यरूप मानकर बाहर फेंक देनेका प्रयत्न करते हैं। केवल, द्रव्योंका जितना अंश शारीरिक कोषोंके लिए हितावह हो उसे ही अपने चेतनरसमें मिश्रित कर लेते हैं। यह कार्य सात्मीकरण कहाता है [भस्मोंके निर्माणमें जो भावना या पुट दिये जाते हैं उनका यही रहस्य है।]

तो फिर विषकी क्या गति होती है? कई द्रव्य शरीरमें प्रविष्ट होकर कोषोंके चेतनरसको मार डालते हैं और उनकी क्रियाओंको स्थगित कर देते हैं या नष्ट कर देते हैं। पतन्तु सब विष प्रत्येक धातुको समान रूपसे हानि नहीं करते। अफीम, धतूरा और ताम्रकी क्रिया एक सामान नहीं होती। यह अबतक 'शेष प्रश्न' है कि क्यों अमुक विष अमुक धातुको ही लक्ष्य बनाता है[1]। जो द्रव्य शरीरसे बाहर निकल जाते हैं उनकी मात्रा वारंवार देनी पड़ती है। परन्तु इससे भिन्न वर्गके भी द्रव्य हैं जिनका निःसरण बहुत धीमे-धीमे होता है। ऐसे द्रव्यों की, विषमय क्रिया सञ्चित होनेपर, चिरकाल पश्चात् होती है; इनकी एक-दो मात्राओंकी जरा भी खराब क्रिया नहीं होती। कई द्रव्योंका कार्य इनके लेनेके बहुत काल पाछे मालूम होता है। कारण इनका शोषण तथा सात्मीमकरण बहुत मन्द होता है (Delayed ation)। कई द्रव्योंका प्रभाव सामूहिक रूममें होता है (Culminalive actio 1)। यदि ऐसा द्रव्य विष हो तो विषके लक्षण एक साथ प्रगट होते हैं, यद्यपि कुछ समय बाद।

१—अथवा, अमुक द्रव्य क्यों शरीरके अमुक संस्थान (System) पर क्रिया करते हैं यह भी 'शेष प्रश्न' है। यथा—मद्यकी मस्तिष्कपर क्रिया, कुचलेकी सुषुम्णापर क्रिया, बङ्गभस्मकी सूत्रपिण्डोंपर क्रिया, अफीमकी श्वासकेन्द्रपर क्रिया, इत्यादि।

औषध द्रव्योंकी क्रिया—

अधिष्ठानभेदसे द्रव्योंकी क्रिया दो प्रकारकी कही जा सकती है—स्थानिक कार्य (Local action) और देहव्यापी कार्य (General or systemic action)। शरीरके किसी प्रदेशपर औषध लगानेपर, औषधका शोषण होकर वह रुधिरप्रवाहमें मिल जाय, उसके पूर्व ही जो क्रिया होती है, उसका नाम स्थानिक कार्य है। जैसे-क्षार आदि लगानेपर उस भागपर दाहक प्रभाव होता है। इससे विपरीत जब औषधका शोषण होकर वह सारे शरीरपर अमुक क्रिया करता है तो उसे देहव्यापी कार्य कहते हैं जैसे—पारा, कुचला आदिका देहव्यापी कार्य।

अनुबन्धकी दृष्टिसे भी इसके दो भेद किये जा सकते हैं—प्रत्यक्ष कार्य (Direct action) तथा परोक्ष कार्य (Indirect or remote action) द्रव्य अपनी विशिष्ट शक्तिसे अमुक अवयवोंपर विशिष्ट क्रिया करते हैं, यह उनकी प्रत्यक्ष क्रिया है। इसके साथ ही अन्य अवयवोंपर प्रतिक्रियाद्वारा (Reflex action) परोक्षरूपसे कार्य करते हैं, यह उनका परोक्ष कार्य है। जैसे कई विष मस्तिष्कपर साक्षात् रूपसे (सीधा) क्रिया करते हैं और असाक्षात् रूपसे श्वासक्रिया, रुधिराभिसरण आदिपर क्रिया करते हैं। विकासी द्रव्य ये दोनों प्रकारके कार्य करते हैं। ओजोनिर्हरण इनका प्रत्यक्ष कार्य है, तथा स्नायुबन्धोंको शिथिलता करना इनका गौण कार्य है। वामक, विरेचक द्रव्य भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष कार्य करते हैं।

द्रव्य किस प्रकार क्रिया करते हैं, इस विषयमें विविध मत (General Theories of Pharmacological action)—

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि द्रव्य शरीरपर जो क्रिया करते हैं वे प्रत्यक्षगम्य हैं। इस प्रत्यक्षमें मतभेदको स्थान नहीं है, परन्तु ये कैसे क्रिया करते हैं इस विषयमें प्राचीन कालमें मतभेद था और अब भी है। इनके विषयमें ऐक्यमत्य न होनेसे विविध मतोंका यहाँ निर्देश करते हैं। सुश्रुतने इस सम्बन्धमें विभिन्न मतोंका उल्लेख कर अपना समाधान बताया है[1]।

(१) कई द्रव्य अपने भौतिक गुणों (Physical properties) के कारण शारीरिक कोषोंपर—शरीरपर प्रभाव करते हैं।

(२) कई द्रव्य अपने भौतिक एवं रासायनिक गुणोंद्वारा[2] शरीरपर प्रभाव करते हैं। परन्तु कई द्रव्य शरीरपर किस प्रकार क्रिया करते हैं, यह समझ में नहीं आता। हमारा यह अज्ञान तब ऐसा आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता, जब हम यह

१—देखिये—सुश्रुत सू. अ. ४०—'तद् द्रव्यमात्मना किंचित्' इत्यादि सुश्रुतोक्त समाधान। अब तक यह मत बदलनेका कोई कारण नहीं मिला है।

२—Physical and chemical properties.

विचार करते हैं कि एक सादे-से-सादे कोषकी रचना तथा अधिकांश द्रव्योंका रासायनिक संघटन कैसा जटिल है! द्रव्य कोषोंके चेतनरसके रासायनिक संघटनपर क्रिया करते हैं और उसके साथ रासायनिक प्रकारसे मिल जाते हैं, जिससे विविध औषधीय गुण दृष्टिगोचर होते हैं यह मानना भी निर्दोष नहीं है। कारण, भिन्न रासायनिक रचनावाले भी द्रव्य समान प्रकारका अथवा एक दूसरेसे मिलता औषधीय गुण धारण करते हुए पाये जाते हैं। अतः केवल रासायनिक दृष्टिसे औषधीय गुणोंका समाधान नहीं हो सकता। सच पूछो तो सम्पूर्ण द्रव्योंकी क्रियाओंका समाधान करनेमें सहायक हो सके, ऐसा कोई भी सिद्धान्त अब तक सामने नहीं आया। यद्यपि आजकल औषधोंके रासायनिक संघटनमें परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करनेके प्रयत्न हो रहे हैं; जैसे केमोथॅरेपी (Chemo-therapy) के उपासक जन्तुजन्य व्याधियोंकी चिकित्सामें ऐसे औषध बनानेका प्रयास कर रहे हैं। परन्तु एक विलक्षण घटना इन औषधोंके बनानेमें भी देखी जाती है, और वह यह कि कई जन्तुघ्न द्रव्य काचनलिका (Test—tube) में जन्तुओंको नहीं मार सकते, परन्तु शरीरके अन्दर प्रविष्ट होनेपर शरीरके कोषोंकी सहायतासे उनको तत्काल मार डालते हैं। इसके अतिरिक्त कई औषधोंका अत्यन्त अल्प प्रमाण, जो कोषके आसपास एक स्तर (Monomolecular layer) रचनेमें भी समर्थ नहीं होता, वह भी इनपर क्रिया करनेकी पर्याप्त शक्ति रखता है। कइयोंके मतानुसार औषध द्रव्य कोषोंके आसपास फैलनेके पश्चात् उनका कवच (Cell membrane) भेदकर उसमें प्रविष्ट होनेका यत्न करते हैं। उनके कुछेक परमाणु उसके अन्दर जाकर चेतनरसमें मिल जाते हैं और अपनी क्रिया करते हैं। कई एक अन्दर जाकर निष्क्रिय बन जाते हैं। जब कई अन्दर घुस ही नहीं सकते। इस स्थितिमें द्रव्योंके कर्मोंके विषयमें कोई निश्चित सिद्धान्त गढ़ना कठिन है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि द्रव्योंकी शारीरिक कोषोंपर होनेवाली क्रियामें निम्नोक्त बातें खास तौरपर स्मरण रखने योग्य हैं।

(१) भिन्न-भिन्न औषधद्रव्योंकी रासायनिक क्रिया भिन्न-भिन्न कोषों या धातुओं (Tissues) पर भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। अर्थात् औषधोंकी क्रिया औषधों और कोषके जीवनरस (protoplasm) के बीचकी रासायनिक प्रतिक्रिया पर अवलम्बित है।

(२) भिन्न-भिन्न कोष अपने कोषकवचद्वारा द्रव्योंका सहकार अथवा प्रतिकार करनेकी शक्ति रखते हैं। कोषोंके व्यापार सजीव व्यापार (Biological Response) हैं—जिजीविषा (Will to live) का एक प्रकार हैं तथा भौतिक और रासायनिक नियमोंसे सदा बँधे नहीं रहते[१]।

१—The action of a drug on any cell, involves at least two

यहाँ जिजीविषामें मानसिक तत्त्वका भी अन्तर्भाव है। अर्थात् यदि रोगीको आस्था हो तो औषधीय गुण अधिक कार्य करते हैं। कारण, शारीरिक कोषोंके व्यापार मानसिक अंकुशसे मुक्त नहीं हैं।

द्रव्यगुणविज्ञानके संबन्धमें आयुर्वेदके मौलिक विचार—

अब तक हमने मुख्यतः वैज्ञानिकोंकी विचारधारा देखी। अब पूर्व और पश्चिम दोनोंकी विचारधाराएँ देखते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान तथा जिज्ञासावृत्तिके अभावके कारण डॉक्टर तथा वैद्य आपसमें खुले दिलसे विचारविनिमय नहीं करते, अतः इस विषयमें बहुत अनभिज्ञता रहती है। प्रस्तुत ग्रन्थ, आयुर्वेदके द्रव्यगुण विषयक विचारोंका दोहन होनेके कारण अभ्यासकोंके मार्गको सरल करनेवाला है।

वैदिक कालसे ही वनस्पतियोंका वैद्यकीय उपयोग छोटे पैमानेपर (अल्प-प्रमाणमें) शुरू हो चुका था। परन्तु, उस कालमें आथर्वणोंका जोर अधिक होनेसे मणि, मन्त्र तथा पवित्र जलका महत्त्व अधिक था। मनुष्य जातिके द्रव्यगुण-विषयक ज्ञानका यह उषःकाल था। इसके पश्चात् दैवव्यपाश्रय चिकित्साका जोर घटने लगा, औषधोंका उपयोग बढ़ने लगा[1]। साथ-साथ धातुओंका औषधार्थ उपयोग भी बढ़ने लगा। जब हम संहिताकालमें आते हैं तब औषधोंकी संख्या एकदम बढ़ी हुई पाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु इन सब औषधों तथा धातुओंके उपयोगको अपने विशाल उदरमें समाविष्ट करनेवाला द्रव्योंके गुणों तथा कर्मोंके विषयका सिद्धान्त भी स्थिर हो गया पाया जाता है। यह सिद्धान्त स्थिर होनेके पूर्व अनेक मत-मतान्तर भी खड़े हुए होंगे, जिसका इशारा चरक और सुश्रुत दोनोंने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थमें ये मतभेदसूचक एकीय मत देखे जा सकते हैं। उदाहरणतः, रसोंकी संख्या तथा द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाकके प्राधान्याप्राधान्य सम्बन्धी चर्चा मनोरञ्जक है तथा एक शक्तिशाली (Virile) और विचारशील समाजके मानसिक मन्थनका प्रतिबिम्ब है। ईसासे हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व शुरू हुई औषधोंकी गुणकर्मविषयक चर्चा ईसासे चार या पाँच शती पूर्व एक सिद्धान्तका रूप प्राप्त करती हुई तथा ईसवी सन्के प्रारम्भमें तो एक व्यापक सिद्धान्तके रूपमें स्थिर हुई दिखाई पड़ती है ; औषधद्रव्य (उद्भिज, खनिज तथा प्राणिज द्रव्य) और आहारद्रव्यविषयक विचार एक शृङ्खलाबद्ध व्यवस्थित स्वरूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। पीछे चाहे हम संहिताचतुष्टय (चरक, सुश्रुत, भेल तथा काश्यप) मेंसे कोई एक लें। इसके बादके वर्षोंमें कितनी ही वनस्पतियाँ भूल गयीं, कितनी ही विदेशी दवाइयाँ स्वीकारी गयीं, कितनी ही

---

separae processes, namely a Chemical reaction and the Biological response to this reaction.

१—देखिये—चरक सू. अ. ११—त्रिविधमौषधम् × × × इत्यादि।

संदिग्ध हो गयीं। यह कालभगवान्‌की महिमा है। औषध द्रव्यों और रस-शास्त्रोक्त प्रयोगोंकी संख्या बढ़ी ; विकासकी दृष्टिसे यही हुआ। परन्तु संहिताकालमें उपदिष्ट सिद्धान्तमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

सामान्यतः कहना हो तो आधुनिक विज्ञानवादियोंकी दृष्टि पृथक्करणशील (Analytical) है, जब कि प्राचीन आर्योंकी दृष्टि सदा एकीकरणशील (Synthetic) रही है। परिणामतया, एकको विस्तार (Detail) प्रिय है और दूसरेको सूत्र[1]।

कुछ तुलनात्मक विचार—

जब यह देश स्वतन्त्र विचार करनेकी शक्ति रखता था तब इसमें विचारोंके मतभेदको सहन करनेकी भी शक्ति थी, अथवा सहिष्णुता (Tolerance) हमारे बुद्धिविकासका एक प्रधान चिह्न था। चरक तथा सुश्रुतमें इस मतभेद सहिष्णुताके प्रमाण मिलते हैं। परिषदोंमें गर्भावक्रान्ति, रसोंकी संख्या, विपाकका स्वरूप, वीर्यके प्रकार, रोगोंके प्रकार आदि विषय विवादास्पद होते थे। विभिन्न विचारोंके आयुर्वेदज्ञ ऋषि इनमें भाग लेते थे। केवल आयुर्वेदके क्षेत्रमें ही नहीं, दार्शनिक क्षेत्रमें भी बहुत विवाद प्रचलित थे। न्यायदर्शनने इन विवादोंको समुचित वैज्ञानिक रूप भी दिया है। जब चरक-सुश्रुतने इनकी ओर अंगुलिनिर्देश किया है। आधुनिक कालमें सन् १९३५ में बनारसमें एक ऐसी ही परिषद्‌का आयोजन हुआ था, यह सुविदित है।

पूर्व तथा पश्चिममें स्वीकृत समान मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं।—

(१) जो तत्त्व बाह्य जगत्‌में दिखाई देते हैं, वे ही मनुष्य शरीरमें भी होते हैं। इस विषयमें आधुनिक विज्ञानका क्या मत है यह ऊपर कहा जा चुका है। द्रव्य-(Matter) का संघटन विद्युन्मय है और विद्युत् एक प्रकारकी शक्ति है। द्रव्य (Matter) और शक्ति (Force) का सम्बन्ध रहस्यपूर्ण है। द्रव्यके अनेक रूप हो सकते हैं। अबतक द्रव्यके विशिष्ट रूपोंके तौरपर ९२ तत्त्व (Elements) विदित हुए हैं। इनमेंसे कुछेक मानवदेहमें हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने सांख्य और वैशेषिकके विचारोंका आश्रय लेकर अपना स्वतन्त्र मत

१—इसी कारण 'सूत्र' संस्कृत वाङ्मयके विशेष लक्षण हैं। अन्य किसी भाषामें सूत्रग्रन्थ लिखे हुए पाये नहीं जाते। इस सूत्रसाहित्यके स्रष्टा कुशाग्रबुद्धि ऋषियोंकी दृष्टि सृष्टिमें पाये जानेवाले वैविध्यके आरपार देखकर परमतत्त्वका साक्षात्कार करनेमें तल्लीन थी। वैशेषिकोंने समग्र विश्वका समावेश छः पदार्थोंमें किया, सांख्यने प्रकृति और पुरुषमें और वेदान्तने केवल एक अनिर्वचनीय ब्रह्ममें ही सबका समावेश किया।

उनमें बढ़ाकर अपने सिद्धान्त निश्चित किये हैं। समग्र विश्व पञ्चमहाभूतमय है—द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं—और मनुष्यदेह भी पञ्चमहाभूतोंसे ही बना है। ये पञ्चमहाभूत हैं आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। इन महाभूतोंका विचार करते हुए बहुतोंको भ्रम (Delusion) हो जाता है। कारण, दोनों प्रकारके वर्गीकरणोंके दृष्टिबिन्दु भिन्न हैं। वैज्ञानिक जगत्‌का अर्थ है जड़ जगत्। इसके पदार्थ (Substance) भी जड़ पदार्थ हैं। इनकी कार्य करनेकी शक्ति (Force) भी जड़ है। इस जड़ शक्ति और जड़ द्रव्य या पदार्थके सहकारसे विज्ञानकी सृष्टि चल रही है। इसके विपरीत प्राचीन दार्शनिकोंकी सृष्टि जड़ (Inanimate) और और चेतन (Animate) की बनी हुई है। इसमें आत्मा या परमात्माको स्थान है, जब कि आधुनिक विज्ञान इनका बहिष्कार करता है, अथवा इनके प्रति शङ्काकी दृष्टिसे देखता है[1]। इसके मूल तत्त्वोंका

१—इस विषयमें विज्ञानकी भिन्न-भिन्न शाखाओंमें मतभेद है। उदाहरणतया जीवविद्या (Biology) या प्राणिविद्या, स्पष्ट शब्दोंमें यह नहीं बताती कि प्राण (Life) का अर्थ क्या है? सजीव द्रव्यके लक्षण, रचना आदिको सविस्तर जानकारी देते हुए भी निर्जीव और सजीव सृष्टिके मध्य भेद मानें या न मानें यह प्रश्न अभी विवादास्पद है। पाश्चात्य मानसशास्त्रियों (Psychologists)में से कई एक प्राचीन बौद्धोंके समान स्थिर आत्माको नहीं मानते, किन्तु सहज वृत्तियों (Instincts) के समूहरूप मनको मानते हैं। कई मानसशास्त्री आत्माको मानते भी हैं। आधुनिक विज्ञानवादियोंमें कई प्राचीन लोकायतिकोंके समान देहात्मवादी हैं। अपने यहाँ भी आत्माके स्वरूपके विषयमें विविध मत थे, जिनका विवरण भगवान् शंकराचार्यके भाष्यमें मिलता है। देखिये—ब्रह्मसूत्र १-१-१ पर शांकरभाष्य—'देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति × × × आत्मा स भोक्तुरित्यपरे।' निर्विशेष भौतिक आत्माका लक्षण भगवान् चरकने वेदान्तसे लिया है। और संयोगपुरुष अथवा शरीरी आत्माका लक्षण न्याय-वैशेशिकसे लिया है। न्याय-वैशेषिकने व्यावहारिक अवस्थाका विचार करके आत्माका लक्षण घड़ा है, जब कि वेदान्तने सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष दशाका विचार करके आत्माका लक्षण घड़ा है। वर्तमान कालमें, तत्त्वज्ञान (Philosophy) और विज्ञान (Science) के क्षेत्र दिन-दिन अधिक निकट आते जा रहे हैं। परंतु आधुनिक पदार्थविज्ञान (Physics) आत्मा, मन आदिको आधिभौतिक पदार्थविज्ञान(Metaphysics)का विषय मानता है। प्राचीन आर्य दर्शनोंका पदार्थवाद इन सबको अपने विशाल क्षेत्रमें स्थान देता है। अतएव तुलना करते हुए इस वर्गीकरणका भेद ध्यानमें रखना चाहिए। अन्यथा दोनों पक्षोंको अन्याय होना संभव है।

अस्तित्व प्रत्यक्ष प्रयोगोंके आधारपर सिद्ध है। दार्शनिक परिभाषामें पदार्थका अर्थ है पदका अर्थ। जिसमें ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व और अस्तित्व ये तीन लक्षण हों वही पदार्थ है[1]। आशय यह कि 'पदार्थ' शब्दसे न केवल जड़ जगत्का किन्तु समग्र जड़ और चेतन सृष्टिकी वस्तुओंका ग्रहण हो जाता है। अर्थात् विज्ञानका पदार्थ (Element) वैशेषिकके पदार्थसे भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिकोंका द्रव्य जो गुण और कर्मका आश्रय है, विज्ञानके द्रव्य (Matter) से भिन्न है, कारण, वैशेषिकोंके मतानुसार आत्मा, मन, दिक् और कालकी भी नव द्रव्योंमें गणना होती है, जब कि आधुनिक विज्ञानवादी स्वतन्त्र आत्मा और मनका अस्तित्व माननेसे कतराते हैं। अस्तु। पञ्चमहाभूतोंको प्राचीनोंने जड़ सृष्टिका मूल तत्त्व माना है जब कि आधुनिकोंने ९२ मूल तत्त्व माने हैं, जो प्रत्यक्षसिद्ध है। परंतु उपनिषत्कालसे सृष्टिके उत्पत्तिक्रमके संबन्धमें जो विचार चले आये हैं और जिन्हें वेदान्तका भी समर्थन प्राप्त है, उनके अनुसार देखें तो पञ्चमहाभूतका अर्थ है जड द्रव्यकी पाँच स्थितियाँ (States of conditions of matter)।

जैसे— आकाश=Etheric state
वायु=Gaseous state
अग्नि=Luminous state
जल=Liquid state
पृथ्वी=Solid state

उक्त कोष्ठकमें कही अवस्थाएँ विज्ञानको मान्य हैं; कारण, ये प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इस प्रकार देखते हुए प्राचीनोंके सिद्धान्तानुसार आधुनिक विज्ञानके मूल तत्त्व इन पाँच स्थितियोंमेंसे किसी एक स्थितिमें हमारे अनुभवका विषय होते हैं। पञ्चमहाभूतोंके मिश्रणसे अथवा आधुनिकोंके इन पाँचमेंसे किसी अवस्थामें स्थित मूलतत्त्वोंके मिश्रणसे, परस्परानुप्रवेशसे या परस्परानुग्रहसे दृश्य जगत्की रचना होती है। आयुर्वेदके मन्तव्यानुसार पञ्चमहाभूतोंसे आत्माका संबन्ध होनेपर पुरुष बनाता है, जो चिकित्साका अधिष्ठानरूप है (सु. सू. अ. १)।

(२) शरीरके विकासके लिए, जीवन व्यापार चलानेके लिए जो शक्ति चाहिए उसके उत्पादनके लिए, तथा शरीरमें होनेवाली टूट-फूटकी पूर्तिके लिए उपर्युक्त पदार्थोंकी आवश्यकता है यह बात दोनों पक्षोंको स्वीकृत है। अर्थात् पञ्चमहाभूतमय शरीरको—पाँच अवस्थाओंमें स्थित वैज्ञानिकोंके मूलतत्त्वोंद्वारा, बने हुए शरीरको उन्हींके द्वारा बने हुए आहारद्रव्योंकी आवश्यकता है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंके पक्षमें यह अभिमान करने योग्य बात है कि उन्होंने आहार और स्वास्थ्य

१—देखिए प्रशस्तपादभाष्य पृ. १६।

तथा आहार और रोगोंके संबन्धपर प्रारम्भसे ही बहुत ही जोर दिया है। रोगोंके निदान और चिकित्साकी चर्चामें आहारकी बात खास करके आती है। अपने यहाँ आहाररूपमें उपयोगमें आनेवाले वनस्पतिजन्य तथा प्राणिजन्य द्रव्योंकी उन्होंने स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्थामें मनुष्यपर होनेवाली क्रियाओंका उल्लेख किया है। अपने देशवासियोंको यहाँके जलवायुमें ये द्रव्य अधिक सात्म्य हैं, यह अनुभव है। आहारका पाचन होनेपर रसधातु बनती है। इसपर शरीरकी अन्य धातुएँ आश्रित हैं। अतः आचार्योंका आग्रह है कि आहार और जठराग्निकी क्रियापर—रोगीके अग्निबलपर—वैद्यको खास ध्यान देना चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि आहारकी रासायनिक दृष्टिसे मीमांसा करके, उसमें स्थित प्रजीवनकों (Vitamins) तथा खनिज द्रव्योंके क्षारों (Mineral salts) पर विशेषतः लक्ष्य देकर तथा इन द्रव्योंकी स्वास्थ्य तथा रुग्णावस्थामें होनेवाली क्रियाओंका निर्देश करके, आधुनिक विज्ञानने मनुष्य जातिकी सेवा की है। एक कदम आगे बढ़कर आधुनिक सम्प्राप्तिविज्ञान (Pathology) यह बताता है कि रक्त आहारपर अवलम्बित है और इस रक्तके संघटनमें भौतिक अथवा रासायनिक परिवर्तन हों तो शरीरके कोषोंके पोषण और व्यापारोंपर इसका अनिष्ट प्रभाव होता है, अर्थात् वे शीघ्र रोगके ग्रास हो जाते हैं। औषध द्रव्य भी शरीरके सहकारके विना रोगका मुकाबला नहीं कर सकते। अतः, निज अथवा आगन्तुक रोगोंके प्रतिकारको उत्कृष्ट बनाना हो तो, रक्तको बने वैसे उत्कृष्ट स्वरूपमें लाना चाहिए। ऐसा करनेके लिए उत्तम आहार और कार्यक्षम जठराग्निकी खास आवश्यकता है। ऐसी अवस्थामें ही रस धातु जिसपर अन्य धातुओंका आधार है, उत्तम बनता है[1]।

(३) द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंको देखते हुए द्रव्योंके सामान्यतः तीन भेद किये जा सकते हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविदोंका मत ऊपर दिया है। प्राचीनोंका मत इस ग्रन्थमें ग्यारहवें पृष्ठपर दिया है। भगवान् चरकके शब्दोंमें द्रव्योंके तीन भेद किये जा सकते हैं। ये तीन भेद द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंको देखते हुए किये गये हैं। 'शमन', 'कोपन' और 'स्वास्थ्यवर्धन' इन तीन शब्दोंमें प्राचीनोंने द्रव्योंके प्रभावसे होनेवाली क्रियाएँ समाविष्ट कर दी हैं। इनमें आधुनिकोक्त तीनों क्रियाओंका[2] समावेश हो जाता है।

(४) आयुर्वेदिक पद्धति तथा वैज्ञानिक चिकित्सापद्धति दोनों हॉमियोपॅथीके सिद्धान्तसे विरुद्ध हैं। कारण, इन दोनों पद्धतियोंमें विपरीत गुणोंवाले आहार और औषधके द्वारा रोग अथवा रोगके मूलका नाश किया जाता है। प्राचीनोंने

१—'आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः॥' च. चि. अ. १५॥

२—Stimulation, Depression, Irritation.

दोषवैषम्यको दूर करके दोषोंको साम्यावस्थामें लाना चिकित्साका आदर्श माना है, जब कि वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिमें शरीरके दूषित कोषोंके विकृत—बिगड़े हुए—व्यापारोंको प्रकृतावस्थामें लानेको अपना आदर्श स्वीकार किया है[1]।

(५) तुलनात्मक दृष्टिसे द्रव्यगुणविज्ञानको देखें तो दोनों पक्षोंने प्राणियों और मनुष्योंपर उन्ही द्रव्योंका, उन्ही क्रियाओंके लिए उपयोग किया है। हाँ, उसमें औषधकी मात्रा तथा प्राणीके विशिष्ट देहव्यापारोंका तो ख्याल रखा ही जाता है। मनुष्योंकी चिकित्साके साथ इस देशमें पशुचिकित्सा भी ईसाके पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दीसे प्रचलित थी। पालकाप्य, मातङ्गलीला, अश्ववैद्यक, अश्वचिकित्सा आदि ग्रन्थ इस बातके साक्षी हैं। आधुनिक वैज्ञानिक नवीन औषधका गुण-धर्म निश्चित करनेके पूर्व उसका प्राणियोंपर परीक्षण करते हैं। इन परीक्षणोंसे प्राप्त अनुभवोंका उपयोग मनुष्योंकी चिकित्सामें करते हैं; कारण विज्ञान मनुष्यको सर्वोत्तम प्राणी मानता है[2]।

(६) दोनों पक्षोंने केवल वनस्पतियोंपर आधार न रखते हुए रसायनशालामें बने हुए द्रव्योंका उपयोग किया है। प्राचीन संहिताग्रन्थोंमें वनस्पतियोंका उपयोग विपुल प्रमाणमें पाया जाता है। धातुओंके उपयोगका उनके औषधसंग्रहमें गौण स्थान था। परन्तु पीछेसे धातुओं और खास करके पारदके योगोंका उपयोग बढ़ा और रसशास्त्र वानस्पतिक योगोंके संघर्षमें आया। उत्तम रसवैद्य संपूर्ण चिकित्सा रसोंद्वारा ही करते थे। उन्हें वनस्पतियोंकी अपेक्षा कम होती थी। हाँ, रसोंके निर्माणमें भी कुछ वनस्पतियोंकी आवश्यकता होती थी। पश्चिममें भी आजकल यही परिस्थिति है। वनस्पतियोंका उपयोग घटता जाता है और रसायनशास्त्रके आधारपर बनाये हुए योगोंका उपयोग बढ़ता जाता है। विशेष करके जन्तुजन्य रोगोंकी चिकित्सामें ऐसे नवीन द्रव्योंकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अपने यहाँ रसशास्त्रकी प्रगति रुक गयी है, पर पश्चिममें रसायनशास्त्र (Chemistry) आगे प्रगति करता जा रहा है।

(७) दोनों पक्ष मानते हैं कि औषधद्रव्य उनके कर्मको लक्ष्यमें रखकर विभिन्न योगोंके रूपमें दिये जाने चाहिये। औषधनिर्माणशास्त्र (Pharmacy) इन्ही विचारोंपर आगे कूच कर रहा है। वैज्ञानिक चिकित्सापद्धतिने सूचीवेध

१—देखिये चरक सू. अ. १ के ५८, ५९, ६० श्लोक तथा उनमें 'विपरीतगुणैर्द्रव्यैः' यह स्पष्ट शब्द, और "उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः" च. नि. अ. १।

२—इसी प्रकार विषदूषित अन्नकी प्राणियोंपर होनेवाली क्रियाओंका भी निर्देश किया गया है। देखिये—सु. क. अ. १।

(Injection) का उपयोग करके अपनी विशिष्टता बढ़ाई है। इसके लाभालाभ वाचकोंको विदित ही होंगे। औषधद्रव्य शारीरिक कोषोंमें शीघ्र मिल जायँ और अपने गुण व्यक्त करें इस उद्देश्यसे दोनों पक्षोंने कुछ भिन्न मार्ग लिया हैं। आधुनिक विद्वान् औषधोंको यथाशक्ति द्राव्य (Soluble) स्वरूपमें लाकर, उनकी अनिष्ट क्रिया न हो ऐसे योगोंके बनानेमें तन्मय हैं। उधर, प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंने द्राव्य स्वरूपपर ध्यान न देते हुए, वे जिस स्वरूपमें शरीरमें अपने गुण प्रकट कर सकें और किसी भी प्रकारकी विषमय क्रिया न करने पाएँ ऐसे स्वरूपमें द्रव्योंको देनेकी पद्धति अङ्गीकार की है। अत एव, आयुर्वेदमें कई भस्में, कूपीपक्व रस आदि योग आधुनिकोंके औषध द्रव्योंसे भिन्नता रखते हैं। प्राचीनोंने निरिन्द्रिय धातुओंको – खनिज द्रव्योंको—वनस्पतियोंके रसोंकी भावना देकर, उनका विविध प्रकारसे पाक करके अथवा संस्कार करके उनको सेन्द्रिय स्वरूपमें (Organic form) लानेका प्रयास किया है, जिससे वे शारीरिक कोषोंके लिए ग्राह्य बनते हैं तथा विषात्मक क्रिया नहीं करते। विविध भस्मोंको वारितर, निश्चन्द्र तथा निरुत्थ बनानेमें उनका यही उद्देश्य था। इसके फलस्वरूप सुवर्ण, रजत, ताम्र, नाग आदिका आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिमें मुक्तहस्तसे उपयोग होता है, तथा इन भस्मोंके देनेसे यकृत् या मूत्रपिण्डोंपर असर बुरा नहीं होता। पाश्चात्य द्रव्यगुण-विज्ञानको अभी इस दिशाका ज्ञान नहीं है। हाँ, उन्होंने हालहीमें धातुओंको उनके अत्यन्त सूक्ष्म—अणुस्वरूपमें उपयोगमें लानेका मार्ग ग्रहण किया है। अर्थात् धातुओंके अणुओंको एक द्रव मिश्रणमें (Colloids) मिलाकर सूचीवेधद्वारा शरीरमें प्रविष्ट किया जाता है, जिससे वे अणु (Molecules) शरीरमें तत्काल फैल जायँ। परन्तु इन योगोंमें निर्विषीकरण समुचित नहीं होता, जिससे ये योग भी इच्छित फल नहीं देते। कज्जली, रससिन्दूर और मकरध्वजका अन्तर डॉक्टरोंकी समझ में नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्राचीनोंकी रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न करनेकी विधियोंका उन्होंने निष्पक्ष होकर अनुशीलन नहीं किया है। अन्यथा हिन्दु रसतन्त्रकारोंने मनुष्योंके रोगनिवारणके लिए जो बुद्धिवैभव-पूर्वक श्रम किया है उसके लिए उनके मनमें अवश्य ही आदरभाव उत्पन्न होता।

द्रव्योंकी कार्मुकता—

द्रव्य अपनी क्रिया किस कारण करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर देनेमें आयुर्वेद अन्य किसी पद्धतिका ऋणी नहीं है। अर्थात् इस प्रश्नका उत्तर देते हुए इसने किसीके विचार अपनाये नहीं हैं। प्राचीन कालमें द्रव्योंकी रोगनिवारकशक्ति-संबन्धी प्रचलित विचार एक सिद्धान्तके रूपमें व्यवस्थित किये जाकर संहिताकालमें प्रस्तुत किये गये थे। इस कालमें वैशेषिकोंने अनुभवात्मक जगत् (World of Experience) का छः या सात पदार्थोंमें (Catagories) समावेश किया था। इन

पदार्थोंका वर्णन करते हुए वैशेषिकसूत्रमें सत्रह गुण तथा प्रशस्तपादभाष्यमें सात अन्य गुण भी कहे गये हैं। इन गुणोंमें भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) गुणोंका समावेश हो जाता है। ये गुण हमें पदार्थोंके विषयमें कोई न कोई जानकारी देते हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि सांख्यकी परिभाषामें गुणका अर्थ सर्वथा भिन्न है। परंतु आयुर्वेदने इन गुणोंका उपयोग पारिभाषिक अर्थमें किया है। कारण, वैशेषिकोंका उद्देश्य मनुष्योंको पदार्थोंका ज्ञान कराना था, जब कि आयुर्वेदज्ञोंका उद्देश्य द्रव्योंके वैद्यकीय गुण बताना था। अतः उन्होंने अपने तन्त्रके लिए उचित परिभाषा निश्चित की। इस ग्रन्थके १११-११९ पृष्ठोंपर विद्वान् लेखकने यह बात स्पष्ट शब्दोंमें कही है, और सामान्य भाषामें तथा आयुर्वेदकी परिभाषामें गुरु-लघु आदि गुणवाचक शब्दोंका प्रसिद्ध अर्थ बताया है। कालक्रमसे द्रव्योंके गुण अधिकाधिक प्रमाणमें ज्ञात होते गये। फलतः विभिन्न आहार तथा औषध द्रव्योंकी शरीरपर होनेवाली क्रियाओंका ठीक-ठीक निर्देश किया गया। इन आयुर्वेदोक्त गुणोंका वैज्ञानिक परिभाषामें भौतिक, रासायनिक तथा औषधीय गुणोंमें (Physical and chemical properties as well as the pharmacological properties of drugs) समावेश हो जाता है।

इन गुणोंमें रस गुणका जानना सुगम था। कारण, जिह्वाद्वारा उसकी तुरंत परीक्षा हो सकती थी। प्रयोगशालाके किसी भी साधनके सिवाय केवल रसद्वारा द्रव्योंके वर्गीकरणका यह मार्ग अत्यन्त सरल था। इस रसके छः भेदोंके गुण-कर्म निश्चित हुए[1]। पीछेसे समान रसवाले द्रव्योंका उपयोग करनेपर जब उनकी शरीरपर

१—रसके भेद—आधुनिक शरीरव्यापारशास्त्री केवल चार मुख्य रस (Primary Sensations of taste) मानते हैं—तिक्त, लवण, अम्ल और मधुर। उनके मतसे कटु और कषाय गौण रस (Mixed Sensations of taste and touch or taste and odour) है। इसके सिवाय इन छः रसोंके मिश्रणके परिणामरूप असंख्य मिश्र रस उत्पन्न होते हैं, जो द्रव्यविशेष तथा व्यक्तिकी रसग्रहणशक्तिपर आश्रित हैं। यहाँ यह भी कहना योग्य है कि कई तज्ज्ञ छहों रसोंको मुख्य मानते हैं। अर्थात् रसोंके चतुष्ट्व अथवा षट्त्वका प्रश्न अभी पूरी तरह निर्णीत नहीं हुआ। यह मतभेद उपस्थित होनेका कारण यही है कि तिक्त, लवण आदि मुख्य रसवाले द्रव्य जिह्वामें स्थित स्वादाङ्कुरों (Taste buds) और इनमें प्रसृत स्वादवाही (Nerves of taste) नाड़ियोंके तन्तुओंको उत्तेजित करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप हमें स्वादकी प्रतीति (Perception) होती है। परन्तु कषाय और कटुरसवाले द्रव्य जिह्वामें स्थित स्वादग्राही नाड़ियोंके अतिरिक्त अन्य स्पर्शसंज्ञा तथा ऊष्मा, शैत्य, पीडा आदिका वेग वहन करनेवाली नाड़ियोंको भी उत्तेजित करते हैं, जिनके कारण

होनेवाली क्रियाओंमें भिन्नता अनुभवमें आयी तो विदित हुआ कि कितनेक द्रव्योंमें गुण सामान्य स्वरूपमें होते हैं जब कि उन्ही रसोंवाले अन्य कितनेक द्रव्योंमें बलवत्तर स्वरूपमें होते हैं। इन बलवान् गुणसमूहोंको 'वीर्य' यह पारिभाषिक नाम दिया गया। यह प्रश्न अलग है कि यह वीर्य द्विविध है या अष्टविध। वीर्यशब्दका सामान्य अर्थ द्रव्यकी शक्ति (Potency) होता है। परंतु इन रस और वीर्य दोनोंकी सहायता लेनेपर भी कई-एक औषधद्रव्योंके औषधीय गुणोंमें अन्तर प्रतीत हुआ। आहारद्रव्योंपर जठराग्निकी क्रिया होती है तो औषधद्रव्योंपर भी होनी ही चाहिए। इस विचारसे औषधद्रव्योंपर जठराग्निद्वारा होनेवाले परिवर्तनोंका निरीक्षण प्रारम्भ हुआ। अवस्थापाकके वर्णनमें, मुखसे लेकर बृहदन्त्र तक पहुँचते हुए द्रव्योंमें जो भौतिक और रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। लालास्राव, जठररस (Gastric juice), पाचक पित्त (Bile), अन्त्ररस आदिकी विविध क्रियाओंका चरकने अनुभवात्मक दृष्टिसे वर्णन किया है। पाचनक्रियाके अन्तमें जो रस (विपाक) तैयार होता था उसके गुण-कर्म द्रव्यके रस और वीर्यको देखकर निर्णय किये हुए गुण-कर्मोंसे कभी मिलते थे, और कभी विरुद्ध भी होते थे। इस स्थितिमें यह तय हुआ कि द्रव्योंका गुण-कर्म ठीक-ठीक जाननेके लिए यह बात भी दृष्टिमें रखनी चाहिए कि उनपर पाचनक्रिया-का अन्तिम प्रभाव क्या होता है। कारण, यह अन्तिम अवस्थामें तैयार हुआ द्रव पदार्थ अन्त्रद्वारा चूसा जाकर रुधिराभिसरणमें मिल जाता था और शरीरपर अपनी क्रिया करता था। विपाक तीन हैं या दो इस विषयमें भगवान् चरक तथा भगवान् सुश्रुतकी विचारश्रेणियों और शब्दप्रयोगोंकी भिन्नता ही भेदका कारण है, न कि कोई तात्त्विक विरोध, क्योंकि शरीरमें होनेवाले परिवर्तनोंका तो दोनोंने समान रूपसे निर्देश किया है (देखिये इस ग्रन्थका पृ० २६४-२६५)।

जहाँ-जहाँ द्रव्यके गुण, रस, वीर्य और विपाकद्वारा भी उनकी शरीरपर होनेवाली क्रियाएँ विस्पष्ट न हो सकीं वहाँ-वहाँ 'प्रभाव' द्वारा उनका स्पष्टीकरण किया गया। अथर्ववेदमें मणियों और मन्त्रोंका प्रभाव था। वैशेषिक न समझमें आनेवाली घटनाओंका समाधान 'अदृष्ट' द्वारा करते थे। अतः आयुर्वेदने भी इन्ही शब्दोंका प्रयोग प्रारम्भ किया। 'द्रव्यप्रभाव' तथा 'व्याधिप्रभाव' शब्द द्रव्यगुण-विज्ञान और व्याधिविज्ञानमें प्रयुक्त होने लगे[1] और आज भी प्रयुक्त होते हैं।

कषाय तथा कटु रसकी प्रतीति होती है। विस्तारके लिए शारीरव्यापारशास्त्रके आकरग्रन्थ देखिये।

१—उदाहरण:, परमाणुओंका परिस्पन्दन, अयस्कान्त मणिकी ओर सुईका आकर्षण, अग्निका ऊर्ध्वज्वलन, वायुकी तिर्यग्गति और वृक्षोंमें मूलद्वारा चूसे गये

प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंके द्रव्यगुणविज्ञान सम्बन्धी विचार आधुनिक विज्ञानवादियोंके विचारोंसे कितने अंशमें मिलते हैं और कितने अंशमें भिन्न हैं यह देखनेके पहले इतना ऐतिहासिक सत्य स्वीकारना चाहिए कि आयुर्वेदमें स्वतन्त्र और प्रतिभाशाली चिन्तन आजकल बन्द हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारोंसे लेखक और वाचक दोनों न्यूनाधिक प्रमाणमें अभिभूत होते हैं। यह तथ्य माननेके पश्चात् अब हम द्रव्योंके विषयमें विशेष विचार करते हैं।

कर्मभेदानुसार द्रव्योंका वर्गीकरण (Classification of Drugs according to their Pharmacological Actions)।

इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायमें दिये गये नामोंसे स्पष्ट होगा कि इस विषयमें दोनों विचारप्रवाहोंमें बहुत साम्य है। वमन, विरेचन, स्रंसन, शुक्रल, स्तन्यजनन, मूत्रविरेचनीय आदि कर्मोंके कारण द्रव्यभेद दोनोंमें प्रसिद्ध है। परन्तु दोनोंके बीचमें अन्तर भी है। आजकल आधुनिकोंने द्रव्योंका वर्गीकरण शरीरव्यापारशास्त्र (Physiology) के अनुसार द्रव्य मुख्यतः शरीरके किस तन्त्र (System) पर क्रिया करते हैं, इस बातको दृष्टिमें रखकर, और प्रत्येक शरीरयन्त्र (Organ) पर इसकी क्या क्रिया होती है इस पृथक्करणशील (Analytical view point) दृष्टिसे देखना प्रारम्भ किया है। इसके परिणामस्वरूप हमें नाड़ीतन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, मूत्रपिण्डोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, आमाशय तथा अन्त्रोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य, त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य इत्यादि द्रव्यसमूह दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण लेखन, स्नेहन, संशमन, अभिष्यन्दी, प्रमाथी आदि कर्मोंके पर्याय पाश्चात्य द्रव्यगुणविज्ञानमें नहीं मिलते। इस विषयमें विशेष विचार करनेसे विदित होगा कि शरीरके व्यापारोंके ज्ञानमें वृद्धि होनेसे इस शरीरके तन्त्रों तथा यन्त्रोंके कार्योंपर होनेवाली द्रव्योंकी क्रियाके द्योतक शब्दोंमें वृद्धि हुई है। परन्तु रोगकी क्रिया न्यूनाधिक सारे शरीरपर होती है और द्रव्योंकी क्रिया भी

रसका ऊर्ध्वगमन आदि व्यापारोंका समाधान 'अदृष्ट' द्वारा किया जाता था। 'मणिगमनं सूच्यभिगमनमित्यदृष्टकारितम्' (वै. सू. ५-१-२५) तथा 'वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्' (वै. सू. ५-२-७)। आयुर्वेदमें रससंवहनका कारण व्यान वायुके साथ अदृष्टको भी गिनाया है ('अदृष्टहेतुकेन कर्मणा' सु सू. अ. १४)। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ रोगकी संप्राप्ति तथा लक्षणोंकी उपपत्ति दोष-दूष्यविज्ञानसे न हो सकी वहाँ-वहाँ 'व्याधिप्रभाव' शब्द प्रयुक्त होने लगा। उदाहरणतः, ग्रहणीके वर्णनमें—'गृद्धिः काङ्क्षा, एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन व्याधिमहिम्ना वा'। तथा छिन्नश्वासके लक्षणमें 'रक्तैकलोचनत्वं, व्याधिप्रभावात्' माधवनिदानटीका (मधुकोश)।

सारे शरीरपर होती है। इस दशामें शरीरके एकदेशपर या उसकी एक मुख्य क्रियापर होनेवाली क्रियाओंके वाचक शब्दोंका प्रयोजन ही क्या है? इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि—रोगका अर्थ है दोषवैषम्य, यह सारे शरीरके दोषोंकी असाम्यावस्था सूचित करता है। परन्तु कुपित हुए दोष जहाँ स्थान प्राप्त (स्थानसंश्रय) करते हैं वहाँ विकृत प्रकट होती है। अतः रुग्ण शरीरमें कुपित हुए दोषोंके आश्रयरूप स्थानपर क्रिया करनेवाले द्रव्य हमें विदित हों तो चिकित्सामें सरलता होती है। सच पूछें तो शरीरके प्रकृतिस्थ व्यापारोंका ज्ञान जितना अधिक होगा उतना ही विकृतियोंकी चिकित्सा करना सुकर होता है।

इस दृष्टिविन्दुसे हम इस अध्यायका पुनरवलोकन करेंगे तो प्राचीनोक्त औषधीय कर्मोंको आधुनिक पद्धतिसे भी व्यवस्थित कर सकेंगे। यथा—

१ महास्रोतपर असर करनेवाले द्रव्य (Drugs acting on the Alimentary Canal)	वमन, उत्क्लेशकारि, दीपन, पाचन, स्रंसन विरेचन, ग्राहि आदि।
२ रुधिराभिसरणपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Heart and Circulation)	हृद्य, बल्य, संज्ञास्थापन, बृंहण, शोणितास्थापन आदि।
३ मूत्रजननपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Kidneys and Diuresis)	मूत्रसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, मूत्रविरेचनीय आदि।
४ प्रजननयन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Genital system and Sexual Power)	शुक्रल, वाजीकरण, पुंस्त्वोपघाती, प्रजास्थापन, गर्भास्थापन आदि।
५ त्वचापर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Skin and its appendages	स्वेदोपग, स्वेदापनयन, रोमशातन, रोमसंजनन, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न, दाहहर, वर्ण्य आदि।
६ श्वसनयन्त्रपर क्रिया करनेवाले (Respiratory tract)	कासहर, श्वासहर, श्लेष्मप्रसेकी, कफविलयन, लेखन आदि।
७ नाड़ीतन्त्रपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Nervous System)	स्वप्नजनन, मादक, सौमनस्यकर, संज्ञास्थापन आदि।
८ सार्वदैहिक रसव्यापारोंपर क्रिया करनेवाले द्रव्य (Metabolism)	रसायन, बल्य, संशमन, जीवनीय, व्यवायि, विकासि आदि।

इस प्रकार आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके अनुरूप वर्गीकरण भी किया जा सकता है। औषधोंके आयुर्वेदोक्त कर्मोंका स्थानानुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता

है। जैसे—कण्ठ्य, शिरोविरेचनीय, विम्लापन आदि द्रव्योंकी क्रिया स्थानिक (Local) होती है। देहव्यापी क्रिया करनेवाले द्रव्योंकी संख्या बहुत बड़ी है।

इस अध्यायपर दृष्टिपात करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदके द्रव्यसंग्रहमें संज्ञानाशक (Anaesthetics), जन्तुनाशक (Germicidol) तथा निद्राप्रद (Hypnotics) औषधोंकी संख्या नगण्य है। रक्षोघ्न द्रव्य एक प्रकारके जन्तुनाशक द्रव्य हैं, आजकल राक्षसोंकी अपेक्षया जन्तु ही अधिक देखनेमें आते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य द्रव्यसंग्रहमें मेध्य, रसायन, वाजीकरण आदिकी न्यूनता लक्षित होती है। इस विषयमें क्या होना या करना चाहिए इसका निर्णय वाचकोंपर ही छोड़ता हूँ।

औषधीय कर्मोंके कारण (Causes of Pharmacological actions of Drugs)।

जो आयुर्वेदमें प्रयुक्त परिभाषाओंको समझते हैं वे इसमें दिए हुए द्रव्योंका वर्णन समझ सकते हैं। परन्तु देशके दुर्भाग्यसे अनेक सुशिक्षित डाक्टर ये परिभाषा नहीं समझने के कारण आयुर्वेदका द्रव्यगुणविज्ञान समझनेमें असमर्थ होते हैं, जिससे देशको आर्थिक क्षति होती है।

जैसे आहारद्रव्य सब समान नहीं होते और उनकी शरीरपर पोषक क्रिया समान नहीं होती वैसे औषधद्रव्य भी सब समान नहीं होते और उनका रोगनाशक प्रभाव भी समान नहीं होता, यह बात आसानीसे समझमें आ सकती है। औषधोंके गुण-धर्मोंका वर्णन सैकड़ों वर्षोंके अवलोकन और अनुभवका परिणाम है[1]।

कारणोंकी चर्चामें प्रभावको एक ओर रखकर हम गुणोंका ही विचार करते हैं। कारण, गुणोंके विचारके साथ रस, वीर्य और विपाकका भी विचार संकलित हो जाता है।

१—उदाहरणतया, चरक और सुश्रुत दोनोंने घृतको अग्निदीपन माना है (देखिये सु. सू. अ. ४५ तथा च. सू. अ. २७) और इसके इस कर्मको प्रभावजन्य कहा है। वर्तमानमें खाद्यपदार्थोंपर जो परीक्षण हो रहे हैं उनसे विदित हुआ है कि दालों (Pulses) में विद्यमान प्रोटीन (Protein) मूत्रपिण्डों तथा यकृत्पर बुरी असर रखता है। परन्तु दालोंका उपयोग यदि घी या कॉडलिवर ऑइलके साथ किया जाय तो इस बुरी असरसे बचा जा सकता है। घी में स्थित यह गुण एक विशिष्ट पदार्थ (जिसे प्राचीनोंने प्रभाव कहा है) के कारण है, जो यकृत्को बिगड़ने नहीं देता अर्थात् पाचनशक्तिको बिगड़ने नहीं देता (देखिये Indian Medical Gazette, Sept. 1943)। आधुनिक विद्वान् जहाँ-जहाँ विशिष्ट गुणकारक पदार्थ (Active principle) मानते हैं, वहाँ-वहाँ प्राचीन विद्वान् वीर्य या प्रभाव मानते थे।

औषधद्रव्य किस कारण कार्यसाधक होते हैं इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर निम्न दिया गया है ।—

तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम् ।
किंचिद्रस-विपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥

(सु. सू. अ. ४०) ।

द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद्, गुणप्रभावाद्, द्रव्य-गुणप्रभावाच्च कार्यकराणि भवन्ति ॥

(च. सू. अ. २६) ।

इस उत्तरका विस्तार इस ग्रन्थके विभिन्न अध्यायोंमें आ गया है । जैसे आधुनिक विज्ञानवादी द्रव्योंके गुणोंका खुलासा उनके संघटन (Structure of composition) की दृष्टिसे करते हैं उसी प्रकार प्राचीन आचार्योंने द्रव्योंके गुणोंका खुलासा उनके पाञ्चभौतिक संघटनको दृष्टिमें रखकर किया है । परन्तु शरीरके संपर्कमें आनेके पश्चात् द्रव्यके जो औषधीय गुण देखनेमें आते हैं उनमें शरीरमें स्थित पदार्थोंकी द्रव्योंपर होनेवाली क्रियाओंका भी अन्तर्भाव हो जाता है । अतः गुणोंको कर्मानुमेय कहा है । आशय यह है कि द्रव्य रोगीको देकर उनकी क्रिया देखे विना उसके गुणोंका निश्चय नहीं हो सकता । द्रव्योंकी दोषहरण शक्तिकी (दोषकरण शक्तिको भी) वास्तविक परीक्षा मनुष्य शरीरपर किये गये परीक्षणोंद्वारा ही हो सकती है ।

मद्य तथा विषके वर्णनमें और दीपन, पाचन, व्यवायी, विकासी, वाजीकरण आदिके वर्णनमें जो शैली दिखाई देती है वह आधुनिक द्रव्यविज्ञानके ग्रन्थमें स्थान पाने लायक है । यह वर्णन बहुत ही सुसंबद्ध है । इससे द्रव्योंके कर्मोंका वर्णन करते हुए उनके गुणोंका वर्णन, द्रव्योंकी शरीरमें होनेवाली गति तथा उसमें होनेवाले परिवर्तनोंकी जानकारी परंपरासे हो जाती है ।

यह विषय सरलतासे समझनेके लिए हमें कुछ बातें दुहरानी पड़ेंगी । आहार-द्रव्योंका पाचन होकर उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाला रसका सारभाग अन्त्रों-द्वारा शोषित होकर रसधातु बनता है । यह सारे शरीरमें फिरता हुआ समस्त धातुओंका पोषण करता है (देखिये—सुश्रुत सू. अ. १४) । पोषणक्रम समझाते हुए तीन दृष्टान्त दिये गये हैं—क्षीरदधिन्याय, केदारीकुल्यान्याय तथा खलेकपोत-न्याय । औषधद्रव्योंकी गति भी इस क्रमके अनुसार है[१] । विपाक (जिनकी

१—आयुर्वेदिक वाङ्मयमें यकृत्, फुप्फुस तथा मूत्रपिण्ड जैसे महत्त्वपूर्ण आशयोंका वर्णन नहीं पाया जाता । सूत्रात्मक अथवा अव्यक्त निर्देश विद्यार्थियों या वाचकोंको लाभकर नहीं होता । द्रव्योंके गुण-कर्मकी चर्चामें ये आशय बारंबार आते हैं । यकृत् पाचन तथा रक्तोत्पादनकी क्रियामें जैसा महत्त्वका भाग लेता है

चर्चा आगे होगी) होनेके पश्चात् द्रव्य रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होते हैं। कई द्रव्य धीमेसे चूसे जाकर और कई शीघ्र चूसे जाकर सारे शरीरमें फैल जाते हैं। कई संपूर्ण धातुओंपर धीमे-धीमे क्रिया करते हैं और कई शीघ्र ही अमुक धातु (Tissue) पर क्रिया करते हैं (मन्द, तीक्ष्ण)। इस बातको उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं।

दीपन—ये द्रव्य जठराग्निको प्रदीप्त करते हैं, अर्थात् जठररसको बढ़ाते हैं जिससे भूख अधिक लगती है, जैसे भाँग। पाचन द्रव्य आमको पचाते हैं परन्तु जठररसमें विशेष वृद्धि नहीं करते, जैसे नागकेसर। इन कर्मोंका कारण द्रव्योंका पाञ्चभौतिक संघटन कहा गया है। पृथ्वी और वायुके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्य दीपन तथा अग्निके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्य पाचन कहे गये हैं। आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञान इन कर्मोंका कारण इन द्रव्योंके संघटनमें स्थित विशिष्ट गुणजनक पदार्थोंका होना बताता है। दीपन और पाचन दोनों सहकारी शरीरव्यापार हैं और इनका स्थान मुख्य करके आमाशय है। आढमल्लने इनका समाधान द्रव्य-प्रभावद्वारा किया है। रसवैशेषिकमें दिया समाधान अधिक युक्तियुक्त है। यहाँ यह भी उल्लेख करना चाहिए कि दीपन और पाचन दोनों कर्म कर सकनेवाले द्रव्य अनेक हैं। दीपन और आमपचन कर्म स्थानिक कर्म हैं। सो यह इन द्रव्योंकी आमाशयपर होनेवाली क्रिया हुई। इसके पश्चात् ये द्रव्य रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होकर शरीरमें संचार करते हैं और अन्य औषधीय गुणोंको प्रकट करते हैं। जैसे भाँग और नागकेशरकी शरीरपर क्रिया प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वमन, छर्दिनिग्रहण इत्यादि कर्मोंका समाधान किया जा सकता है।

अब हम इसी पद्धतिसे अन्य गुणोंकी परीक्षा करेंगे।

आशु (आशुकारी), व्यावायी, विकासी आदि गुण रुधिराभिसरणद्वारा होनेवाला द्रव्यका प्रसर सूचित करते हैं। द्रव्योंके इन गुणोंके कारण वे रुधिरमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं ; जैसे मद्य[1]। मद्यका पाक रुधिरमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर

ऐसा ही महत्त्वका भाग यह शरीरको विषद्रव्योंसे बचानेमें भी लेता है। मूत्रपिण्ड विषरूप द्रव्योंको शरीरसे बाहर करनेमें महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। कितनेक औषध-द्रव्य शरीरके अनेक स्रोतोंद्वारा बाहर निकल जाते हैं। मल, मूत्र, स्वेद, श्वासोच्छ्वास, आर्तव आदिमें इनका अस्तित्व पाया जाता है (देखिये प्रमाथी द्रव्योंका वर्णन)। मेरी नम्र संमतिमें, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानकी दृष्टिसे द्रव्योंके शरीरमें प्रसर, संचय और निःसरणका वर्णन करना विद्यार्थियोंके लिये हितावह होगा।

१—द्रव्योंके गुणकर्मोंके विषयमें सभी तज्ज्ञ एकमत हों यह संभव नहीं ; जैसे—मद्यके विषयमें। मद्यको सुश्रुत शुक्रनाशक कहता है पर भेल इसे वृष्य

शुरू होता है और वह (मद्य) शरीरके प्रत्येक कोषको वेष्टित कर लेता है[1]। इसके पश्चात् इसके अन्य गुण उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष आदि प्रकट होते हैं। इसी भाँति विषद्रव्य भी शीघ्र ही रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं और शरीरके विविध तन्त्र-यन्त्रोंपर अपनी क्रिया करते हैं। इन क्रियाओंका वर्णन गुणवाचक शब्दोंद्वारा किया गया है। चरकने कल्पस्थानमें वमन और विरेचन द्रव्योंकी क्रिया समझाते हुए इन द्रव्योंके वीर्य की क्रिया हृदयपर होती हुई कही है 'स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य' (देखिये इस ग्रन्थमें पृ० ६४), यद्यपि द्रव्य महास्रोतमें स्थित होते हैं। मदनफलका वमनकर्म तथा त्रिवृतका विरेचनकर्म आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके अनुसार इनमें स्थित विशिष्ट गुणकारक तत्त्वोंके कारण हैं। इन तत्त्वोंको यदि इन द्रव्योंसे पृथक् कर दिया जाय तो इन द्रव्योंकी वमन और विरेचन करानेकी शक्ति नष्ट हो जायगी।

द्रव्योंके गुणोंमें रस गुण (Taste) का स्थान प्रधान है। रसको आप्य विशेषण दिया गया है, जो सार्थक है। कारण, जड़द्रव्यके (Matter) विकासक्रम में जबतक जलावस्था (Liquid state) न आवे तबतक रसका आविर्भाव नहीं होता। इसी प्रकार यदि किसी अद्राव्य (Insoluble) पदार्थका जिह्वाको स्पर्श हो तो जिह्वाको रसकी प्रतीति नहीं होती। अर्थात् रसकी प्रतीतिके लिए द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके। यदि द्रव्यके अमुक परमाणु भी जिह्वापर स्थित स्रावके साथ न मिल जायँ—द्रवित न हो जायँ—तो हमें रसकी प्रतीति नहीं होती। रसभेदका कारण 'शेषभूतसंसर्ग' है—इस सूत्रकी आधुनिक विज्ञान पुष्टि करता है। एवं, 'रसो निपाते द्रव्याणां' यह परीक्षाविधि भी यथार्थ है, शर्त इतनी है कि द्रव्य ऐसा होना चाहिए कि वह द्रवित हो सके। सोना,

---

ही समझते थे, कारण आरम्भमें इसका हर्षण गुण व्यक्त होता है। परन्तु अधिक सेवनसे ओजस् और शुक्रका नाश होता है। कदाचित् भेलने तात्कालिक क्रियाका निर्देश किया हो और सुश्रुतने आनुबन्धिक (न्यूनाधिक कालके पश्चात् होनेवाली) क्रियाका। मद्यके शेष गुणोंका वर्णन लगभग समान है। देखिये भेलसंहिता पृ० २१६। 'हर्षणाद् वृष्यमुच्यते'; तथा 'तीक्ष्णं चोष्णं तथा रूक्षमाशुकायी व्ययी च'। इस प्रकार मुद्रित उपलब्ध संहिताका पाठ भ्रष्ट है। 'आशुकारि व्यवायि च' यह पाठ होना चाहिए, जिससे संहिताओंमें एकवाक्यता रह सकेगी। हाँ, यह पाठशुद्धि सूचित करता हुआ मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ जो मानते हैं कि वर्तमानमें उपलब्ध संहिताओंके पाठ शुद्ध हैं।

१—'शरीरावयवान् सर्वाननुगच्छत्यणूनपि' (भे.); 'विशत्यवयवान् सूक्ष्मान्' (सु.)।

२४

चांदी आदि कठिन पदार्थोंको जिह्वापर लगानेपर उनके रसका स्पष्ट भान नहीं होता। तथापि जिह्वापर स्पर्शकी संज्ञा होती है, जिसे विज्ञानवादी धातवीय रस (Metallic taste) कहते हैं। रसयुक्त द्रव्य त्वचापर छुआनेसे भी क्रिया होती है, परन्तु उसे रसकी संज्ञा नहीं होती। कषाय और कटुरसवाले द्रव्योंकी त्वचापर स्थानिक क्रिया होती है यह सर्वविदित है।

विविध रसोंवाले द्रव्योंके वर्णनमें (देखिये अध्याय ३, पृ० १६३-१८०) रसोंकी मुख और महास्रोतपर होनेवाली स्थानिक क्रियाओं तथा सार्वदेहिक पारंपरिक क्रियाओं (General and indirect action)का भी वर्णन हुआ है। वह आधुनिक विज्ञानसे संपूर्णतः मिलता है। तथापि, आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानमें द्रव्योंका वर्गीकरण रसप्रधान नहीं पाया जाता, किन्तु विभिन्न रसोंवाले औषधोंका तथा इन रसोंसे युक्त द्रव्योंके गुण-कर्मोंका वर्णन पाया जाता है। पहले कह आये हैं कि आधुनिकोंका वर्गीकरण शारीरिक व्यापारोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टिसे देखें तो आधुनिक द्रव्यगुणविज्ञानके ग्रन्थोंमें शर्करासमूह-(Sugars) के वर्णनमें मधुररसके गुण-कर्मोंका, एसिडों या अम्ल पदार्थोंके (Acids) वर्णनमें अम्लरसके गुण-कर्मोंका, क्षारों (Salts) के वर्णनमें लवण रसके गुण-कर्मोंका, उड्डयनशीलतैलवर्ग (Volatile oils) के वर्णनमें कटुरसके गुण-कर्मोंका, तिक्तवर्गके (Bitters) वर्णनमें तिक्तरसके गुण-कर्मोंका और ग्राहीवर्ग-(Astringents) के वर्णनमें कषायरसके गुण-कर्मोंका वर्णन उपलब्ध होता है। अतः जिज्ञासुओंको आकर ग्रन्थोंमें इस विषयका विस्तर देख लेना चाहिए।

सब रस एक समान बलवाले नहीं होते। यह बात उनकी जिह्वापर होनेवाली स्थानिक क्रिया तथा शरीरपर होनेवाली सामान्य क्रियासे सिद्ध होती है। (देखिये अध्याय ३, पृ० १५१-१६२)। यदि जिह्वापर विभिन्न रसोंवाले द्रव-द्रव्य छुआए जावें तो इस बातका तत्काल अनुभव किया जा सकेगा। मधुररस सबसे अधिक बलवान् है और कषायरस सबसे दुर्बल है। इसी कारण रोगी जब अत्यन्त निर्बल हो गया हो तो उस अवस्थामें मधुररसवाले द्रव्य मुखद्वारा, त्वचाके नीचे किंवा सिराव्यधद्वारा दिये जाते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कई एक औषधद्रव्य जिह्वाकी रसग्राही शक्तिका कुछ कालके लिये लोप कर देते हैं। उदाहरणतया कोकेन (Cocaine) लेनेसे जिह्वा तिक्तरसका और मधुनाशिनी (गुड़मार=Gymnema Sylvestre) लेनेसे मधुर रसका अनुभव नहीं कर सकती। यह प्रभाव थोड़े समयमें लुप्त हो जाता है।

इन रसोंको लक्ष्यमें रखकर द्रव्योंका एक अन्य भी वर्गीकरण किया गया है (देखिये—अ. ३, पृ० २२१-२२२)। इसके पूर्व पहले अध्यायमें कर्मभेदके अभिप्रायसे किया गया वर्गीकरण वाचकोंके ध्यानमें होगा। इस वर्गीकरणका

उद्देश्य द्रव्यगुणविज्ञानका क्षेत्र बढ़ाना है। रसोंकी शरीरके विभिन्न अङ्गोंपर होनेवाली क्रिया अनुमानगम्य है—रोगीकी अवस्थाद्वारा रसोंके दोषसंजनन या दोषसंशमन कर्मका अनुमान किया जा सकता है। इसके बाद पुनः अवलोकनपद्धतिका अवलम्बन करना होता है और यह अवलोकन मानवशरीरपर होना चाहिए, न कि केवल प्राणियोंपर।

द्रव्योंके प्रधान गुण रसका विचार संपूर्ण हुआ। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि आयुर्वेदके सिवाय अन्य किसी चिकित्सापद्धतिमें रसके प्रति इतना लक्ष्य नहीं दिया गया है।

अब हम विपाकका (अ. ४) विचार करते हैं। आहारद्रव्यों और औषधद्रव्योंके शरीरमें जानेपर उनकी क्या दशा होती है यह प्रत्यक्ष प्रमाणका नहीं किन्तु अनुमानका विषय है। अतः कर्मनिष्ठाके सिवाय इसे जाननेका कोई उपाय नहीं है। पहले हम आहारद्रव्योंका और पश्चात् औषधद्रव्योंका विचार करेंगे।

अवस्थापाक (Stages of Digestion)—भगवान् चरकने इसका विचार ग्रहणीचिकित्सामें विस्तारसे किया है (इसी ग्रन्थमें पृ० २२९)। मुखमार्गसे प्रविष्ट होकर बृहदन्त्रतक पहुँचनेतक आहारद्रव्योंमें होनेवाले भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनोंका (Physical and Chemical Changes) इसमें निर्देश है। पाचनसंस्थान (Digestive System)के इन व्यापारोंमें नाड़ीसंस्थान (Nervous system) भी भाग लेता है, जो प्राण और समान वायुके कर्मोंद्वारा अभिप्रेत है। इसके बाद मुख, आमाशय, ग्रहणी तथा बृहदन्त्रमें होनेवाले परिवर्तनोंका उल्लेख है। इस प्रकरणमें जठराग्निका अर्थ है आधुनिक विज्ञानवादियोंके पाचनक्रियामें भाग लेनेवाले रस तथा किण्वद्रव्य (Digestive fluids and Enzymes); जैसे लालास्राव, जठररस, अग्न्याशयरस, अन्त्ररस, पेप्सीन आदि। अवस्थापाक होते हुए मलरूप कफ, पित्त और वातकी भी उत्पत्ति होती है, यह बात शरीरव्यापारशास्त्रका कोई भी आधुनिक आकरग्रन्थ पढ़नेसे स्पष्ट समझमें आएगी। इस प्रसंगमें प्रत्येक अभ्यासीको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए और विद्वान संग्रहकारने भी अपनी टिप्पणीमें यह बात स्पष्ट की है कि यहाँ कही गयी उत्पत्ति त्रिधातुरूप वात-पित्त-कफकी उत्पत्ति नहीं है[1]।

विपाक-निष्ठापाक (Final Product of Digestion)—पाचनक्रियाके परिमाणस्वरूप जो द्रव्य-पदार्थ बनता है उसका सारभाग—प्रसादरूप भाग

१—यह वस्तुस्थिति स्पष्ट न समझनेसे वात-पित्त-कफकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कैसी उलझन पैदा होती है यह जाननेके लिए देखिये कविराज डी. एन. रॉयकृत The Principles of Tridosh in Ayurved' प्रकरण १३, पृ० १०१।

हृदयकी ओर जाता है, और किट्टरूप भाग मल-मूत्रके रूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। यहाँ स्पष्टीकरणके लिए यह लिख देना योग्य है कि प्रसादरूप आहार-रस दो मार्गों—प्रतिहारिणी सिरा तथा रसकुल्या-द्वारा हृदयमें जाता है। एवं किट्टभाग सीधा बस्ति (Bladder) में नहीं जाता, परन्तु मूत्रपिण्डों (Kidneys) द्वारा विश्लिष्ट होकर बस्तिमें जाता है। आयुर्वेदिक वाङ्मयमें यह बात स्पष्ट रूपमें कही नहीं गयी है, यह मेरा नम्र मत है[२]। इस विपाकके परिणामस्वरूप तैयार होनेवाले द्रव्य-पदार्थका भी अपना रस (Taste) होता है, जो अनुमानगम्य अथवा कार्यानुमेय है। यह रस मधुर, अम्ल अथवा कटु हो सकता है, ऐसा त्रिविधविपाकवादी कहते हैं। आधुनिक विज्ञान इसका समर्थन करता है। कारण, आजकल परीक्षणोंसे ज्ञात हुआ है कि प्रोटीनोंके पचनके अन्तिम परिणाम-स्वरूप एमाइनो एसिड (Amino acids) नामके अम्ल पदार्थ तैयार होते हैं। इसी प्रकार आहारके कर्बोदित या स्टार्चवाले पदार्थोंके पाचनके परिणामरूप ग्लुकोज (Glucose) नामक मधुर पदार्थ तथा चरबीवाले या स्निग्ध पदार्थोंके पचनके परिणामरूप कटुरसप्रधान फॅटी एसिड्स और ग्लिसेरोल (Fatty acids and Glycerol) नामके पदार्थ तैयार होते हैं। निष्ठापाकके परिणामरूप कौन रस (या किस रसवाला द्रव पदार्थ) बनता है, यह द्रव्यविशेषपर—आहारद्रव्यके प्रकारपर—अवलम्बित है। तथा विपाकमें विपर्यास होना या न होना यह द्रव्यके प्रमाण, संस्कार, सात्म्य आदिपर अवलम्बित है (अध्याय ४, पृ० २६३)। यहाँ द्विविधविपाकवादियोंके मतका—गुणविपाकवादका—भी विचार करना उचित है। गुणोंकी दृष्टिसे देखें तो यह मत भी विज्ञानसंमत है। कारण, आहारद्रव्योंका पाचन होनेके पश्चात् जो रस तैयार होगा वह या तो गुरु होगा या लघु। विज्ञान कहता है कि सामान्य परिस्थितिमें प्रोटीनोंका (Proteins) पाक गुरु होता है, और कर्बोदितों (Carbohydrates) तथा स्निग्ध द्रव्यों (Fatty articles) का पाक लघु होता है। फलितार्थ यह कि दोनों विपाकवादियोंके मत शास्त्रीय और सत्य हैं, तथा अनुभव और अवलोकनके आधारपर स्थापित हैं।

महास्रोतमें आहारद्रव्योंकी जठराग्निकी क्रियाके परिणामरूप क्या दशा होती है यह हमने देखा। परन्तु इस सौम्य आहाररसका शोषण होनेके पश्चात् इसमें अन्य असंख्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनोंका अनुमान देहके स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारण आदिके द्वारा हो सकता है। रुधिरप्रवाहमें प्रविष्ट होनेके पश्चात् धमनियों-

---

२—स्व० पं० हरिप्रपन्नजी तथा म० म० कविराज गणनाथ सेनजीने मूत्रपिण्डोंके व्यापारके सम्बन्धमें जो खुलासा किया है वह मुझे संतोषप्रद नहीं लगता।

द्वारा शरीरमें फैलते हुए इनमें अन्य भी पाकक्रिया होती है या नहीं यह प्रश्न विचारने योग्य है। शरीरसे बाहरकी दृश्य सृष्टिमें अग्नि और सूर्यकिरणोंकी उष्णतासे पाकक्रिया होती है। शरीरमें जठराग्निके अतिरिक्त कोई अग्नि है या नहीं यह प्रश्न है। भगवान् चरकने इसका उत्तर 'हाँ' में दिया है और पाँच भूताग्नियों और सात धात्वग्नियोंका अस्तित्व प्रतिपादित किया है (देखिये च. चि. अ. १५, श्लो. १३-१५)। साथ ही यह भी कहा है कि ये बारह अग्नियाँ जठराग्निके आश्रित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जिसे मेटाबोलिज्म (Metabolism) अथवा आन्तर्देहिक रासायनिक परिवर्तन कहते हैं उन परिवर्तनोंका आयुर्वेदाचार्योंने धातुओंके उत्पत्तिक्रम तथा बारह अग्नियोंकी क्रियाओंमें समावेशित किया है[1]।

आहार द्रव्योंके पाचनके परिणामस्वरूप-विपाकके अन्तमें-सारभूत आहाररस हृदयमें जाता है और रसधातु नामसे अभिहित होता है। इससे अन्य धातुएँ बनती हैं। परन्तु रस जैसे द्रव पदार्थसे अस्थि जैसी कठिन धातुका बनना क्या कम चमत्कार है? इस घटनाके लिए एक पाकक्रियाकी आवश्यकता है, और इसके लिए विशिष्ट गुण-धर्मवाला अग्नि होना चाहिए।

आयुर्वेदाचार्योंके कहे हुए इन अग्नियोंके व्यापारोंको समझनेमें आधुनिक विज्ञान बहुत उपयोगी है। रजस् और शुक्रके सम्मिलनके फलस्वरूप एक फलित बीजकोष (Fertilized Ovum) उत्पन्न होता है, जिससे करोड़ों कोष उत्पन्न होते हैं, और उनके आकार तथा गुण-धर्मोंमें परिवर्तन होता है। इनका आहार—नाभिनाड़ीद्वारा मिलनेवाला माताका आहाररस—एक होते हुए भी क्यों कोषोंके आकार और गुण-धर्मोंमें भेद आता है? क्यों उनके भौतिक एवं रासायनिक गुणोंमें भिन्नता होती है? इसका उत्तर स्वभाव, प्रकृति, ईश्वर जो कहो वह है[2]।

१—डॉ धीरेन्द्रनाथ बनरजीने इस देहोष्माको चौदहवें अग्निके नामसे पुकारा है। यह चौदहवाँ अग्नि इनका मानसपुत्र है। कारण, आयुर्वेदमें चौदहवें अग्निका निर्देश ही नहीं है और देहोष्माको भ्राजक पित्तका कर्म कहा है। देखिये—सुश्रुत. सू. अ. १६. 'ऊष्मा शरीरोष्मा, स त्वक्स्थभ्राजकपित्तस्य कर्म'—चक्र०। इसी प्रकार म. म. क. गणनाथसेनजीने आग्नेयरससंवहनका वर्णन किया है, जो भ्रान्तिमूलक प्रतीत होता है; कारण सुश्रुतने आहाररसको जोर देकर 'सौम्य' कहा है।

२—'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा। परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः॥ सु. शा. अ. १।' सजीव तथा निर्जीव सृष्टिके पार्थक्यका कारण शोधनके लिए मनुष्य जाति प्राचीन कालसे संलग्न है। इस विचारमन्थनके

परन्तु इनके निरीक्षण तथा परीक्षासे ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न प्रकारके कोष भिन्न-भिन्न धातुओंका निर्माण करते हैं और अपने अनुकूल पदार्थ आहाररसमेंसे लेकर जीवननिर्वाह करते हैं। उदाहरणतया, रुधिर लोहको (Iron) पसन्द करता है, ज्ञानतन्तु फॉस्फरस तथा प्रोटीनों (Nucleoprotein) को, मांसपेशियाँ भी प्रोटीनोंको तथा अस्थियाँ चूनेके क्षारोंको (Calcium Salts) खूब संचित करती हैं। खलेकपोतन्यायके समान अपने अपनेको पसन्द आहार ग्रहण करनेवाले ये भिन्न-भिन्न धातुओंके निर्मापक कोष, ग्रहण किये हुए पदार्थको जैसेका तैसा अपने अङ्गमें समाविष्ट नहीं कर लेते, किन्तु इन पदार्थोंको किञ्चित् बदलकर, अपने लिए सात्म्य रूप देकर अपने-कोषमें प्रविष्ट करते हैं। आहारद्रव्यगत प्रोटीन, कार्बोहाइ-ड्रेट तथा स्नेहवाले पदार्थ जठराग्निके पाकके विना तथा उसके अनन्तर धातुओंके कोषोंमें होनेवाली पाकक्रियाके विना शरीरके लिए उपयोगी नहीं होते। एक सीधा दृष्टान्त लें। दूध एक उत्तम आहारद्रव्य है, परन्तु तभी जब कि जठराग्निद्वारा इसका सम्यक् पाक हो। जब दूधके केवल पन्द्रहसे बीस बिन्दु सूचीवेधद्वारा त्वचाके नीचे प्रविष्ट किये जाते हैं तो मनुष्यको सहसा ज्वर हो आता है। कारण, दूधका पोषक तत्त्व (Protein) सम्यक् परिणत न होनेके कारण अमृतके स्थानपर विषकी क्रिया करता है। फलितार्थ यह कि शरीरके अन्य बारह अग्नि जठराग्निकी प्राथमिक क्रियाके विना अपना कार्य ठीकसे नहीं कर सकते। अतएव इसे सर्वोपरि मान दिया गया है—'अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः'—(च. चि. अ. १५)। रस, रक्त आदि धातुओंमें ये धात्वग्नि तथा भूताग्नि रहते हैं। प्रत्येक धातुका अग्नि इन धातुनिर्मापक कोषोंमें (Tissue Cells) प्रवर्तमान भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनोंका मूल है, जब कि इन धातुओंका भूताग्नि इस बातका निर्णय करता है कि इनमें कौन-सा महाभूत अधिक प्रमाणमें रहता है। उदाहरण-तया, कर्णेन्द्रियमें आकाश, जिह्वामें जल, घ्राणेन्द्रियमें पृथ्वी इत्यादि। आधुनिक विज्ञानवादी अपनी दृष्टिसे प्रत्येक धातुका विशिष्ट रासायनिक संघटन बताते हैं। संक्षेपमें कहें तो विपाकक्रिया बहुत लम्बी और उलझनभरी है और सभी अग्नि इसमें थोड़ा-बहुत भाग लेते हैं।

अब इन तथ्योंको लक्ष्यमें रखकर औषधद्रव्योंका विचार करते हैं। इनके ऊपर पहले जठराग्निकी और पीछे धात्वग्नियों और भूताग्नियोंकी क्रिया होती है। कई औषधद्रव्य—व्यवायी या विकासी, जैसे मद्य—जठराग्निकी क्रिया पूरी होनेके

परिणामस्वरूप जो-जो मुख्य वाद सामने आये उनका सुन्दर निर्देश इस श्लोकमें भगवान् सुश्रुतने किया है। आयुर्वेदाचार्योंने इन सबोंका समन्वय करके अपना चिकित्सा-शास्त्र रचा है।

पूर्व ही रुधिरप्रवाहमें मिल जाते हैं और अपने औषधीय कर्म व्यक्त करने लगते हैं। परन्तु धात्वग्नियोंकी क्रियासे वे नहीं बच सकते और भिन्न-भिन्न धातुओंमें (Tissues) इनका पाक होने लगता है। परन्तु औषधद्रव्योंमें अधिकांश जठराग्निके संपर्कमें आते हैं। परिणामतः द्रव्योंका रूपान्तर होता है, कइयोंका नाश भी होता है और कई द्रव्य विशेषतः खनिज द्रव्य—(Metals) थोड़ी पाकक्रियाके बाद मलद्वारसे शरीरके बाहर निकल जाते हैं। इसी कारण धातुओंकी भस्में तैयार करते हुए इनका वारंवार पाक किया जाता है, जिससे शरीरके अग्नियोंका कार्य सुगम हो जाता है, तथा दोषप्रकोपक गुणोंका नाश होकर दोषहरण या दोषसंशमन गुणोंका आधान होता है। विज्ञानकी परिभषामें कहें तो भस्मोंके परमाणुओंमें ऐसे गुण उत्पन्न किये जाते हैं कि जिनकी सहायतासे ये परमाणु शारीरिक कोषोंके जीवनरस (Protoplasm) में सरलतासे मिल सकते हैं और अपने औषधकर्म (Pharmacological action) व्यक्त कर सकते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राणिजन्य औषध शरीरमें शीघ्र मिल जाते हैं और उनका विपाक सरलतासे होता है। परन्तु खनिजद्रव्य निरिन्द्रिय होनेसे विपाकमें कठिनाई होनेसे शीघ्र शरीरमें मिल नहीं सकते। ये द्रव्य किस प्रकार प्रयुक्त किये जानेसे शरीरके लिए उपकारक हो सकते हैं इस विषयमें प्राचीन और अर्वाचीन द्रव्यगुणविशारद अबतक एकमत नहीं हुए हैं।

वीर्य (अध्याय पाँचवाँ)—शक्तिमात्रवाचक वीर्य (Potency) शब्दका इस प्रकरण में विचार नहीं किया जायगा। परन्तु आयुर्वेदाचार्योंद्वारा पारिभाषिक अर्थमें व्यवहृत वीर्यका ही हम इस स्थलपर विचार करेंगे। आयुर्वेदके परिभाषित वीर्यका अर्थ क्या है? द्विविध तथा अष्टविधवीर्यवादियोंकी युक्तियाँ पढ़नेके पश्चात् प्रभूतकार्यकारी गुण—प्रकृष्टशक्तिसंपन्न गुण—ही वीर्य है यह मत मुझे ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। मुझे बौद्ध द्रव्यगुणवेत्ता भदन्त नागार्जुनकी युक्तियाँ स्वीकार्य लगती हैं। औषधद्रव्योंमें ऐसी कौन शक्ति है जिसका उनके (औषधद्रव्योंके) गुणों, रस, विपाक और प्रभावमें समावेश नहीं हो सकता? तथा, तुल्य गुण, रस, विपाक और प्रभाववाले द्रव्योंके औषधीय कर्मों (Pharmacological action) में भिन्नताका कारण क्या है? वीर्यके अस्तित्वके विषयमें तो कोई शङ्का ही नहीं है। मेरी नम्र बुद्धिके अनुसार वीर्यका अर्थ है औषधद्रव्योंमें स्थित विशिष्टगुणोत्पादक तत्त्व (Active Principles), जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। द्रव्योंका रासायनिक पृथक्करण (Chemical Analysis) करनेके साधन जब आजके समान विपुल तथा सुलभ नहीं थे तब भी इनका अस्तित्व तथा इनके औषधीय कर्मोंका ज्ञान प्राचीन आयुर्वेदाचार्योंको हो गया था और चिकित्सामें औषधद्रव्योंका उपयोग करते हुए उनके वीर्यको विशेषतः ध्यानमें रखा जाता था

यह गौरवास्पद बात है। भदन्त नागार्जुनने प्रचलित मतका—गुणोत्कर्षवादका—विरोध किया, पर कर्मलक्षण वीर्यका ज्ञान उन्हें भी नहीं हुआ[1]। आजकल औषधद्रव्योंमेंसे इन तत्त्वोंको पृथक् करके इनकी परीक्षा की जाती है। यहां प्रश्न यह होता है कि इस वीर्य और द्रव्यका सम्बन्ध क्या है? इसका उत्तर यह है कि जैसे गुण, रस, विपाक, प्रभाव आदि द्रव्याश्रित हैं वैसे यह वीर्य भी द्रव्याश्रित है। उदाहरणतया, अहिफेन हो तो ही मोर्फीन (Morphine) रह सकता है; किंवा, विषतिन्दुक—कुचला (Nuxvomica)के आश्रयसे इसका वीर्य स्ट्रिक्नाइन (Strychnine) रह सकता है। अन्य शब्दोंमें कहें तो आधुनिक विज्ञानवादियोंके मतसे द्रव्य और वीर्य-गुणकारक तत्त्वोंके मध्य आधाराधेयभाव सम्बंन्ध है। द्रव्यके बिना वीर्यका अस्तित्व संभव नहीं और द्रव्यके गुणोंका अर्थ है वीर्ययुक्त द्रव्यके गुण। अब आयुर्वेदाचार्योंद्वारा निश्चित की गयी व्यवस्थाके अनुसार वीर्यकी परीक्षा करते हैं।—'वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते'।—निपात अर्थात् वीर्ययुक्त द्रव्य और जिह्वा-नासिका आदिका संयोग होते ही वीर्यके अस्तित्वकी प्रतीति होती है। परन्तु जब इस प्रकारसे वीर्यकी उपलब्धि न हो सके तो शरीरमें वीर्ययुक्त द्रव्य जबतक रहे तब तक शरीरपर होनेवाली वीर्यकी क्रियाद्वारा उसके वीर्यके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। परीक्षाकी इस व्यवस्थाके अनुसार भी आधुनिक विज्ञानवादियोंके गुणकारक तत्त्व मुझे प्राचीन आचार्योंके वीर्य ही प्रतीत होते हैं। वीर्य चिन्त्य भी हो सकता है और अचिन्त्य भी।

भदन्त नागार्जुन तथा अन्य महान् आयुर्वेदाचार्योंके मतसे वीर्य विविध प्रकारके हैं। आधुनिक विज्ञान भी वीर्य अनेक प्रकारके मानता है। देश, ऋतु,

---

१—कितनेक द्रव्योंमें तुल्य रस-गुण होते हुए भी कर्मोंमें भिन्नता पायी जाती थी। यह कर्मभेद गुणोत्कर्षके कारण हो तो इस गुणोत्कर्षका कारण क्या है? (देखिये पृ० २८५-२९१)। वीर्य कर्मलक्षण होता है यह कहनेपर भी वीर्य अचिन्त्य ही रहता है। अस्य कर्मविशेषस्य दर्शनादेतस्माद् रसगुणाख्यात् कारणमन्यद्विद्यते। 'अस्य विशेषस्य साधकं तद् वीर्यमिति जानीम' इति (भा०) ये शब्द मेरे इस मतकी पुष्टि करते हैं कि इस भेदका जो साधक हो उसे 'वीर्य' कहते हैं। अर्थात् आधुनिक विज्ञानके 'एक्टिव प्रिंसिपल्स' (Active Principles) की विद्यमानताके कारण ही तुल्य रस-गुणवाले द्रव्योंमें कर्मभेद एवं गुणोत्कर्ष पाया जाता है। द्रव्य वीर्यरहित अर्थात् सामान्य गुणवाले भी हो सकते हैं। मैं 'प्रबल आठ गुण ही वीर्य हैं' इस लक्षणको बदलना नहीं चाहता। मैं तो केवल कारण बताता हूँ।

भूमि इत्यादिकी क्रिया द्रव्योंपर अर्थात् उसमें स्थित वीर्यपर—गुणोत्पादक तत्त्वोंपर—होती है, यह बात सब तज्ज्ञ स्वीकारते हैं। यदि इस वीर्यका नाश हो जाय अथवा औषधद्रव्योंमें इसका प्रमाण न्यून हो जाय तो औषध हीनवीर्य या निर्वीर्य हो जाते हैं। आयुर्वेदाचार्योंने वानस्पतिक औषधोंके जो-जो अङ्ग—मूल, त्वक्, पत्र आदि—चिकित्सोपयोगी निश्चित किये हैं उन-उन अङ्गोंमें विज्ञानवादियोंने एक न एक गुणकारी तत्त्वका अस्तित्व सिद्ध किया है, जैसे त्रिवृत्मूल, अर्जुनत्वक्, इन्द्रयव इत्यादि। कई बार औषधद्रव्यके गुण-धर्म उसके वीर्यसे भिन्न होते हैं और कभी सामान होते हैं। कभी एक ही द्रव्यमें अनेक वीर्य होते हैं, इत्यादि। आशय यह है कि द्रव्यके कर्मके कारणोंकी मीमांसामें गुणोत्कर्षको वीर्य माननेकी अपेक्षया इन औषधद्रव्योंमें विद्यमान अमुक विशिष्ट अंशको वीर्य माननेकी आजकलके विज्ञानवादियोंकी प्रवृत्ति है। वानस्पतिक द्रव्योंको छोड़कर प्राणिजन्य तथा खनिजद्रव्योंका विचार करें तो मुक्ता, प्रवाल, ताम्र, सुवर्ण, लोह आदिके औषधीय गुणोंके वर्णनमें भी शीतवीर्य, उष्णवीर्य आदि शब्द पाये जाते हैं। वहां वीर्यका अर्थ क्या किया जाय यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिमें शुद्ध रासायनिक द्रव्योंकी अपेक्षया मिश्र रासायनिक द्रव्य अधिक प्रमाणमें व्यवहृत होते हैं। भस्मोंके निर्माणमें सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय द्रव्य (Organic and inorganic substances) एकत्र मिल जाते हैं। इस प्रकार इनके निश्चित रासायनिक सूत्र (Chemical formulae) नहीं बताये जा सकते। परन्तु सामान्यतः कह सकते हैं कि इन भस्मोंसे भी अमुक अंश—अणु या परमाणु—शरीरमें प्रविष्ट होकर अपने औषधीय गुण प्रदर्शित करते हैं। आधुनिक रसायनशास्त्र कहता है और परीक्षणद्वारा सिद्ध करता है कि शरीरके बाहर और शरीरके अन्दर होनेवाले रासायनिक परिवर्तनोंमें अमुक मौलिक (Radicles) खास भाग लेते हैं। ये मौलिक अमुक परमाणुओंके विशिष्ट व्यूह हैं। इसी विचारसरणिका अनुसरण करता हुआ मैं समझता हूँ कि मुक्ताभस्मके शीत वीर्य अथवा ताम्रके उष्ण वीर्यका अर्थ है इन भस्मोंमेंसे पृथक् होनेवाला अमुक परमाणुपुञ्ज जो शारीरिक कोषोंपर अपनी विशिष्ट क्रिया प्रदर्शित करता है। आशा है विद्वज्जन इस प्रश्नपर विशेष विचार करेंगे।

प्रभाव (Specific Action)—जैसा कि ऊपर कह आये हैं, जब औषधके कर्मका कोई भी समाधान कार्यकारणभावके नियमद्वारा न हो सके तो प्रभावके द्वारा किया जाता है। और सब औषधकर्मोंका समाधान मनुष्यकी बुद्धि अब तक नहीं कर सकी है। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। आधुनिक विज्ञान प्रभावको समझनेका दिन-प्रतिदिन प्रयास कर रहा है। प्रभावको अचिन्त्य माननेसे वह इनकार करता है।

रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव समान बलवाले हों वहाँ (पृ० २४७) वीर्य और प्रभावके बलको अधिक बतानेवाला सिद्धान्त आजके विज्ञानके अनुकूल है।

उपसंहार

इस संक्षिप्त निबन्धमें आरम्भमें दी प्रतिज्ञाके अनुसार पूर्व और पश्चिमके द्रव्य-गुणविज्ञान सम्बन्धी विचार मैंने प्रस्तुत किए हैं और जिस प्रजाका बालक होनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उस प्रजाने मनुष्यजातिके हितके लिए जो चिन्तन-मनन किया है उसका सार यहाँ दिया है। यह तैयार करनेमें मुझे प्रेरित करनेवाले पूज्य श्रीयुत यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मैं अत्यन्त ऋणी हूँ। इसमें प्रतिपादित किये हुए विचारोंकी चर्चामें उत्साहपूर्वक भाग लेनेवाले अपने सहकारी श्रीयुत डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर, श्री पण्डित दामोदर गौड, श्री पण्डित यदुनन्दन उपाध्याय, श्री पण्डित शिवदत्त शुक्ल तथा श्री पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री आदिका भी मैं सप्रेम आभार मानता हूँ। अपना अन्तिम मनोरथ महाकवि कालिदासके शब्दोंमें व्यक्त करता हूँ—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस
भ्रातृद्वितीया वि. सं. २०००

बालकृष्ण अमरजी पाठक

वीर्य-प्रभावविज्ञानीयाध्यायस्य परिशिष्टम्

नागार्जुनमतेन कर्मणस्तत्प्राधान्यस्य च निरूपणम्—

द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-कर्माण्यनयोर्मूलम् (र. वै. अ. १, सू. ४) एवं स्वस्थातुरवृत्तकं भेदमुक्त्वा तद् भेदेष्वारोग्यानारोग्ययोः साधनस्य तन्त्रेषु विप्रकीर्णस्य संग्रहार्थमाह—द्रव्येत्यादि। अनयोः आरोग्यानारोग्ययोः स्वस्थातुरवृत्ताधिकृतयोरिति ; अत एवानयोरित्याकर्षति, अन्यथा स्वस्थातुरवृत्ते चेदभिप्रेते तर्ह्युभयोरित्यवक्ष्यत्। द्रव्याणि च, रसाश्च, गुणाश्च, वीर्याणि च ऊर्ध्वभागादीनि, विपाकौ च, कर्माणि च स्नेहादीनि ; मूलं कारणं योनिरित्यर्थः। एते द्रव्यादयो विस्तरेणोत्तरत्र वक्ष्यन्त इति नात्र व्याक्रियन्ते (भा.)। क्रियालक्षणं कर्म (सू. १७१)। अत्र कर्मेति समुदायक्रिया, तस्या लक्षणरूपेण व्यवस्थाप्यमाना अवयवक्रिया। वमनमिति समुदायक्रिया। यस्याः स्नेहन-स्वेदनाश्वासन-दिवसतद्दिवसाहारविधानाद्यवयवक्रिया, तयाऽभिव्यज्यते समुदायक्रियेति। यथा—उदकाधिश्रय-तण्डुलधावन-दर्वीघट्टन-परिस्रावण-परिवर्तनादयः क्रियाविशेषा अवयवभूतास्तामभिव्यञ्जयन्ति तण्डुलविक्लृत्तिरूपामिति। अथवा करणक्रियाकारणलक्षणं कर्मेति। फलप्रतिष्ठितमाकाशं, स्वात्मना निर्लुण्ठितः कुम्भ इति ; स्वात्मनि प्रतिष्ठितमित्याकाशस्यान्य आत्मा न विद्यते, तथापि करणरूपेणोक्तमिति (भा.)। तस्य कर्मणः को विषय इत्याह—कर्म सर्वेषाम् (र. वै. अ. २, सू. ३८)। अत्र सर्वशब्दः परिच्छिन्नानवशेषवाचकः। द्रव्यादयः पञ्च पदार्थाः सर्वे, तेषां कर्म प्रयोग इत्यर्थः। कथं पाकः कर्मपदार्थस्य विषयो भवति ? प्रयुक्ते (द्रव्ये) पश्चाद्भवतीति। प्रयोगपूर्वक एव तस्यापि व्यापार इति न दोषः। एवमत्र पचिक्रियायाः कर्ता कर्म स्यात्, नाग्निः। नायं दोषः, हेतुभूतत्वात् ; तृणैर्भक्तं सिद्धमिति (भा.)। कर्मपदार्थस्य प्रधान्यं विधस्याते (र. वै. अ. १, सू. १५१)। कर्मेतरेषां सामर्थ्यव्यञ्जनात् (सू. १५२)।—इतरेषा द्रव्यादीनां पदार्थानां, सामर्थ्यं फलं, तस्य व्यञ्जनात् प्रकाशनात् ; कथं द्रव्यादीन्यप्रयुज्यमानान्यापणस्थानि वनस्थानि वा कर्म कुर्वन्ति। तत्प्रयोगः कर्मसंज्ञितः षष्ठः पदार्थ प्रधानः। यथा—शर-शरासन-तूणीरसामर्थ्यव्यञ्जनाद् धन्वी तेभ्यो विशिष्ट इति (भा.)। तदनुग्रहे फलवत्त्वात्, अफलवत्त्वाच्चोपघाते (सू. १५३)।—किं चान्यत् ? तदनुग्रह इत्यादि। तस्य कर्मणोऽनुग्रहः तदनुग्रहः, तस्मिन् सति संपन्ने फलवत्त्वादितरेषां द्रव्यादीनां, कर्मणि विपन्ने तेषां चाफलवत्त्वादिति ; पूर्वोक्तस्यैवार्थ इति चेत् ? एवं सर्वत्र तुल्यार्थ-

हेतुप्रयोगः प्रयोगान्तरे प्रयुक्त इति विज्ञेयः ; एकस्मिन् प्रयोगे द्वयोर्हेत्वोः प्रयोगाभावादिति (भा.)। अर्थनिर्वर्तकत्वात् (सू. १५४)।—किं चान्यत्? अर्थेत्यादि। अर्थः प्रयोजनं, कर्माणि विना न भवतीति (भा.)। तदर्थमुपसंग्रहात्। शेषाणां तत्राभियोगात्। शास्त्रसामार्थ्यात्। द्रव्यादिव्यतिरेकेण भावात्। तस्य कचिद्व्यतिरेकात्। तेनेतरेषां नित्यं सिद्धिः। व्यापदां तत्रैव नियमात्। तेनोपचारादितरेषाम् (सू. १५५-१६२)।—तेन कर्मणा उपचाराद् व्यवहाराद् वचनाद्वेति। इतरेषां द्रव्यादीनाम्। वामनीयं द्रव्य, विरेचनीयो रस इत्यादि। एवमेते विशेषाः कर्मण्येवायत्ताः, प्रायशोऽन्ये पदार्था विषय इति कर्मणः प्राधान्यं साधितम् (भा.)।

नागार्जुनने द्रव्यगुणविज्ञानके प्रतिपाद्य विषयोंमें कर्म नामका एक छट्ठा पदार्थ माना है। वे लिखते हैं कि—स्वस्थातुरवृत्तमें अधिकृत आरोग्य और अनारोग्यके द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक और कर्म ये छः मूल हैं (अतः ये छहों पदार्थ द्रव्यगुणशास्त्रके प्रतिपाद्य विषय हैं)। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक इनका लक्षण उनके प्रकरणोंमें लिखा गया है। अब कर्मका लक्षण और प्राधान्य कहा जाता है। वमन-विरेचन आदि द्रव्योंका शरीरके ऊपर जो प्रयोग किया जाता है उसको कर्म कहते हैं। द्रव्य, गुण, रस, वीर्य और विपाक ये पाँचों कर्मके विषय हैं। विपाकका व्यापार भी शरीर पर प्रयोगपूर्वक ही होता है, अतः विपाकको भी कर्मका विषय माना जाता है। द्रव्यादि पदार्थोंसे कर्म प्रधान है। क्योंकि कर्मसे (शरीरपर प्रयोग करनेसे) ही द्रव्यादि पदार्थोंका सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है (फल पाया जाता है)। वनमें या पनसारीकी दुकानमें पड़े हुए द्रव्य शरीरपर प्रयोग किये विना कुछ भी अपना सामर्थ्य-फल नहीं दिखा सकते। इसलिये द्रव्य आदि पाँचों पदार्थोंसे कर्म प्रधान है।

वक्तव्य—चरक और सुश्रुत द्रव्यका वमन-विरेचन-बृंहण आदि क्रियाओंको द्रव्यका कर्म मानते है। नागार्जुन वमन-विरेचन आदि क्रिया करनेकी शक्तिसे सम्पन्न चिन्त्य या अचिन्त्य द्रव्यगत अंशको वीर्य मानते हैं और द्रव्यका शरीर पर जो प्रयोग करना उसको कर्म मानते हैं।

हमारे देव-स्थानों में सिद्धपीठ नाम से सुप्रसिद्ध तीर्थ-स्थान, श्री वैद्यनाथधाम (देवघर) में, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड की स्थापना, आज से ३५ वर्ष पूर्व हुई थी। आधि-व्याधि-नाशक श्री बाबा वैद्यनाथ के सम्मुख की गई मानव-कल्याण की कामना कभी विफल नहीं होती। आयुर्वेद के इष्टदेव भगवान शंकर के शुभाशीर्वाद, तथा हमारे अथक परिश्रम, श्रेष्ठ अध्यवसाय तथा विशुद्ध लगन के कारण, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का काम बड़ी तेजी से आगे बढ़ा।

स्थापन-काल

राज्य की उपेक्षा, हमारे शिक्षित-समाज पर विदेशी आचार-विचार का प्रभाव एवं अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति उनकी उदासीनता के साथ जबर्दस्त संघर्ष श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के इतिहास की प्रारम्भिक विशेषता है। करीब-करीब यही वक्त था, जब कि हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का आना और आजादी की लहर का उठना प्रारम्भ हुआ। हमारे समाज के प्रत्येक अङ्ग पर, विदेशी आचार-विचार और सत्ता का जो प्रभुत्व था, एक अंधकार का आवरण था, उसके खिलाफ एक सुरसुराहट-सी होने लगी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में, धीरे-धीरे, हमारे समाज के मृतप्राय शरीर में प्राणवायु का संचार हुआ। इसके बाद हमारा राष्ट्रीय कारवां जिन-जिन बाधाओं, कठिनाइयों और तूफानों का सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहा, वह हमारे देश के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है।

संघर्ष-काल

राष्ट्रीय ह्रास या समृद्धि, केवल राजनीतिक ही नहीं होती; बल्कि व्यक्तिगत और समष्टिगत रूप में वह समाज की संस्कृति, साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, कृषि आदि सभी अङ्गों के सार्वभौमिक ह्रास और विकास पर निर्भर करती है। और चूँकि आयुर्वेद—हमारा राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—हमारी संस्कृति, साहित्य और कला का एक सर्वोच्च ज्ञान-भाण्डार है; अतएव राष्ट्र के जीवन के साथ इसका अविच्छिन्न सम्बन्ध कोई नयी और आश्चर्यजनक बात नहीं।

इसीलिये, जब हम श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पिछले ३५ साल के सङ्घर्षमय जीवन और उसके फलस्वरूप प्राप्त उत्तरोत्तर उन्नति की ओर दृष्टिपात

करते हैं, तो हमें गर्व और प्रसन्नता, दोनों ही होती है। गर्व इसलिये कि एक कर्त्तव्य-परायण सिपाही की तरह राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक जबर्दस्त मोर्चा—राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—आयुर्वेद के प्रति अपने कर्त्तव्य का हमने हरेक कठिनाई और बाधा में भी, खूबी के साथ पालन किया है; और प्रसन्नता इसलिये कि हमारे राष्ट्रीय संग्राम के नेताओं और सेनानियों ने हमारे इस काम की सराहना की, सहयोगियों ने प्रशंसा की और सर्वसाधारण ने स्वागत किया। आज नव-राष्ट्र-निर्माण के प्रारम्भ में, जब कि प्रकाश की दो-एक किरणें अन्तरिक्ष पर दिखायी पड़ने लगी हैं; हमारे उत्साह और आनन्द का सर्वोच्च कारण, एकमात्र वही अनुभूति है, जो राष्ट्रीय सङ्घर्ष के हर आघात और उसकी आग की प्रत्येक लपट का अपना हिस्सा प्राप्त करने का सौभाग्य हमें मिला है।

उत्कर्ष-काल

अपनी जिन तीन विशेषताओं के कारण, श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० बराबर सङ्घर्ष में विजयी होता आया, वे हैं :—(१) शुद्ध ओषधियों के निर्माण, (२) आयुर्वेदोन्नति के लिये ठोस कार्य और (३) वैज्ञानिक ढङ्ग से इनका प्रचार।

आज श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो स्वरूप है, उसे विस्तृत रूप से बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष भर में औषधि-निर्माण के चार बड़े-बड़े कारखाने, बड़े-बड़े शहरों में बैद्यनाथ-दवाओं के ८० बिक्री-केन्द्र (डिपो) तथा १५ हजार से ऊपर एजेन्सी (एजेण्ट) आदि इसकी विशालता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त हैं। आज नगर-नगर और गाँव-गाँव में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो साइनबोर्ड आप देखते हैं, तथा घर-घर में बैद्यनाथ-ओषधियाँ देखी जाती हैं, उनके मूल में जो तथ्य हैं, वे नीचे लिखे विवरण से आपकी समझ में अच्छी तरह आ जायँगे।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के भिन्न-भिन्न विभाग

१—ऋषिअर्चन (रिसर्च) विभाग

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने अपने स्थापनकाल से ही इस कार्य की ओर विशेष ध्यान दिया है। काशी विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर वह शोध (रिसर्च) का कार्य कराता रहा है। किन्तु, अब वह इस स्थिति में है कि इस महत्वपूर्ण काम को स्वयं अपने निरीक्षण में भी सम्पादित करे। इसलिये गत वर्ष इस कार्य के लिये ५००००) (पचास हजार) रुपये प्रति वर्ष खर्च करने का उसने निश्चय किया है। चालू वर्ष के ५००००) रुपये मिलाकर, करीब १०००००) (एक लाख) की लागत से इस वर्ष आयुर्वेद-विज्ञानशाला तैयार हो जायगी। इसमें प्रयोगशाला (Research Laboratory)

और रुग्णालय (Indoor Hospital) होंगे। इस वर्ष मकान बनवाकर आवश्यक उपकरण संग्रहीत कर लिये जायँगे तथा आगामी वर्ष से उनमें नीचे लिखे अनुसार कार्यारम्भ होगा।

(क) वनस्पति

वनस्पतियों के शोध का कार्य गत वर्ष से ही विशद रूप में, चल रहा है और वह भविष्य में भी चालू रहेगा। इस विभाग में, आयुर्वेदिक औषधियों में काम आनेवाली वनस्पतियों का स्वरूप-निर्णय नई चमत्कारिक औषधियों को प्राप्त करने और उसके द्वारा समग्र भारतीय वैद्यों को लाभ पहुँचाने के कार्य होते हैं।

(ख) विश्लेषण

औषधियों के काम में आनेवाले मूलद्रव्यों की असलियत को मालूम करना तथा तैयार औषधि की यथार्थगुणकारिता की विश्लेषण (Analysis) द्वारा जाँच करना, इस विभाग का कार्य है।

(ग) गुण-धर्म-निर्णय

आयुर्वेद-वर्णित वनस्पतियों एवं सिद्धौषधियों के गुण-धर्म के निर्णय करने के लिये यह विभाग होगा। इसके लिये रुग्णालय (Indoor Hospital) स्थापित किया जायगा, जिसमें २० शय्या (Beds) रहेंगी। इस रुग्णालय-द्वारा रोगियों पर शतशः अनुभूत की गई वनस्पतियों तथा योगों का गुणधर्म-निश्चय होगा। आयुर्वेद में मानव-शरीर पर होनेवाले सफल औषध-परीक्षण को ही यथार्थ असंदिग्ध गुण-धर्म माना गया है। वह कार्य चार्ट एवं रिपोर्ट के आधार पर इस रुग्णालय द्वारा सम्पादित होगा।

(घ) शास्त्र-निर्माण-विभाग

उल्लिखित विभागों का शास्त्रीय निरूपण, आयुर्वेदीय सिद्धान्त से किया जायगा। त्रिदोष, पंचमहाभूत, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव पर ही इन ग्रन्थों का निर्माण होगा। वर्त्तमान विज्ञान (Modern Science) को भी, इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आत्मसात् करके, समन्वयात्मक रूप में प्रकाशित किया जायगा।

इन विभागों के कार्य का विवरण, समय-समय पर, हमार मासिक पत्र 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित होता रहता है। स्वतन्त्र रिपोर्ट अगले साल प्रकाशित हो जायगी—ऐसी आशा है।

(ङ) रिसर्च कार्य की प्रगति

आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार, आयुर्वेद का संशोधन और परिवर्द्धन कोई सामान्य कार्य नहीं है। प्रायः भारत भर में स्वयं भ्रमण करके हमने देखा कि इस कार्य को कहीं भी क्रियात्मक रूप नहीं दिया गया है। अभी अपनी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ भी बन ही रही हैं। इस पर कोई रचनात्मक

उद्योग वहाँ भी नहीं हुआ। क्रियात्मक रूप के अभाव एवं द्रव्य और समय के अपव्यय की शंका से हमने आयुर्वेदीय शोध कार्य की समस्या को अखिल भारत-वर्षीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा-परिषद् के समक्ष उपस्थित किया। अखिल भारत-वर्षीय आयुर्वेद-शास्त्र चर्चा का अधिवेशन, विगत वर्ष, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के व्यय से पटना-स्थित बैद्यनाथ-निर्माणशाला में लगातार दस दिनों तक होता रहा। इस परिषद् में देश भर के प्रधान वैद्यों ने भाग लिया था और आयुर्वेद-हितैषी डॉक्टर और वैज्ञानिक भी इसमें सम्मिलित हुए थे। परिषद् में भाग लेनेवाले कतिपय प्रमुख वैद्यों और डॉक्टरों के नाम ये हैं :—

१—आयुर्वेद-वाचस्पति श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य, वर्त्तमान सभापति अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल, बम्बई।
२—आचार्य श्री मणिरामजी, वर्तमान सभापति, अ० भा० आ० विद्यापीठ।
३—आयुर्वेद-पंचानन श्री जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल, इलाहाबाद।
४—भिषक्-केशरी श्री गोवर्धन शर्म्मा छांगांणी, नागपुर।
५—आचार्य श्री रामरक्ष पाठक, बेगूसराय (विहार)।
६—डॉ० डी० एन० मुखर्जी, एफ० आर० सी० एस०, कलकत्ता।
७—स्व० डॉ० नृसिंहहरि परांजपे।

उपर्युक्त विद्वानों के बीच भी इस आयुर्वेदीय रिसर्च की रूप-रेखा पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सकी। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के व्यय पर, इसी वर्ष ग्रीष्मकाल में, परिषद् की दूसरी बैठक भी होगी। आशा है इस अधिवेशन में इसकी रूपरेखा निश्चित हो जायगी और हम क्रियात्मक कार्य की ओर अग्रसर होंगे।

विशेष सूचना—इस कार्य में गत वर्ष जो प्रगति हुई, उसे पत्र लिखकर जाना जा सकता है।

२—औषधि-निर्माण-विभाग

आयुर्वेदीय औषध-निर्माण पर ही उसकी चिकित्सा-पद्धति की उत्तमता और लोक-प्रियता निर्भर करती है। आयुर्वेदीय औषधियों का निर्माण कठिन, अनुभवगम्य और प्रभूत उपकरण साध्य कार्य है। प्राचीन समय से केवल चिकित्सक ही इस कार्य को करते आये हैं। अब भी हजारों वैद्यबन्धु ऐसा ही कर रहे हैं। पर वर्त्तमान युग में, इससे सर्वाङ्गपूर्ण औषधि तैयार नहीं हो पाती। औषधियों के मूल द्रव्यों को उत्पत्ति-स्थानों से प्राप्त करना, पंसारियों पर न निर्भर रहना, जो लोग निरन्तर औषधियों का निर्माण करते हैं, उन्हीं अनुभवी आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा स्वयं अपनी देख-रेख में अत्यन्त कुशलता और स्वच्छतापूर्वक औषधि-निर्माण कराना, अत्यन्त कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण काम है। केवल

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ही, औषधि निर्माता होने के कारण, इस कार्य को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कर रहा है ; और इसी आधार पर वैद्यनाथ-औषधियों को प्रसिद्धि और लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है।

वैद्यनाथ औषधियों की उत्कृष्टता के तीन कारण हैं :—(१) मूलद्रव्यों का उत्कृष्ट होना और जाँचकर उनको व्यवहार में लाना (२) कुशल और अनुभवी आयुर्वेदाचार्यों द्वारा शास्त्रीय रीति से औषधि तैयार करना, और (३) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के मैनेजिंग डाइरेक्टरों का सतत् निरीक्षण करना एवं उनका औषधि-निर्माण-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता और अनुभवी होना।

निर्माण की इस विशुद्धता और उत्कृष्टता के कारण, वैद्यनाथ-दवाओं की इतनी व्यापक माँग बढ़ी कि हमें क्रमशः झाँसी, पटना और नागपुर में भी औषधि-निर्माण केन्द्र खोलने पड़े। आज इन चारों निर्माण-केन्द्रों द्वारा निरन्तर औषधियाँ तैयार होती रहती हैं ; फिर भी जनता की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने में हमें कठिनाई होती है। वैद्यनाथ-औषधि-विक्रेताओं को नम्बरवार और क्रमशः दवाएँ भेजी जाती हैं तथा हर साल कार्यकर्त्ताओं की संख्या बढ़ानी पड़ती है। कार्यकर्त्ताओं में करीब २० हजार रुपये प्रतिमास वेतन के रूप में वितरित होते हैं।

३—बिक्रय-विभाग

४ निर्माण-केन्द्र, ८० बिक्री-केन्द्र और १५ हजार से ऊपर एजेन्सियों (एजेंटों) द्वारा वैद्यनाथ-दवाओं की निरन्तर बिक्री होती है। देश भर में सर्वत्र एक ही (आगे लिखे) मूल्य पर बिक्री होती है। वैद्यनाथ-दवाओं के अधिकार-प्राप्त औषधि-बिक्रेताओं को उचित कमीशन दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये हिन्दुस्तान के प्रमुख शहरों में, एजेण्टों के अतिरिक्त ८० से ऊपर स्वतन्त्र बिक्री-केन्द्र भी हैं, जहाँ केवल वैद्यनाथ-दवाएँ ही बिकती हैं। जैसे देहली, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, काशी, गोरखपुर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, गया, रायपुर, जब्बलपुर, अकोला, अमरावती, इन्दौर, उज्जैन आदि। प्रत्येक निर्माण-केन्द्र में एजेंसी-विभाग के मैनेजर अलग हैं, जिनके पास एजेंट बनने की इच्छावाले लोगों के पत्र (और वे स्वयं भी) बराबर आते रहते हैं। एजेंसी के लिये स्वयं कार्यालय में आनेवाले महाशय पहले पत्र-व्यवहार करके दर्याफ्त कर लेंगे, तो उत्तम होगा। दवाओं के साथ-साथ वनस्पति की भी थोक बिक्री होती है। खुदरा वनस्पति की बिक्री नहीं होती।

४—आयुर्वेद-सेवा-विभाग

इस विभाग में आयुर्वेद की समुन्नति के कार्य सेवा-भाव से होते हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का, विगत ६ वर्षों से, एक स्वतन्त्र आयुर्वेद विद्यालय, सफलता के साथ चल रहा है, जिसमें निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ के आयुर्वेदाचार्य और राजस्थान के आयुर्वेद-शास्त्री तक की शिक्षा दी जाती है। इसके

(क) आयुर्वेद विद्यालय

अतिरिक्त भारत के अन्य विभिन्न आयुर्वेद-विद्यालयों को भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

(ख) छात्रवृत्तियाँ

जो छात्र आर्थिक अभाव के कारण आयुर्वेद पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, वैसे १५ योग्य छात्रों को प्रति वर्ष छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

(ग) धर्मार्थ औषधालय

हमारे सभी धर्मार्थ औषधालयों में सुयोग्य आयुर्वेदाचार्य पास वैद्यों द्वारा मुफ्त निदान होता है और रोगी को अच्छी-से-अच्छी औषधियाँ दी जाती हैं। और भी बहुत से अन्य आयुर्वेदीय धर्मार्थ औषधालयों को औषध मुफ्त दी जाती है तथा बहुतों को रियायती मूल्य पर दी जाती है।

(घ) स्वास्थ्य-प्रचार

भारतीय जनता को आयुर्वेदीय शिक्षा द्वारा स्वस्थ और सबल बनाना हमारा प्रधान लक्ष्य रहा है। इसके लिये छोटे-छोटे ट्रैक्ट, पुस्तिका, हैण्डबिल आदि प्रकाशित कर समय-समय पर प्रचारित किये जाते हैं।

(ङ) धन्वन्तरि जयन्ती

यह जयन्ती, वैद्यों में भ्रातृभाव और जनसेवाभाव की वृद्धि के लिये हमारे निर्माण-केन्द्रों, बिक्री-केन्द्रों तथा एजेन्सियों में प्रति वर्ष मनाई जाती है। इसमें लगभग १० हजार रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है।

५—प्रकाशन-विभाग

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का आरम्भ से ही यह सत्प्रयत्न रहा है, और रहेगा, कि आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के आधार पर सुयोग्य विद्वानों द्वारा निर्मित तथा अनुवादित प्रामाणिक ग्रन्थ सरल भाषा और सुलभ मूल्य में जनता को प्राप्त हों, जिससे आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार बढ़े। हमारे यहाँ से अबतक दर्जनों ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जो आज आयुर्वेद-ग्रन्थ-भाण्डार के अमूल्य रत्न समझे जाते हैं। 'सचित्र आयुर्वेद' नामक एक मासिक पत्र भी गत पाँच वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

६—दातव्य-विभाग

आयुर्वेदीय सेवा के अतिरिक्त श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड और भी बहुत से जन-हितकारी कार्य कर रहा है। पाठशाला खोलकर निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध, आश्रमों को सहायता देकर धार्मिक, नैतिक और चारित्रिक भावना तथा साहित्य का प्रचार, देवालय, कूप आदि का निर्माण, सार्वजनिक पुस्तकालय, चक्षुदान यज्ञ आदि ऐसे अनेक लोकोपकारी कार्य है, जो केवल हमारे ही खर्च से चल रहे हैं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में मुक्तहस्त से निरन्तर सहायता की जाती है।

हमारा कारखाना केवल औषध-निर्माता ही नहीं है। यह शुद्ध अर्थ में आयुर्वेदीय संस्था है। इसका प्रथम उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेदको प्रतिसंस्कार कर उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्साओं की जानकारी जनता को करा देना। औषध और ग्रन्थ, दोनों इसके साधन हैं। इसलिये एक ओर जहाँ हम उत्तमोत्तम औषध निर्माण-द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करते हैं। जिन ग्रन्थों का प्रकाशन कर हम आयुर्वेद का भाण्डार भर रहे हैं, उनकी प्रशंसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षा-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने हमारे आयुर्वेदीय-प्रकाशन को पाठ्यक्रम-पुस्तकों में श्रेष्ठ स्थान दिया है। साथ-ही-साथ (कम-से-कम)--यानी लागतमात्र, मूल्य पर ऊँचे दर्जे के आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार करना वैद्यनाथ-आयुर्वेदीय-प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि वैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे "आरोग्य-प्रकाश" को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि उसके आठ संस्करणों में ६८००० प्रतियाँ छप कर हाथों-हाथ बिक चुकी हैं। नौवाँ संस्करण पन्द्रह हजार का जो छपा था, वह भी समाप्त हो चुका है और दसवाँ संस्करण छप रहा है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

आरोग्य प्रकाश--(आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ) भारत-प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्ष में बड़ी मेहनत से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपये का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध के विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहनेवाला रोगी भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी ही सरल भाषा में लिखे हैं; जिनको पढ़कर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे, दोनों, समान रूप से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे गये हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित

हैं। शहर हो या देहात—सब जगह, इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके आठ संस्करणों में ६८००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और १५ हजार का नौवाँ संस्करण भी समाप्त हो चुका है। इससे इसकी लोक-प्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सिर्फ १।।।), डाक खर्च ।।=), हमारी चार निर्माणशालाओं, ८० बिक्री-केन्द्रों, १५००० एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाक खर्च नहीं लगेगा।

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर—(सचित्र रायल, अठपेजी, विलायती पेपर) लेखक—वैद्य रणजित राय, वाइसप्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित "शरीर-क्रिया-विज्ञान" का देश में सर्वत्र ही समादर हुआ था और प्रायः समग्र हिन्दुस्तान के आयुर्वेदिक कॉलेजों के पाठ्य-क्रम में पुस्तक नियत हो गयी थी। उसी ग्रन्थ का यह संशोधित और परिवर्द्धित तृतीय संस्करण है।

आयुर्वेद की इस पुनरुत्थान-बेला में वैद्य रणजित राय, जो स्तुत्य और ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य कर रहे हैं, उसे आज हिन्दुस्तान में कौन नहीं जानता? आयुर्वेद के संशोधन को दृष्टि में रखकर उन्होंने जो अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, उन्हीं में से एक ग्रन्थ **आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर** है।

प्रस्तुत संस्करण में पाठ्य विषय में तो पहले संस्करण की अपेक्षा बहुत परिवर्तन किये ही गये हैं, अनेक एक रंगे चित्रों की भी संख्या में वृद्धिकर विषय को अधिक सुबोध बना कर पुस्तक की उपयोगिता में और भी अधिक वृद्धि कर दी गई है। मूल्य—११)

आयुर्वेद-सार-संग्रह—(दूसरा संस्करण) हिन्दी में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें एकत्र रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर, सरल भाषा में, दिया गया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती रहती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का सफल प्रयत्न किया गया है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनायी जाने वाली सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुणधर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है। रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं, जिनके देखने से औषध-

निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। डिमाई साइज के ११०० पेज के ग्रंथ का मूल्य—७) रु० मात्र है।

आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान—लेखक : वैद्य रणजितराय, वाइसप्रिन्सिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत। आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में अन्य दर्शन ग्रन्थों की क्या विशेषता है और क्यों है, इस पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदीय-पदार्थ विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा में समझाये गये हैं।

आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिये, का यथास्थान विद्वान् लेखक ने स्वमत-प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय-पदार्थ-विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है, अतः उसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। मूल्य—६)

उपचार-पद्धति—(पंचम संस्करण) सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रति वर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय; इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन हमने किया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य ।≈)

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—किशोर बालकों को हस्तमैथुन-रूपी सर्वस्व नाशकारी व्याधि से बचाने के लिये सफल उद्योग किया गया है। पृष्ठ संख्या ११०; मूल्य ।≡)

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—लेखक :—आयुर्वेद-वृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य। इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान हैं, इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पंचमहाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक उपादेय है। मूल्य २॥≈)

पदार्थ-विज्ञान—(देश भर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा समिति के पाठ्यक्रम में स्वीकृत) लेखक :—आयुर्वेद-वृहस्पति पं० रामरक्ष पाठक, प्रिन्सिपल अ० शि० आयुर्वेदिक कॉलेज, बेगूसराय। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोग के प्रतीकारार्थ उपयोग में आनेवाले पदार्थों का विवेचन किया

गया है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूल-भूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत-तत्त्वों की छान-बीन की गयी है चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का भोग करती है। मूल्य—३।।)

मानस-रोग-विज्ञान—इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक स्वर्गीय डॉ० बालकृष्ण-अमर जी पाठक ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज के अध्यक्ष एवं प्रधानाध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक उच्च कोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप में आप सम्पूर्ण भारत में सुप्रसिद्ध हो गये थे।

इस ग्रन्थ की रूपरेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य में खटकनेवाली जबर्दस्त कमी को पूरा करने के लिए डॉ० पाठक जैसे अनुभवी विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

आज के युग में, जब कि काम, क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थीनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक-रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अंग्रेजी-भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है, वैसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु, इस पुस्तक से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य ५।।) मात्र।

यूनानी-सिद्धयोग-संग्रह—यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे, आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। एक अनुभवी चिकित्सक से आयुर्वेदीय ढंग से संस्कृत के विद्वान् वैद्यों के लिए हिन्दी में यह ग्रन्थ लिखवाया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण दोनों के लिये बहुत उपयोगी पुस्तक है। कीमत—२।।)

सिद्धयोग-संग्रह—(तीसरा संस्करण) आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य के कर-कमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ-रत्न के पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। डिमाई ८ पेजी २०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य २।।।)

——:०:——